विषय-सूची

अध्याय पृष्ठ संख्या

सङ्केतिका

समीक्षा में यत्र-तत्र उद्धृत ग्रन्थों के सांकेतिक नाम एवं संस्करण--

(१) अभि० भा०--अभिनवभारती (अभिनव गुप्त कृत)
(सम्पादक डॉ० नगेन्द्र, हिन्दी विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय, १९६० प्रथम संस्करण)

(२) अ० र० --अलङ्काररत्नाकर. (शोभाकर मित्रकृत)
(सम्पादक सी० आर० देवधर। ORIENTAL BOOK AGENCY पूना, १९४२)

(३) अ० स०--अलङ्कारसर्वस्वम् (रुय्यककृत)
(सम्पादक-डा० रामचन्द्र द्विवेदी। मोतीलाल बनारसी दास, वाराणसी, १९६०, प्रथम संस्करण)।

(४) का० प्र० काव्यप्रकाश: (मम्मटकृत)
(व्याख्याता-डा० सत्यव्रतसिंह। चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, १९६५, तृतीय संस्करण)

(५) कुव०--कुवलयानन्द: (अप्पयदीक्षितकृत)
(व्याख्याता-भोला शङ्कर व्यास। चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी १९६५ प्रथम संस्करण)

(६) चि० मी०--चित्रमीमांसा (अप्पयदीक्षितकृत)
(सम्पादक--पं० शिवदत्त) निर्णय सागर प्रेस, बम्बई, १९४१, चतुर्थ संस्करण)

(७) ध्व०—ध्वन्यालोक: (आनन्दवर्धनाचार्यकृत)
(व्याख्याता---श्री जगन्नाथ पाठक। चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, १९६५ प्रथम संस्करण)

(८) ध्व० लो०--ध्वन्यालोकलोचनम् (उपर्युक्त ध्वन्यालोक में दी गयी 'लोचन' टीका)

(९) प्र० य०—प्रतापरुद्रयशोभूषणम् (विद्यानाथकृत)
(व्याख्याता-कु० स्वा० सोमपीथि। बाल मनोरमा प्रेस, मद्रास, १९५०)

(१०) भ० ना०—भरतनाट्यशास्त्रम् (भरतमुनिकृत)

(११) रस०--रसगङ्गाधर: (पण्डितराज जगन्नाथकृत)
(सम्पादक-श्री दुर्गाप्रसाद एवं श्री वासुदेव शर्मा। निर्णय सागर प्रेस, बम्बई, १९३० चतुर्थ संस्करण)

(१२) सा० द०--साहित्यदर्पणम् (विश्वनाथकृत)
(व्याख्याता-श्री शालग्राम शास्त्री। मोतीलाल बनारसीदास वाराणसी १९६७ पञ्चम संस्करण)

काव्य-मीमांसा

काव्य-लक्षण

पण्डितराज ने रसगङ्गाधर मे सर्वप्रथम काव्य का मुख्य लक्षण निरूपित किया है, तत्पश्चात् उसी की व्याख्या के रूप में उसे तीन प्रकार से प्रतिपादित किया है। व्याख्या के पूर्व अपने लक्षण के पदकृत्य द्वारा इसका तात्पर्य भी विस्पष्ट किया है।

पण्डितराज कृत लक्षण।

'रमणीयार्थप्रतिपादक शब्दः काव्यम्'।[1] अर्थात् रमणीय जो अर्थ, उसका प्रतिपादक जो शब्द, वह शब्द काव्य है।

कवि कोई वाक्य कहता है जैसे—

शयिता सविधेऽप्यनीश्वरा सफलीकर्तुमहो मनोरथान्।
दयिता दयिताननाम्बुजं दरमीलन्नयना निरीक्षते ॥[2] इत्यादि।

सहृदय इसे सुनता है और उसे सुनने से एक अर्थ विशेष का बोध होता है। यह अर्थ-बोध (वाक्यार्थबोध) शाब्दबोध है क्योंकि वाक्यरूप शब्द के श्रवण से हुआ है। इस शाब्दबोध के पश्चात् उस अर्थ विशेष की पुनः-पुनः स्मृति होती है। इस शाब्दबोध और स्मृति का सामूहिक नाम है भावना। इस भावना से सहृदय के हृदय में चमत्कार उत्पन्न होता है अर्थात् आह्लाद होता है। अतएव उक्त काव्य-लक्षण का तात्पर्य यह हुआ कि चमत्कार को उत्पन्न करने वाली भावना का विषयभूत जो अर्थ हो, उस अर्थ का प्रतिपादक शब्द काव्य है।[3]

शब्द का तात्पर्य है वाक्यात्मक पदसमूह से। उपर्युक्त चमत्कार कभी एक वाक्य से होता है—जैसे 'गतोऽस्तमर्कः' इत्यादि, कभी एक श्लोक से होता है जैसे

१. रस. पृ. ४।
२. रस. पृ. १०।
३. रमणीयता च लोकोत्तराह्लादजनकज्ञानगोचरता। लोकोत्तरत्वं चाह्लादगतश्चमत्कारत्वापरपर्यायोऽनुभवसाक्षिको जाति विशेषः। कारणं च तदवच्छिन्ने भावना विशेषः पुनः पुनरनुसन्धानात्मा। (रस. पृ. ४।)

'शयिता सविधेऽप्यनीश्वरा-इत्यादि उपर्युक्त पद्य, और कभी सम्पूर्ण प्रबन्ध से होता है जैसे 'अभिज्ञानशाकुन्तलम्' अथवा 'शिशुपालवधम्' इत्यादि। अतः काव्य पद एक वाक्य के लिये भी प्रयोग किया जा सकता है और एक ग्रन्थ के लिये भी।

सारांश यह है कि पण्डितराज ने शब्द को काव्य कहा है एवं उसका विशेषण दिया है 'रमणीयार्थ-प्रतिपादक'।

प्रथम परिष्कार अपने लक्षण के परिष्कार में जिन तीन वाक्यों का उल्लेख उन्होंने किया है उनमें से प्रथम वाक्य यह है -'**चमत्कारजनकभावना विषयार्थप्रतिपादक शब्दत्वम्** (काव्यत्वम्)।[४] इसका तात्पर्य यह है कि चमत्कार को उत्पन्न करने वाली जो भावना, उसका विषय जो अर्थ, उस अर्थ का प्रतिपादक शब्द काव्य है।

विषय की दृष्टि से इसमें कोई नावीन्य नहीं है, केवल मुख्य लक्षण को ही विश्लिष्ट रूप में प्रतिपादित किया गया है।

द्वितीय परिष्कार.-'**यत्प्रतिपादितार्थविषयकभावनात्वं चमत्कारजनकतावच्छेदकं तत्त्वम्**।[५] अर्थात् जिस शब्द से प्रतिपादित अर्थ की भावना चमत्कार को उत्पन्न करने वाली होती वही शब्द काव्य होगा।

शब्द विशेष में वह कौनसी विशेषता है जिसके कारण वह काव्य कहलाता है यही इस परिष्कार में निर्दिष्ट किया गया है।

विशिष्टज्ञान के प्रति विशेषण ज्ञान कारण होता है — यह सिद्धान्त है। तदनुसार 'घटवद्भूतलम्' इस विशिष्ट ज्ञान के प्रति घटज्ञानरूप विशेषणज्ञान आवश्यक है। 'घटः पटश्च' यह एक ज्ञान है जिसमें घटज्ञान और पटज्ञान दोनों विद्यमान हैं। चूँकि 'घटवद्भूतलम्' इस ज्ञान के प्रति घटज्ञान कारण है, और 'घटः पटश्च' इस ज्ञान में घटज्ञान है इसलिए घटज्ञान के साथ ही पटज्ञान भी 'घटवद्भूतलम्' इस ज्ञान के प्रति कारण है ऐसा नहीं कह सकते। क्योंकि 'घटः पटश्च' इस कारणभूतज्ञान में रहने वाली कारणता इसलिए है कि उसमें घटज्ञानत्व है, इसलिए नहीं कि उसमें पटज्ञानत्व है।

इसी प्रकार 'निश्शेषच्युतचन्दनं स्तनतटं घटोऽयम्' इत्याकारक शब्द इसलिए काव्य है कि वह निश्शेषच्युतचन्दनत्वादि ऐसे अर्थ का प्रतिपादक है जो भावना का विषय है अर्थात् रमणीय है।

उक्त शब्द में निश्शेषच्युतचन्दनत्वादिरूप अर्थ की प्रतिपादकता भी है और घटत्वरूप अर्थ की प्रतिपादकता भी। तथापि जैसे पटज्ञानत्वविशिष्ट होने पर भी, घटज्ञानत्वविशिष्ट होने के कारण ही 'घटः पटश्च' यह ज्ञान 'घटवद्भूतलम्' के प्रति

४. रस. पृ. ४-५।

५. वही।

बहुतायत से खण्डन किया गया है; मुख्य रूप से उस पर दृष्टिपात करते हुए भी जहां वह अत्यन्त महत्त्वहीन प्रतीत हुआ है वहां उसे छोड़ दिया गया है।

इसी प्रकार, अन्य मतवादियों के मतों का व उनके खण्डनों का उल्लेख तब तक नहीं किया गया है जबतक कि तत्त्व-विचार की दृष्टि से उनकी उपयोगिता प्रतीत नहीं हुई है। इस प्रकार अनेक खण्डन-मण्डनो का उल्लेख इसमे नहीं हुआ है।

परमत का उल्लेख केवल उतने ही अंश में किया गया जितने अंश, पर पण्डितराज के द्वारा आक्षेप किया गया है। जहां पर प्रतिपक्षी के साथ किये गये प्रघट्टक (वाद-विवाद) के सार मात्र को देने से प्रयोजन की पूर्ति प्रतीत हुई है वहां केवल अपने शब्दो मे उसका सारांश मात्र ही दिया गया है सम्पूर्ण अंश को शब्दश: उल्लिखित नही किया गया।

जिन स्थानों पर खण्डन-मण्डन का पूर्णतः उल्लेख किया गया है वहां अधिकतर मतवादी का मत उसके मूल-ग्रन्थ से ही उद्धृत किया गया है। किन्तु यदि पण्डितराज ने किसी का मत संक्षेप मे अथवा अपने शब्दों में उपस्थित किया है वहाँ वह मत रसगङ्गाधर मे जिस प्रकार लिखा गया है उसी प्रकार इस समीक्षा में उद्धृत किया है जिससे पण्डितराज के अभिप्राय को अवगत करने में सौविध्य हो। पण्डितराज द्वारा दिये गये परमत में और मूलग्रन्थ में प्राप्त उस मत में यदि भिन्नता है तो उसका उल्लेख प्रकृत अध्याय के 'समवलोकन' वाले विभाग मे किया गया है।

समान विषय के अनेक उदाहरण प्राप्त होने पर केवल एक ही उदाहरण दिया गया है, शेष का सङ्केत मात्र कर दिया गया है। इसी प्रकार जहां भेद संख्या बहुत लम्बी है वहां भी सब भेदो का उदाहरण न देकर कुछ का ही उदाहरण दिया गया है। अन्य का इङ्गित मात्र कर दिया है।

पण्डितराज ने अपने ग्रन्थ मे अनेक स्थलो पर शाब्दबोध विचार किया है। अनेक स्थानों पर उनका नैयायिक विचार इतना अधिक लम्बा हो गया है कि उसके कारण विषय-प्रवाह में अवरोध जैसा उत्पन्न हो गया है। उस अवरोध का निवारण करने और विषय को अविशृङ्खलित बनाये रखने के लिये इस समीक्षा में शाब्दबोध-विचार एकत्र सङ्गृहीत कर परिशिष्ट के रूप में दे दिये गये हैं। इसी प्रकार प्रसङ्गवश जहां-जहां अन्य शास्त्रों की चर्चा मूलग्रन्थ में हुई है उसका सङ्कलन भी दूसरी परिशिष्ट के रूप में पुस्तक के अन्त में दे दिया गया है।

रसगङ्गाधर मे पण्डितराज ने विषयों का जो क्रम अपनाया है वह इस समीक्षा में अनुसृत नहीं हुआ है। विषय-बोध को ध्यान में रखते हुए तदनुकूल विषयानुपूर्वी-बन्धन किया है। अत: समान प्रकार के विषय, जो रसगङ्गाधर में यत्र-तत्र विचाराधीन हुए हैं, इसमें एकत्र उपस्थित करने की चेष्टा की है।

इस समीक्षा में जितने अध्याय हैं वह सब समान परिमाण वाले हों--यह इच्छा थी। किन्तु मूलग्रन्थ में विवेच्य विषयों के परिमाण में इतना अन्तर है कि प्रयास करने पर भी उसे नियन्त्रित करना सम्भव न हो सका। परिणामतः समीक्षा-गत अध्यायों मे कलेवर की दृष्टि से समता स्थापित न हो सकी।

प्रत्येक विषय की समीक्षा में एक विशेष क्रम अपनाया गया है जिसके अन्तर्गत सर्वप्रथम पण्डितराज का प्रकृत विषय सम्बन्धी निजी मत, तत्पश्चात् उससे सम्बन्धित परमत एवं पण्डितराजकृत उसका खण्डन एवं अन्त मे 'समवलोकन' के अन्तर्गत सम्पूर्ण विवेचन पर अपना मत दिया गया है। सम्पूर्ण पुस्तक मे यही क्रम है।

प्रस्तुत समीक्षा में कुल ९ अध्याय हैं। तत्पश्चात् सम्पूर्ण समीक्षा का सिंहावलोकन 'उपसंहार' में दिया गया है। अन्त में ४ परिशिष्ट एवं सहायक ग्रन्थों की सूची आदि है। प्रत्येक अध्याय का विषय क्रम क्रमशः इस प्रकार है—

प्रथम अध्याय—

काव्य-लक्षण, काव्य-हेतु और काव्य--भेद। इसके अन्तर्गत पण्डितराज के द्वारा किये गये उक्त तीनों विषयों से सम्बन्धित विचारों का उल्लेख है।

द्वितीय अध्याय—

काव्य-भेद में ध्वनि काव्य सर्वोत्तम है एवं उसका भी उत्कर्ष है रस-ध्वनि में। अतः रस-ध्वनि के सार तत्त्व रस का विवेचन ही इसका विषय है। इस अध्याय में रसनिष्पत्ति सम्बन्धी एकादश मत, रस-संख्या, भेदोपभेद, रस के व्यञ्जक, रस की संलक्ष्यक्रमता, रस-विरोध इत्यादि का एवं भाव-ध्वनि, भावाभास आदि का विवेचन प्रस्तुत किया गया है। रस और भाव पार्श्ववर्ती हैं अतः दोनों का समावेश एक ही अध्याय में कर दिया गया है।

तृतीय अध्याय—

तृतीय अध्याय में काव्य के गुण और दोषों पर विचार किया गया है। यद्यपि दोषों पर पण्डितराज ने विशेष विचार नहीं किया है। तथापि जो कुछ उनके ग्रन्थ में प्राप्त हो सका है वह इस अध्याय में सङ्कलित है।

चतुर्थ अध्याय—

इसमें शब्द--वृत्ति पर विचार प्राप्त है। इसके अन्तर्गत अभिधा लक्षणा का भेदों सहित एवं व्यञ्जना का (जितना भी रसगङ्गाधर में प्राप्त हो सका) विचार उपस्थित है।

पञ्चम, षष्ठ, सप्तम और अष्टम अध्यायों में अलङ्कारों का ही वर्णन है।

पञ्चम अध्याय—

इस अध्याय में स्फुटसादृश्यमूलक सभी अलङ्कारो का वर्णन है। प्रमुख अलङ्कार है—उपमा।

षष्ठ अध्याय—

इस अध्याय में अस्फुट सादृश्यमूलक अलङ्कार हैं। इन दोनो अध्यायो का 'सादृश्यमूलक अलङ्कार' नामक एक ही अध्याय मे सन्निवेश किया जा सकता था किन्तु उपर्युक्त असन्तुलन का निवारण करने के लिये ही उसे द्विधा विभक्त किया गया है।

सप्तम अध्याय—

इसमें विरोध पर आधारित अथवा विरोध-प्रधान अलङ्कारों का तथा द्वि-अर्थ-प्रधान अलङ्कारो का निर्बंधन हुआ है। प्रमुख अलङ्कार है-विरोधालङ्कार।

अष्टम अध्याय—

इस अध्याय मे उक्त तीन प्रकारो से अतिरिक्त प्रकार के अलङ्कार एकत्रित किये गये हैं। सर्वप्रथम तीन शृङ्खलामूलक अलङ्कार हैं तत्पश्चात् अन्य अलङ्कार जिन्हे किसी भी एक सूत्र में नहीं पिरोया जा सकता।

नवम अध्याय—

इसमें पण्डितराज की शैली पर सविस्तार विचार किया गया है। सम्पूर्ण रसगङ्गाधर के सूक्ष्म अवलोकन एवं परिशीलन के पश्चात् पण्डितराज का जो सर्वाङ्गीण व्यक्तित्व सम्मुख आता है उसी की चिति इस प्रकरण में की गयी है।

उपसंहार—

इसके अन्तर्गत सम्पूर्ण समीक्षा का निष्कर्ष एवं सारांश है।

परिशिष्ट—समीक्षा के अन्त में चार परिशिष्ट दिये गये हैं—'क', 'ख', 'ग' और 'घ'। प्रथम परिशिष्ट में शाब्द-बोध विचार है। द्वितीय परिशिष्ट में विभिन्न शास्त्र सम्बन्धी विचार हैं। तृतीय परिशिष्ट में उन समस्त पद्यांशों की वर्णानुक्रमणिका है जो समीक्षा उद्धृत हैं। एवं चतुर्थ परिशिष्ट में पण्डितराज के विभिन्न पारिभाषिक सूत्रों का संकलन है।

सम्पूर्ण कार्य की सिद्धि में जिनका विशेष सहयोग रहा उनमें से सर्वप्रथम गुरु-प्रवर सुबुद्ध डा० सिद्धेश्वर भट्टाचार्यजी के प्रति मेरा हृदय प्रणत है जिनका सस्नेह सतत-निरीक्षण एवं सदाश्वासन आकार्यसमाप्ति मुझे उत्साह देता रहा।

एवमेव दुर्बोध्य रसगङ्गाधर के बोध में सहायक श्री जगदीशचन्द्रजी शास्त्री और न्याय की शिक्षा देने में उदार पूज्य पण्डित दीनानाथ जी झा का जो निःस्वार्थ अनुग्रह रहा उसे भी हृदय विशेष रूप से अनुभव कर उनके प्रति कृतज्ञ है।

रसगङ्गाधर के तत्तद्विषयों के परिमार्जन में बिभागीय अग्रज जिन-जिन गुरुजनों की समय-समय पर जो सहायता मिली है उनके लिये भी मैं आभारी हूँ।

समय-समय पर विभिन्न विषयों की चर्चा करके विषय के स्पष्टीकरण में जिन मित्रों का सहज सहयोग मिला उनको भी मैं सतस्नेह धन्यवाद देती हूँ।

अन्त में सद्गुरु-आशीष, माता-पिता की मौन मूक प्रेरणा और मित्रजन-साहाय्य इन सभी से परे अज्ञात, मचिन्त्य और सर्वविधायिका भगवच्छक्ति के द्वारा बिहित एवं कारित इस कार्य को उसी के प्रति सश्रद्धा समर्पित करते हुए -

श्री अरविन्दाश्रम
पाण्डिचेरी
(दक्षिण भारत)
८-१-७१

कृतज्ञामना
चिन्मयी

कारण है, ठीक वैसे ही घटत्वरूप अर्थ का प्रतिपादक होते हुए भी निश्शेषच्युतचन्दन-त्वादि रूप अर्थ की प्रतिपादकता से विशिष्ट होने के कारण ही 'निश्शेषच्युतचन्दनं स्तनतटं घटोऽयम्' यह शब्द काव्य है।

अर्थात् नाना अर्थों की प्रतिपादकता होते हुए भी, केवल उस अर्थ की प्रति-पादकता को अपनाते हुए ही कोई शब्दविशेष काव्य कहलायेगा जिस अर्थ की भावना चमत्कारजनक होगी। (पारिभाषिक शब्दो में कहा जायेगा कि जिस अर्थ की भावना (अर्थविषयक भावना) चमत्कार-जनकतावच्छिन्ना हो उस अर्थ की प्रतिपादकता ही काव्यत्व का हेतु है।)

इस विवेचन से लाभ यह हुआ कि जिस-जिस शब्द में काव्यता नही है उसे काव्य नही कहा जा सकेगा।

तृतीय परिष्कार—स्वविशिष्टजनकतावच्छेदकार्थप्रतिपादकतासंसर्गेण चमत्का-रत्ववत्त्वमेव वा काव्यत्वम्।[६] आक्षरिक अर्थ की दृष्टि से इस पक्ति में द्वितीय पंक्ति के अर्थ से कोई वैभिन्न्य नहीं है। केवल न्यायसम्मत भाषा का खेल है।

नैयायिकों के अनुसार किसी भी सविकल्पक ज्ञान मे तीन अंश होते हैं—विशेष्य, प्रकार और संसर्ग। उदाहरण के लिये 'घटवद् भूतलम्' एक वाक्य है जिसमे विशेष्य है भूतलम्, प्रकार है घट और ससर्ग है संयोग। इस वाक्य में संयोगसम्बन्धका संसर्ग के रूप मे भान होता है। परन्तु इसी वाक्य को यदि 'घटसंयोगी भूतलम्' कहें तो विशेष्य होगा भूतल, प्रकार होगा घटसंयोग और संसर्ग होगा समवाय। अतः इसमें संयोग का भान प्रकारतया (विशेषणतया) ही हो जाता है। अतः प्रथम वाक्य में जिसका बोध संसर्गतया होता है द्वितीय वाक्य में उसी का बोध प्रकारतया हो जाता है। इस प्रकार बोध का विषय दोनों में समान रहता है; केवल उसके आकार में ही अन्तर होता है। उक्त परिष्कार का अर्थ है—प्रतिपादकता सम्बन्ध से चमत्कार को उत्पन्न करने वाले अर्थ से युक्त शब्द होना ही काव्य है।

इस प्रकार अपने लक्षण को परिमार्जित रूप में स्थिर करने के पश्चात् कवि ने मम्मट भट्ट के लक्षण पर आक्षेप किया है।

मम्मट का काव्य-लक्षण

मम्मट का काव्य-लक्षण इस प्रकार है—'तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलङ्कृती पुनः क्वापि।'[७] अर्थात् शब्द और अर्थ दोनों काव्य हैं परन्तु उस शब्दार्थयुगल मे तीन विशेषतायें होनी चाहियें-(१) दोषराहित्य, (२) गुणयुक्तता और (३) अलङ्कारयुक्तता। इसमें 'शब्दार्थौ' पद है विशेष्य, तथा अदोषौ, सगुणौ और सालङ्कारौ पद हैं विशेषण।

---

६. रस. पृ. ५।

७. का. प्र. पृ. १०।

पण्डितराज कृत खण्डन

पण्डितराज ने इस लक्षण का खण्डन किया है। उन्होंने पहले विशेष्यांश का खण्डन किया है, तत्पश्चात् विशेषणों का।

(१) शब्दार्थौ: (क) विशेष्यांश को खण्डित करते समय प्रथम तर्क यह दिया कि काव्य शब्द कहने से शब्द और अर्थ दोनों का एक साथ बोध नहीं होता अर्थात् शब्दार्थोभय में काव्य पद का सङ्केत नहीं है। केवल 'शब्द' ही उसका अभिहित अर्थ है क्योंकि 'काव्यमुच्चै: पठ्यते', 'काव्यं श्रुतमर्थो न ज्ञात.' इत्यादि जो लोक में प्रचलित व्यवहार हैं उनके अर्थों की सङ्गति तभी होगी जब काव्य पद को शब्द मात्र का वाचक माना जाय।

काव्य पद का व्यवहार शब्द और अर्थ दोनों के लिये होता है, उसमें मम्मट का वाक्य इसलिए प्रमाण नहीं माना जा सकता क्योंकि वह प्रतिवादी का वाक्य है।

(ख) यदि यह स्वीकार किया भी जाय कि काव्य पद से शब्द और अर्थ दोनों की उपस्थिति होती है तो इसका अर्थ होगा कि 'शब्द और अर्थ'—इस शक्य (अर्थ) में शक्यतावच्छेदकधर्म काव्यत्व रहता है। तब यह विचारणीय हो जाता है कि यह धर्म प्रत्येक पर्याप्त है या व्यासक्त।

यह धर्म दो प्रकार का होता है—(१) एक में रहने वाला, (२) अनेक में रहने वाला। उदाहरण के लिये घटपदार्थ का शक्यतावच्छेदक धर्म है घटत्व जो प्रत्येक घट में पृथक्-पृथक् रूप से रहता है। प्रत्येक घट स्वतन्त्र रूप से घटत्व का आधार है, अथवा घटत्व का अधिकरण बनने के लिये प्रति-एक घट पर्याप्त है। अतः घटत्वरूप धर्म प्रत्येक पर्याप्त है। 'द्वि' पदार्थ का शक्यतावच्छेदकधर्म है द्वित्व जो उभय में ही रहता है। उभय के अन्तर्गत प्रत्येक एक को द्वित्वविशिष्ट नहीं कह सकते। अर्थात् दो में व्यासक्त रूप से (जुड़े रहकर) द्वित्व रहता है। इसी प्रकार बहुत्व भी अनेक में व्यासक्त रूप से रहता है, सब में पृथक्-पृथक् नहीं। अत. द्वित्वादि व्यासक्त धर्म है।

अब प्रकृत स्थल में काव्यत्व को यदि प्रत्येक पर्याप्त धर्म माना जाय तो निस्सन्दिग्ध रूप से शब्द और अर्थ स्वतन्त्र रूप से काव्य-पद-वाच्य हो जायेंगे और उस स्थिति में एक ही पद्य में दो काव्यों की स्थिति बन जायेगी—एक शब्दांश को लेकर दूसरी अर्थांश को लेकर। यदि काव्यत्व को व्यासक्त धर्म मानें तो श्लोक वाक्य को काव्य नहीं कहा जा सकेगा। क्योंकि जैसे 'एको न द्वौ' यह व्यवहार उचित है वैसे ही श्लोक के शब्दमात्र के लिये भी 'यह काव्य नहीं है' यही कहा जायेगा।

व्यवहारतः दोनों ही स्थितियाँ असङ्गत हैं क्योंकि न तो एक पद्य में दो काव्यों का व्यवहार होता है, और न 'श्लोकवाक्य काव्य नहीं है'—यह व्यवहार होता है।

अतः जब यह सिद्ध ही नहीं हो पाता कि शब्द और अर्थ में काव्यत्व किस वृत्ति से रहता है तो काव्य पद को शब्दार्थ का वाचक कहना अनुचित है।[८]

विशेष्यांश का खण्डन करने के पश्चात् प्रत्येक विशेषण का खण्डन इस प्रकार किया है :—

(२) 'सगुणौ', 'सालङ्कारौ' :—(क) गुण और अलङ्कार से युक्त शब्दार्थ को काव्य मानने पर 'उदितं मण्डलं विधोः' और 'गतोऽस्तमर्कः' इत्यादि वाक्यों को काव्य नहीं कहा जा सकेगा क्योंकि इन वाक्यो मे न कोई गुण है न अलङ्कार। यह वाक्य काव्य है ही नही यह कहा नही जा सकता क्योकि वक्तृबोद्धव्यादिके वैशिष्ट्य से उक्त वाक्यों से नाना व्यङ्ग्यार्थों की प्रतीति होती है, जिनसे चमत्कार पैदा होता है, अत. यह काव्य है, इसमें किसी प्रकार के वैमत्य की सम्भावना नही।

(ख) गुण और अलङ्कार से युक्त शब्दार्थ को काव्य मानने पर दूसरा प्रश्न यह उठता है कि माधुर्य, ओज आदि मे से किसी एक गुण का होना आवश्यक है या समस्त गुणों का? एवमेव उपमा रूपकादि अनेक अलङ्कारो में से किसी एक अलङ्कार का होना आवश्यक है या समस्त अलङ्कारों का होना? यदि समस्त गुण और अलङ्कारों से युक्त शब्दार्थ को काव्य कहा जायेगा तो असम्भव दोष हो जायेगा। अर्थात् काव्य ही नहीं बन पायेगा क्योंकि ऐसा कोई काव्य नहीं है, न हो सकता है कि जिसमें सब गुण और सब अलङ्कार हों। और यदि किसी एक गुण विशेष और अलङ्कार विशेष के होने पर काव्य माना जाय तो उसका निर्वचन करना पड़ेगा। उस निर्वचन से तदितर गुण और अलङ्कारों से युक्त जितना भी काव्य है वह सब अकाव्य हो जायेगा। उदाहरण के लिये वह गुणविशेष यदि प्रसाद हो तो माधुर्य और ओज गुण से युक्त काव्य काव्य नहीं रहेगा। इसी प्रकार अलङ्कार विशेष के निर्वचन से भी अव्यवस्था होगी।

यदि यह कहा जाय कि घट पद से घटत्व के समान गुण और अलङ्कार पदों से गुणत्व और अलङ्कारत्व को ग्रहण करना चाहिये तब भी यह प्रश्न किया जा सकता है कि अलङ्कारत्व और गुणत्व क्या हैं तथा इनका स्वरूप क्या है? घटत्व के समान इन्हें जाति तो कह नहीं सकते क्योंकि जाति वहीं होती है जहाँ पदार्थ अनेक हों और एक समान हों। घट पदार्थ अनेक हैं और सब समान हैं इसलिए उनमें घटत्व जाति की सिद्धि होती है। परन्तु गुण और अलङ्कार तो समान हैं नहीं, प्रत्येक गुण अन्य गुणों से और प्रत्येक अलङ्कार अन्य अलङ्कारों से विसदृश है। इस विसदृशता के रहते हुए वहाँ जाति मानना निराधार है।

इस प्रकार जब गुणत्व और अलङ्कारत्व का ही निर्वचन नही हो सका तो उससे युक्त शब्दार्थ को काव्य कहना तो अत्यन्त निस्सार है।[९]

---

८. रस. पृ. ६।

९. गुणत्वालङ्कारत्वादेरननुगमाच्च। (रस. पृ. ७)

मम्मट के पक्ष से उपर्युक्त प्रश्न के उत्तर में यदि यह भी कहा जाय कि, जो शूरता वीरता आदि के समान काव्य की आत्मा के धर्म हों वह गुण और जो कटक कुण्डलादि के समान काव्य के शरीर- शब्द और अर्थ के शोभाकारक हों वह अलङ्कार है, अतः तद्विशिष्ट शब्दार्थ को काव्य कहना चाहिये तो भी ठीक नहीं है क्योंकि आत्मा के धर्म और शरीर के उपस्कारक होने पर भी वह काव्य के घटक उसी प्रकार नहीं हो सकते जिस प्रकार शूरता वीरता और कटक कुण्डलादि मनुष्य के घटक नहीं बन सकते ।[10]

(३) **अदोषौ** :—(क) अदोषौ विशेषण भी अनुचित है क्योंकि गुण और अलङ्कार पदों के समान ही दोष पद का तात्पर्य भी स्पष्ट नहीं है। अर्थात् एक दोष से रहित शब्दार्थ काव्य है या समस्त दोषों से रहित—यह निश्चित नहीं है। समस्त दोषों से रहित मानने पर यहाँ भी असम्भव दोष होगा क्योंकि ऐसा कोई काव्य नहीं है जिसमें कोई दोष न हो। और यदि किसी दोष विशेष से रहित मानें तो उस दोष विशेष का निर्वचन करना होगा। अन्यथा कौन-सा दोष लिया जाय यह जानना कठिन होगा। इन दोनों के अतिरिक्त तृतीय अर्थ 'दोषत्वविशिष्ट' लेने पर भी दोषत्व के निर्वचन से मुक्ति नहीं मिलती है। 'दोषत्व' जाति हो नहीं सकती क्योंकि समस्त दोषों में विसदृशता है। अतः गुणत्व अलङ्कारत्व के समान दोषत्व का भी कोई अनुगमक जब नहीं है तो उसे भी शब्दार्थ का विशेषण बनाना अनुपयुक्त है।

(ख) इस विशेषण के अनौचित्य का दूसरा कारण यह है कि 'अदोषौ' कह देने से यह सिद्ध होता है कि दोष से युक्त शब्द और अर्थ काव्य नहीं है। परन्तु, इसके विपरीत 'दुष्टं काव्यम्' इस प्रकार का व्यवहार होता है। अतः दोषयुक्त होने से जो काव्य नहीं है उसे काव्य कहना विरुद्ध एवं असङ्गत है।

'दुष्टं काव्यम्' इस व्यवहार को सिद्ध करने के लिये यदि यह कहा जाय कि—"जिस प्रकार 'मूले महीरुहो विहङ्गमसंयोगी न शाखायाम्' (अर्थात् मूल प्रदेश में वृक्ष पक्षिसंयोगी है शाखा प्रदेश में नहीं) इस प्रकार एक ही वृक्ष के लिये संयोगी और असंयोगी यह दोनों प्रकार के व्यवहार होते हैं, इसी प्रकार एक ही पद्य के लिये जिस अंश में वह दोषयुक्त है उस अंश में 'अकाव्य' और जिस अंश में दोषहीन है उस अंश में 'काव्य' यह व्यवहार होता है। इस प्रकार एक ही पद्य काव्य भी हो सकता है अकाव्य भी।"—तो उचित नहीं है क्योंकि वृक्ष के सम्बन्ध में लोक में जिस प्रकार उपर्युक्त अनुभव होता है वैसा किसी पद्य के लिये नहीं होता। अतः जब तक किसी प्रमाण से यह सिद्ध नहीं हो जाता कि एक पद्य में काव्य और अकाव्य दोनों की प्रतीति एक साथ होती है, तबतक उसे स्वीकार करना न्यायसङ्गत नहीं है।

---

१०. शौर्यादिवदात्मधर्माणां गुणानाम्, हारादिवदुपस्कारकाणामलङ्काराणां च शरीरघटकत्वानुपपत्तेश्च। (रस. पृ. ७)

अतः 'अदोषौ' विशेषण भी असिद्ध है ।[११]

इन युक्तियो के आधार पर मम्मट-सम्मत काव्य-लक्षण को खण्डित करने के पश्चात् पण्डितराज ने साहित्यदर्पणकार विश्वनाथ का लक्षण भी अव्युत्पन्न बताया है ।

विश्वनाथ का काव्य-लक्षण

विश्वनाथ का काव्यलक्षण इस प्रकार है—'वाक्यं रसात्मकं काव्यम् ।' अर्थात् रस जिसका आत्मा है ऐसा वाक्य काव्य है । अर्थात् जिस वाक्य से रस की अभिव्यञ्जना हो वह वाक्य काव्य है ।[१२] विश्वनाथ ने वाक्य को अर्थात् शब्द को काव्य कहा है परन्तु वह वाक्य ऐसा हो जिसके द्वारा रस की उत्पत्ति होती हो । इसमे विशेष्य है 'वाक्यम्' और विशेषण है 'रसात्मकम्', पण्डितराज ने इसके विशेषणांश पर आक्षेप किया है ।

पण्डितराजकृत खण्डन

(क) पण्डितराज के अनुसार यह लक्षण अव्याप्ति दोष से ग्रस्त है । क्योकि जिस काव्य में वस्तु और अलङ्कार प्रधान हैं, वहाँ यह लक्षण समन्वित नही होता । अतः बहुत-सा काव्य अकाव्य हो जायेगा । वस्तु और अलङ्कार प्रधान काव्य के अन्तर्गत वह सब काव्य है जिसमें कवियो ने कपि, बालक, जल-प्रवाहादि का वर्णन किया है ।

(ख) यदि रसात्मकम् का तात्पर्य यह लिया जाय कि यथाकथञ्चित् जो भी रस से सम्बन्धित हो वह सब काव्य है तब अत्यन्त साधारण वाक्य 'गौश्चलति' 'मृगो धावति' आदि वाक्य भी काव्य हो जायंगे । परम्परया प्रत्येक वस्तु ही रस सम्बन्धी हो सकती है ।[१३]

समवलोकन

काव्य की परिभाषा (लक्षण) को लेकर काव्यशास्त्र मे आरम्भ से ही पर्याप्त विचार होता रहा है । इसमें समान रूप से दो धाराएँ प्रवाहित होती रही, पहली वह जिसमे केवल शब्द को काव्य माना गया, दूसरी वह जिसमें शब्द और अर्थ दोनो को काव्य माना गया ।

पण्डितराज ने इनमे से प्रथम सरणि को ही अपनाया, अतः शब्द को काव्य मानने मे कोई नावीन्य नही है । परन्तु इन दोनों मतो मे से शब्दार्थ को काव्य मानने में हानि क्या है—इसका प्रकाशन सर्वप्रथम पण्डितराज ने ही किया है । यही इनकी नवीनता है ।

---

११. रस पृ. ७ ।
१२. सा. द. पृ. १६ ।
१३. रस. पृ. ७ ।

इस प्रसङ्ग में मम्मट के काव्य-लक्षण का खण्डन किया है। उसके दो आधार हैं—(१) अनुभव और (२) न्याय। 'काव्यमुच्चैः पठ्यते' आदि लोक व्यवहार (अनुभव) के उदाहरण हैं और काव्यत्व किस वृत्ति से रहता है इत्यादि न्यायावलम्बित विचार है।

पण्डितराज मम्मट और अभिनव आदि को पूज्य मानकर चले थे किन्तु उनका वह पूज्यभाव भी सर्वत्र स्थिर नहीं रहा। मत-वैभिन्न्य होने पर वह मम्मट का भी विरोध कर बैठे। काव्यलक्षण इसका उदाहरण है।

मम्मट के काव्यलक्षण को खण्डित करते समय काव्यत्व को लेकर जो विचार किया गया है उससे ऐसा लगता है कि रसगङ्गाधरकार की दृष्टि काव्य के स्वरूप निश्चय पर ही टिकी थी न कि उसके लक्षण-निश्चय पर। 'काव्यत्व' वास्तव में काव्य का स्वरूप (जैसे गो का गोत्व) ही हो सकता है लक्षण नहीं। यह पण्डितराज के पाण्डित्य का दोष है।

कुछ ऐसे विषयों पर भी पण्डितराज की महत्त्वपूर्ण दृष्टि गयी जो काव्य में सभी आलङ्कारिकों के द्वारा सामान्य रूप से स्वीकार तो किये गये थे किन्तु उनका स्वरूप व लक्षण किसी ने नहीं किया था। उदाहरण के लिये 'चमत्कार' को लिया जा सकता है। पण्डितराज ने चमत्कार क्या है इसको स्पष्ट किया है। किन्तु यह स्पष्टीकरण शुद्ध नैयायिक पथ से किया गया है, अतः यद्यपि नैयायिक रूप से वह चमत्कारत्वविशिष्ट इत्यादि रूप से सिद्ध हो जाता है तथापि आलङ्कारिकों की तुष्टि नहीं कर पाता।[१४]

अन्त में यह कहा जा सकता है कि काव्य लक्षण के अनन्तर अबाध्य रूप से प्रवहणशील दो धाराओं में से एक को स्वीकार कर उसे दूसरे से युक्तिपूर्ण तर्कों से श्रेष्ठ सिद्ध करना पण्डितराज का ही कार्य है।

काव्य-हेतु

काव्य का कारण मात्र प्रतिभा

काव्य के हेतु के सम्बन्ध में पण्डितराज का यह वचन है :—'तस्य च कारणं कविगता केवला प्रतिभा।'[१५] अर्थात् कवि में रहने वाली एक शक्ति-विशेष—प्रतिभा ही काव्य का कारण है। यह प्रतिभा वास्तव में है क्या? इसके उत्तर में कहा है—'काव्यघटनानुकूलशब्दार्थोपस्थितिः।'[१६] अर्थात् काव्य को बनाने के अनुकूल शब्द और

१४. परि. ब-१।
१५. रस पृ. ८।
१६. वही।

अर्थ की उपस्थिति ही प्रतिभा है। वह एक शक्ति विशेष है जो कवि मे ही रहती है। प्रतिभा ऐसा तत्त्व नही जिसे किसी ठोस रूप मे दिखाया जा सके। कवि के कार्यमात्र से ही उसका ज्ञान होता है। अतः काव्य के उपयुक्त शब्द और अर्थ की उपस्थिति (प्रयोग) ही प्रतिभा है।

सामान्य भाषा मे कहे तो, कवि अपने अन्तर्जगत् में और बहिर्जगत् मे जो कुछ निरीक्षण करता है, जो कुछ अनुभव करता है, उसको एक विशेष रूप से सामाजिको के सम्मुख रखता है। उस अनुभव को प्रस्तुत करने मे ही कवि की कला निहित है।

प्रतिभोत्पत्ति में दो कारण

वह प्रतिभा भी दो कारणो से उत्पन्न होती है—(१) किसी देवता या महापुरुष के प्रसाद से उत्पन्न अदृष्ट के द्वारा और (२) विलक्षण व्युत्पत्ति एव अभ्यास के द्वारा। प्रथम कारण का तात्पर्य है किसी देवता या महापुरुष की आराधना या सेवा से उसकी प्रसन्नता के फलस्वरूप काव्य बनाने की क्षमता का आ जाना एवं द्वितीय कारण का तात्पर्य है स्वय विभिन्न शास्त्रादि के अनुशीलन, लोक-पर्यवेक्षण से और किसी योग्य गुरु के समीप काव्य बनाने का निरन्तर अभ्यास करके काव्य निर्माण में सक्षम होना।

अदृष्ट एवं विलक्षण व्युत्पत्ति और अभ्यास स्वतन्त्र रूप से प्रतिभा को उत्पन्न करने मे समर्थ हैं—अपने मत के समर्थन में उन्होने कुछ तर्क भी दिये हैं, जो क्रमशः इस प्रकार हैं:—

(१) केवल देवतादि के प्रसाद से उत्पन्न अदृष्ट मात्र प्रतिभा के प्रति इसलिये कारण है क्योकि बालको मे बिना किसी विशेष ज्ञान (विलक्षण-व्युत्पत्ति) और अभ्यास के भी प्रतिभा की उत्पत्ति देखी जाती है। अतः वहाँ इन तीनो की सम्मिलित कारणता असङ्गत होती है। इस प्रकार के अपवादरूप स्थलों मे विशेषज्ञान और अभ्यास की सिद्धि पूर्वजन्म में हो चुकी है ऐसी कल्पना करना भी अनुचित है क्योकि उसके लिये कोई दृढ़ आधार नही है। जब महापुरुष आदि के प्रसाद से ही प्रतिभा की प्राप्ति हो सकती है तो केवल अदृष्ट तथा विलक्षण व्युत्पत्ति और अभ्यास तीनो की एकत्र सिद्धि के लिये ही उसकी सत्ता पूर्वजन्म में मानना अनुचित है। जबतक यह स्थिति न हो कि किसी कारण विशेष का इस जन्म मे अभाव हो और उससे होने वाला कार्य होता हो तबतक उस कारण को (जिसके बिना कार्य की सिद्धि हो ही न सकती हो) पूर्वजन्म में सिद्ध करना ठीक नही है।

(२) इसी प्रकार कई बार ऐसा भी होता है कि कुछ समय तक कोई व्यक्ति काव्य नही बना पाता परन्तु निरन्तर शास्त्रादि का अनुशीलन और अभ्यास करने से कुछ समय पश्चात् वह काव्य बनाने लगता है। अतः स्पष्टतः ही वहाँ केवल विलक्षण-व्युत्पत्ति और अभ्यास प्रतिभोत्पत्ति में कारण सिद्ध होते हैं। यद्यपि इस प्रकार के

स्थलों पर भी उक्तविधया यह कहा जा सकता है कि वहाँ भी अदृष्ट रहा ही होगा, वह कोई दृष्ट तो है नहीं कि जिसे प्रत्यक्षादि प्रमाणों से सिद्ध किया जा सके, परन्तु यह कल्पना भी उचित नहीं है। कारण यह है कि उपर्युक्त सिद्धि के अनुसार जब यह निश्चित हो गया कि अदृष्ट अकेला ही प्रतिभा उत्पन्न करने मे समर्थ होता है तब यह असम्भव हो जायेगा कि वह रहे और प्रतिभा की उत्पत्ति कुछ दिन तक न हो। इसके लिये एक दूसरी कल्पना और की जा सकती है कि वहाँ कोई प्रतिबन्धक विशेष रहा होगा जिससे प्रतिभा उत्पन्न नही हो सकी, एव च काव्य नहीं बन पाया। किन्तु इस प्रकार से काव्य की उत्पत्ति मानने मे दो-दो कल्पनाएँ करनी पड़ती हैं-(१) विलक्षण-व्युत्पत्ति और अभ्यास के साथ अदृष्ट की कल्पना, (२) इस अदृष्ट के लिये एक प्रतिबन्धक की कल्पना।

इस कल्पित मार्ग की अपेक्षा प्रत्यक्ष प्रमाणित विलक्षण व्युत्पत्ति और अभ्यास को ही कारण मानने वाला मार्ग लघुतर है। अतः वही ग्राह्य है।

यदि कोई ऐसा उदाहरण मिले कि जिसमे अदृष्ट से उत्पन्न प्रतिभा तो नहीं ही हो और विलक्षण व्युत्पत्ति और अभ्यास से भी प्रतिभा की उत्पत्ति न होती हो तो वहाँ यह समझना चाहिये कि उस व्युत्पत्ति और अभ्यास मे वह विलक्षणता नहीं है जो काव्य को बनाने के लिये चाहिये अथवा यह भी कहा जा सकता है कि वहाँ कोई प्रतिबन्धक रहा होगा जिससे प्रतिभा उत्पन्न नही हो सकी। इस प्रतिबन्धक की कल्पना कोई अतिरिक्त अथवा अनावश्यक कल्पना नही है क्योकि सिद्धान्ततः सभी आलङ्कारिकों ने प्रतिबन्धक के अभाव को कार्यसामान्य के प्रतिकारण माना है। एव च, इस प्रतिबन्धकाभाव की कारणता तो अदृष्ट, विलक्षण व्युत्पत्ति और अभ्यास इन तीनों को एक साथ प्रतिभा की उत्पत्ति मे कारण मानने पर भी बनी ही रहेगी।

इस प्रकार पण्डितराज ने यह निश्चित एव प्रमाणित किया है कि काव्य को बनाने मे समर्थ है एकमात्र प्रतिभा और उस प्रतिभा की उत्पत्ति दो प्रकार से हो सकती है—एक, देवता या महापुरुष के प्रसाद से उत्पन्न अदृष्ट से और दूसरे, विलक्षण व्युत्पत्ति और अभ्यास से। तीनों का एकत्र होना प्रतिभा की उत्पत्ति के लिये आवश्यक नही है।

देवता या महापुरुष के प्रसाद से उत्पन्न अदृष्ट वा विलक्षण व्युत्पत्ति और अभ्यास
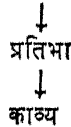
समवलोकन

प्रतिभा के क्षेत्र में पण्डितराज ने एक नवीन दिशा की ओर पग उठाया है जिससे मम्मटीय मत मे और पण्डितराजीय मत में बहुत बड़ा अन्तर आ गया है।

मम्मट के अनुसार प्रतिभा जन्मजात आनुवंशिक रूप से प्राप्त एक गुण था। जन्मजात होने के कारण उसे प्राप्त करने के लिये मनुष्य की कोई निजी चेष्टा सम्भव न थी।

पण्डितराज के अनुसार वह प्रतिभा जन्मजात अप्राप्य गुण नहीं है अपितु अर्जित एवं प्राप्य गुण है। उसकी प्राप्ति के दो मार्ग है-(१) देवभक्ति के द्वारा देवता को प्रसन्न करना, (२) विलक्षण ज्ञान प्राप्ति और विलक्षण अभ्यास करना।

उनके सम्मुख कालिदास जैसे कवि भी थे और माघ, भवभूति आदि जैसे भी। दोनो मे से किसी भी प्रकार के कवियो को अकवि कहना असम्भव था, इसलिए पण्डितराज को प्रतिभा की प्राप्ति के दो मार्ग स्वीकार करने पडे। इसके अतिरिक्त इस मान्यता के पीछे यह अभिमान भी विद्यमान हो सकता है कि पण्डितराज अपनी रचनाओं को कालिदास आदि महान् कवियो की रचनाओ से कम मानने को तैयार न हो।

अस्तु, इतना तो निस्सन्दिग्ध है कि प्रतिभा को इस प्रकार से सम्मुख रखना आगामी कवि परम्परा के लिये एक बहुत बडा प्रोत्साहन है। जबतक प्रतिभा जन्मजात थी तबतक कालिदास के समान दूसरा कवि होना असम्भव था परन्तु जब वह अर्जित बना दी गयी तो प्रत्येक व्यक्ति के लिये कालिदास का कवित्व प्राप्त करना सम्भव हो गया।

प्रतिभा का लक्षण परिमार्जित करके नैयायिक रीति से उसके स्वरूप को जाति या उपाधि कह देना कुछ अरुचिकर लगता है।[१७]

काव्य-विभाजन

काव्य-हेतु के पश्चात् रसगङ्गाधर में काव्य के विभाजन को लेकर विचार किया गया है। इसमे पण्डितराज ने अपना विशेष मत सम्मुख रखा है। इससे पूर्व काव्य के तीन ही भेद किये गये थे परन्तु इन्होंने उसे चतुर्धा विभक्त किया—'**तच्चोत्तमोत्तमोत्तम-मध्यमाधमभेदाच्चतुर्धा**।[१८(क)] यह चातुर्वर्णिक भेद इस प्रकार है —

पण्डितराज के अनुसार काव्य-भेद

प्रथम भेद—प्रथम भेद है उत्तमोत्तम काव्य। इसका लक्षण पण्डितराज ने इस प्रकार किया है—'**शब्दार्थौ यत्र गुणीभावितात्मानौ कमप्यर्थमभिव्यङ्क्तस्तदाद्यम्**।[१८(ख)] अर्थात् जिस काव्य में शब्द और अर्थ (वाच्यार्थ) अप्रधान रहते हुए किसी अन्य अर्थ को अभिव्यक्त करें वह काव्य उत्तमोत्तम काव्य होता है।

---

१७. परि. ख-१

१८. (क) रस पृ. ६।
(ख) वही।

इस लक्षण मे 'कमपि' पद का तात्पर्य ऐसे अर्थ में है जो वाच्यार्थ से अतिरिक्त होते हुए चमत्कार का कारण हो। कवि के द्वारा कहे हुए वाक्य को सुनने से सहृदय को उसका वाक्यार्थ बोध होता है। परन्तु इस वाक्यार्थ से अतिरिक्त यदि उसको किसी ऐसे अर्थ का बोध होता है जो उस वाक्यार्थ से भी अधिक चमत्कारी होता है एव अनुरणन के समान पुनः पुनः स्मृति में आता रहता है तो वह उत्तम काव्य कहलाता है। इसी भेद को ध्वनिकाव्य करके कहा गया है। उदाहरण के लिये—

'गुरुमध्यगता मया नताङ्गी, निहता नीरजकोरकेण मन्दम्।
दरकुण्डलताण्डवं नतभ्रूलतिकं मामवलोक्य घूर्णितासीत्॥'[१९]

यह एक श्लोकात्मक वाक्य है। इससे सहृदय को 'गुरुजनों के मध्य स्थिता, झुके हुए अङ्गो वाली, मेरे द्वारा धीरे से कमलकलिका के द्वारा आहत, कुण्डलो के हल्के विचलन वाली तथा नीची भ्रूवाली वह नायिका मुझे देखकर मुड गयी' इस वाक्यार्थ का बोध होता है। यह वाक्यार्थ वाच्यार्थ है। इस वाच्यार्थ बोध के पश्चात् ही सहृदय के हृदय मे 'घूर्णितासीत्' इस शब्द के बल पर विद्युतवत् एक अन्य अर्थ की स्फुरणा होती है कि 'हे असमीक्ष्यकारी! तुमने यह क्या अनुचित कार्य किया!' इति। एव इस व्यङ्ग्य अर्थ से नायिका के हृदय मे स्थित अमर्ष की अभिव्यक्ति होती है। इस व्यङ्ग्यार्थ के ज्ञात होते ही प्रथम क्षण मे ज्ञात हुए वाच्यार्थ का चमत्कार मन्द पड़ जाता है एव घण्टानुरणन के समान वह व्यङ्ग्यार्थ विशेष ही पुनः पुनः स्मृति में आता है और इस पुनःस्मृति से चमत्कार होता है।

उक्त पद्य मे जो अर्थ शब्द और अर्थ के बल पर अभिव्यक्त होता है वह वाच्यार्थ से भिन्न है तथा अधिक चमत्कारी होने से प्रधान भी है। शब्द तो स्पष्टतः अप्रधान है ही। अतः प्रथम भेद के लक्षण के अनुसार यहाँ प्रथम प्रकार का अर्थात् उत्तमोत्तम काव्य है।

इस भेद का सोदाहरण निरूपण करने के पश्चात् अप्पयदीक्षित के चित्र-मीमासा नामक ग्रन्थ के कुछ अश को उद्धृत कर पण्डितराज ने उसका खण्डन किया है। अप्पयदीक्षित का वह अश मम्मट के काव्य प्रकाश से सम्बन्धित है। काव्य-प्रकाश मे ध्वनि काव्य के उदाहरण मे एक पद्य दिया गया है जिसकी व्याख्या चित्रमीमासा मे की गयी है। उसीकी आलोचना रसगङ्गाधर में हुई है।

काव्यप्रकाश मे दिया गया वह उदाहरण इस प्रकार है.—

अप्पयदीक्षित का मत

'निश्शेषच्युतचन्दनं स्तनतटं निर्मृष्टरागोऽधरो
नेत्रे दूरमनञ्जने पुलकिता तन्वि तवेयं तनुः।

१९. रस. पृ. ११।

मिथ्यावादिनि दूति बान्धवजनस्याज्ञातपीडागमे
वापी स्नातुमितो गतासि न पुनस्तस्याधमस्यान्तिकम् ।।' २०

अप्पयदीक्षित ने चित्र मीमासा मे इसकी व्याख्या करके यह सिद्ध किया है कि यह पद्य किस कारण से ध्वनि का उदाहरण है अर्थात् इससे व्यङ्ग्यार्थ की प्रतीति किस प्रकार होती है इत्यादि ।

रसगङ्गाधर मे उद्धृत अप्पयदीक्षित की व्याख्या इस प्रकार है–"उत्तरीय को खीचने से चन्दन का च्युत होना सिद्ध न हो जाय इसके लिये उक्त पद्य मे 'निश्शेष' पद का ग्रहण किया गया है और उस चन्दनच्यवन की स्नानादि सामान्य कारणो से सिद्धि को निवृत्त करने के लिये एव सभोग के चिह्न का उद्घाटन करने के लिये 'तटम्' पद का प्रयोग किया गया है । क्योकि स्नान से सम्पूर्ण प्रदेश ही चन्दनहीन होता जब कि तुम्हारा (दूतीका) केवल उपरिभाग ही चन्दन से रहित है । अतः इससे सिद्ध होता है कि यह आलिङ्गनकृत ही है ।"

इसी प्रकार 'निर्मृष्टरागोऽधर.' मे भी, ताम्बूल ग्रहण किये हुए विलम्ब हो जाने से भी लालिमा क्षीण हो सकती है-इस प्रकार की सम्भावना का परिहार करने के लिये रक्तिमा की निश्शेष (पूर्णरूपेण) मृष्टता कही गयी है । पुनः स्नानादि साधारण कारणों का व्यावर्त्तन और सम्भोगचिह्नों के उद्घाटन के लिए 'अधर' पद को विशेष्य के रूप में ग्रहण किया है । क्योंकि यह कहा गया है कि उत्तरोष्ठ के रक्तिम रहते, अधरोष्ठ मात्र की अरक्तता चुम्बन से ही होती है—इत्यादि कारणों से यह भी ध्वनि का उदाहरण है ।[२१]

उपर्युक्त व्याख्या का सार यह है कि पण्डितराज की दृष्टि में अप्पयदीक्षित के अनुसार निश्शेषादि सभी विशेषण पद अपने-अपने विशेष्यों के प्रति सम्भावित सामान्य कारणो का (स्नानादि जो सम्भोगेतर है) निवारण करते है । एव अधमपद से व्यङ्ग्य-होने वाले व्यङ्ग्यार्थ की व्यञ्जना मे सहायक होते है । अर्थात् निश्शेषादि विशेषणो के कारण ही चन्दनच्यवन आदि कार्यों का सम्भोगजन्य होना निश्चित होता है ।

पण्डितराजकृत खण्डन

इस उदाहरण मे पण्डितराज और अप्पयदीक्षित दोनो के ही मत मे, समानरूप से, 'वापी,स्नातु न गतासि, तस्याधमस्यान्तिकमिति' यह अर्थ व्यङ्ग्यार्थ होता है । परन्तु

---

२० का प्र पृ. १४ ।

२१. उत्तरीयकर्षणेन चन्दनच्युतिरित्यन्यथासिद्धिपरिहाराय निःशेषग्रहणम् । ततश्चन्दनच्युते स्नान-साधारण्यव्यावर्तनेन सम्भोगचिह्नोद्घाटनाय तटग्रहणम् । स्नाने हि सर्वत्र चन्दनच्युतिः स्यात्, तव तु स्तनयोस्तट उपरिभाग एव दृश्यते । इयमालिङ्गनकृतेव । तथा निर्मृष्टरागोऽधर इत्यत्र ताम्बूलग्रहणविलम्बात्प्राचीनरागस्य किञ्चिन्मृष्टतेत्यन्यथापरिहाराय निर्मृष्टराग इति रागस्य निःशेषमृष्टतोक्ता । पुनः स्नानसाधारण्यव्यावर्तनेन सम्भोगचिह्नोद्घाटनायाधर इति विशेष्य ग्रहणम् । उत्तरोष्ठे सरागेऽधरोष्ठमात्रस्य निर्मृष्टरागता चुम्बनकृतैव इत्यादिना, इदमपि ध्वनेरुदाहरणम् इत्यन्तेन सन्दर्भेण । (रस पृ १२) ।

अप्पयदीक्षित ने जिस प्रकार इसकी व्याख्या की है उसके अनुसार यह अर्थ व्यङ्ग्यार्थ न होकर लक्ष्यार्थ हो जाता है तथा यह पद्य गुणीभूतव्यङ्ग्य के अन्तर्गत चला जाता है, ध्वनि नही रह पाता । अप्पयदीक्षित की व्याख्या दोषयुक्त है इसके लिये पण्डितराज ने उपर्युक्त व्याख्यान मे दो दोष दिखाये है (१) पहला है प्राचीन अलङ्कार ग्रन्थों से विरोध और (२) दूसरा है उपपत्ति विरोध ।

ग्रन्थविरोध--(क) प्राचीन अलङ्कारग्रन्थो का तात्पर्य है ध्वन्यालोक व काव्य-प्रकाश मे ।

आनन्दवर्धनाचार्य ने भी ध्वन्यालोक के प्रथम उद्योत में एक उदाहरण [२२] देकर व्यञ्जको का साधारण्य ही प्रतिपादित किया है ।

मम्मट ने काव्य-प्रकाश के पचम उल्लास के अन्त में कहा है कि 'निश्शेष-' इत्यादि पद्य मे सम्भोग के हेतु (व्यञ्जक) के रूप मे जिन चन्दनच्यवनादि का उपादान हुआ है वह अन्य कारणो से भी हो सकता है, जैसा कि इसी पद्य में उन्हें स्नान से होने वाला कहा गया है । अतः उपभोग से ही होते हो ऐसा कोई नियम नहीं है । इसलिये वह चन्दनच्यवनादि हेतु अनैकान्तिक है ।

इस प्रकार व्यञ्जको का साधारण्य प्रतिपादित करने वाले इन दोनों ही प्रमाणिक ग्रन्थों से अप्पयदीक्षित के मत का, जिसमे व्यञ्जकों का असाधारण्य ही प्रदर्शित किया गया है, विरोध होता है ।

उपपत्तिविरोध--(क) इसमे प्रथम कारण यह है कि यदि निश्शेष इत्यादि अवान्तर वाक्यार्थों की व्यङ्ग्यार्थ के प्रति असाधारणता दिखाई जाय क्योंकि वह स्नानादि अन्य कारणो का व्यावर्तन करते हैं तो ठीक नही है क्योंकि उस असाधारणता का कोई प्रयोजन नही है । किसी व्यङ्ग्यार्थ के प्रति व्यञ्जकों का असाधारण होना आवश्यक नही है । अतः उक्त व्याख्या के अनुसार व्यङ्ग्यार्थ उपपन्न नहीं हो सकेगा, व्यञ्जको के असाधारण होने से ।

(ख) यदि चन्दनच्यवनादि को सम्भोगमात्रजन्य मान भी लिया जाय तो भी 'वापी स्नातुमितोगतासि' इस मुख्यार्थ में--स्नान के साथ उनका (चन्दनच्यवनादिका) अर्थ बाधित होने से, वहाँ विरोधिलक्षणा की प्रवृत्ति होगी और उससे ही 'वापीं स्नातुं न गतासि अपितु तदन्तिकमिति' यह अर्थ ज्ञात हो जाने पर व्यञ्जना की प्रवृत्ति ही नहीं होगी, और व्यङ्ग्यार्थ की उपपत्ति नहीं हो सकेगी । अर्थात् जो अर्थ व्यञ्जनालभ्य होना चाहिये वह लक्षणालभ्य हो जायेगा ।

(ग) किसी प्रकार व्यञ्जना की प्रवृत्ति स्वीकार कर भी ली जाय तो भी यह पद्य ध्वनिका उदाहरण नहीं हो सकेगा क्योंकि चन्दनच्यवनादि को सम्भोगमात्र

---

२२ मम धम्मिअ ! वीसत्थो सो सुणओ अज्ज मारिओ तेण ।
गोलाणइकच्छनिकुञ्जवासिणा दरिअसीहेण ॥ (रस. पृ. ११)

जन्य कहने पर वाच्यार्थ स्वय में असिद्ध हो जायेगा क्योंकि स्नानादि के साथ उनका अन्वय नहीं हो सकेगा। वाच्यार्थ की सिद्धि तभी होगी जब सम्भोग रूप व्यङ्ग्यार्थ का बोध होगा। और उस स्थिति मे व्यङ्ग्यार्थ वाच्यार्थकी सिद्धि का अङ्ग हो जायेगा तथा यह पद्य वाच्यसिद्ध्यङ्गगुणीभूतव्यङ्ग्य में चला जायेगा।

इस प्रकार अप्पयदीक्षित की व्याख्या न तो प्राचीन आलङ्कारिकों के ग्रन्थो के ही अनुरूप है और न अभीष्ट सिद्धि के अनुकूल ही। अतः अमान्य है।

द्वितीय भेद—द्वितीय भेद का नाम है उत्तम काव्य। इसका लक्षण इस प्रकार है—'यत्र व्यङ्ग्यमप्रधानमेव सच्चमत्कारकारणम्।'[23] अर्थात् जिस काव्य मे व्यङ्ग्यार्थ अप्रधान रहते हुए ही चमत्कार का कारण हो वह द्वितीय श्रेणी का काव्य होता है। अर्थात् उत्तम काव्य की काव्यता भी व्यङ्ग्यार्थ के कारण ही होती है परन्तु इस व्यङ्ग्यार्थ की स्थिति उत्तमोत्तम काव्य के व्यङ्ग्यार्थ के समान सर्वप्रधान नहीं होती अपितु वाच्यार्थ की अपेक्षा अप्रधान अथवा समप्रधान ही रहती है। इसीको गुणीभूत-व्यङ्ग्य कहा गया है। जैसे:—

'राघवविरहज्वालासन्तापितसह्यशैलशिखरेषु।
शिशिरे सुखं शयाना: कपयः कुप्यन्ति पवनतनयाय॥'[24]

इस पद्य का वाच्यार्थ है कि श्री रामचन्द्र के हृदय की विरहाग्नि से तप्त सह्यपर्वत के शिखरों पर शिशिरकाल में सुख से सोते हुए कपिगण हनुमान् पर कुपित हो रहे हैं। इस वाच्यार्थ से यह अर्थ व्यङ्ग्य होता है कि हनुमान् ने श्री जानकी के कुशल समाचार से श्री रामचन्द्र के हृदय को शान्त कर दिया। चमत्कारी होने पर भी यह व्यङ्ग्यार्थ, अकस्मात् हनुमान् के ऊपर होने वाले वानरों के क्रोध रूप वाच्यार्थ की उपपत्ति मे सहायक हो जाने से प्रधान रूप से प्रतीत नहीं हो पाता। अत: यह उत्तमोत्तम काव्य न होकर उत्तम काव्य है।

पण्डितराज ने इस काव्य में व्यङ्ग्यार्थ की स्थिति को एक अत्यन्त सरल एव सुन्दर लौकिक उदाहरण से स्पष्ट किया है कि जिस प्रकार किसी राजकन्या की दुर्दैववश दासी बन जाने पर जो स्थिति होती है वही स्थिति इसमें चमत्कारी होने पर भी वाच्यार्थ का उपपादक हो जाने से व्यङ्ग्यार्थ की हो जाती है। चमत्कार का कारण व्यङ्ग्यार्थ ही होता है किन्तु व्यङ्ग्यार्थ की सेवा मे नियुक्त हो जाने से वह अप्रधान बना रहता है।

अप्पयदीक्षितका द्वितीय मत

इस भेद के प्रसङ्ग में भी पण्डितराज ने एक उदाहरण का खण्डन किया है जो अप्पयदीक्षित ने अपने ग्रन्थ में उदाहृत किया है। वह उदाहरण इस प्रकार है—

२३. रस. पृ १७।
२४. रस. पृ. १७।

प्रहरविरतौ मध्ये वाह्नस्ततोऽपि परेण वा
किमुत सकले याते वाह्नि प्रिय त्वमिहैष्यसि ।
इति दिनशतप्राप्य देशं प्रियस्य यियासतो
हरति गमनं बालालापैः सबाष्पगलज्जलैः ॥[२५]

अप्पयदीक्षित ने कहा है कि इसमे प्रियगमननिवारणरूप वाच्यार्थ की सिद्धि 'सम्पूर्ण दिवस ही (मेरे जीवनधारण की) परम अवधि है उसके पश्चात् मैं प्राणों को धारण नही कर सकूँगी' इस व्यङ्ग्यार्थ के प्रतीत होने पर ही होती है । अतः वाच्य की सिद्धिका अङ्ग हो जाने से यह गुणीभूतव्यङ्ग्य है ।[२६]

पण्डितराज ने अप्पयदीक्षित के उक्त कथन की अयुक्तिमत्ता सिद्ध की है ।

अप्पयदीक्षित के मत का खण्डन

(क) इसके लिये प्रथम युक्ति यह दी है कि दीक्षित ने वाच्यार्थ को स्वयं में जो अनुपपन्न माना है वह वास्तव में ठीक नही है क्योंकि अर्थ की दृष्टि से अश्रु सहित तादृश आलाप ही प्रियगमननिवारण मे समर्थ है अतः अर्थ सङ्गति हो ही जाती है एव पदों के अन्वय की दृष्टि से 'आलापैः' पद की तृतीया विभक्ति से 'हरति' पद की 'हृ' प्रकृति से ज्ञात होने वाले हरणरूप अर्थ की करणता भी स्पष्ट रूप से प्रतीत हो जाती है । अतः इस प्रकार भी अन्वय मे कोई अनुपपत्ति नहीं है । इस प्रकार वाच्यार्थ जब स्वय सिद्ध है तो व्यङ्ग्यार्थ को उसका अङ्ग कहकर इसे गुणीभूतव्यङ्ग्य का उदाहरण मानना अनुचित है ।

(ख) दूसरी युक्ति यह दी कि यदि व्यङ्ग्यार्थ (ततः परं प्राणान् धारयितुं न शक्नोमि) को अप्रधान मान भी लिया जाय, तो उसके अतिरिक्त जो नायकादि आलम्बन विभाव, बाष्पादि अनुभावों और चिन्ता-आवेग आदि सञ्चारी भावों के संयोग से विप्रलम्भ शृङ्गार की ध्वनि होती है, उसके आधार पर तो इसे उत्तम काव्य का उदाहरण मानना ही पड़ेगा ।

अर्थात् प्रत्येक दृष्टि से यह उत्तम काव्य का ही उदाहरण है ।

तृतीय भेद :—तृतीय भेद का लक्षण इस प्रकार है—'यत्र व्यङ्ग्यचमत्कारासमानाधिकरणो वाच्यचमत्कारस्तत्तृतीयम् ।[२७] अर्थात् जहाँ व्यङ्ग्यार्थ से होने वाला चमत्कार का और वाच्य अर्थ से होने वाले चमत्कार का अधिकरण असमान हो वहाँ काव्य का तृतीय भेद होता है । यही है मध्यम काव्य ।

असमान अधिकरण कहने का तात्पर्य यही है कि व्यङ्ग्यकृतचमत्कार में और वाच्यकृतचमत्कार मे किसी प्रकार की समानता न हो सके । अर्थात् एक आसन पर

२५ चि मी. पृ ४ ।
२६. रस पृ १८ ।
२७ रस पृ १६ ।

उन्हें आसीन करने का प्रश्न ही न उठे। उत्तम काव्य मे वे दोनों चमत्कार तुल्य होते हैं परन्तु मध्यम काव्य मे उनकी तुल्यता की सम्भावना ही नही होती। उत्तम काव्य और मध्यम काव्य मे व्यङ्ग्यार्थ मे qualitative अन्तर होता है। उत्तम काव्य का व्यङ्ग्यार्थ दासीवेषधारिणी राजकलत्र के समान होता है अर्थात् राजकलत्र यद्यपि दासी होती है तथापि उसका एक विशेष लावण्य होता ही है जो स्फुट होता है। उसी प्रकार उत्तम काव्य मे व्यङ्ग्यार्थ वाच्यार्थ से अप्रधान होता है परन्तु उसकी एक विशेष चारुता व चमत्कृति होती है। मध्यम काव्य मे वह व्यङ्ग्यार्थ ग्राम्य रमणी के लावण्य की भाँति होता है जो अङ्गरागादि से सज्जित होने पर सुन्दर लगती है परन्तु वह सौन्दर्य होता निम्नकोटि का है। इसी प्रकार वह व्यङ्ग्यार्थ भी अलङ्कारादि से युक्त होने से चमत्कार उत्पन्न करता है परन्तु अत्यन्त निम्नकोटि का। उसका कोई विशेष चमत्कार नही होता।

उदाहरण के लिये :—'**तनयमैनाकगवेषणलम्बीकृतजलधिजठरप्रविष्टहिमगिरिभुजायमानाया भगवत्या भागीरथ्याः सखी**।'[२८] यह वाक्य लिया जा सकता है। इसमें यमुना नदी का वर्णन किया गया है। इसका वाच्यार्थ इस प्रकार है कि अपने पुत्र मैनाक को खोजने के लिये लम्बी की हुई, सागर के उदर में प्रविष्ट, हिमालय की बाहु के समान गङ्गा नदी की सखि यह है।

इसमें गङ्गा नदी में हिमगिरि के भुजा की सम्भावना की गयी है। अत. उत्प्रेक्षा है। यह वाच्य उत्प्रेक्षा ही यहाँ चमत्कारिणी अथवा आह्लादिनी है। इसके वाच्यार्थ से यद्यपि यह व्यङ्ग्य होता है कि हिमालय की भुजा होने से गङ्गा नदी अत्यन्त श्वेतवर्णा है एव जलधि के उदर मे प्रविष्ट होने से पाताल तक जाने वाली है तथापि इस व्यङ्ग्यार्थ से होने वाला चमत्कार वाच्यार्थ से होने वाले चमत्कार के सम्मुख आकिञ्चित्कर सा है। व्यङ्ग्यार्थ के चमत्कार का अस्तित्व है किन्तु वाच्यार्थकृत चमत्कार के उदरस्थरूप में। जिस प्रकार किसी ग्रामीण बाला का अपना गौरवर्ण अङ्गरागादि के प्रयोग से छिप जाता है उसी प्रकार व्यङ्ग्यार्थ का चमत्कार भी वाच्यार्थ के चमत्कार से निगूढ़ हो जाता है।

इस काव्य में (मध्यम काव्य मे) व्यङ्ग्यार्थ की सत्ता ही नही होती ऐसा नही कहा जा सकता क्योंकि ऐसा कोई वाच्यार्थ नही होता जो विना किसी व्यङ्ग्यार्थ से युक्त हुए चमत्कार उत्पन्न कर सके।

चतुर्थ भेद—काव्य का चतुर्थ प्रकार है अधम काव्य। '**यत्रार्थचमत्कृत्युपस्कृता शब्दचमत्कृतिः तदधमं चतुर्थम्**।'[२९] अर्थात् जहाँ अर्थकृत चमत्कार से शब्दकृत चमत्कार उपस्कृत होता हो वहाँ अधम काव्य होता है। इसमे शब्दकृत चमत्कार ही

२८. रस. पृ. १६।
२९. रस. पृ. १६।

प्रधान रूप से चमत्कार का कारण होता है, अर्थकृत चमत्कार जो होता है वह भी उसके उपस्कार मे ही व्यय हो जाता है। जैसे :-

'मित्रात्रिपुत्रनेत्राय, त्रयीशात्रवशत्रवे।
गोत्रारिगोत्रजैत्राय, गोत्रात्रे ते नमो नमः।।'[३०]

अर्थात् सूर्य और चन्द्र जिनके नेत्र है, वेदों के शत्रुओं के जो शत्रु हैं, तथा पर्वत के शत्रु इन्द्र के वंशजों के जो रक्षक हैं, उन आप गोपाल को नमस्कार। यहाँ इस वाच्यार्थ से भगवद्विषयक रति-भाव की व्यञ्जना भी हो रही है परन्तु वाच्यार्थ और व्यङ्ग्यार्थ दोनों का चमत्कार वृत्त्यानुप्रास रूप शब्दालङ्कार से होने वाली चमत्कृति से न्यून ही है। शब्द गुम्फन मे ही इतना आकर्षण है कि वह अर्थ की ओर ध्यान ही नहीं जाने देता अत अधम काव्य है।

सक्षेप मे यह कहा जा सकता है कि पण्डितराज की दृष्टि से किये गये इन चारों भेदों में से प्रथम भेद में व्यङ्ग्यार्थ का स्थान वही होता है जो साक्षात् राज-दुहिता के रूप मे राजदुहिता का होता है अथवा गगन में स्थित चन्द्र का होना है, द्वितीय भेद में वह व्यङ्ग्यार्थ दासीवेषधारिणी राजदुहिता के समान अथवा मेघाच्छन्न पूर्ण चन्द्र के समान होता है, तृतीय भेद मे उसकी स्थिति अङ्गरागादि मे सज्जित ग्रामीण बाला के समान होती है और चतुर्थ भेद मे वह साक्षात् दासी के समान अत्यन्त अप्रधान एवं महत्त्वहीन होता है।

इन चारो भेदो का निरूपण करने के पश्चात् कवि ने यह भी कहा है कि काव्य का एक पञ्चम भेद भी हो सकता है जिसमें एकाक्षर बन्ध आदि की गणना की जाय और उसको अधमाधम काव्य कहा जाय। परन्तु इस भेद को स्वीकार करना इसलिये उचित नही है क्योंकि इसमें काव्य का सारतत्व— अर्थकृत चमत्कार— ही नही होता। अर्थात् उसमें काव्यत्व ही नहीं है तो काव्य भेद कहना तो बहुत दूर है।[३१]

समवलोकन

काव्य के भेदों में पण्डितराज का मत अपूर्व है। प्राचीन परम्परा से हटकर इन्होंने काव्य को चार भागों मे बाँटा ही नही अपितु तीन भागों को मानने मे क्या दोष है यह भी दिखाया। रसगङ्गाधर में पाँचवें भेद की सम्भावना की ओर भी

३०. रस, पृ. १९।

३१. यद्यपि यत्रार्थचमत्कृतिसामान्यशून्या शब्दचमत्कृतिस्तत्पञ्चममधमाधममपि काव्यविधासु गणयितुमुचितम्। यथैकाक्षरपद्यार्धपद्यावृत्तियमकपद्मबन्धादि। तथापि रमणीयार्थप्रतिपादक-शब्दतारूपकाव्यसामान्यलक्षणानाक्रान्ततया वस्तुतः काव्यत्वाभावेन महाकविभिः प्राचीनपरम्परा-नुरुन्धानैस्तत्र तत्र काव्येषु निबद्धमपि नास्माभिर्गणितम्, वस्तुस्थितेरेवानुरोध्यत्वात्। (रस, पृ २०)

सङ्केत किया गया है परन्तु काव्य सामान्य का लक्षण न जाने के कारण उसे निरूपित नहीं किया।

चार प्रकारों को न मानने मे क्या हानि होगी इसका स्पष्ट निरूपण करके इन्होंने काव्यशास्त्र मे नवीन योगदान किया।

प्रथम भेद का लक्षण बनाकर पण्डितराज ने ऐसी अव्यवस्था को दूर कर दिया जिसे मम्मट ने अपने ग्रन्थ मे उत्पन्न किया था। मम्मट के अनुसार 'अयं स रसनोत्कर्षी' इत्यादि पद्य इतराङ्ग व्यङ्ग्य का उदाहरण है।[32] परन्तु उन्ही के लक्षण के अनुसार इसे उत्तम (ध्वनिकाव्य) भी कहा जा सकता है करुण रस को लेकर। अत: संशय होता है कि इसे ध्वनिकाव्य मानें या गुणीभूत। रसगङ्गाधर में द्वितीय भेद के लक्षण मे 'अप्रधानमेव' पद का प्रयोग कर देने से यह संशय निराकृत हो गया क्योंकि तब केवल व्यङ्ग्यान्तर की अपेक्षा ही व्यङ्ग्यार्थ का चमत्कार अधिक या समान अपेक्षित नहीं रहा अपितु वाच्यार्थ के प्रति भी अप्रधान होना आवश्यक हो गया। यहाँ करुण रस की अपेक्षा शृङ्गार अप्रधान होते हुए भी वाच्यार्थ की अपेक्षा अधिक चमत्कारी ही है। अत: निश्चित रूप से यहाँ ध्वनि का ही व्यपदेश होगा।

इस दृष्टि से गुणीभूतव्यङ्ग्य के लक्षण का परिष्कार भी पण्डितराज की देन कही जा सकती है।

अप्पयदीक्षित का अनेक स्थलों पर खण्डन किया गया है। सर्वप्रथम ध्वनि (काव्य का प्रथम भेद) के अन्तर्गत उनका खण्डन प्राप्त है। सहृदयता से हटकर नैयायिकता को प्रधानता देकर पण्डितराज का खण्डन अग्राह्य-सा प्रतीत होने लगता है। अनेक बार सहृदयानुभव का दावा भी किया गया है, जैसे काव्य के द्वितीय भेद के अन्तर्गत, पर वह केवल पाण्डित्य प्रमाद-सा प्रतीत होता है वाद-विदग्धता नहीं।

---

३२. "—'अयं स रसनोत्कर्षी पीनस्तनविमर्दनः।
नाभ्यूरुजघनस्पर्शी नीवीविस्रंसनः करः॥' अत्र शृङ्गारः करुणस्य।"
(का. प्र. पृ. १४२)

२

रस-मीमांसा

भरतकाल से लेकर आज तक रस पर निरन्तर विवेचन होता रहा है और नाना शेमुषी अपनी-अपनी कुशाग्र बुद्धि से इसका विश्लेषण करते आये हैं।

रस, भरतकाल मे केवल नाटक का ही तत्त्व था, काव्य मे उसका कोई स्थान नहीं था। किन्तु क्रमशः उसने काव्य में भी स्थान पाया और काव्य के ही अन्तर्गत नाटक की भी गणना होने लगी।

नाटक में सहृदय को कैसे रस मिलता है इसका उत्तर सर्वप्रथम भरतनाट्य-शास्त्र में एक सूत्र के रूप में मिलता है–'विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः।'[1] यह सूत्र ही आगे के सम्पूर्ण रसविचार का केन्द्र बिन्दु बन गया और रस सूत्र के रूप में विख्यात हो गया।

इस सूत्र के प्रमुख व्याख्याता चार हुए–भट्टलोल्लट, शङ्कुक, भट्टनायक और अभिनवगुप्त। इसके अतिरिक्त और भी व्याख्याएँ दृष्टिगोचर होती हैं जो ध्वन्यालोक लोचन और रसगङ्गाधर में उल्लिखित हैं। किन्तु उनको कोई महत्त्व न मिल पाया।

रसगङ्गाधर में दो व्याख्याएँ ऐसी हैं जो उससे पूर्व किसी ग्रन्थ में उपलब्ध नही हैं। वे हैं अद्वैत वेदान्ती और नैयायिक की व्याख्याएँ। इनमें से प्रथम मत का जिस प्रकार मण्डन व दीर्घ अनुमोदन किया गया है उससे विद्वानों ने यही अनुमान लगाया है कि यह स्वय पण्डितराज का ही मत है। पर मत की दृष्टि से प्रमुख चार व्याख्याताओं मे से अभिनवगुप्त में ही पण्डितराज की सर्वाधिक आस्था है।

लोल्लटादि के चार मत तथा दो नवीन मत क्रमशः इस प्रकार हैं:—

रस-निष्पत्ति

(१) भट्टलोल्लट का मत

रस–वास्तविक दुष्यन्त में रहने वाली रति।

निष्पत्ति–तादृश रति का अलौकिक प्रत्यक्ष।

लोल्लट के अनुसार रस वही रति है जो वास्तविक दुष्यन्त के हृदय में शकुन्तला को देखते हुए उत्पन्न हुई थी। दुष्यन्त के हृदय में उत्पन्न होने वाली रति

१. भ. ना. ६/२६ के पश्चात् गद्यांश

से सामाजिकों को आनन्द कैसे होगा ? इसके उत्तर मे उनका कहना है कि उस रति का सामाजिक को अलौकिक प्रत्यक्ष होता है। यही अलौकिक प्रत्यक्ष से ज्ञात हुई रति सहृदय के लिये रस बन जाती है।

उपर्युक्त दृष्टि से निष्पत्ति के दो अर्थ सम्मुख आते हैं—(क) अलौकिक प्रत्यक्ष और (ख) उत्पत्ति। सामाजिक के पक्ष मे निष्पत्ति का अर्थ है अलौकिक प्रत्यक्ष और दुष्यन्त के पक्ष मे निष्पत्ति का अर्थ है उत्पत्ति। दुष्यन्तपक्षीय रति की उत्पत्ति को अपनाते हुए ही इनके मत को उत्पत्ति-वाद कहा जाता है।

अलौकिक प्रत्यक्ष के सम्बन्ध मे नैयायिको का यह सिद्धान्त है कि 'सुरभिचन्दनम्' करके जो लौकिक प्रत्यक्ष होता है उसमे चन्दनाश मे तो चाक्षुष् प्रत्यक्ष होता है किन्तु सौरभांश में घ्राणज प्रत्यक्ष नही होता (दूरी के कारण) अपितु ज्ञानलक्षणा-सन्निकर्षजन्य प्रत्यक्ष होता है। अर्थात् पहले कभी घ्राण-प्रत्यक्ष के आधार पर उस सौरभ का ज्ञान हुआ था जिसका सस्कार मन में रह गया। कालान्तर मे पुनः चन्दन को देखने से उस सौरभ-संस्कार का उद्बोधन (स्मृति) हो गया। यही उद्बोधन या स्मृति 'सुरभिचन्दम्' मे सौरभप्रत्यक्ष में काम करती है। इन्द्रियसन्निकर्षजन्य न होने के कारण ही इसे अलौकिक प्रत्यक्ष कहते हैं। इस प्रत्यक्ष को मानने से लाभ यह होता है कि 'सुरभिचन्दनम्' यह पूर्ण बोध प्रत्यक्ष बोध के अन्तर्गत आ जाता है।

अलौकिक प्रत्यक्ष को स्वीकार न करके यदि चन्दन का चाक्षुष् प्रत्यक्ष और सौरभ का घ्राणज प्रत्यक्ष ही माना जाय तो एक ही ज्ञान में दो प्रमाणों के होने से साङ्कर्य दोष होगा। इसी साङ्कर्य दोष से बचने से लिये अलौकिक प्रत्यक्ष को स्वीकार करना पड़ता है।

रस स्थल मे भी सामाजिक चक्षु से केवल दुष्यन्त को ही (दुष्यन्तरूपी नट को ही) देखता है रति को नहीं, परन्तु फिर भी उसे रति का ज्ञान हो जाता है—उसी अलौकिक प्रत्यक्ष के द्वारा। अत **'अयं दुष्यन्त. शकुन्तलाविषयकरतिमान्'** इस आकार मे उसे रसबोध होता है। तथा यह बोध प्रत्यक्षात्मक बोध होता है।

'दुष्यन्तोऽय शकुन्तलाविषयकरतिमान्' यह ज्ञान यदि 'सुरभिचन्दनम्' के ही समान हो तो यह आपत्ति होगी कि रतिज्ञान भी सौरभ ज्ञान की भाँति यथार्थ ज्ञान ही होगा। अर्थात् नट में शकुन्तलाविषयक रति की वास्तविक स्थिति सिद्ध हो जायेगी क्योंकि सामाजिक के सम्मुख तो वास्तव मे नट ही रहता है दुष्यन्त नही। इसका उत्तर यह है कि यद्यपि सामाजिक नट को ही देखता है किन्तु कुशल अभिनय और विभावादि के कारण वह उसमें दुष्यन्त का भ्रम कर बैठता है। नट को ही दुष्यन्त समझता रहता है इसी से वह शकुन्तलाविषयक रति नटगतत्वेन अवभासित होती है।

अत. 'सुरभिचन्दनम्' यथार्थ बोध है किन्तु रति बोध भ्रमाधारित होने के कारण उससे भिन्न है ।

दूसरी आपत्ति यह है कि रतिबोध एक प्रत्यक्षात्मक बोध है—जैसाकि ऊपर सिद्ध किया गया है । प्रत्यक्षात्मक होने के लिये विषय का विद्यमान होना अपेक्षित है, वास्तविक दुष्यन्तरति तो विद्यमान रहती नही अत. उसका प्रत्यक्ष कैसे होगा ? इसका उत्तर यह है कि रति बोध प्रत्यक्षात्मक है किन्तु अलौकिक प्रत्यक्षात्मक है । अलौकिक प्रत्यक्ष मे विषय का होना आवश्यक नही है । क्योकि वह स्मृतिरूप है । स्मृति तो अविद्यमान पदार्थ की हो ही सकती है । अत रति के न रहते हुए भी उसका प्रत्यक्ष बोध मानने मे कोई आपत्ति नही है ।[२]

इस मत मे भरत सूत्र का अर्थ इस प्रकार होगा-विभावानुभावादि का नट के साथ सम्बन्ध (सयोग) होने से रत्यादि का नट पर आरोप (निष्पत्ति) ।[३]

(२) श्री शङ्कुक का मत

रस—वास्तविक दुष्यन्त मे रहने वाली रति ।

निष्पत्ति—तादृश रति की अनुमिति ।

शङ्कुक के अनुसार भी वास्तविक दुष्यन्त मे रहने वाली रति ही रस है परन्तु उसका बोध अलौकिक प्रत्यक्ष से न होकर अनुमान के द्वारा होता है ।

लोक में जिस प्रकार 'पर्वतो वह्निमान्' यह बोध होता है, नाट्य मे भी उसी प्रकार 'दुष्यन्तोऽयं शकुन्तलाविषयकरतिमान्' यह बोध होता है । सामाजिक की दृष्टि से निष्पत्ति का अनुमिति अर्थ होने के कारण ही यह मत अनुमितिवाद के नाम से प्रख्यात है ।

नट है पक्ष, जो 'अयं दुष्यन्तः' का अर्थ है और साध्य है 'शकुन्तलाविषयकरति' । इसमे हेतु है विभावानुभावादि ।

'पर्वतो वह्निमान्' और 'अयं दुष्यन्त. शकुन्तलाविषयकरतिमान्' इन दोनों अनुमितियों मे भेद यह है कि पर्वत मे वह्नि वास्तव मे रहता है और नट मे शकुन्तला-विषयक रति नहीं रहती । उस रति के न रहने पर भी अनुमान हो जाता है क्योंकि अनुमान के लिये विषय का होना आवश्यक नही है । अविद्यमान वस्तु का प्रत्यक्ष नही हो सकता किन्तु अनुमान तो हो ही सकता है । .

दुष्यन्त भी वास्तविक दुष्यन्त नही होता । नट को ही सामाजिक दुष्यन्त के रूप मे (दुष्यन्तत्वेन) समझ लेता है उसकी वेशभूषा-हावभाव आदि के कारण । इसी प्रकार विभावानुभावादि भी यद्यपि कृत्रिम होते हैं तथापि सहृदय उनको अकृत्रिम ही

२. 'मुख्यतया दुष्यन्तादिगत एव रसो रत्यादि कमनीयविभावाद्यभिनयप्रदर्शनकोविदे दुष्यन्ताद्यनुकर्तरि नटे समारोप्य साक्षात्क्रियते इत्येके ।'—(रस. पृ. २७)

३. "विभावादीनां सम्बन्धात्रसस्य रत्यादेर्निष्पत्तिरारोपः" इति । (रस. पृ. २८)

समझता है। इस सबके कारण ही वह नट को शकुन्तलाविषयकरतिका अधिकरण मान लेता है।[४]

शङ्कुक के अनुसार रस सूत्र का अर्थ इस प्रकार होगा—कृत्रिम होते हुए भी अकृत्रिम रूप मे ग्रहण किये गये विभावादि से अनुमान करके (सयोगात्) रत्यादि की अनुमिति ही रस की निष्पत्ति है।[५]

भट्टनायक द्वारा लोल्लट और शङ्कुक का खण्डन

भट्टलोल्लट ने रसनिष्पत्ति को रस-उत्पत्ति और शङ्कुक ने उसे रस **प्रतीति** (अनुमिति) माना है। भट्टनायक ने दोनों मतो को अस्वीकार करते हुए कहा है कि रस न उत्पन्न होता है और न प्रतीत होता है।

रस-उत्पत्तिः—

रस की उत्पत्ति मानने पर, रस की उत्पत्ति किस मे होती है इसका उत्तर तीन प्रकार से दिया जा सकता है—रामादि में, नट मे और सामाजिक में।

रामादि मे रस की उत्पत्ति यदि स्वीकार की जाय, जैसाकि भट्टलोल्लट मानते हैं, तो वह सहृदय के लिये आस्वाद्य नहीं हो सकती, रामादि के लिये ही आस्वाद्य होगी। क्योंकि जो रति सहृदय मे विद्यमान रहे, उसी का आस्वाद–बोध–उसे होगा, अन्य व्यक्ति में स्थित रति का नही।

इसी प्रकार यदि नट मे रसोत्पत्ति को माना जाय तो वह भी पहले के समान ही सहृदय के लिये अनास्वाद्य होगी।

तृतीय पक्ष है—सहृदय स्वयं। सहृदय मे भी रति की उत्पत्ति नही हो सकती क्योकि शकुन्तला या सीतादि उसके प्रति विभाव नही है। बिना विभाव (आलम्बन) के रति की उत्पत्ति असम्भव है।

शकुन्तलादि मे रमणीत्व होने से वह सामाजिक मात्र के प्रति विभाव हो सकती है और उससे सहृदय मे रति उत्पन्न हो सकती है—ऐसा भी नही कहा जा सकता क्योंकि यदि नारीत्व मात्र ही विभाव होने के लिये पर्याप्त हो जाये तो माता और बहन भी रति के प्रति विभाव बन जायेंगी क्योकि उनमे भी नारीत्व तो है ही। परन्तु व्यवहारत: यह असिद्ध है कि माता या बहन को देखते हुए किसी के मन मे रति हो जाये।

कोई भी नारी तब ही विभाव हो सकती है जब उसके प्रति नायकादि को यह ज्ञान रहे कि वह उसके लिये अगम्या नही है (अर्थात् 'इयमगम्या' इस ज्ञान का अभाव

४. "दुष्यन्तादिगतो रत्यादिर्नटे पक्षे दुष्यन्तत्वेन गृहीते विभावादिभिः कृत्रिमैरप्यकृत्रिमतया गृहीतैर्भिन्ने विषयेऽनुमितिसामग्र्या बलवत्त्वादनुमीयमानो रस." इत्यपरे। (रस. पृ. २७)

५. "विभावादिभि: कृत्रिमैरप्यकृत्रिमतया गृहीतै: सयोगादनुमानाद्रसस्य रत्यादेर्निष्पत्तिरनुमिति, नटादौ पक्ष इति शेष"। इति। (रस. पृ. २८)

रहे।) साथ ही 'यह अगम्या नही है' इस ज्ञान का उत्तरकाल मे बोध न होना भी अपेक्षित है क्योकि कुछ समय पश्चात् भी यदि यह ज्ञात हो कि अमुक नारी अगम्या है तो वह रति का कारण नही हो सकेगी। अर्थात् अप्रामाण्यनिश्चयानास्कन्दितागम्यात्वप्रकारकज्ञानका अभाव जिस नारी के प्रति हो उसी नारी का नारीत्व विभाव कोटि मे आ सकता है।

शकुन्तला आदि के प्रति सामान्य रूप से ही सहृदय का यह ज्ञान होता है कि वह अगम्या है। अतः उसके प्रति रति की उत्पत्ति असम्भव है। शकुन्तलादि के प्रति इस प्रकार का ज्ञान न हो ऐसा तभी हो सकता है जब उस ज्ञान का कोई प्रतिबन्धक हो। बिना प्रतिबन्धक का निर्वचन किये शकुन्तला के प्रति अगम्या बुद्धि का अभाव नही होगा।

सहृदय का अपने को दुष्यन्त से अभिन्न मान लेना यदि प्रतिबन्धक माना जाय तो वह भी ठीक नही है क्योकि सहृदय और दुष्यन्तादि मे इतना अधिक अन्तर है कि दोनो को एक मान लेना सम्भव ही नही।

अत. किसी भी प्रकार से रस की उत्पत्ति सम्भव नही है।

रस-प्रतीति---रस की प्रतीति के सम्बन्ध में यह प्रश्न सम्मुख आता है कि इसे किस प्रकार की प्रतीति माना जाय ? शब्द जन्य होने के कारण इसे यदि शाब्दी प्रतीति माना जाय तो उसमें उसी प्रकार कोई चमत्कारिता नहीं होगी जिस प्रकार लौकिक जगत् में दो प्रेमियों का वर्णन सुनने से किसी प्रकार का अलौकिक आह्लाद नही होता।

अलौकिक प्रत्यक्षात्मक प्रतीति मानने पर भी यही आपत्ति आती है कि जैसे सुरभि आदि की स्मृति से कोई आनन्द नहीं होता उसी प्रकार रति आदि की स्मृति (अलौकिक प्रत्यक्ष) से भी कोई आनन्द नही आवेगा।

शुद्ध स्मृत्यात्मक प्रतीति माना जाय तो वह भी सम्भव नहीं क्योंकि स्मृति उसी विषय की होती है जो पूर्वानुभूत है। रति आदि का सहृदय को पूर्वानुभव नहीं होता।[६]

---

६. ताटस्थ्येन रसप्रतीतावनास्वाद्यत्वम्, आत्मगतत्वेन तु प्रत्ययो दुर्घटः। शकुन्तलादीनां सामाजिकान्प्रत्यविभावत्वात्। विना विभावमनालम्बनस्य रत्यादेरप्रतिपत्तेः। न च कान्तात्वं साधारणविभावतावच्छेदकमत्राप्यस्तीति वाच्यम्। अप्रामाण्यनिश्चयानास्कन्दितागम्यात्वप्रकारकज्ञानविरहस्य विशेष्यतासम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताकस्य विभावतावच्छेदककोटाववश्यं निवेश्यत्वात्। अन्यथा स्वस्त्रादेरपि कान्तात्वाविना तत्त्वापत्ते.। एवमलौकिकत्वकापुरुषत्वादिज्ञानविरहस्य तथाविधस्य करुणरसादौ तादृशज्ञानानुत्पादस्तु तत्प्रतिबन्धकान्तरनिर्वचनमन्तरेण दुरुपपाद। स्वात्मनि दुष्यन्ताद्यभेदबुद्धिरेव तथेति चेत्, न। नायके धीरोदात्तत्वधीरललितत्वादेरात्मनि चाधुनिकत्वकापुरुषत्वादेर्वैधर्म्यस्य स्फुटं प्रतिपत्तेरभेदबोधस्यैव दुर्लभत्वात्। किं च केयं प्रतीति ? प्रमाणान्तरानुपस्थापनाच्छाब्दीति चेत् न। व्यावहारिकशब्दान्तरजन्यनायकमिथुनवृत्तान्तवित्तीनामिवास्या अप्यहृद्यत्वापत्तेः। नापि मानसी। चिन्तोपनीतानां तेषामेव पदार्थानां मानस्या प्रतीतेरस्या वैलक्षण्योपलम्भात्। न च स्मृतिः। तथा प्रागननुभवात्। (रस पृ २३-२४)

अतः रस-निष्पत्ति न तो रसोत्पत्ति ही है और न रस प्रतीति ही। तब रस का आस्वाद कैसे होता है–इसके उत्तर मे भट्टनायक का यह मत है।

३. भट्टनायक का मत

रस––सामाजिक में संस्काररूप से रहने वाली रति।

निष्पत्ति––चैतन्य के द्वारा उसका **प्रकाश**।

शङ्कुक और लोल्लट के मतो की अपेक्षा इनके मत मे जो मुख्य अन्तर है वह यह है कि अबतक रामादि मे रहने वाली रति को ही रस माना गया था और इन्होने सामाजिक मे रहने वाली रति को रस माना।

द्वितीय वैशिष्ट्य है— भावकत्व-भोजकत्व व्यापारो की स्थापना। काव्य मे रहने वाले अभिधा व्यापार के अतिरिक्त भट्टनायक ने भावकत्व और भोजकत्व नामक व्यापारो को भी स्वीकार किया है।

भावकत्व है साधारणीकरण रूप व्यापार। इनके द्वारा अभिधा से प्रतिपादित सम्पूर्ण काव्यार्थ का (विभावानुभावादि का) विशेष परिचय (शकुन्तलात्व, सीतात्व आदि) आवृत कर दिया जाता है।

भोजकत्व है चैतन्य का प्रकाशन रूप व्यापार। इसके द्वारा सहृदय का चिद्रूप और आनन्द रूप अनावृत हो जाता है।

इस प्रकार सामाजिक की अपनी ही रति का चैतन्य के द्वारा प्रकाश है रस-निष्पत्ति।

सर्वप्रथम काव्यात्मक शब्द से अभिधा के द्वारा शकुन्तलादि अर्थों का उपस्थापन होता है, तत्पश्चात् अभिधा के ही द्वितीय भावकत्व व्यापार के द्वारा उन शकुन्तलादि अर्थों का साधारणीकरण कर दिया जाता है अर्थात् शकुन्तला मे रहने वाले विशेष धर्म––शकुन्तलात्व––को छिपाकर, सामान्य रूप मे––रमणीत्वेन––प्रस्तुत कर दिया जाता है। शकुन्तला के ही समान देश-काल-वय-अवस्था आदि सभी का साधारणीकरण सम्मुख आता है। विभावानुभावादि का यह सामान्य रूप ही वास्तव में रस के अनुकूल है, विशेष रूप नही। रसानुकूल धर्मों का पुरस्कार होने के पश्चात् भोजकत्व नामक तृतीय व्यापार प्रवृत्त होता है जिसके फलस्वरूप सहृदय का आनन्दात्मक तथा चैतन्यात्मक स्वरूप उद्घाटित हो जाता है, चिद्रूप के अनावृत्त हो जाने पर उसके निकट ही विद्यमान रति भी प्रकाशित हो जाती है। रति का यह प्रकाश ही रति-भोग या रति का आस्वाद है।

यह रति भी विशेष रति (सामाजिक विशेष की आलम्बन विशेष से उत्पन्न रति) नहीं होती अपितु भावना (भावकत्व) के द्वारा साधारणीकृत रतिमात्र होती है। अर्थात् सहृदय यद्यपि अपनी ही रति का— विशेष रति का––आस्वाद करता है किन्तु विशेषरूपेण नहीं, सामान्यरूपेण (रतित्वेन), ठीक जिस प्रकार विभावरूप

मे वह शकुन्तलारूप विशेष रमणी को ही देखता है किन्तु विशेष रूप में (शकुन्तलात्वेन) नहीं अपितु सामान्य रूप मे (नारीत्वेन) ही देखता है। उसका विशेष रूप भावकत्व के द्वारा छिपा दिया जाता है।

इस प्रकार ब्रह्मास्वाद के समान ही अपने आनन्द रूप का और रति का आस्वाद सामाजिक को होता है।

इस मत के सम्बन्ध में यह शङ्का उत्पन्न हो सकती है कि जब सहृदय का चित् प्रकाशित (निरावृत) हो गया और उसे अपने आनन्दरूप का भान हो गया तब तो उसे मोक्ष मिल जाना चाहिये क्योंकि आत्मप्रकाश ही तो ब्रह्मानन्द है। इसका उत्तर यह है कि रस-भोग ब्रह्मानन्द मे होने वाले आत्मप्रकाश के समान होते हुए भी उससे भिन्न है। क्योंकि रस-भोग मे जिस आत्मा का प्रकाश होता है वह शुद्ध आत्मा नहीं होता अपितु रति तथा विभावादि अन्य विषयो से युक्त आत्मा होता है। इसीलिये इसे ब्रह्मानन्द न कह कर ब्रह्मास्वादसविध (ब्रह्मास्वादसहोदर) कहा गया है।

इस प्रकार भट्टनायक ने यह सिद्ध किया कि सामाजिक के चैतन्य का उद्घाटित हो जाना तथा उससे उसकी अपनी ही रति का प्रकाश होना वास्तव मे रस है।[७]

इनके दृष्टिकोण से रससूत्र का अर्थ यह है —

विभावानुभावादि के, साधारणीकरणरूप भावकत्व व्यापार के द्वारा साधारणीकरण से, रत्यादि से उपहित, सत्त्वोद्रेक से प्रकाशित आनन्दरूप का भोजकत्व का विषय हो जाना अर्थात् साक्षात्कार हो जाना ही रस निष्पत्ति है।[८]

(४) अभिनवगुप्त का मत

अभिनवगुप्त का मत भी भट्टनायक के मत के समान ही है परन्तु फिर भी कुछ वैलक्षण्य है। तदनुसार—

रस—१–चिद्विशिष्ट रति (सामाजिक की रति)
२–रति विशिष्ट चित् (सामाजिक का चित्)

निष्पत्ति—१–चैतन्य के द्वारा उस रति का प्रकाश।
२–चैतन्य के द्वारा तादृश चैतन्य का प्रकाश।

---

७. "तस्मादभिधया निवेदिताः पदार्थाः भावकत्वव्यापारेणास्वाद्यमानविभावादिसाधारण्यभावनाभावितस्व-द्वारा कान्तात्वादिरागानुकूलधर्मपुरस्कारेणावभास्यन्ते। एवं साधारणीकृतेषु दुष्यन्तशकुन्तला-देशकालवयोऽवस्थादिषु, पञ्चमे पूर्वव्यापारमहिमनि, तृतीयस्य भोगकृत्त्वव्यापारस्य महिम्ना निगीर्णयो रजस्तमसोरुद्रिक्तसत्त्वजनितेन निजचित्स्वभावनिर्वृतिविश्रान्तिलक्षणेन साक्षात्कारेण विषयीकृतो भावनोपनीतः साधारणात्मा रत्यादिः स्थायी रसः"। (रस. पृ. २४)

८. "विभावानुभावव्यभिचारिणां सम्यक्साधारण्यात्मतया भोगात्भावकत्वव्यापारेण भाव्यमानस्य स्थाय्युपहित सत्त्वोद्रेकप्रकाशितस्वात्मानन्दरूपस्य निष्पत्तिभोगाख्येन साक्षात्कारेण विषयीकृतिः इति।" (रस. पृ. २८)

चिद्विशिष्ट रति—रस पद का तात्पर्य वास्तव मे सहृदय की रति मे ही है जैसाकि भट्टनायक ने कहा है। वेदान्त दर्शन के अनुसार सहृदय है अन्त करण-विशिष्ट चैतन्य क्योकि वह एक जीव है। उसका चैतन्य अन्त करण के साथ अध्यस्त हो जाता है। इसी अध्यास के कारण अन्त करण मे रहने वाली रति चैतन्य में रहने वाली प्रतीत होती है और जब चैतन्य के द्वारा रति का प्रकाश होता है तो वह चैतन्य से विशिष्ट रूप मे ही (विशिष्ट-अधिष्ठानीभूत चैतन्य मे अध्यस्त) होता है। आध्यासिक तादात्म्य के कारण ही चित् रति का विशेषण बन जाता है।

रतिविशिष्ट चित्—'रसो वै स.' आदि श्रुतियो के आधार पर आत्मा (चित्) ही वास्तव में रस रूप है। परन्तु उस आत्मस्वरूप रस व काव्य रस मे भेद करने के लिये कहा जाता है कि शुद्ध आत्मा है आत्मानन्द और रतिविशिष्ट आत्मा है काव्यानन्द।

निष्पत्ति—प्रकाशक तत्व एकमात्र चैतन्य ही है, वह चैतन्य दीपवत् स्वपर-भासी होने के कारण अपना भी प्रकाशक है और रति का भी प्रकाशक है। अत: उपर्युक्त निष्पत्ति के दोनो ही रूपों मे चैतन्य का प्रकाश समान रूप से अपेक्षित है।

चैतन्य का प्रकाश तभी हो सकता है जब उसका आवरण भङ्ग हो जाये। वैदान्तिक प्रक्रिया मे यह कार्य चित्तवृत्ति करती है किन्तु काव्य-क्षेत्र मे वह व्यञ्जना के द्वारा होता है।

सर्वप्रथम सहृदय काव्यात्मक शब्द को सुनता है। उसको सुनने से उसे काव्यार्थ का बोध होता है, काव्यार्थ बोध से सहृदय की सहृदयता जग जाती है तथा काव्यात्मक शब्द मे रहने वाली व्यञ्जना (भावना) भी क्रियाशील हो जाती है। सहृदयता तथा काव्यशक्ति की महिमा से सम्पूर्ण काव्यार्थ साधारणीकृत हो जाता है अर्थात् शकुन्तला आदि के विशेष-विशेष रूप आवृत हो जाते है और उनके साधारण रूप सम्मुख आते है। इस साधारणीकरण के साथ ही वह सब विभावानुभावादि भी सहृदय के हृदय मे प्रविष्ट होकर भावमय बन जाते है।

साधारणीभूत उक्त सब विभावानुभावादि के मिश्रण से विभावादि मे (अर्थ मे) रहने वाली व्यञ्जना प्रादुर्भूत हो जाती है जिसके द्वारा सहृदय के आत्मा का आवरण नष्ट हो जाता है और चिद्रूप तथा आनन्दरूप अनावृत हो जाते है। चैतन्य के आवरणभङ्ग से जिस प्रकार आनन्दरूप और चिद्रूप का प्रकाश होता है उसी प्रकार रति आदि का भी प्रकाश हो जाता है।[६]

---

६ "समुचितललितसन्निवेशचारुणा काव्येन समर्पितै सहृदयहृदय प्रविष्टैस्तदीयसहृदयतासहकृतेन भावनाविशेषमहिम्ना विगलितदुष्यन्तरमणीत्वादिभिरलौकिकविभावानुभावव्यभिचारिशब्द-व्यपदेश्यैः शकुन्तलादिभिरालम्बनकारणै, चन्द्रिकादिभिरुद्दीपनकारणै, अश्रुपातादिभि कार्यै., चिन्तादिभि सहकारिभिश्च, सम्भूय प्रादुर्भावितेनालौकिकेन व्यापारेण तत्कालनिवर्तितानन्दांशावरणाज्ञानेनात एव प्रमुष्टपरिमितप्रमातृत्वादिनिजधर्मेण प्रमात्रा स्वप्रकाशतया वास्तवेन निजस्वरूपानन्देन सह गोचरीक्रियमाण प्राग्विनिविष्टवासनारूपो रत्यादिरेव रस:"।
(रस. पृ. २१-२२)

यह रति भी शुद्ध रति नही है अपितु विभावादिसंवलित रति है। जैसाकि ऊपर कहा गया है, काव्य की यह महिमा है कि स्थूल रूप से बाहर प्रतीत होने वाले विभावादि भी भावरूप बना दिये जाते हैं, विभावादि भी भावरूप होने से अन्त करण का धर्म बन जाते है और रति के समानाधिकरण मे स्थित होने के कारण रति के साथ ही प्रकाशित हो जाते है। समानाधिकरणक रति और विभावादि के प्रकाश के साथ-साथ चैतन्य अपने को भी भासित करता है क्योकि उसके स्वप्रकाश होने से प्रकाशकान्तर की अपेक्षा नही है।

सिद्धान्ततः चैतन्य के अनावरण के लिये चित्तवृत्ति की अपेक्षा है अतः उसके अभाव मे चैतन्य का आवरणभङ्ग मानना दोष है—परन्तु वास्तव मे इसमें कोई असङ्गति नहीं है क्योकि बाह्य पदार्थों के प्रकाश के समय ही चित्तवृत्ति अपेक्षित है अन्त करण के धर्मों के लिये नही। रति तथा विभावादि सभी अन्त करण के धर्म हैं अतः वह साक्षिभास्य हैं।

अथवा, यदि उपर्युक्त पक्ष स्वीकार्य न हो तो, इसे दूसरी रीति से सिद्ध किया जा सकता है—विभावादि के बोध से (काव्यार्थ बोध से) व्यञ्जना द्वारा सहृदय के अन्दर रत्यादिविशिष्ट आनन्दाकारा चित्तवृत्ति उत्पन्न होती है और उस चित्तवृत्ति से आवरण भङ्ग होता है एव च चित्तवृत्ति की सहायता से ही चैतन्य का आवरण भङ्ग होता है।

इस द्वितीय पक्ष को मानने पर प्रथम पक्ष मे आयी हुई त्रुटि—व्यञ्जना से आवरण भङ्ग होना—निराकृत हो जाती है।

प्रथम पक्ष में (व्यञ्जना से आवरणभङ्ग मानने पर) रस की चर्वणा का अर्थ है चित् का आवरण भङ्ग और द्वितीय पक्ष में (चित्तवृत्ति से चित् का आवरण भङ्ग मानने पर) रस चर्वणा है—रसाकारा या आनन्दाकारा चित्तवृत्ति। यह चित्तवृत्ति काव्यात्मक शब्द से उत्पन्न होने के कारण शाब्दी और प्रत्यक्ष सुखविषयक होने के कारण अपरोक्षात्मिका है।

अन्ततोगत्वा निष्कर्ष यही निकलता है कि चाहे प्रक्रिया कोई भी माने, रस निष्पत्ति का अर्थ है चित् का निरावृत होकर रति को व स्वयं को प्रकाशित करना।

उपर्युक्त दोनो ही अर्थों में रस को चित् और रति इन दो अंशो से युक्त ही स्वीकार करना पडता है। अर्थात् रस के दो अंश हैं—रति और चैतन्य।

रत्यंश को लेकर रस परप्रकाश्य और अनित्य है क्योकि वह अन्तःकरण का धर्म है तथा चिदंश को लेकर वह स्वप्रकाश और नित्य है।

नित्य होते हुए भी 'रस उत्पन्न हुआ', 'रस विनष्ट हुआ' इत्यादि व्यवहार जो होते हैं वह आवरण भङ्ग को लेकर ही होते हैं। जैसे शब्द के नित्य होते हुए भी उसके व्यञ्जक व्यापार—तात्वादि व्यापार के उत्पन्न और नष्ट होने के कारण ही ककार

गकार आदि उत्पन्न व नष्ट हुआ यह व्यवहार होता है वैसे ही रसके व्यञ्जक विभावादि की चर्वणा को अपनाते हुए ही रस के लिये ऐसा प्रयोग होता है।

आत्मप्रकाश हो जाने पर भी इसे परब्रह्मास्वाद रूप नही कहा जा सकता क्योंकि इसमे विभावादि विषयों से सवलित चिदानन्द का प्रकाश होता है।

इस मत मे एक प्रश्न यह भी किया जा सकता है कि जब रति जन्मजात संस्कार होने के नाते सदा हृदय में विद्यमान रहती है तो सहृदय को सर्वदा रस का अनुभव क्यों नही होता ? इसका उत्तर यह है कि रति यद्यपि विद्यमान रहती है तथापि चैतन्य के आवृत होने के कारण प्रकाशित नही होती, प्रकाशित नही होने से ही उसका बोध नही होता। वह प्रकाश तभी होता है जब विभावादि की चर्वणा होती हैं। इसलिये रस प्रतीति केवल काव्य या नाट्य के अनुशीलन के समय ही होती है सदा नहीं।[१०]

एतदनुसार रससूत्र का अर्थ यह होगा – विभावानुभावादि के द्वारा व्यञ्जना से (सयोगात्) चिदानन्दविशिष्ट स्थायी का (रस का) अथवा रति विशिष्टचिदानन्द का स्वरूप से (चैतन्य से) प्रकाशन—रस निष्पत्ति है।[११]

(५) **नव्यमत**—(**अद्वैतवेदान्ती**)—(यह मत अनिर्वचनीय ख्याति पर **आधारित है**)

रस—अनिर्वचनीय प्रातिभासिक रति।

निष्पत्ति—सहृदयगतत्वेन उस रति का **भ्रम**।

जिस प्रकार लोक में 'इद रजतम्' मे शुक्ति में एक अनिर्वचनीय प्रातिभासिक रजत की उत्पत्ति होती है उसी प्रकार काव्य मे 'अहं दुष्यन्तः शकुन्तलाविषयकरतिमान्' इस रस बोध में सहृदय मे एक अनिर्वचनीय नवीन प्रातिभासिक रति की उत्पत्ति होती है और इसी रजत स्थानीय रति का बोध सहृदय को होता है।

यह रति अनुभवगम्य होती है इसलिये असत् (अविद्यमान, असत्य) नही कही जा सकती और वास्तविक (पार्यन्तिक) नही होती इसलिये सत् नही कहला सकती। सत् असत् रूप में निर्वचन न होने के कारण ही यह अनिर्वचनीय कहलाती है। सत्य बोध होने पर नष्ट हो जाने के कारण वह प्रातिभासिक कहलाती है और प्रातिभासिक होने के कारण साक्षिभास्य।

काव्य और नाट्य मे कवि और नट के द्वारा उपस्थापित होते हैं विभावादि। उन विभावादि का बोध होने पर सहृदय को व्यञ्जना से यह ज्ञान होता है कि दुष्यन्त शकुन्तलाविषयकरतिवाला था। इसके पश्चात् भावना रूप दोष के वशीभूत सहृदय

---

१०. रस. पृ. २२-२३।

११. "विभावानुभावव्यभिचारिभि संयोगाद्व्यञ्जनाद्रसस्य चिदानन्दविशिष्टस्थाय्यात्मन· स्थाय्युपहितचिदानन्दात्मनो वा निष्पत्ति. स्वरूपेण प्रकाशनम्" इति। रस. पृ. २८।

यह भूल जाता है कि वह सहृदय है और अपने को काल्पनिक दुष्यन्त मान लेता है (कल्पित दुष्यन्तत्व से अवच्छादित हो जाता है), स्वय को दुष्यन्त मान लेने पर अपने में ही उसे शकुन्तला विषयक रति का भी भ्रम होने लगता है।[१२]

इस प्रक्रिया मे दो स्थानो पर भ्रम है अपने को दुष्यन्त मान लेने मे और अपने मे शकुन्तलाविषयक रति मानने मे। जिस प्रकार यह रति अनिर्वचनीय होती है उसी प्रकार सहृदय को आच्छादित करने वाला दुष्यन्तत्व भी अनिर्वचनीय होता है। अर्थात् एक भ्रम के आधार पर दूसरा भ्रम होता है।

सहृदय की अपने प्रति दुष्यन्त बुद्धि और रति बोध दोनो ही साक्षिभास्य होने के कारण ज्ञानावधिक हैं।

रति, भावना रूप दोष से उत्पन्न होने के कारण भावना का कार्य है और भावना के नष्ट होने पर नाश होने के कारण उसी भावना का नाश्य भी है। भावना के उत्पन्न और विनष्ट होने से ही रस की उत्पत्ति और नाश भी कहे जाते हैं।

इस प्रणाली को स्वीकार करने पर पूर्व मतो की अपेक्षा यह लाभ है कि वहाँ (भट्टनायक के मत में) जो समस्याएँ उठी थी कि परगत रति आस्वाद्य नही होगी, स्वगत रति की उत्पत्ति सम्भव नही क्योंकि उसके लिये शकुन्तला आदि विभाव नहीं तथा शकुन्तला को विभाव बनाने के लिये दुष्यन्त के साथ अभेद भी नहीं हो सकता इत्यादि-इत्यादि; इन सबका समाधान हो जाता है। अपने मे दुष्यन्त का बोध मानना यद्यपि नवीन है किन्तु दुर्घट नही है, क्योंकि जिस भावना से विभावादिका साधारणीकरण होता है उसी भावना के कारण अपने में दुष्यन्त का बोध (भ्रम) भी हो सकता है। अतः न तो दो-दो व्यञ्जनाओं की स्वीकृति अपेक्षित है और न भावकत्व भोजकत्व इन दो व्यापारों की स्वीकृति। इन सबके बिना केवल भावना मात्र से ही रस निष्पत्ति हो जाती है। अतः इसमे लाघव है।

कतिपय समस्याएँ और उनका समाधान:—इसमे उपर्युक्त समस्याओ का तो समाधान हो जाता है परन्तु कुछ नवीन शङ्काओं का उद्‌भाव होता है। वे समस्याएँ और उनका समाधान क्रमशः इस प्रकार है:—

(१) प्रथम समस्या यह है कि जब सहृदय स्वयं को दुष्यन्त से अभिन्न मान लेता है तो जिस प्रकार रति में उसे सुख मिलता है वैसे ही शोकादि मे उसे नायक के समान दुःख भी मिलना चाहिये।

इसके उत्तर में भी यदि यह कहा जाय कि नहीं, जहाँ शोकादि वास्तविक हों वही उनसे दुःख होता है, अवास्तविक (भ्रमात्मक) होने पर नहीं और नायक में रहने वाले शोकादि असत्य हैं अतः उनसे दुःख नहीं होगा—तो ठीक नहीं है क्योंकि ऐसा मानने पर रति से सुख भी नहीं हो सकेगा क्योंकि वह रति भी वास्तविक नहीं है,

---

१२. रस. पृ. २५।

असत्य है। दूसरे, लोक मे भी, भ्रम में प्रतीत होने वाले सर्प से जो भय, कम्प आदि होते हैं वह भी अनुपपन्न हो जायेंगे। इसलिये यह कहना असम्भव है कि भ्रमविषयक वस्तु से सुख-दु.ख आदि नहीं होता।

कार्य के अनुसार कारण की कल्पना की जाती है, इस आधार पर इस समस्या का समाधान दो प्रकार से किया जा सकता है —

(क) यदि शृङ्गारप्रधान काव्यो में सुख के समान करुण प्रधान काव्यो मे भी सुख का ही अनुभव होता हो तो यह मानना चाहिये कि जिस भावना से वह सुख उत्पन्न होता है उसी भावना से दुःख को रोक दिया जाता है (भावना मे सुखजनकत्व के समान दुःखप्रतिबन्धकत्व की भी कल्पना कर लेनी चाहिये)।

(ख) यदि सहृदयो को यह अनुभव होता हो कि शृङ्गारादि मे जैसे सुख मिलता है करुणादि मे उसी प्रकार दुःख भी मिलता है तो उस भावना को प्रतिबन्धक मानने की आवश्यकता नहीं है। सुख के कारण (रति) से सुख और दुःख के कारण (शोक) से दु.ख होगा।

(२) दूसरी समस्या यह है कि यदि उपर्युक्त कथनानुसार शोकादि से दुःख की उत्पत्ति मानली जाय तो करुण प्रधान काव्यो को बनाने मे कवियो की और सुनने में सहृदयो की प्रवृत्ति असङ्गत हो जायेगी क्योंकि दुःख देने वाले कार्य के लिये तो किसी मूर्ख की भी प्रवृत्ति नही होगी।

उसका उत्तर यह है कि दुःख होते हुए भी सुख की अपेक्षा उसकी मात्रा इतनी अल्प होती है कि वह दुःख नगण्य हो जाता है। सुखाधिक्य के कारण उसमें प्रवृत्ति हो ही जाती है। लोक मे भी इस प्रकार के उदाहरण मिलते है जिनमे कष्ट होते हुए भी व्यक्ति की प्रवृत्ति इसलिये हो जाती है क्योंकि उसकी तुलना में उससे प्राप्त होने वाला सुख कहीं अधिक होता है जैसे चन्दन द्रवलेपनादि।

शोकादि भी सुखकारी हो जाते हैं—यह केवल काव्य की ही महिमा है। उसके प्रभाव से अरमणीय पदार्थ भी रमणीय बन जाते है। अत. कवि और सहृदय की प्रवृत्ति निष्प्रत्यूह हो जाती है।

काव्य को केवल आह्लादजनक मानने में तो करुणप्रधान काव्यों मे प्रवृत्ति होने में कोई बाधा है ही नही।

इस प्रकार मुख्य रूप से भावना ही रतिबोध में कारण है।

इनके अनुसार रस सूत्र का तात्पर्य यह है:-विभावानुभावादि के भावनाविशेष रूप बोध से (संयोगात्) अनिर्वचनीय दुष्यन्तरतिरूप रस की उत्पत्ति।[13]

---

१३. "विभावानुभावव्यभिचारिणां संयोगाद्भावनाविशेषरूपाद्बोधाद्रसस्यानिर्वचनीयदुष्यन्तरत्यात्मनो निष्पत्तिरुत्पत्तिः इति।"(रस. पृ २८)

(६) नैयायिकों का मत :—(यह मत अन्यथा ख्याति पर आधारित है)

रस–रामादि में रहने वाली रति।

निष्पत्ति–तादृश रति का भ्रम।

इस मत में भी प्रथम दो मतों के समान ही राम, दुष्यन्तादि में रहने वाली सत्य रति ही रस है और उसकी निष्पत्ति है अपने में उस रति का भ्रम।

जिस प्रकार वेदान्ती भ्रम का विषय अनिर्वचनीय मानते हैं वैसे ही नैयायिक भ्रम का विषय सत्य मानते हैं। अर्थात् शुक्ति आदि को देखते हुए अलौकिक प्रत्यक्ष द्वारा हट्टस्थ रजत की स्मृति होना ही रजत की भ्रान्ति है। शुक्ति को शुक्ति न जानने के कारण ही वहाँ भ्रम होता है। यदि शुक्ति को शुक्तित्वेन जानते रहें तो भ्रम की स्थिति नहीं होती है। सत्य रजत की स्मृति भी पूर्वनिर्दिष्ट अलौकिक प्रत्यक्ष ही है।

'इद रजतम्' की ही भाँति सहृदय को 'अहं दुष्यन्तः शकुन्तलाविषयकरतिमान्' यह बोध होता है। वह अपने को सामाजिक न समझकर दुष्यन्त समझता है और फिर अपने में दुष्यन्तनिष्ठ रति का भ्रम (अलौकिक प्रत्यक्ष) करता है। चाक्षुष् प्रत्यक्ष के यथार्थ न होने से यह अलौकिक प्रत्यक्ष भ्रम है।

स्वयं को दुष्यन्त मानने में तीन कारण हैं—पहला अपने को सहृदय न समझना (सहृदयत्वप्रकारक अज्ञान) दूसरा भावनारूपदोष (काव्यार्थ का पुनः पुनरनुशीलन) और तीसरा दुष्यन्त के बारे में काव्यानुसन्धान द्वारा पूर्वज्ञान (दुष्यन्तत्वप्रकारक संस्कार)।

इस मत की विशेषता यह है कि न तो इसमें व्यञ्जना व्यापार का ही आश्रय लेना पड़ता है और न वेदान्तियों के समान किसी नवीन अनिर्वचनीय रति की ही उत्पत्ति माननी पड़ती है। सहृदय में भी दुष्यन्त की बुद्धि जो मानी गयी है वह भी भावना के द्वारा ही सिद्ध हो जाती है। भावना सभी मतों में अनिवार्य रूप से मानी गयी है अतः उसकी कल्पना कोई नवीन कल्पना नहीं है। अतएव, पूर्वोक्त सभी मतों की अपेक्षा इस मत में लाघव है।

नैयायिकों को अभिधा और लक्षणा ही मान्य हैं, व्यञ्जना मान्य नहीं है क्योंकि उसमें कोई प्रबल प्रमाण नहीं है।

रति की स्मृति (अलौकिक प्रत्यक्ष) के लिये भी रति का पूर्व परिचय (संस्कार) अपेक्षित है। यह परिचय सहृदय को अनुमान से हो जाता है। नट के अभिनय, चेष्टा आदि के बल पर वह यह अनुमान द्वारा जान लेता है कि दुष्यन्त शकुन्तलाविषयक रति वाला था।

एक प्रश्न यह भी उत्पन्न हो सकता है कि जिस सामाजिक में शकुन्तला विषयक रति रहती ही नहीं है उसमें उसका बोध कैसे होगा? इसका उत्तर यह है कि भ्रम के स्थल में यह नहीं होता कि विषय विद्यमान हो तभी उसका बोध हो, विषय के न रहने पर भी उसका भ्रम हो ही सकता है—उसमें कोई विरोध

नही है। सामाजिक को अपने में जो रति का बोध होता है वह भ्रम है, सत्य नही।

सर्वप्रथम नट को तथा उसके साथ ही विभाव अनुभाव और अभिनय आदि हेतुओ के द्वारा उसे यह अनुमान होता है कि दुष्यन्त शकुन्तलाविषयक रति वाला था और उसके पश्चात् काव्यार्थ की भावना रूप दोष के महात्म्य से वह अपने को दुष्यन्त मान लेता है और अपने में उसे शकुन्तलाविषयक रति का भ्रम होने लगता है। यही भ्रम है रति की निष्पत्ति।[१४]

इस मत में रतिज्ञान का आकार तीन प्रकार का हो सकता है—(१) अहं दुष्यन्तः शकुन्तलाविषयकरतिमान्। (२) अहं शकुन्तलाविषयकरतिमान् दुष्यन्तः। (३) अह दुष्यन्तः शकुन्तलाविषयकरतिमाश्च।

स्वप्न आदि मे भी व्यक्ति को अपने में दुष्यन्तबुद्धि हो जाती है अतः उस अवस्था में अलौकिक आनन्द की अनुभूति होनी चाहिये—ऐसा नही कहना चाहिये क्योकि यह एकमात्र काव्य का ही वैशिष्ट्य है कि उस भ्रम में आनन्द मिलता है। स्वप्नादि मे वह रतिबोध काव्यार्थानुसन्धान (काव्यार्थभावना) से नही होता अतः काव्यरस से विलक्षण है। इसी से इस मत में रस को विलक्षण विषयवाला (विलक्षणविषयताशाली) कहा है।

रससूत्र का अर्थ इस प्रकार होगा—विभावादि के संयोग से अर्थात् ज्ञान से (भावना रूप दोष से) मानस प्रत्यक्ष रूप ज्ञान विशेष की (रस की) उत्पत्ति (निष्पत्ति)।[१५]

अन्य कतिपय मत

पूर्वोक्त ६ मतों के अतिरिक्त पण्डितराज ने पाँच मतो का उल्लेख और किया है। वे मत क्रमशः इस प्रकार हैं:-

(७) विभावादि तीनों मिलकर रस होते हैं। इस दृष्टि से भरतसूत्र मे प्रयुक्त संयोग पद का तात्पर्य है समुदाय मे और निष्पत्ति का तात्पर्य है रसपदव्यवहार मे अर्थात् विभावादि तीनो का समुदाय रस पद से व्यपदिष्ट होता है।

(८) विभावादि तीनो मे से जो भी चमत्कारपूर्ण हो वही रस है। चमत्कारी न होने पर तीनों मे से कोई भी रस नही है।

इस दृष्टि से सूत्रगत सयोग का तात्पर्य है समुचित योग (सम्यक् योग)। रस का वही अर्थ है जो उपर्युक्त है।

(९) परिपुष्ट हुआ विभाव ही रस है।

(१०) परिपुष्ट हुआ अनुभाव ही रस है।

---

१४. रस. पृ. २७।

१५. विभावादीनां संयोगाज्ज्ञानाद्रसस्य ज्ञानविशेषात्मनो निष्पत्तिरुत्पत्ति। इति। (रस. पृ. २८)

(११) व्यभिचारी ही परिपुष्ट होने पर रस रूप में परिणत होता है ।

अन्तिम तीनों मतों में सूत्र के साथ समन्वय नहीं है क्योंकि कोई एक विभाव, अथवा अनुभाव या व्यभिचारी भाव अकेला रस से सम्बन्धित हो सकता है । अत. जबतक तीनों का संयोग नहीं होता तबतक रस की निष्पत्ति नहीं होती इसी आशय से सूत्र में तीनों के संयोग का ही कथन किया गया है । इन मतों में तीनों का योग ही घटित नहीं होता अत. सूत्र विरोधी होने से यह मत मान्य नहीं है ।[16]

समवलोकन

अभिनव के मत का उत्कर्ष —

रसगङ्गाधर के पूर्व ही यह स्पष्ट रूप से दिखायी पड़ने लगा था कि रस-व्याख्याओं में अभिनवगुप्त का ही मत सबसे अधिक प्रभावपूर्ण है । पण्डितराज की दृष्टि में भी वही श्रद्धेयतम है क्योंकि सर्वप्रथम उन्हीं के मत का निरूपण किया है और अत्यन्त प्रबल रूप में उसका अनुमोदन किया है । अभिनवगुप्त के मत को सर्वोत्कृष्ट मानने में कुछ ऐसे कारण हैं जो उनके सिद्धान्त को विशेष रूप से महान बना देते है ।

रस-बोध न्याय सम्मत (Logical) बोध नहीं है

भट्टलोल्लट आदि ने रस का आस्वाद जिस रीति से स्वीकार किया वह तार्किक (Logical) रीति है । किन्तु वास्तव में काव्य का आनन्द ऐसा आनन्द नहीं जिसे बुद्धि के मार्ग से या तर्क पर आश्रित होकर अनुभव किया जाय । अलौकिक प्रत्यक्ष अथवा अनुमिति दोनों ही बुद्धि के मार्ग हैं, साक्षात् हृदय के नहीं । रसास्वाद एक ऐसा अनुभव है जहाँ बुद्धि शान्त रहती है तथा साक्षात् हृदय में उसका स्फुरण होता है ।

रस सहृदयनिष्ठ है

दूसरी बात यह कि भट्टनायक के पूर्व इस आस्वाद का विषय —रति आदि— परनिष्ठ ही माना जाता रहा । राम या नट में रति हो और सामाजिक उससे आनन्द ले । परन्तु सच पूछा जाय तो इसे इस प्रणाली से भी स्वीकार करना अनुचित है । क्योंकि व्यक्ति मिष्टान्न खाये और दूसरा उसका आनन्द ले तो उस आनन्द में यह बात नहीं आती जो स्वयं उसे खाकर आनन्द लेने में आती है । लोल्लट आदि ने परसन्तोष (Vicarious satisfaction) में विश्वास किया । भट्टनायक ने उसे खण्डित कर सहृदय की अपनी रति की आस्वाद्यता सिद्ध की । इतना ही नहीं, उस रति को भी अपने आत्मा के आनन्दात्मक अंश से विशिष्ट होने पर ही रस की कोटि में माना ।

१६. "विभावादयस्त्रय.समुदिता रसाः" इति कतिपये । "त्रिषु य एव चमत्कारी स एव रसोऽन्यथा तु त्रयोऽपि न" इति बहव. । "भाव्यमानो विभाव एव रस." इत्यन्ये । "अनुभावस्तथा" इतीतरे । "व्यभिचार्येव तथा तथा परिणमति" इति केचित् । (रस पृ. २८)

अभिनवगुप्त ने एक पग और आगे बढाया आनन्दविशिष्ट रति के स्थान पर रतिविशिष्ट आनन्द को ही रस माना।

आनन्द साक्षात् आत्मा है

आनन्द कोई साधारण चित्तवृत्ति (रति आदि) अथवा कोई लौकिक पदार्थ नही है अपितु साक्षात् आनन्द स्वरूप सहृदय का आत्मा ही रस है। रत्यादि भावो को ही रस मानने मे शोकादि की रसता सिद्ध नही होती। वह तभी रस रूप हो सकता है जब साक्षात् आत्मा को ही रस माना जाय। अभिनव भारती मे अभिनव गुप्त का स्पष्ट मत है—

'अस्मन्मते तु सवेदनमेवानन्दघनमास्वाद्यते। तत्र का दु खाशङ्का। केवल तस्यैव चित्रताकरणे रतिशोकादिवासनाव्यापारस्तदुद्बोधने चाभिनयादिव्यापार।'[१७]

रति आदि सस्कार केवल उस रस के वैचित्र्य मे ही कारण होते है, स्वय रस नही। स्वात्मभूत आनन्द के ही रसरूप होने से काव्य रस कभी भी दु खरूप नही होता, सुखरूप ही होता है।

रति भी साधारण (Universal) रति है

अपने आनन्दरूप के साथ भी जिस रति का आस्वाद सहृदय करता है वह उसकी रति होते हुए भी साधारण रति हो जाती है। अर्थात् उस रति के प्रति उसकी ममता नहीं होती—रतित्वेन उसका आस्वाद होता है। एक ही रति का सब सहृदय आस्वाद करते हैं। लौकिक रति मे विभाव आदि नही होते अपितु साधारण रमणी उसका कारण होती है। साहित्यिक रति मे रमणी रमणीत्वेन सबके प्रति कारण हो जाती है—विभावरूप बन जाती है।

रति सस्कार है

यह रति भी भट्टनायक के समय तक चित्तवृत्ति रूप थी परन्तु अभिनव ने उसको सस्कार माना। सस्कारात्मक होने से वह सहृदय के अन्त करण का धर्म होकर सदा विद्यमान सिद्ध हो गयी। काव्य व्यापार से उसी सस्कार का उद्बोधन होता है। अतएव सहृदय की अपनी ही रति उद्बुद्ध होती है और आत्मानन्द से सयुक्त होकर रस बन जाती है परन्तु वह रति भी आत्मतत्व के समान एक रति होती है। अतएव लौकिक रति और साहित्यिक रति मे पृथ्वी आकाश का अन्तर है।

व्यञ्जना की स्थापना

भट्टनायक की अपेक्षा अभिनव के मत मे एक और परिवर्तन आया—भावकत्व व भोजकत्व नामक दो वृत्तियो के स्थान पर एक ही वृत्ति—व्यञ्जना—की स्वीकृति। भट्टनायक की उक्त दो वृत्तियाँ पण्डितराज के अनुसार क्रमश: शाब्दी व्यञ्जना और आर्थी व्यञ्जना हैं। काव्य शब्दात्मक है किन्तु फिर भी आनन्दवर्धन के 'यत्रार्थः

१७. अभि. भा. प. ५०७।

शब्दो वा —' की मर्यादा के लिये शब्द और अर्थ दोनो का रस के प्रसङ्ग मे समान स्थान है। उसी को अपनाते हुए रस की व्याख्या भी की गयी है।

निष्कर्ष यह है कि अभिनवगुप्त का मत ही सर्वोत्कृष्ट मत है और उसमे कारण है —

(१) साक्षात् आत्मस्वरूप आनन्द को ही रस स्वरूप मानना,

(२) रति को भी संस्कार सामान्य के रूप मे सम्मुख रखना,

(३) व्यञ्जना की स्थापना करना।

रस का आत्मस्वरूप अन्य सभी स्वरूपो से ऊँचा है। अत. उसको पुष्ट करने वाले मत का विजेता अन्य मत हो नही सका।

पण्डितराज की देन

रस प्रकरण मे जिस प्रकार अन्य मतो का प्रतिपादन किया गया है उस प्रतिपादन को ही यदि पण्डितराज की विशेष देन कहा जाय तो अत्युक्ति न होगी। अभिनव के मत की, भट्टनायक के मत की तथा अन्य मतो की भी जितनी स्पष्टता से विवेचना रसगङ्गाधर मे हुई है उतनी अन्य किसी ग्रन्थ मे उपलब्ध नही होती।

भावना का रूपान्तर —

(१) अभिनव के मत का प्रतिपादन करते हुए पण्डितराज की अपनी ही मान्यताओ का प्रभाव उस पर पड़ गया है। यथा भावना नामक व्यापार अभिनव के मत मे शाब्दी व्यापार था (भट्टनायक ने इसे भावना और अभिनव ने शाब्दी व्यञ्जना कहा) अर्थात् विभावादि का साधारणीकरण करना शब्द की विशेषता थी। परन्तु पण्डितराज ने उस भावना के स्वरूप मे आमूल परिवर्तन कर दिया। रसगङ्गाधर के आरम्भ मे ही भावना का स्वरूप निर्दिष्ट है—'पुनः पुनरनुसन्धानात्मा' अर्थात् काव्य का पुन -पुनः आलोड़न। यह पुनः-पुनः आलोड़न शब्द की विशेषता नही है अपितु सहृदय की विशेषता है, सहृदय के हृदय में रहने वाला एक व्यापार है। तो जो व्यापार शब्दगत व्यापार था वही पण्डितराज की दृष्टि से सहृदयहृदय-निष्ठ व्यापार हो गया। अत. प्राचीन मत में जो भावना काव्यनिष्ठ थी वही पण्डितराज के मत में सामाजिकनिष्ठ बन गयी। आगे व्यञ्जना भी भावनावरणा-चिद्र प होने से सामाजिकनिष्ठ ही बन गयी।

प्राचीन मतानुसार काव्य और रस में अभिव्यञ्जक अभिव्यङ्ग्य (व्यङ्ग्य-व्यञ्जक) भाव था किन्तु पण्डितराज ने मम्मट के मत की व्याख्या करते समय उसका भी स्वरूप बदल दिया। मम्मट का मत है—

'व्यक्तः स तैर्विभावाद्यैः स्थायिभावो रसःस्मृतः।'[१८]

१८. का. प्र. पृ. ६५

वास्तव में व्यक्त का अर्थ है व्यञ्जना का विषय बना हुआ अर्थात् काव्य मे रहने वाली व्यञ्जना से अवगत हुआ (व्यङ्ग्य हुआ) जो रत्यादि स्थायिभाव। परन्तु पण्डितराज ने अपनी दृष्टि से उसका अर्थ कर दिया 'अनावृत चैतन्य का विषय बना हुआ'—"व्यक्तो व्यक्तिविषयीकृतः। व्यक्तिश्च भग्नावरणाचित्।"[१८] व्यक्ति को व्यञ्जना न मानकर साक्षात् आत्मस्वरूप मान लिया।

इस प्रकार अभिनव आदि के द्वारा मानी गयी शाब्दी व्यञ्जना और आर्थी व्यञ्जना दोनों पण्डितराज के द्वारा सहृदय का ही धर्म बना दी गयी, काव्य का धर्म नही रह गयी।

नव्य और नैयायिक के अनुसार रस व्याख्याएं

(२) पण्डितराज की नितान्त मौलिक देन है—नव्य और नैयायिको की दृष्टि से किया गया रस-सिद्धान्त का प्रतिपादन। रसगङ्गाधर के पूर्व इन मतो का विवेचन उपलब्ध नहीं होता। सम्भवतः इसका कारण शाङ्कर वेदान्त और न्यायदर्शन की अप्रसिद्धि ही रहा होगा।

इन दोनों मे से भी प्रथम (नव्य मत) जिस प्रकार से पुष्ट किया गया है उससे विद्वानों ने यह निष्कर्ष निकाला है कि यह उनका अपना ही मत है। इसमें एक अनिर्वचनीय प्रातिभासिक रति को रस माना गया है। इसी मत के अन्तर्गत रस की सुखरूपता का भी निश्चय किया गया है।

नैयायिको की दृष्टि से किया गया रस विवेचन अन्यथा ख्याति पर आधारित है। दोनो ही मतो के अनुसार रस प्रतीति को भ्रमात्मक प्रतीति माना गया है। किन्तु सहृदयानुभव के प्रमाण से यह मानना अरुचिकर प्रतीत होता है कि काव्य-रस किसी प्रकार की भ्रान्ति है। इसी कारण से अभिनव के पश्चात् इन मतो मे भी विशेष प्रभावकता नही प्रतीत होती। इतना ही कहा जा सकता है कि पण्डितराज ने ऐसी दो नई दृष्टियो से भी रस की व्याख्या की जो उनके पूर्व और किसी ने नही की थी।

निजी आत्मा का आस्वाद ही रस है

पण्डितराज ने जो सर्वाधिक आकर्षक रसोत्कर्ष दिखाया है वह यह सिद्ध करके कि ब्रह्म का आस्वाद रस नही है अपितु सहृदय की अपनी ही आत्मा का आस्वाद रस है। चाहे आस्वाद के समय सहृदय को निजात्मत्वेन उस आत्मा का बोध न होकर आत्मत्वेन ही बोध होता है परन्तु वह बोध होता सहृदय की अपनी ही आत्मा का है।

इस प्रकार पण्डितराज ने रस को सर्वथा सहृदयनिष्ठ सिद्ध कर दिया है।

---

१८. रस० पृ० २२

स्थायिभाव

स्वरूप

स्थायिभाव एक चित्तवृत्ति है । चित्तवृत्ति का अर्थ है मन की (अन्तःकरण की) एक अवस्था विशेष । रसास्वादकाल में सहृदय के हृदय में प्रमुख रूप से एक भाव आरम्भ से अन्त तक बना रहता है । आद्योपान्त स्थिर रहने के कारण ही यह स्थायी भाव कहलाते है ।

यह स्थायिभाव प्रत्येक रस का पृथक्-पृथक् होता है । अर्थात् भिन्न-भिन्न रसों में भिन्न-भिन्न चित्तवृत्तियाँ विद्यमान रहती है ।

इस सम्बन्ध मे यह आपत्ति हो सकती है कि स्थायिभाव जब चित्तवृत्ति रूप है तो वह स्थायी कैसे हो सकते है क्योंकि चित्तवृत्ति क्षणिक होती है ।

यह कहकर इसका निवारण हो नही सकता कि रत्यादि स्थायिभाव सस्कारात्मक है अतः स्थायी है, क्योंकि तब व्यभिचारिभाव मे भी इसकी अतिप्रसक्ति हो जायेगी ।

अत यह समझना चाहिये कि वासना (सस्कार) रूप होते हुए भी इनकी पुनः-पुनः अभिव्यक्ति होती रहती है इसीसे यह स्थायिभाव कहलाते है । एक व्यभि-चारि भाव एक बार नष्ट होकर पुनः उदय नही होता परन्तु स्थायिभाव पुनः-पुनः अभिव्यक्त होता रहता है ।[२०]

संख्या

प्रत्येक रस का एक-एक स्थायिभाव होने के कारण स्थायिभाव भी आठ होते है—

> रतिः शोकश्च निर्वेदक्रोधोत्साहाश्च विस्मयः ।
> हासो भयं जुगुप्सा च स्थायिभावाः क्रमादमी ।।[२१]

अर्थात् शृङ्गार का रति, करुण का शोक, शान्त का निर्वेद, रौद्र का क्रोध, वीर का उत्साह, अद्भुत का विस्मय, हास्य का हास, भयानक का भय और बीभत्स का जुगुप्सा स्थायिभाव होता है ।[२२]

प्रत्येक स्थायिभाव का लक्षण क्रमश. इस प्रकार है—

---

२०. तत्र आप्रबन्ध स्थिरत्वादमीषां भावानां स्थायित्वम् । न च चित्तवृत्तिरूपाणामेषामाशुविनाशित्वेन स्थिरत्व दुर्लभम्, वासनारूपतया स्थिरत्व तु व्यभिचारिष्वतिप्रसक्तमिति वाच्यम् वासनारूपाणा-ममीषां मुहुर्मुहुरभिव्यक्तेरेव स्थिरपदार्थत्वात् । व्यभिचारिणां तु नैव, तदभिव्यक्तेर्विद्युद्द्योत-प्रायत्वात् । (रस. पृ. ३०-३१)

२१. रस. पृ. ३०

२२. रस. पृ. ३०

१ रति

स्त्री और पुरुष को आलम्बन बनाने वाली प्रेम नामक चित्तवृत्तिविशेष रति कहलाती है। अर्थात् स्त्री के हृदय मे पुरुष को आधार बनाकर, और पुरुष के हृदय मे स्त्री को आधार बनाकर जो प्रेम नामक भाव उत्पन्न होता है वही रति है।[२३]

२ शोक

पुत्र आदि किसी प्रियजन के मरण हो जाने से उत्पन्न जो विकलता होती है वही शोक कहलाता है। इसमे विप्रलम्भ शृङ्गार से इसका भेद भी स्पष्ट किया है। विकलता तो विप्रलम्भ शृङ्गार मे भी होती है परन्तु वह शोक नामक चित्तवृत्ति नही होती क्योकि उसमे कालान्तर मे पुनर्मिलन की आशा बनी रहती है। स्त्री-पुरुष का वियोग जब होता है और परस्पर जीवित दशा का ज्ञान रहता है तो उस समय होने वाली विकलता भी रति की पोषिका होने से शृङ्गार रस का ही कारण होती है करुण का नही। अर्थात् वियोग केवल तभी शोकात्मक होगा जब उसमे चिरकाल के लिये वियुक्त होने की भावना हो और स्त्री-पुरुष (नायक-नायिका) का आलम्बन लिये हुए न हो।[२४]

३. निर्वेद

नित्य और अनित्य वस्तु के विचार से उत्पन्न जो सांसारिक भोग-विषयो के प्रति अनासक्ति या वैराग्य है वही निर्वेद है।[२५]

४. क्रोध

अपने गुरु, बन्धु आदि के वधरूपी अपराध से जब चित्त की प्रज्वलनात्मक अवस्था होती है वह क्रोध नामक स्थायिभाव कहलाती है। इस प्रज्वलन के मूल मे अत्यन्त महान् अपराध होना आवश्यक है तभी वह क्रोध रूप स्थायिभाव होगा। यदि किसी छोटे अपराध से चित्त का प्रज्वलन हो तो वह केवल कटुवचन अथवा असम्भाषण का ही कारण होगा।[२६]

५ उत्साह

दूसरे के पराक्रम, दान आदि की स्मृति से उत्पन्न औन्नत्यनामक चित्तवृत्ति विशेष ही उत्साह है। अर्थात् उपर्युक्त कारणो से उत्पन्न चित्त की उन्नति ही उत्साह है।[२७]

---

२३. स्त्रीपुंसयोरन्योन्यालम्बनः प्रेमाख्यश्चित्तवृत्तिविशेषो रतिः स्थायिभावः। (रस पृ २१)
२४. पुत्रादिवियोगमरणादिजन्मा वैक्लव्याख्यश्चित्तवृत्तिविशेषः शोकः। (रस. पृ. २२)
२५. नित्यानित्यवस्तुविचारजन्मा विषयविरागाख्यो निर्वेदः। (वही)
२६. गुरुबन्धुवधादिपरमापराधजन्मा प्रज्वलनाख्यः क्रोधः। (वही)
२७. परमपराक्रम-दानादिस्मृतिजन्मा औन्नत्याख्य उत्साहः। (वही)

६ विस्मय

किसी अद्भुत वस्तु को देखने से उत्पन्न विकास नामक चित्तवृत्ति विशेष विस्मय है।[२८]

७. हास

वाणी, अथवा किसी शारीरिक अङ्ग के विकार से उत्पन्न विकसित हुई चित्तवृत्ति ही हास है।[२९]

८. भय

व्याघ्र आदि को देखने से उत्पन्न होने वाली ऐसी विकलता जिसमें यह भान हो कि परम अनर्थ हो जायेगा, भय कहलाती है।[३०]

९ जुगुप्सा

किसी घृणित वस्तु को देखने से उत्पन्न होने वाली विचिकित्सा नामक चित्तवृत्ति विशेष ही जुगुप्सा कहलाती है।[३१]

स्थायिभाव और रस में भेद

स्थायिभाव और रस में क्या भेद है इसका निर्णय तभी किया जा सकता है जब रस का स्वरूप निश्चित हो। रस का स्वरूप पहले निश्चय किया जा चुका है तदनुसार वह भेद इस प्रकार है—

अभिनव और भट्टनायक के अनुसार

अभिनव और भट्टनायक की दृष्टि में रस और स्थायिभाव में वही भेद होगा जो घट और घटावच्छिन्न आकाश में होता है। अर्थात् रस है एक, अखण्ड और नित्य तथा स्थायिभाव है उसकी उपाधि।[३२]

नव्य मतानुसार

वेदान्तियों (रस सम्बन्धी पञ्चम मत के प्रणेता) के अनुसार स्थायिभाव है सत्यरजत के समान वास्तविक और रस है अनिर्वचनीय रजत के समान प्रातिभासिक। अर्थात् सत्य रूप स्थायिभाव का भ्रम ही है रस।[३३]

नैयायिकों के अनुसार

नैयायिकों के अनुसार इन दोनों में वही अन्तर है जो ज्ञान और उसके विषय मे होता है। अर्थात् रस है ज्ञान रूप और रत्यादि है उसके विषय रूप।[३४]

---

२८ अलौकिकवस्तुदर्शनादिजन्मा विकासाख्यो विस्मयः। (वही)

२९. वागङ्गादिविकारदर्शनजन्मा विकासाख्यो हासः। (वही)

३०. व्याघ्रदर्शनादिजन्मा परमानर्थविषयको वैक्लव्याख्यः स भयम्। (वही)

३१. कदर्यवस्तुविलोकनजन्मा विचिकित्साख्यश्चित्तवृत्तिविशेषो जुगुप्सा। (रस पृ. ३३)

३२. रसेभ्य. स्थायिभावानां घटादेर्घटाद्यवच्छिन्नाकाशादिव प्रथमद्वितीययोर्मतयो। (रस. पृ. ३०)

३३. सत्यरजतस्यानिर्वचनीयरजतादिव तृतीये। (वही)

३४. विषयस्य (रजतादे.) ज्ञानादिव चतुर्थे भेदो बोध्यः। (वही)

विभाव

इन्ही चित्तवृत्तियो को उद्दीप्त करने वाले कारण विभाव कहलाते है तथा इनके परिणामस्वरूप जो क्रियाएँ होती है वे अनुभाव तथा उस अवस्था मे क्षणिक रूप से उठने वाले भाव व्यभिचारिभाव कहलाते है । यही कहते है—एवमेषा स्थायिभावाना लोके तत्तन्नायकगताना यान्यालम्बनतयोद्दीपनतया वा कारणत्वेन प्रसिद्धानि तान्येषु काव्यनाट्ययोर्व्यज्यमानेषु विभावशब्देन व्यपदिश्यन्ते ।[३५]

अनुभाव

यानि च कार्यतया तान्यनुभावशब्देन ।[३६] अर्थात् जिनका वर्णन इन चित्तवृत्तियो के कार्य रूप मे हो वे अनुभाव कहलाते है ।

व्यभिचारिभाव

'यानि सहचरन्ति तानि व्यभिचारिशब्देन ।'[३७] अर्थात् जो भाव इन स्थायिभावों के साथ-साथ आवागमनशील (चलायमान) रहते है वे व्यभिचारिभाव कहलाते है ।

अन्त मे, किस रस मे कौन विभाव, कौन अनुभाव और कौन व्यभिचारिभाव होते है इसको भी प्रत्येक रस का उदाहरण देकर स्पष्ट किया गया है । विशेष प्रयोजन न होने से वह यहाँ उपादेय नहीं समझा गया है ।[३८]

रस-संख्या

पण्डितराज ने नव-रसों की सत्ता स्वीकार की है—

शृङ्गारः करुणः शान्तो रौद्रो वीरोऽद्भुतस्तथा ।
हास्यो भयानकश्चैव बीभत्सश्चेति ते नव ।।[३९]

अर्थात् शृङ्गार, करुण, शान्त, रौद्र, वीर, अद्भुत, हास्य, भयानक और बीभत्स ये नौ रस है । नौ रसो को मानने में प्रमाण है मुनिका यह वचन—

शृङ्गार–हास्य-करुण-रौद्र-वीर-भयानका.
बीभत्साद्भुतशान्ताश्च काव्ये नवरसाः स्मृताः ।[४०]

शान्त रस में शम स्थायिभाव है । वह भी नाटक में स्वीकार्य है ।

---

३५. रस. पृ. ३३

३६. वही

३७. वही

३८. वही

३९. रस. पृ. २९

४०. रस. पृ. २९ । नागेश की टीका । यह कारिका भरत की कारिका से तो भिन्न है किन्तु 'मुनि' का तात्पर्य भरत से अतिरिक्त किस में हो सकता है विचारणीय है ।

शान्तरस की स्थापना

शान्त रस के सम्बन्ध में कुछ विद्वानों को असहमति है। उनका कहना है कि नट में शान्ति (शम) का अभाव होने से उसमें शान्त रस की अभिव्यक्ति नहीं हो सकती। इसी प्रकार सामाजिकों में यदि शम (शान्ति) हो जाय तो भी रसोद्बोध में बाधा होगी। अतः न नट पक्ष को लेते हुए शान्त रस की स्थिति बन सकती है न सामाजिक पक्ष को लेते हुए।

इसके विरोध में यह भी नहीं कहना चाहिये कि नट में यदि शम का अभाव रहेगा तो वह अपने अभिनय से शान्त रस का प्रकाशन भी नहीं कर सकेगा क्योंकि यदि यह स्थिति मानली जायेगी तो नट के द्वारा क्रोध-भय आदि का प्रकाशन भी सिद्ध नहीं होगा क्योंकि नट में वास्तविक स्थिति तो क्रोध और भय की भी नहीं रहती।

नट के क्रोध के न होने से उसके वास्तविक कार्य (वध आदि) के असम्भव होने पर भी शिक्षा के बल पर कृत्रिमरूप से उसका (क्रोध आदि का) प्रकाशन हो जाता है अर्थात् नट-क्रोध आदि का प्रकाशक है यह यदि तर्क दिया जाय तो शम के प्रकाशन में भी इसको समान रूप से माना जा सकता है।

शान्तरस का खण्डन करने के लिए दूसरी युक्ति यह दी गयी कि नाट्य है गीत-वाद्य आदि से युक्त और शम है विषयों से पराङ्मुखता, अतः दोनों में विरोध होने से नाट्य से शान्तरस की उत्पत्ति मानना कदापि सम्भव नहीं है।

इस आपत्ति का उत्तर यह दिया गया कि जो लोग शान्तरस को स्वीकार करते हैं उनके मत में, कार्य के अनुसार कारण की कल्पना की जाती है इस सिद्धान्त के बल पर, यह मानना चाहिये कि गीत-वाद्य आदि शान्तरस के उद्बोधन में विरोधी नहीं है। विषयचिन्ता सामान्य का ही शान्त रस के साथ विरोध स्वीकार करने पर उसके आलम्बन विभाव संसार की अनित्यता, उद्दीपन विभाव पुराण श्रवण, सत्सङ्ग, पुण्यवनतीर्थावलोकनादिरूप विषयों का भी विरोध स्वीकार करना पड़ेगा। अर्थात् विषयमात्र की चिन्ता शान्तरस की विरोधी है यह नहीं कहा जा सकता, विषय विशेष की ही चिन्ता को विरोधी मानना युक्ति-संगत है।

शान्तरस को स्वीकार न करने वाले लोगों को भी महाभारतादि के शान्तरस-प्रधान होने के कारण काव्य में शान्त रस को मानना ही पड़ता है क्योंकि सम्पूर्ण लोक का अनुभव इसमें प्रमाण है कि महाभारतादि ग्रन्थ शान्तरस-प्रधान है तथा उन्हें शान्तरस–प्रधान मानने में कोई बाधा भी नहीं है।

इसी आशय से मम्मट ने भी 'अष्टौ नाट्ये रसाः स्मृताः', यह कहकर 'शान्तोऽपि नवमो रसः' यह कहा है। (अर्थात् ९ रसों को स्वीकार करने में मम्मट भी प्रमाण है।)[४१]

४१. का प्र, पृ. ६१

भक्तिरस का खण्डन

"रस नौ ही होते हैं ऐसा कहना ठीक नही है क्योकि भगवान् को आलम्बन बनाने वाला, रोमाञ्च-अश्रुपात आदि अनुभाव वाला, हर्षादि व्यभिचारिभावो वाला भागवत-पुराण आदि को सुनते समय भक्तो के द्वारा अनुभव होने वाला भक्तिरस भी स्पष्ट रूप मे एक रस है। भगवदनुरागरूपा भक्ति इसमे स्थायिभाव है। अतः भक्तिरस भी एक स्वतन्त्र रस है। शान्तरस मे भी इसका अन्तर्भाव नही हो सकता क्योकि अनुरागात्मक भक्तिरस का विरागात्मक शान्तरस के साथ विरोध है।"–ऐसा यदि कहा जाय तो भी उचित नही है क्योकि रति नामक भाव मे इस रस का अन्तर्भाव हो जाता है। भक्त की देवादिविषयक रति ही–भक्ति है।[४२]

वात्सल्य रस का खण्डन

रति नामक भाव के द्वारा ही वात्सल्य रस का भी अन्तर्भाव हो जाता है। पुत्रादिविषयक रति ही वात्सल्य रस है। अत. इसका भी स्वतन्त्र अस्तित्व नही है।

भगवद्भक्ति ही स्थायिभाव माना जाए और कामिनीरति को भाव माना जाये-यह भी अनुचित है क्योकि उससे भरतमुनि के वचन का खण्डन होगा। कौन रस है और कौन भाव इसके व्यवस्थापक भरत ही हैं। अतः "रसानां नवत्वगणना च मुनिवचननियन्त्रिता भज्यते, इति यथाशास्त्रमेव न्याय्य।"[४३] शास्त्रों के अनुसार ही रसों की गणना उचित है।

रसों के भेद-उपभेद

पण्डितराज ने प्रत्येक रस का सोदाहरण निरूपण किया है। विस्तृतिभय से प्रस्तुत प्रबन्ध मे उदाहरणो को नही दिया गया है। उसी निरूपण के मध्य रसों के भेदोपभेदों का भी विचार प्राप्त है।

रसगङ्गाधरकार ने शृङ्गार और वीर इन दो ही रसो के भेदो का निरूपण किया है। इनमें से भी शृङ्गार रस के भेदों को स्वीकार कर वीर रस के भेदों को राजाज्ञामात्र कह कर अस्वीकार कर दिया है।

शृङ्गार के भेद

शृङ्गार दो प्रकार का होता है–सयोग शृङ्गार व विप्रलम्भ शृङ्गार।

संयोग शृङ्गार

नायक नायिका के सयोग के समय जो रति हो वह सयोग शृङ्गार कहलाती है। संयोग का अर्थ दम्पति का एक स्थान पर रहना नहीं है अपितु 'संयुक्तोऽस्मि' इस

---

४२. अथ कथमेत एव रसा. ············उच्यते··········
भक्तेर्देवादिविषयरतित्वेन भावान्तर्गततया रसत्वानुपपत्ते । (रस, पृ. ४५)

४३. रस. पृ. ४६

प्रकार के ज्ञान से युक्त होना ही है।[४४] दम्पति के एकाधिकरणक होने को ही संयोग इसलिये नहीं माना जा सकता क्योंकि कभी-कभी एक ही पर्यंक पर शयन करते हुये भी ईर्ष्यादि यदि रहते हैं तो वहाँ विप्रलम्भ का ही वर्णन होता है। अतः संयोग एक अन्तःकरणवृत्ति (मन की अवस्था विशेष) है। इसका उदाहरण 'शयिता सविधे-प्यनीश्वरा–'[४५] इत्यादि पद्य है।

विप्रलम्भ शृङ्गार– वियोग काल में जिस रति का प्रादुर्भाव हो वह विप्रलम्भ शृङ्गार कहलाती है। यहाँ भी वियोग का तात्पर्य एकाधिकरण में न रहने में नहीं है अपितु 'वियुक्तोऽस्मि' इस अन्तःकरणवृत्ति में ही है।[४६] इसके भी अनेक उदाहरण दिये गये है। यथा—

नयनाञ्चलावमर्शं या न कदापि पुरा सेहे।
आलिङ्गितापि जोषं तस्थौ सा गन्तुकेन दयितेन ॥[४७]

वीर के भेद

वीर के चार प्रकार होते है दानवीर, दयावीर, युद्धवीर और धर्मवीर।

वीर का स्थायिभाव है उत्साह। यह उत्साह जब दानविषयक हो तो दानवीर, दयाविषयक हो तो दयावीर, युद्धविषयक हो तो युद्धवीर और धर्मविषयक हो तो धर्मवीर होता है। (इन सभी भेदो के उदाहरण मूलग्रन्थ में प्राप्त है।)[४८]

ये चारो भेद प्राचीन मत का अनुरोध मानकर पण्डितराज ने निरूपित किये है। वास्तव मे उन्हें यह स्वीकार नहीं है। उसकी अस्वीकृति के लिए उन्होंने निम्नलिखित कारण दिये हैं—

वास्तव में वीर रस के शृङ्गार रस की ही भाँति बहुत से (चार से भी अधिक) भेद हो सकते हैं। जैसे—

सपदि विलयमेतु राज्यलक्ष्मीरुपरि पतन्त्वथवा कृपाणधाराः।
अपहरतुतरां शिरः कृतान्तो मम तु मतिर्न मनागपैति धर्मात् ॥[४९]

इस पद्य में यदि चतुर्थ चरण में धर्मात् के स्थान पर 'सत्यात्' कर दिया जाय तो यही सत्यवीर का उदाहरण हो जायेगा।

---

४४. रस. पृ. ३४
४५ प्रथम अध्याय काव्यलक्षण पृष्ठ ८
४६. रस पृ. ३४
४७. रस. पृ. ३५
४८. वीरश्चतुर्धा। दानदयायुद्धधर्मैस्तदुपाधेरुत्साहस्य चतुर्विधत्वात्। (रस. पृ. ३७)
४९. रस. पृ. ४०

सत्य भी धर्म के ही अन्तर्गत आ जाता है अतः सत्यवीर को धर्मवीर के ही अन्तर्गत मान लेना चाहिये ऐसा नही कहा जा सकता क्योकि तब दान-दया भी धर्मान्तर्गत होने से धर्मवीर मे ही अन्तर्भूत मान लिये जायेगे।[५०]

इसी प्रकार पाण्डित्यवीर भी एक भेद हो सकता है। जैसे—

अपि वक्ति गिरा पतिः स्वयं यदि तासामधिदेवतापि वा।
अयमस्मि पुरो हयाननस्मरणोल्लङ्घितवाङ्मयाम्बुधिः॥[५१]

इसमे जिस उत्साह की प्रतीति हो रही है वह बृहस्पति के कारण उत्पन्न सभादिदर्शन से उद्दीपित, और सर्वज्ञता के तिरस्कार से अनुभावित तथा गर्वादि सञ्चारिभावो से परिपोषित है।

यदि यहाँ यह कह भी दिया जाय कि यह युद्धवीर का स्थल है क्योकि वाद मात्र ही युद्ध है तो भी क्षमावीर मे तथा बलवीर मे तो कोई समाधान नही हो सकता।

अपि बहलदहनजालं मूर्ध्नि रिपुर्मे निरन्तरं धमतु।
पातयतु वाऽसिधारामहमणुमात्र न किञ्चिदाभाषे॥[५२]

एक क्षमावान की उक्ति होने से यहाँ क्षमावीर ही हो सकता है अन्य कोई वीर नही। इसी प्रकार बलवीर के स्थान पर भी अन्य किसी वीर की स्थिति नही हो सकती।

यदि यह कहा जाय कि 'अपि वक्ति'—इत्यादि पद्य मे तथा बलवीर के स्थान मे उत्साह नही है अपितु गर्व की ध्वनि है। और 'अपि बहलदहनजालं—' इत्यादि में धृति रूप भाव की ध्वनि है अत. यह भावध्वनि के उदाहरण है रसध्वनि के नही—तो इसी प्रकार युद्धवीर आदि मे भी गर्व की ही ध्वनि कही जा सकती है, रसध्वनि मानना आवश्यक नही होगा। इस प्रकार सम्पूर्ण रसध्वनि ही अपने अपने व्यभिचारियों की ध्वनि के कारण भावध्वनि म ही गतार्थ हो जायेगी।

इसके उत्तर मे यदि यह कहा जाय कि युद्धवीरादि मे स्थायी की प्रतीति स्फुटरूप से होती है और सत्यवीर आदि में नही होती तो वह केवल राजाज्ञा मात्र ही होगी। अतः वीररस के दान-दया-युद्धवीर आदि भेद मानना अनुचित है।[५३]

रसादि की संलक्ष्यक्रमता

आनन्दवर्धनाचार्य का मत

व्यङ्ग्य और व्यञ्जक के पूर्वापरभाव को जहाँ लक्षित न किया जा सके वहाँ असलक्ष्यक्रमता होती है। रस के स्थल में, जहाँ प्रकरण स्पष्ट होता है वहाँ विभावादि

५०. रस. पृ. ३७–४१
५१. रस पृ. ४१
५२. रस पृ. ४१
५३. रस. पृ. ४२

का बोध भी तुरन्त हो जाता है तथा उन विभावादि के द्वारा तत्काल ही उन रत्यादि भावों का बोध भी हो जाता है। विभावादि के बोध के पश्चात् रत्यादि के बोध के होने में इतना कम समय होता है कि दोनों का कार्यकारणभाव प्रतीत नहीं हो पाता। इसीसे रस को असंलक्ष्यक्रम कहा गया है। जहाँ प्रकरण आदि विचार गम्य हो, अथवा विभावादि का उन्नयन करना पड़े वहाँ सामग्री (विभावादि का संयोग) के जुटने में विलम्ब हो जाने के कारण चमत्कार में मान्द्य आ जाता है अतः वहाँ संलक्ष्यक्रम रस होता है। जैसे[54]—'तल्पगतापि च सुतनु'—इत्यादि पद्य में 'सम्प्रति' पद का अर्थ समझने में समय लगता है।

ध्वन्यालोक में दिये गये—

एवं वादिनि देवर्षौ पार्श्वे पितुरधोमुखी।
लीलाकमलपत्राणि गणयामास पार्वती ॥[55]

इस पद्य में मुख का नीचा होना इत्यादि कुमारी-स्वभाव के कारण भी हो सकते हैं परन्तु लीलाकमलपत्र गणना के कारणरूप में जब नारद के द्वारा आरम्भ किया गया विवाह-प्रसङ्ग ज्ञात होता है तभी व्रीड़ा का चमत्कार होता है। अतः यह भी लक्ष्यक्रम है।

अभिनवगुप्त ने भी कहा है 'रसभावादिरर्थो व्यङ्ग्यमान एव न वाच्यः। तथापि न सर्वाऽलक्ष्यक्रमस्य विषयः।' अर्थात् रस और भाव सदा व्यङ्ग्यमान (व्यङ्ग्य) ही होते हैं परन्तु फिर भी हमेशा अलक्ष्यक्रम नहीं होते, लक्ष्यक्रम भी होते हैं।[56]

पण्डितराजकृत खण्डन

रसादि को संलक्ष्यक्रम मानना उचित नहीं है क्योंकि यदि इनको भी संलक्ष्यक्रम मान लिया जाय तो अभिनवगुप्त और मम्मट भट्ट ने जो अर्थशक्तिमूलध्वनि में बारह भेद माने हैं उनके स्थान पर अट्ठारह भेद मानने पड़ेंगे। क्योंकि जैसे स्वतःसम्भवी और कविप्रौढोक्तिसिद्ध में वस्तु और अलङ्कार व्यङ्ग्य के भेद हैं उसी प्रकार रस की भी व्यञ्जना होने से रस व्यङ्ग्य भी भेद बन जायेगा। इस प्रकार अर्थशक्तिमूल के तीन भेदों के (स्वतःसम्भवी, कविप्रौढोक्तिसिद्ध और कविनिबद्ध वक्तृप्रौढोक्ति सिद्ध में) क्रमशः ६-६ भेद हो जाने से (वस्तु से वस्तु, वस्तु से अलङ्कार, वस्तु से रस, अलङ्कार से वस्तु, अलङ्कार से अलङ्कार और अलङ्कार से रस) कुल १८ भेद हो जायेंगे।

---

५४. तल्पगतापि च सुतनु. श्वासासङ्ग न या सेहे।
सम्प्रति सा हृदयगतं प्रियपाणिं मन्दमाक्षिपति ॥ रस. पृ. १०७

५५. ध्व पृ. २६८

५६. रस पृ. १०७ तथा ध्व. । पृ. २६८, लो. । पृ. २६८

अतः सिद्धान्त यह है कि स्पष्ट रूप से प्रतीत होने वाले विभाव-अनुभाव-व्यभिचारिभाव से असंलक्ष्यक्रम रूप से ही जब रत्यादि की व्यञ्जना हो तभी वे स्थायिभाव रस होते है, संलक्ष्यक्रमरूप से अभिव्यक्त होने पर नही। क्योकि रस का अर्थ ही है स्थायिभाव का तुरन्त उत्पन्न होने वाले चमत्कार का विषयभूत होना। 'संलक्ष्यक्रमत्वेन जिस रत्यादि की अभिव्यक्ति होगी वह रसध्वनि नही अपितु वस्तुध्वनि ही होगी।'—इस प्रकार यदि आनन्दवर्धन का आशय समझा जाय और 'रसभावादिरर्थो .....'इत्यादि मे रस का अर्थ रति आदि स्थायिभाव लिया जाय तो उनकी उक्तियो मे विरोध नही होगा।[४७]

निष्कर्ष

पण्डितराज ने रसादि को असंलक्ष्यक्रम ही माना है, संलक्ष्यक्रम नही। अपने मत से आनन्दवर्धनादि के मत का विरोध न हो इसलिये आनन्दवर्धन के मत का दूसरे ढङ्ग से अर्थ किया है।

रस विरोध

उपर्युक्त नवरसो मे किसी-किसी रस का किसी-किसी रस विशेष के साथ विरोध होता है। जब किसी एक रस के साथ अन्य किसी ऐसे रस का वर्णन कर दिया जाय जिसके कारण प्रमुख रस के आस्वाद मे बाधा हो तो वह रस-विरोध की स्थिति होती है।[४८]

किस रस का किसके साथ विरोध अथवा अविरोध है, यह इस प्रकार समझना चाहिये—

वीर और शृङ्गार का, शृङ्गार और हास्य का, वीर और अद्‍भुत का, वीर और रौद्र का तथा शृङ्गार और अद्‍भुत का परस्पर अविरोध है।

शृङ्गार तथा बीभत्स का, शृङ्गार तथा करुणा का, वीर तथा भयानक का, शान्त तथा रौद्र का, शान्त और शृङ्गार का परस्पर विरोध है। विरोधी होने का तात्पर्य यह है कि एक रस के परिपाक के समय यदि दूसरे का भी उदय हो जाय तो वह रस-भङ्ग कर देता है अर्थ उन दोनो का मिश्रण रुचिकर नही लगता। इसीलिये कवि को प्रकृतरस को पुष्ट करने के लिये उसके अभिव्यञ्जक काव्य मे उसके विरुद्ध रसो का अङ्गरूप से भी उपनिबन्धन नही करना चाहिये। क्योकि वैसा होने पर प्रकृत रस की अभिव्यक्ति में बाधा पड़ती है। एक रस दूसरे रस को अनास्वाद्य कर देता है अथवा सुन्दोपसुन्द न्याय से दोनों ही अनास्वाद्य होकर नष्ट हो जाते है।

---

४७. प्रकटैर्विभावानुभावव्यभिचारिभिरलक्ष्यक्रमतयैव व्यज्यमानो रत्यादि. स्थायिभावो रसीभवति, न संलक्ष्यक्रमतया। ....इत्यादि। (रस पृ १०७-१०८)

४८ रस. पृ. ४७

इस प्रकार के विरोधी रसो का भी यदि वर्णन करना अभीष्ट ही हो तो इस प्रकार करना चाहिये कि जिससे विरोध का परिहार हो जाय। विरोध को समाप्त करके उन दोनो का एक स्थान पर समावेश करना चाहिये।

यह विरोध दो प्रकार का होता है—(१) स्थिति विरोध (२) ज्ञान विरोध।

स्थिति विरोध

एक के अधिकरण मे दूसरे का न रहना ही स्थिति विरोध है। इसको तदधिकरणावृत्ति कहते है। यथा जिस स्थान पर घट विद्यमान रहेगा उसी स्थान पर घट का अभाव नही रह सकता। अर्थात् घट और घटाभाव मे स्थिति विरोध है।

ज्ञान विरोध

तज्ज्ञानप्रतिबन्धकज्ञानत्व अर्थात् एक विषय के ज्ञान के द्वारा दूसरे विषय के ज्ञान का प्रतिबद्ध हो जाना ज्ञान विरोध है। जैसे—किसी नायिका के विषय मे यदि यह ज्ञान हो कि 'यह अगम्या है' तो उसी के विषय मे 'यह गम्या है' यह ज्ञान बाधित हो जाते है। अर्थात् दो ज्ञान एक ही समय मे एक ही विषय के बारे मे नही हो सकते।

रस में रहने वाले इन दोनो विरोधो का परिहार किया जा सकता है। क्रमश उसके उपाय इस प्रकार है।

विरोध-परिहार के उपाय

स्थिति विरोध का परिहार

स्थिति विरोध का परिहार अधिकरणो को पृथक् कर देने से हो जाता है। अर्थात् विरोधी रस का अधिकरण बदल दिया जाय तो वह विरोध समाप्त हो जायगा। जैसे—नायक मे वीर रस का वर्णन हो और प्रतिनायक मे भयानक रस का तो वीर और भयानक रसों का विरोध समाप्त हो जाता है। यहाँ स्पष्टत: ही रस का तात्पर्य स्थायीभाव से है। क्योंकि रस तो वास्तव मे सहृदय मे रहता है नायकादि मे तो रहता नही है और वह रस है आनन्द स्वरूप अखण्ड अतः उसका किसी दूसरे के साथ विरोध कहना असंगत है।

ज्ञानविरोध का परिहार

दूसरे विरोध का परिहार इन उपायो से हो सकता है—

१—जिन दो रसों के ज्ञानो के बीच में विरोध है उन दोनो के अतिरिक्त एक तीसरा रस, जो उन दोनों का अविरोधी हो, विरुद्ध रसो के मध्य में निवेश कर दिया जाय जैसे दो विरोधी व्यक्तियो के मध्य कोई सन्धिकर्ता उपस्थित हो। जैसे शान्त और शृङ्गार के मध्य अद्भुत रस का वर्णन। अथवा शृङ्गार और बीभत्स के मध्य वीररस का वर्णन। जैसे—

सुराङ्गनाभिराश्लिष्ट व्योम्नि वीरा विमानगा ।
विलोकन्ते निजान्देहान्फेरुनारीभिरावृतान् ।।[५९]

इस पद्य में सुराङ्गना का आलम्बन किये हुये शृङ्गार और मृतशरीरों का आलम्बन किये हुये अद्भुत रस का वर्णन है जो आपातत. विरोधी है परन्तु इसमे स्वर्गलाभ से अभिव्यञ्जित होने वाले वीर रस को मध्यस्थ करने से वह विरोध समाप्त हो गया है । मध्यस्थ करने का तात्पर्य है जिस समय मे दोनो परस्पर विरोधी रसों का बोध हो उसी समय मे उनके उस अविरोधी रस का भी बोध होना ।

२—इसी प्रकार यदि विरोधी रसो मे परस्पर अङ्गाङ्गि भाव हो जाये अथवा पोष्य-पोषक भाव हो जाये तो वह विरोध समाप्त हो जाता है, इस प्रकार के विरोध निवारण के भी पण्डितराज ने अनेक उदाहरण दिये है ।[६०]

किसी रस का बाध्य होना है—उस रस के विरोधी रस के प्रबल अङ्गों के कारण अपने अङ्गो के वर्तमान रहने पर भी उसकी अपनी निष्पत्ति न हो पाना ।[६१] अतः यदि विरोधी रस के अङ्ग विद्यमान हो परन्तु इतने प्रबल न हो कि प्रकृत रस की अभिव्यञ्जना को समाप्त करदे तो रस का विरोध नही रहता । उस विरोधी रस के होने मे भी कोई हानि नही है ।

३—इसके अतिरिक्त साधारण विशेषणों के बल पर जहाँ दो विरोधी रसों की अभिव्यक्ति हो वहाँ भी रसो में विरोध नही होता । जैसे—

नितान्त यौवनोन्मत्ता गाढ़रक्ताः सदाहवे ।
वसुन्धरां समालिङ्गय शेरते वीर तेऽरयः ।।[६२]

इसमे समान शब्दो के आधार पर करुण और शृङ्गार दोनों की अभिव्यक्ति हो रही है अतः इनमे विरोध नही है ।

इस प्रकार दो विरोधी रसो का विरोध निराकृत कर देना चाहिये ।

रस के व्यञ्जक

सामान्य मत

पद, वर्ण, रचना, वाक्य, प्रबन्ध, पदका एक देश तथा अवर्णात्मक रागादिको रसका अभिव्यञ्जक माना जाता है । इसमे जहाँ एक वाक्य मे सभी पदो के अपने-अपने अर्थों का उपस्थापन करने के द्वारा ही वाक्यार्थ बोध होता है अर्थात् जहाँ

---

५९. रस पृ ४७

६०. रस. पृ. ४७-४९

६१. बाध्यत्वं च रसस्य, प्रबलैर्विरोधिनो रसस्याङ्गैर्विद्यमानेष्वपि स्वाङ्गेषु निष्पत्तेः प्रतिबन्धः । (रस. पृ. ४९)

६२. रस. पृ. ४९

पदव्यङ्ग्यता होती है वहाँ यद्यपि सभी पद अपने अर्थों की उपस्थिति के द्वारा वाक्यार्थ बोध के प्रति (जोकि व्यञ्जक होता है) कारण होते हैं तथापि सबके चमत्कारी न होने के कारण, जो पद चमत्कारी होता है उसीको ध्वनि कह दिया जाता है। (ध्वनि—ध्वन्यते अनेन इति ध्वनिः अर्थात् व्यञ्जक) आशय यह है कि किसी पद की व्यञ्जकता स्वाधीनत्वेन सिद्ध नहीं हो सकती क्योंकि कोई अकेला पद किसी व्यङ्ग्यार्थ का बोधक नहीं हो सकता अपितु सम्पूर्ण वाक्य ही उसका बोधक होगा। और इस वाक्यार्थ में तद्वाक्यगत सभी पद समान रूप से कारण होंगे अतः वाक्य का वाक्य व्यञ्जक होगा न कि पद। इस प्रकार पदव्यङ्ग्यता निरवकाश हो जायेगी। इसके उत्तर में कहते हैं कि सभी पद अर्थोपस्थिति में कारण होते हैं तथापि समानरूप से चमत्कारी नहीं होते। चमत्कारी पद कोई ही होता है और उसी पद के आधार पर वहाँ ध्वनि का व्यवहार होता है। इसी से वहाँ पद व्यञ्जना होती है। उदाहरण के लिये 'मन्दमाक्षिपति' इस वाक्य में 'मन्दम्' पद व्यञ्जक है।

प्राचीन मत

इसी प्रकार वर्ण और रचना के विषय में भी सरलता से यह कहा जा सकता है कि यह भी पद और वाक्य के अन्दर ही समाविष्ट हो जाते हैं अतः वह व्यञ्जक नहीं है अपितु केवल व्यञ्जक के विशेषण मात्र है। (व्यञ्जक के अवच्छेदक है) तथापि इसको प्रमाणित करने वाली कोई युक्ति नहीं है कि पदवाक्यविशिष्ट रचना व्यञ्जक होती है अथवा रचनाविशिष्ट पद वाक्य। अतः जैसे घट के प्रति दण्ड और चक्र पृथक्-पृथक् कारण है उसी प्रकार व्यङ्ग्यार्थ के प्रति रचना और वर्ण को भी पद वाक्यादि से पृथक् रूप में व्यञ्जक मानना ही उचित है (तात्पर्य यह है कि रचना और वर्ण पद और वाक्य के अन्तर्गत रहकर ही व्यञ्जक हो सकते हैं तथापि यह निश्चय न होने के कारण कि उस परिस्थिति में कौन व्यञ्जक होता है, चारों को पृथक् रूप से व्यञ्जक मान लिया गया है जैसे-घट के प्रति चक्र सहित दण्ड कारण है अथवा दण्ड सहित चक्र इसमें कोई युक्ति न होने के कारण दण्ड और चक्र को उसके प्रति स्वतन्त्र कारण मान लिया गया। उसी प्रकार रचना, वर्ण, पद और वाक्य में भी विशेषण विशेष्यत्व असिद्ध होने के कारण स्वतन्त्र रूप से चारों को कारण मान लिया गया।) इस प्रकार इनकी पृथक् व्यञ्जकता मानने में कोई हानि नहीं है।

नवीन मत

नवीनों के अनुसार—वर्ण विशेष और रचना विशेष (वैदर्भी आदि) माधुर्यादि गुणों के ही व्यञ्जक होते हैं न कि रसों के। क्योंकि ऐसा मानने से व्यर्थ रसादिकों के व्यञ्जकों की संख्या में वृद्धि होने से गौरव होता है दूसरे इसमें कोई प्रमाण भी नहीं है। और ऐसा कोई नियम है नहीं कि गुणी के बिना गुण की व्यञ्जना हो नहीं

सकती। (अर्थात् यह नही कह सकते कि माधुर्यादि गुण है और रसादि गुणी, अतः यदि गुण की व्यञ्जना होगी तो अविनाभावेन गुणी की भी व्यञ्जना हो जायेगी—क्योकि ऐसा कोई सिद्धान्त नही है) यदि यह सिद्धान्त मानले तो घ्राण, रसना और श्रोत्र इन तीन इन्द्रियो मे व्यभिचार होगा। (यह तीनो इन्द्रियाँ गुणो का (गन्ध, रस और शब्द) इन्ही का प्रत्यक्ष करती है गुणियो—पृथ्वी आदि का नही। इस प्रकार अपने-अपने व्यञ्जको से बोधित गुणियो व गुणो की अथवा उन दोनो से उदासीन अन्य पदार्थों के सम्मिश्रण से अथवा उदासीनरूप से जिस प्रकार तत्तत्प्रमिति गोचरता होती है उसी प्रकार रसो की और उसके गुणों की भी अभिव्यक्ति विषयता होती है। अर्थात् कभी उन दोनो का साथ-साथ बोध होता है कभी पृथक्-पृथक्।

पण्डितराज का मत

उपर्युक्त सभी व्यञ्जको को पण्डितराज ने भी स्वीकार किया है और इङ्गित रूप मे उसके उदाहरण भी दिये है। वाक्य की व्यञ्जकता जैसे—

आविर्भूता यदवधि मधुरयदिनी नन्दसूनोः
कान्तिः काचिन्निखिलनयनाकर्षणे कार्मणज्ञा।
श्वासो दीर्घस्तदवधि मुखे पाण्डिमा गण्डयुग्मे।
शून्यावृत्तिः कुलमृगदृशां चेतसि प्रादुरासीत्॥[६१]

प्रबन्ध की व्यञ्जकता वसिष्ठरामायण में है। वह शान्त और करुण रस का व्यञ्जक है। और रत्नावली आदि नाटक शृङ्गार रस के व्यञ्जक है।

भावकी व्यञ्जक है पण्डितराज की पाँचों लहरियाँ।

पदैकदेश का व्यञ्जक—

'निखिलमिद जगदण्डक वहामि।' इत्यादि पद्य। इसी प्रकार रागादियो की भी अभिव्यञ्जकता होती है।

जहाँ यह (रत्यादिकी) अभिव्यञ्जना प्रधान होती है वही पर रस का स्थल होता है अन्यत्र यह केवल वस्तुमात्र (रत्यादि) ही रहते है। इसमे भी कुछ लोग तो कहते है उस स्थान मे रस आदि पद रत्यादि का बोधक होता है और कुछ लोग कहते है कि गौण होने पर भी वह होते तो रस और भावरूप ही हैं परन्तु गौणता के कारण ध्वनिका व्यपदेश नहीं होता।

भाव-ध्वनि

रस का विवेचन करने के पश्चात् पण्डितराज भाव की आलोचना करते है। भाव क्या है, वह कितने हैं, उनका परिपाक किस प्रकार होता है—इत्यादि सभी विषयों का पूर्ण अवलोकन किया गया है।

६१. रस. पृ. ३४

लक्षण

प्रथम कल्प

भाव क्या है इस पर पर्याप्त विचार किया गया है।

यदि यह कहा जाय कि विभाव और अनुभाव से भिन्न जो कुछ भी रस का व्यञ्जक हो वह भाव है,[६४] तो यह कहना ठीक नहीं होगा क्योंकि इस प्रकार रस-काव्य रूप वाक्य भी भाव हो जायेगा क्योंकि अर्थ के माध्यम से शब्द भी व्यञ्जक हो सकता है। (अर्थात् शब्द स्वयं न विभाव है न अनुभाव फिर भी अर्थ का प्रतिपादक होने से अर्थ को माध्यम बनाकर रस का व्यञ्जक होता ही है अतः वह शब्द भी भाव हो जायेगा।)

द्वितीय कल्प

इस आपत्ति का निवारण करने के लिये यदि यह कहा जाय कि जो बिना किसी माध्यम के रस की व्यञ्जना करे वह भाव है,[६५] तो भी इष्ट सिद्धि नहीं होती क्योंकि उस प्रकार तो जो वास्तविक भाव है वह भी भाव नहीं कहला सकेगा क्योंकि उसमें भी भावना बीच में माध्यमरूप से होती ही है। और दूसरे, भावना में फिर भावत्व आ जायेगा क्योंकि भावना ही अन्य किसी द्वार की अपेक्षा न करके रस की अभिव्यञ्जिका होती है।

तृतीय कल्प

इस प्रकार जैसे विभावानुभाव से भिन्न होना भाव के लिये आवश्यक है वैसे ही शब्द से भिन्न होना भी आवश्यक है अर्थात् विभाव, अनुभाव, और शब्द से जो भिन्न हो और रस का व्यञ्जक हो वह भाव है[६६] - ऐसा कहने से भी निस्तार नहीं है। क्योंकि इससे प्रधान रूप से ध्वनित होने वाले भाव में, रस व्यञ्जकता न होने से अव्याप्ति होगी। (अर्थात् जिस काव्य में भाव ही प्रधानरूप से ध्वनि का विषय है वहाँ वह ध्वन्यमान भाव किसी रस की व्यञ्जना तो करता नहीं है अतः उसमें रस व्यञ्जकता न होने से भावत्व भी नहीं हो सकेगा। भाव का लक्षण है—रस का व्यञ्जक होना।) प्रधान ध्वनिविषयीभूत भाव से एक अंश में तो रस का अभिव्यञ्जन होता ही है ऐसा यदि कहा जाय तो भावध्वनिमात्र का ही अस्त हो जायेगा क्योंकि प्रत्येक भाव किसी न किसी अंश में रस का व्यञ्जक होता है अतः वहाँ रस की ही प्रधानता होने से भावध्वनि का व्यपदेश नहीं हो सकेगा। (अर्थात् रसाभिव्यक्ति को ही यदि चरमाभिव्यक्ति मानें तो फिर भावध्वनि के स्थल में भी वह रसाभिव्यक्ति प्रधान होकर रस का ही स्थल कहलाने का कारण बन जावेगी। और इस प्रकार

---

६४. विभावानुभावभिन्नत्वे सति रसव्यञ्जकत्वमिति। रस. पृ. ७४

६५. द्वारान्तरनिरपेक्षत्वेन व्यञ्जकत्वं विवक्षिते स्वसम्भवः प्रसज्येत। (वही)

६६. विभावानुभावभिन्नत्वस्येव शब्दभिन्नत्वस्यापि तद्विशेषणत्वे न निस्तारः। (रस. पृ ७४)

भावध्वनि का स्थान ही नही रहेगा, वह निरवकाश हो जायेगी ।) भावध्वनि का स्थल वही होता है जहाँ भावकृत चमत्कार ही उत्कृष्टतम हो । यह कह नही सकते कि रसकी अभिव्यञ्जना तो होती है परन्तु वह मुख्य चमत्कार का कारण नही होती क्योंकि चमत्कार-हीन रस की अभिव्यक्ति मे कोई प्रमाण नही है । सहृदयानुभव से यह प्रमाणित हो चुका है रस मे और आनन्द मे अविनाभाव सम्बन्ध है अर्थात् जहाँ रस होता है वहाँ आनन्द भी अनिवार्य रूप से होता है।

अर्थात् द्वारान्तर निरपेक्षतया रसाभिव्यञ्जक शब्द और विभावानुभाव से भिन्न जो हो वह भाव है—यह लक्षण सर्वथा अनुचित है ।

उपर्युक्त आपत्तियो के अतिरिक्त और भी आपत्ति है कि प्रधानरूप से भाव की व्यञ्जना हो और आंशिक रूप से वह रसाभिव्यञ्जक हो—ऐसा मान लेने पर भी देश, काल, वय, अवस्था आदि नाना पदार्थों से घटित पद्यरूप वाक्य के अर्थ मे अतिव्याप्ति होती है । (अर्थात् ऊपर कही गयी सब आपत्तियो के पश्चात् भी दुर्जन-तोष न्याय से यह मान लिया जाय कि मुख्यरूप से भाव की ध्वनि होती है और आंशिकरूप से रस की अभिव्यञ्जना होती है तो भावध्वनि का ही स्थल होता है, तो भी निस्तार नही होता । क्योंकि जिस पद्य मे देश-काल-वय-अवस्था आदि का वर्णन हो वह भी विभाव अनुभाव आदि से भिन्न होते हुये रसाभिव्यञ्जक होने से भाव कहलाने लगेगा ।)

चतुर्थ कल्प

'रसाभिव्यञ्जकचर्वणावृत्तित्व त्वम् ।'[६७] अर्थात् रस की अभिव्यञ्जक जो विभावादि की चर्वणा है उस चर्वणा का होना ही भावका होना है । यह लक्षण भी ठीक नही है क्योंकि इससे—

कालागुरुद्रवं सा हालाहलवद्विजानती नितराम् ।
अपि नीलोत्पलमाला बाला व्यालावलिं किलामनुते ।।[६८]

इसमें अतिव्याप्ति होती है । क्योंकि हालाहल के समान समझना (हालाहल-सदृशत्वप्रकारकज्ञान) विप्रलम्भ शृङ्गार के अनुभाव के रूप मे उपात्त हुआ है और अनुभाव होने से वह रसकी अभिव्यञ्जक चर्वणा का विषय है, दूसरे वह चित्तवृत्ति (चित्त की अवस्था विशेष) रूप है ।

सिद्धान्त

अतः भावका स्वरूप लक्षण इस प्रकार है—'विभावादिव्यज्यमानहर्षाद्यन्यत-मत्वं भावत्वम् ।[६९] अर्थात् विभावादि के द्वारा व्यङ्ग्य होने वाले हर्षादि (व्यभिचारी-

६७. रस. पृ. ७५
६८. रस. पृ ७५
६९ वही

भावों) में से किसी का होना ही भाव है। विभावानुभाव व्यभिचारिभावों से जब किसी रत्यादि स्थायिभाव की अभिव्यक्ति होती है तब वह रसका स्थल होता है और जब विभावादि के द्वारा किसी स्थायिभाव की अभिव्यक्ति न होकर केवल व्यभिचारि-भावकी ही प्रधान रूप से अभिव्यक्ति हो तो वह भावध्वनि कहलाती है। स्थायिभाव ऐसा भाव है जो शाश्वतरूप से आत्मा में संस्कार के रूप में अवस्थित है और व्यभि-चारी भाव वह भाव है जो परिस्थितियों के वशीभूत होकर कुछ काल विशेष के लिये ही उद्दीप्त होता है और उसके पश्चात् (परिस्थिति समाप्त होने के पश्चात्) समाप्त हो जाता है। इसी से इनको व्यभिचारी भी कहते हैं। जब मुख्य रूप से किसी व्यभिचारीभाव की अभिव्यक्ति हो तब भावध्वनि होती है।

भावों की अभिव्यक्ति

अब प्रश्न उठता है कि यह अभिव्यक्ति किस प्रकार होती है? इस सम्बन्ध में तीन मत दिये हैं जिसमें प्रथम मत ही पण्डितराज का अभीष्ट है।

प्रथम मत

प्रथम मत में व्यभिचारिभाव की अभिव्यक्ति उसी प्रकार होती है जिस प्रकार स्थायिभाव की अभिव्यक्ति होती है। अर्थात् सामाजिक में जिस प्रकार स्थायिभाव रहते हैं उसी प्रकार व्यभिचारिभाव भी सामाजिक में ही रहते हैं। अतः जैसे काव्य अथवा नाटक में उन-उन विशेष विभावादि सामग्री के द्वारा, विरुद्ध तथा अविरुद्ध अन्य भावों (व्यभिचारिभावों) के द्वारा अभिभूत न किये जाते हुये, स्थायिभाव एक विशेष स्थिर अभिव्यक्ति को प्राप्त करते हैं उसी प्रकार यह हर्षादि व्यभिचारिभाव भी तत्तद् सामग्री से स्थिर अभिव्यक्ति को प्राप्त करके भावध्वनित्व को प्राप्त करते हैं। यह अभिव्यक्ति स्थायिभाव की अभिव्यक्ति के समान है।[७०]

द्वितीय मत

कुछ अन्य लोग इस अभिव्यक्ति को रसाभिव्यक्ति की कोटि का मानते हैं। अर्थात् जिस प्रकार स्वभाव से ही सामाजिकों के हृदय में वर्तमान रहने पर भी, विभावादि सामग्री से (जो व्यञ्जक सामग्री है) सत्त्व का उद्रेक हो जाने से आवरण के भङ्ग हो जाने पर शुद्ध चैतन्य का विषय बना हुआ स्थायिभाव ही रस रूप को प्राप्त होता है अथवा स्थायिभावोपहित भग्नावरणाचिदानन्द ही रसत्वेन व्यपदिष्ट होता है उसी प्रकार विभावादि अभिव्यञ्जना की सामग्री से सत्त्व का उद्रेक हो जाने के कारण भग्नावरण चिद् विशिष्ट भाव ही सामाजिकों के हृदय में अभिव्यक्त होते हैं।[७१]

---

७०. हर्षादीनां च सामाजिकगतानामेव स्थायिभावन्यायेनाभिव्यक्तिः। (वही)

७१. सापि रसन्यायेनेति केचित्। (वही)

तृतीय मत

तृतीय मत यह है कि इन भावों की अभिव्यञ्जना उसी प्रकार होती है जिस प्रकार व्यङ्ग्यान्तर की। अर्थात् जैसे वाचक लक्षक शब्दों के द्वारा वाच्य और लक्ष्यार्थ की उपस्थिति हो जाने पर भी वक्तृबोद्धव्यादि वैशिष्ट्य के कारण अनुरणन के रूप मे वस्तु या अलङ्कार रूप व्यङ्ग्यार्थ श्रोताओ के हृदय मे उल्लसित होता है वैसे ही विभावादि के वाचक तत्तत् शब्दो के बोध के पश्चात् अनुरणनरूप मे ही भावो की भी प्रतीति होती है।[७२]

भावध्वनि मे विभाव और अनुभाव व्यञ्जक होते है। व्यभिचारिभाव नही होते क्योकि जब एक व्यभिचारी भाव की व्यञ्जना होती है तो दूसरे व्यभिचारी भाव की व्यञ्जक रूप से अपेक्षा नही होती है। परन्तु यदि कही पर किसी भाव के साथ किसी अन्य व्यभिचारी भाव की नान्तरीयक रूप मे (अनिवार्यरूप में) उपस्थिति हो भी जाये तो उसमे कोई दोष नही है। क्योंकि उस स्थल पर गुणीभूत व्यङ्ग्य भी नही हो सकता, कारण कि उस व्यभिचारी भाव की अभिव्यक्ति किसी अन्य विभावादि से नही हो रही अपितु उसी व्यभिचारी भाव के व्यङ्ग्य होने पर अप्रधान और अनिवार्य रूप से यदि दूसरे व्यभिचारी की भी अभिव्यक्ति हो तो उसमे कोई हानि नही है। जैसे गर्वादि की ध्वनि में अमर्ष की अभिव्यक्ति अथवा अमर्ष के साथ गर्व की अभिव्यक्ति। अमर्ष और गर्व का नित्य सम्बन्ध है। अतः एक के होने पर दूसरे का होना हानिकर नही है—यदि उनमे एक प्रधान और दूसरा अप्रधान है तो इस अवस्था मे भी गुणीभूत व्यङ्ग्य नही कह सकते। अर्थात् उस अप्रधान व्यभिचारी भाव के आधार पर उसको गुणीभूत व्यङ्ग्य नहीं कह सकते क्योकि गुणीभूत व्यङ्ग्य वही होता है जहाँ दूसरे विभावानुभावादि के द्वारा व्यङ्ग्य होने पर ही गुणीभूत व्यङ्ग्य होता है। यदि ऐसा नहीं मानेंगे तो गर्वादि की ध्वनि भी समाप्त हो जायेगी क्योकि उसमें तो अमर्षादिकी नान्तरीयक रूप से अभिव्यक्ति होती ही है। अत. यह मानना पड़ेगा कि नान्तरीयक भावो की व्यभिचारीभाव के साथ अभिव्यक्ति होती है।

व्यभिचारिभाव की इस ध्वनि मे निमित्त कारण है विभावादि परन्तु उनमे भी आलम्बन विभाव और उद्दीपन विभाव दोनो का होना आवश्यक नही है। यदि सम्भव हो जाये तो वह निवार्य भी नही। अर्थात् उस सम्बन्ध मे कोई दृढ़ नियम नही है।

यह हर्षादि भाव चौतीस होते हैं—

'हर्षस्मृतिव्रीडामोहधृतिशङ्काग्लानि दैन्यचिन्तामदश्रमगर्वनिद्रामतिव्याधित्रास-सुप्तविबोधामर्षावहित्थोग्रतोन्मादमरण वितर्कविषादौत्सुक्यावेगजड़तालस्यासूयापस्मार-

७२. व्यङ्ग्यान्तरन्यायेनेत्यपरे मन्यन्ते। (वही)

चपलता: । प्रतिपक्षकृतधिक्कारादिजन्मा निर्वेदशोभि [illegible] । गुरु-देवनृपपुत्रादिविषयारतिश्चेति [illegible] ।'[73]

१—हर्ष

'इष्ट प्राप्त्यादिजन्मा सुखविशेषो हर्षः ।'[74]

अर्थात् अभीष्टवस्तु की प्राप्ति होने पर जो विशेष प्रसन्नता होती है वही हर्ष नामक व्यभिचारिभाव है । इसी आशय से किसी के द्वारा कहा गया है—

देवभर्तृगुरुस्वामिप्रसादः प्रियसङ्गम
मनोरथाप्राप्तिरप्राप्यमनोहरधनागमः ।
तथोत्पत्तिश्च पुत्रादेर्विभावो यत्र जायते ।
नेत्रवक्त्रप्रसादश्च प्रियोक्तिः पुलकोद्गम ।।
अश्रुस्वेदादयश्चानुभावा हर्षे समादिशेत् ।' इति ।[75]

२—स्मृति

'संस्कारजन्यं ज्ञानं स्मृतिः ।'[76]

अर्थात् नाना वस्तुओं को देखने और सुनने से हृदय में जो एक संस्कार बन जाता है उसी संस्कार से जन्य जो ज्ञान है वह स्मृति कहलाता है ।

(स्मृति पर विचार करते समय प्रसङ्गतः एक दो उदाहरणों को लेकर उसमें स्मृति भाव की स्थापना के लिये पर्याप्त विचार (वाद विवाद) किया है । आवश्यक न होने के कारण यहाँ नहीं दिया जा रहा है । आवश्यकता पड़ने पर (रस पृ० ६५) देखा जा सकता है ।)

३—व्रीडा

'स्त्रीणां पुरुषमुखावलोकनादेः, पुंसां च प्रतिज्ञाभङ्गपराभवादेरुत्पन्नो वैवर्ण्याधोमुखत्वादिकारणीभूतश्चित्तवृत्तिविशेषो व्रीडा ।'[77]

स्त्रियों का पुरुषमुख देखने से तथा पुरुषों की प्रतिज्ञा भङ्ग होने से तथा पराजयादि से उत्पन्न जो विवर्णता, मुखका नमन आदि है उसकी कारणभूता चित्तवृत्तिविशेष ही व्रीडा है ।

४—मोह

'भयवियोगादि प्रयोज्या वस्तुतत्त्वानवधारिणी चित्तवृत्तिर्मोहः ।'[78]

---

७३. रस पृ ७६
७४. रस. पृ. ७६
७५. रस पृ. ७७
७६ वही
७७. रस. पृ. ७८
७८ रस पृ ७६

अर्थात् भय और वियोग के कारण होने वाली ऐसी चित्त की दशा जिसमे वस्तुओ का सम्यक ज्ञान न हो--मोह कहलाती है ।

इस प्रसङ्ग मे नवीनो का मत देते है -उसके अनुसार अवस्थान्तर को पहुँची हुई चिन्ता नामक चित्तवृत्ति ही मोह कहलाती है । अर्थात् मोह और कुछ नही केवल चिन्ता की ही अवस्था विशेष है ।

५ -धृति

'लोभशोकभयादिजनितोपप्लवनिवारणकारणीभूतश्चित्तवृत्तिविशेषो धृति.।'[७९]

अर्थात् लोभ, शोक, भय आदि से उत्पन्न उत्पात के निवारण की कारणस्वरूप चित्तवृत्ति को धृति कहते हैं ।

६ शङ्का

'किमनिष्टं मम भविष्यतीत्याकारश्चित्तवृत्तिविशेषः शङ्का ।'[८०]

अर्थात् 'मेरा क्या अनिष्ट होगा ?' इस प्रकार की बुद्धि जब होती है तो शङ्का कहलाती है ।

७— ग्लानि

'आधिव्याधिजन्यबलहानिप्रभवो वैवर्ण्यशिथिलाङ्गत्वदृग्भ्रमणादि हेतुर्दु:खविशेषो ग्लानि. ।'[८१]

अर्थात् आधि व्याधि (मानसिक और शारीरिक कष्ट) से उत्पन्न बल की हानि, रङ्ग उतर जाना, अङ्गों का शिथिल हो जाना, दृष्टिभ्रम आदि आदि का होना—इन सबका कारण एक प्रकार का विशेष दुःख ही ग्लानि है ।

कुछ लोग व्याधि आदि से (रोग आदि से) होने वाले बलनाश को ग्लानि कहते हैं । इस मत को यदि मानें तो यह प्रश्न उठाया जा सकता है कि चित्तवृत्ति ही है भाव, वह चित्तवृत्ति भावरूप होने पर अभावरूप कैसे हो सकती है ? अर्थात् अभावरूपा ग्लानि को भाव कैसे कहेंगे । यद्यपि भरतमुनि के 'बलस्यापचयो ग्लानि-राधिव्याधिसमुद्भव ' इस लक्षण वाक्य मे अपचय शब्द से नाश ही प्रतीत होता है तथापि प्रागुक्त अनुपपत्ति से बलनाश जन्य दुःख ही अपचय शब्द से ग्रहण करना चाहिये ।

८—दैन्य

'दुःख दारिद्र्यापराधजनित. स्वापकर्षभाषणादि हेतुश्चित्तवृत्तिविशेषो दैन्यम् ।'[८२]

अर्थात् दुःख, दारिद्र्ता और अपराधादि से उत्पन्न अपने अपकर्ष के कथन की कारण रूपा चित्तवृत्तिविशेष ही दीनता है ।

७९. रस, पृ. ७९
८०. रस, पृ. ८०
८१. वही
८२. रस, पृ. ८०

९—चिन्ता

'इष्टाप्राप्त्यनिष्टप्राप्त्यादिजनिता ध्यानापरपर्याया वैवर्ण्यभूमिविलेखनाधोमुखत्वादि हेतुश्चित्तवृत्तिविशेषश्चिन्ता ।'[८३]

अर्थात् इष्ट की अप्राप्ति और अनिष्ट का लाभ होने से जो उत्पन्न होती है वह चित्तवृत्ति चिन्ता कहलाती है इसी को ध्यान भी कहते हैं। इस चित्तवृत्ति के कार्यरूप उत्पन्न होते हैं—विवर्णता, मुख की निम्नता, आदि आदि।

१०—मद

'मद्याद्युपयोगजन्मा उल्लासाख्य: शयनहसितादिहेतुश्चित्तवृत्तिविशेषो मद: ।'[८४]

अर्थात् मद आदि के उपयोग से उत्पन्न होने वाली चित्तवृत्ति मद कहलाती है, इसी को उल्लास भी कहते हैं। इस चित्तवृत्ति के कार्य होते हैं- शयन, हास आदि।

११—श्रम

'बहुतरशारीरव्यापरजन्मा नि:श्वासाङ्गसम्मर्दनिद्रादिकारणीभूत खेदविशेष: श्रम: ।'[८५]

अर्थात् अत्यधिक शारीरिक कार्य करने से उत्पन्न होने वाला एक प्रकार का खेद विशेष, जो दीर्घश्वास, निद्रा, सम्मर्द (अँगड़ाई) आदि को उत्पन्न करता है, श्रम कहलाता है।

१२—गर्व

'रूपधनविद्यादिप्रयुक्तात्मोत्कर्षज्ञाना धीनपरावहेलनं गर्व: ।'[८६]

अर्थात् रूप, धन, विद्या आदि के कारण अपने सम्बन्ध में उच्चता की भावना हो जाये तो उस आत्मोत्कर्ष के कारण दूसरों की अवहेलना करना ही गर्व है।

१३—निद्रा

'श्रमादिप्रयोज्यं चेत: सम्मीलनं निद्रा ।'[८७]

अर्थात् श्रम के कारण उत्पन्न होने वाला चित्त का सम्मीलन (बन्द हो जाना) ही निद्रा है।

१४—मति

'शास्त्रादिविचारजन्यमर्थनिर्धारणं मति: ।'[८८]

अर्थात् शास्त्र आदि का मनन करने से किसी अर्थ का निर्धारित होना ही मति कहलाता है।

---

८३. रस. पृ. ८२
८४. रस पृ. ८२
८५. रस. पृ ८३
८६. रस पृ. ८४
८७. रस. पृ. ८५
८८. वही

१५—व्याधि

'रोगविरहादिप्रभवो मनस्तापो व्याधिः ।'[८९]

अर्थात् रोग या विरह आदि से उत्पन्न होने वाला मानसिक ताप ही व्याधि कहलाता है। शारीरिक शिथिलता, श्वासादि का तीव्र या दीर्घ हो जाना आदि इसके अनुभाव है।

१६—त्रास

'भीरोर्घोरसत्त्वदर्शनस्फूर्जथुश्रवणादिजन्मा चित्तवृत्तिविशेषस्त्रास ।'[९०]

अर्थात् कातर व्यक्ति की भयानक प्राणी को देखने से अथवा विद्युत ध्वनि सुनने से उत्पन्न चित्तवृत्तिविशेष ही त्रास कहलाती है। रोमाञ्च, कम्पन, स्तम्भ और भ्रम आदि इसके अनुभाव हैं। जैसाकि कहा गया है—'औत्पातिकर्मनःक्षेपस्त्रासः कम्पादिकारक. ।'

१७ -सुप्त

'निद्राविभावोत्थज्ञान सुप्तम् ।'[९१]

अर्थात् निद्रारूप विभाव से उत्पन्न जो ज्ञान है वही सुप्त है, अर्थात् स्वप्न। (निद्रा से उत्पन्न ज्ञान स्वप्न ही होता है। प्रलापादि इसके अनुभाव है, नेत्रो का निमीलनादि निद्रा के ही अनुभाव है सुप्त के नहीं क्योंकि वह स्वप्न से उत्पन्न नही होते। जोकि प्राचीनो के द्वारा यह कहा गया है कि 'इसके अनुभाव अङ्गों की निश्चेष्टता और नेत्र निमीलनादि हैं' वह अन्यथासिद्ध होने के कारण (निद्रा मे अनुभाव होने से) इसके व्यापक नही हो सकते। अत' वह कथन विचारणीय है।

१८—विबोध

'निद्रानाशोत्तरो जायमानो बोधो विबोधः ।'[९२]

अर्थात् निद्रा के समाप्त हो जाने पर उत्पन्न होने वाला ज्ञान विबोध कहलाता है। निद्रा का नाश और उसकी पूर्ति—स्वप्न के अन्त मे, प्रबल शब्दो के श्रवण से अथवा किसी स्पर्श से होती है अतः वही विभाव हैं और आँखो को मलना तथा शरीर मर्दन आदि इसके अनुभाव हैं।

कुछ लोग अविद्या (अज्ञान) के नष्ट हो जाने पर उत्पन्न भी विबोध मानते हैं। उनके मत में—

'नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादान्मयाच्युत ।
स्थितोऽस्मिगतसदेह करिष्ये वचन तव ।।'[९३]

यह भी विबोध का उदाहरण है।

---

८९. रस. पृ. ८५
९०. रस. पृ. ८६
९१. रस. पृ. ८६
९२. रस पृ. ८७
९३. गीता अध्याय १८ श्लोक ७३

१९— अमर्ष

'परकृतावज्ञानानापराधजन्यो मौनवाक्पारुष्यादिकारणीभूतश्चित्तवृत्तिविशेषोऽमर्षः'

अर्थात् दूसरे के द्वारा की गयी अवज्ञा से उत्पन्न एवं अपराध से अनुत्पन्न, मौन, कठोर वचन आदि की कारणभूत चित्तवृत्ति विशेष ही अमर्ष कहलाती है ।

२०—अवहित्थ

'व्रीडादिभिर्निमित्तैर्हर्षाद्यनुभावानां गोपनाय जनितो भावविशेषोऽवहित्थम्'

अर्थात् व्रीडा आदि निमित्तों के द्वारा होने वाले हर्षादि अनुभावों को छिपाने के लिये उत्पन्न भावविशेष ही अवहित्थ है ।

२१ —उग्रता

'अधिक्षेपापमानादिप्रभवा किमस्य करोमीत्याद्याकारा चित्तवृत्तिरुग्रता ।'[६६]

अर्थात् अधिक्षेप (तिरस्कार) और अपमान से उत्पन्न होने वाली 'मैं इसका क्या कर डालूं' इस प्रकार की भावना विशेष ही उग्रता है । जैसा कि कहा भी गया है—

'नृपापराधो सद्दोषकीर्तनं चोरधारणम् ।
विभावाः स्युरथो बन्धो वधस्ताडनभर्त्सने ।।
एते यत्रानुभावास्तदौग्र्य निर्दयतात्मकम् ।'[६७]

२२—उन्माद

'विप्रलम्भमहापत्तिपरमानन्दादिजन्माऽन्यस्मिन्नन्यावभास उन्मादः ।'[६८]

अर्थात् विप्रलम्भ, महान् आपत्ति, परमसुख आदि से उत्पन्न अन्य वस्तु में अन्य वस्तु का ज्ञान (भ्रम) ही उन्माद है । शुक्ति में रजतका भ्रम उन्माद अभित न कहा जाय इसी के लिये कहा कि विप्रलम्भ महापत्ति आदि से उत्पन्न हो ।

२३—मरण

'रोगादिजन्या मूर्च्छारूपा मरणप्रागवस्था मरणम् ।'[६९]

अर्थात् रोग आदि से उत्पन्न होने वाली मृत्यु के पूर्व की मूर्च्छा रूप जो दशा है वही मरण नामक भाव है । इस स्थान पर प्राणवियोग रूप मुख्य मरण को मरण के नाम से नहीं समझना चाहिये क्योंकि यह सभी भाव चित्तवृत्ति स्वरूप हैं और मुख्य मरण में चित्तवृत्तित्व न होने से उसमें यह लक्षण नहीं आयेगा । सभी भावों में प्राण

---

६४. रस. पृ. ८८
६५. रस. पृ. ८९
६६. वही
६७. रस. पृ. ८९
६८. रस पृ ९०
६९. वही

श्रौर शरीर का सयोग हेतु है क्योंकि तभी तत्तद् चित्तवृत्तिरूप व्यापार के अनुकूल अवस्था होगी। भाव पद के द्वारा व्यङ्ग्य होने पर अधिक चमत्कारी नही होता ऐसा कहना भी ठीक नही है क्योंकि उस प्रकार से भी उसकी चमत्कृति रहती है।

२४ - वितर्क

'सन्देहाद्यनन्तर जायमान ऊहो वितर्क ।'[१००]

अर्थात् सन्देह के पश्चात् उत्पन्न होने वाला अध्याक्षर (ऊह) ही वितर्क है। (यह भी एक चित्तवृत्ति ही है) यह ऊह निश्चय के अनुकूल होता है। चिन्ता और वितर्क मे यही अन्तर है कि चिन्ता कभी भी निश्चय की प्रयोजक नही होती, और वितर्क निश्चय के अनुकूल होता है। 'किं भविष्यति, कथ भविष्यति' इत्यादि चिन्ता का आकार है और 'इदमित्थ भवितुमर्हति' यह वितर्क का स्वरूप है।

२५—विषाद

'इष्टासिद्धिराजगुर्वाद्यपराधादिजन्योऽनुतापो विषाद ।'[१०१]

अर्थात् अभीष्ट की असिद्धि अथवा राजा, गुरु आदि के प्रति कोई अपराध हो जाने के कारण उत्पन्न होने वाला अनुताप (पश्चात्ताप) ही विषाद है।

२६—औत्सुक्य

'अधुनैवास्य लाभो ममास्त्वितीच्छा औत्सुक्यम् ।'[१०२]

अर्थात् 'मुझे इसी समय इसका लाभ हो जाय' इस प्रकार की इच्छा औत्सुक्य है। इष्ट वस्तु का विरह आदि यहाँ पर विभाव हैं और शीघ्रता तथा चिन्ता आदि अनुभाव हैं।

२७—आवेग

'अनर्थातिशयजनिता चित्तस्य सम्भ्रमाख्या वृत्तिरावेग. ।'[१०३]

अर्थात् अत्यन्त अनर्थ हो जाने के कारण उत्पन्न चित्त की सम्भ्रम नामक वृत्ति ही आवेग होती हैं।

२८—जड़ता

'चिन्तोत्कण्ठाभयविरहेष्टानिष्टदर्शनश्रवणादिजन्यावश्यकर्तव्यार्थप्रतिसन्धान विकला चित्तवृत्तिर्जडता ।'[१०४]

अर्थात् चिन्ता, उत्कण्ठा, भय, विरह, इष्ट या अनिष्ट का दर्शन या श्रवण से उत्पन्न अवश्य कर्त्तव्य के निश्चय से रहित चित्तवृत्ति विशेष जड़ता कहलाती है। यह

१०० रस. पृ. ६१
१०१. रस. पृ. ६२
१०२. वही
१०३. रस. पृ. ६३
१०४. वही

चित्तवृत्ति मोह के पूर्व और पश्चात् उत्पन्न होती है। इसी आशय से कहा गया है—

'कार्याविवेको जडता पश्यतः शृण्वतोऽपि वा।
तद्विभावाः प्रियानिष्टदर्शनश्रवणे रुजा॥
अनुभावास्त्वमी तूष्णीभावविस्मरणादयः।
सा पूर्वं परतो वा स्यान्मोहादिति विदां मतम्॥'[१०५]

२९—आलस्य

'अतितृप्तिगर्भव्याधिश्रमादिजन्या चेतसः क्रियानुन्मुखताऽलस्यम्।'[१०६]

अर्थात् अतितृप्ति, गर्भ, व्याधि (शारीरिक रोग) श्रम आदि से उत्पन्न होने वाली चित्त की निष्क्रियता (अथवा क्रिया के प्रति अनुन्मुखता) ही आलस्य है। इसमें क्रिया के प्रति उन्मुखताभाव का तात्पर्य किसी प्रकार के असामर्थ्य से नहीं है और न कार्याकार्य की विवेकशून्यता में ही है। यद्यपि इनका भी अनुभाव 'कार्य न करना' रूप ही है तथापि वह ग्लानि और जड़ता से भिन्न है। ग्लानि में असामर्थ्य, जड़ता में विवेकशून्यता होती है जबकि आलस्य में अनुन्मुखता होती है। इस प्रकार इन सबके कार्यरूप अनुभाव आपाततः (स्वरूपतः) समान हैं परन्तु कारणतावच्छेदकत्वेन भिन्न हैं अर्थात् कारण से भिन्न हैं।

३०—असूया

'परोत्कर्षदर्शनादिजन्यः परनिन्दादि कारणीभूतश्चित्तवृत्तिविशेषोऽसूया।'[१०७]

अर्थात् दूसरों के उत्कर्ष को देखकर उत्पन्न होने वाली चित्तवृत्ति असूया है वह चित्तवृत्ति परनिन्दा आदि का कारण बनती है। इसीको असहन आदि शब्दों से भी कहा जाता है।

३१—अपस्मार

'वियोगशोकभयजुगुप्सादीनामतिशयाद्ग्रहावेशादेश्चोत्पन्नो व्याधिविशेषोऽपस्मारः।'[१०८]

अर्थात् वियोग, शोक, भय, जुगुप्सा आदि के अतिशय से तथा ग्रहावेश से (भूतप्रेत में लग जाने से) उत्पन्न व्याधि (शारीरिक कष्ट) विशेष ही अपस्मार है। व्याधि रूप से इसका कथन पहले हो चुका है तथापि यहाँ विशेष कथन हुआ है उसका प्रयोजन है कि बीभत्स और भयानक रस का ही यह व्याधि अङ्ग हो सकती है, अन्य किसी रसका नहीं। विप्रलम्भ शृङ्गार में अन्य व्याधियाँ भी अङ्ग हो सकती हैं।

---

१०५. रस. पृ. ९३-९४
१०६. रस. पृ. ९४
१०७. रस. पृ. ९५
१०८. रस. पृ. ९६

३२—चपलता

'अमर्षादिजन्यवाक्पारुष्यादिकारणीभूता चित्तवृत्तिश्चपलता ।'[१०९]

अर्थात् अमर्ष आदि से उत्पन्न कठोरवचनादि की कारणभूता चित्तवृत्ति चपलता कहलाती है । जैसाकि कहा है —

'अमर्षप्रातिकूल्येर्ष्यारागद्वेषाश्च मत्सरः ।
इति यत्र विभावाः स्युरनुभावस्तु भर्त्सनम् ।।
वाक्पारुष्यं प्रहारश्च ताडनं वधबन्धने ।
तच्चापलमनालोच्य कार्यकारित्वमिष्यते ।।'[११०] इति ।

३३ —निर्वेद

'नीचपुरुषेष्वाक्रोशनाधिक्षेपव्याधिताडनदारिद्र्येष्टविरहपरसम्पद्दर्शनादिभिः, उत्तमेषु तत्त्वज्ञानादिभिर्जनिता विषयद्वेषाख्या रोदनदीर्घश्वासदीनमुखतादिकारणी चित्तवृत्तिर्निर्वेदः ।'[१११]

अर्थात् नीच पुरुषों में क्रोध, तिरस्कार, व्याधि, ताडन, (मारपीट) दारिद्र्य, इष्टाप्राप्ति, दूसरों की सम्पत्ति से उत्पन्न, उत्तम पुरुषों में तत्त्वज्ञानादि से उत्पन्न, विषय-विद्वेष (विषयों में अनासक्ति) नामक, रोदन; दीन-मुख होना, दीर्घनिश्वास आदि को उत्पन्न करने वाली चित्तवृत्ति निर्वेद कहलाती है । अर्थात् इसका स्वरूप है विषयों से विरक्ति । यही वृत्ति यदि नित्यानित्यवस्तु के विवेक से उत्पन्न हो जाय तो रसस्वरूप (शान्तरस) हो जायेगी ।

३४—देवादिविषयकरति

जब भगवान् के प्रति कवि का प्रेम अभिव्यक्त होता है अथवा गुरु, पुत्र आदि को आलम्बन करके स्नेह का उद्भव होता है तो वह रति भाव कहलाती है रस नहीं ।[११२]

भावों की इयत्ता

इस प्रकार संक्षेप से भावों का निरूपण करके पण्डितराज ने स्वयं ही प्रश्न उठाया है कि भाव इतने ही हैं इसका निश्चायक प्रमाण क्या है ? क्योंकि मात्सर्य, उद्वेग, दम्भ, ईर्ष्या, विवेक, निर्णय, क्लीबता (नपुंसकता) क्षमा, कौतुक, उत्कण्ठा, विनय, संशय, धृष्टता आदि भी समय-समय पर भावरूप से उपस्थित होते ही रहते हैं । अतः उन ३४ भावों के अतिरिक्त इनको भी मानना चाहिये । परन्तु इनको पृथक् स्वीकार करना आवश्यक नहीं है क्योंकि इन सभी का उपर्युक्त ३४ भावों में कहीं न

---

१०९. वही
११०. रस, पृ. ६६
१११. रस, पृ. ६७
११२. रस. पृ. ६८

कहीं अन्तर्भाव हो जाता है। जैसे असूया में मात्सर्य का, त्रास में उद्वेग का, अवहित्थ में दम्भ का, अमर्ष में ईर्ष्या का - इत्यादि। इसी प्रकार सभी का समावेश उन्हीं कथित भावो मे हो जाता है।[११३]

इन सब मे सूक्ष्म भेद अवश्य है किन्तु ऐसा नही है कि इनको पृथक स्वीकार किये बिना काम न चले अर्थात् इनकी स्वीकृति अनिवार्य नही है। दूसरे इस प्रकार के सूक्ष्म भेद से यदि भावो की गणना की जायेगी तब तो उनकी कोई परिमिति ही नही रहेगी अत: भरतमुनि के वचन को प्रमाण मानकर ३३ भावो को ही स्वीकार करना उचित है।

इसके अतिरिक्त सञ्चारी भावो मे ही कुछ भाव अन्य भावो के विभाव बन जाते हैं, कुछ के अनुभाव बन जाते हैं उदाहरण के लिये ईर्ष्या निर्वेद के प्रति विभाव है और असूया के प्रति अनुभाव है। इसी प्रकार चिन्ता निद्रा के प्रति विभाव है और औत्सुक्य के प्रति अनुभाव है।

रसाभासादि

रसाभास

अनुचित विभावालम्बनत्व रसाभासत्वम्।[११४]

अर्थात् अनुचित विभाव का आलम्बन होना ही रसाभास है।

अनौचित्य के सम्बन्ध में अनेक मत है—

प्रथममत

जिस विभाव के सम्बन्ध मे शास्त्र अथवा लोक यह प्रमाणित करे कि यह अनुचित है वही विभाव अनुचित कहलाता है।[११५]

द्वितीयमत—(प्रथम मत का खण्डन)

अन्य लोगों का मत यह है कि विभाव का अनौचित्य कहने से गुरुपत्नी या भगिनी आदि का आलम्बन बनाकर किया गया रति वर्णन तो रसाभास में आ जायेगा किन्तु अनेक नायकादि रूप विभावों का ग्रहण नहीं हो सकेगा। अत. अनुचित पद विभावादि का विशेषण न बनाकर रसादि का विशेषण बनाना चाहिये। रस का अनौचित्य कहने से बहुनायक निष्ठा तथा अनुभय निष्ठा रति का भी सङ्ग्रह हो जायेगा।

अनौचित्य का तात्पर्य पूर्ववत् ही है। रस और रसाभास एक ही स्थान

---

११३. रस. पृ. ६८

११४. रस पृ. ६६

११५. विभावादावनौचित्यं पुनर्लोकानां व्यवहारतो विज्ञेयम्। यत्र तेषामयुक्तमिति धीरिती। (वही)

(अधिकरण) मे नही रह सकते क्योकि अनौचित्य से रहित (निर्मल) ही रस होता है। यह वैसे ही है जैसे हेतु और हेत्वाभास समानाधिकरण मे नही रहते है।[११६]

तृतीयमत – (द्वितीय मत का खण्डन)

उपर्युक्त मत ठीक नही है कि रस और रसाभास एक स्थान पर नही रहते। वास्तव मे इन दोनो मे कोई विरोध नही है। किसी वस्तु मे यदि दोष आ जाए तो उस दोष के कारण वस्तु का स्वरूप नष्ट नही होता अर्थात् रस मे दोष आ जाने पर वह रस ही नही रहेगा– ऐसा कहना अनुचित है। जिस प्रकार अश्व और अश्वाभास एक ही स्थान पर रह सकते हैं, उसी प्रकार रस और रसाभास भी एक साथ रह सकते हैं।[११७]

विभिन्न रसो के आभासो को उदाहरण देकर स्पष्ट किया गया है। जैसे—

> भुजपञ्जरे गृहीता नवपरिणीता वरेण वधूः।
> तत्कालजालपतिता बालकुरङ्गीव वेपते नितराम्॥[११८]

इसमे नववधू होने से नायिका मे रति नही है। अत अनुभयनिष्ठा रति का वर्णन होने के कारण यहाँ रस नही है रत्याभास है।

इसी प्रकार अन्य रसो का आभास भी समझ लेना चाहिए।

भावाभास

रसाभास के समान ही अनुचित विषय को आलम्बन बना लेने पर भावाभास हो जाता है।[११९] यथा—

> सर्वेऽपि विस्मृतिपथं विषयाः प्रयाताः
> विद्यापि खेदकलिता विमुखीबभूव॥
> सा केवलं हरिणशावकलोचना मे
> नैवापयाति हृदयादधिदेवतेव।[१२०]

इसमे मुख्य रूप से स्मृति भाव की व्यञ्जना हो रही है किन्तु उसका आलम्बन विभाव गुरुकन्या है। अनौचित्य के कारण यहाँ भावध्वनि नही है अपितु भावाभास है। यदि गुरुकन्या के पति की ही यह उक्ति हो तो यहाँ भावध्वनि हो जाएगी।

भावशान्ति

'भावस्य प्रागुक्तस्वरूपस्य शान्तिर्नाशः।'[१२१]

---

११६. रसाद्याभासत्वं रसत्वादिना न समानाधिकरणम्, निर्मलस्यैव रसत्वात्, हेत्वाभासत्वमिव हेतुत्वेन। (रस. पृ. ९९)

११७. न ह्यनुचितत्वेनात्महानिः, अपितु सदोषत्वाद्याभासव्यवहारः। अश्वाभासादिव्यवहारवत्। (वही)

११८. रस. पृ. १००

११९. एवमेवानुचितविषया भावाभासाः। (रस. पृ. १०२)

१२०. रस. पृ. १०२

१२१. रस. पृ. १०२

अर्थात् जिनका लक्षण ऊपर किया गया है उन हर्षादि भावों का नाश होना ही भावशान्ति है।

यहाँ वही भाव ग्रहण करना चाहिए जो उत्पन्न हुआ हो अर्थात् नित्य विद्यमान रति आदि भावों का नाश भावशान्ति नहीं है, हर्षादि उत्पाद्यमान भाव ही ग्राह्य है। जैसे—

मुञ्चसि नाद्यापि रुषं भामिनि मुदिरालिरुदियाय।
इति तन्व्याः पतिवचनैरपायि नयनाब्जकोणशोणरुचिः ॥[123]

इसमें प्रिय वचनों का श्रवण है विभाव, नयन कोण की रक्तता का नाश तथा उससे अभिव्यक्त होने वाली प्रसन्नता है अनुभाव एवं उत्पन्न जो हुआ था - ऐसा क्रोध शान्त हो जाना ही है व्यङ्ग्य भाव-शान्ति।

भावोदय

'भावोदयो भावस्योत्पत्तिः।'[124]

अर्थात् किसी भाव का उत्पन्न होना ही है भावोदय।

उदाहरण के लिए—

'वीक्ष्य वक्षसि विपक्षकामिनीहारलक्ष्म दयितस्य भामिनी।
अंसदेशवलयीकृतां क्षणादाचकर्ष निजबाहुवल्लरीम् ॥'[1..]

इसमें पति के हृदय पर पर-पक्ष की कामिनी के हार का चिह्न देखना है विभाव और प्रिया के द्वारा कण्ठ में लिपटे हुए हाथों का खींच लेना है अनुभाव जिससे व्यङ्ग्य हो रहा है क्रोध का उदय। अतः भाव की उत्पत्ति व्यङ्ग्य होने से यह भावोदय ध्वनि का उदाहरण है।

भावोदय और भावशान्ति इन दोनों में ही सहभाव है क्योंकि भावोदय के पूर्व किसी भाव की शांति होना आवश्यक है तभी भावोदय हो सकेगा इसी प्रकार भावशान्ति में भी किसी अन्य भाव का उदय होना आवश्यक है तभी एक भाव की शान्ति होगी। इस प्रकार दोनों का विविक्त विषय प्राप्त नहीं हो सकता। तथापि दोनों का चमत्कार एक स्थान पर रहना असम्भव है इसलिए जिस स्थान पर जिसका चमत्कार हो उस स्थान पर उसी की ध्वनि माननी चाहिए। चमत्कार के अधीन ही है विषय का विभाग।

भावसन्धि

'भावसन्धिरन्योन्यानभिभूतयोरन्योन्याभिभवनयोग्ययोः सामानाधिकरण्यम्।'[125]

---

१२२ रस. पृ. वही
१२३. वही पृ. १०३
१२४. रस. पृ. १०३
१२५. रस पृ. १०३

अर्थात् एक दूसरे से न दबने वाले परन्तु एक दूसरे को दबाने मे समर्थ दो भावो का एक ही स्थान मे रहना भावसन्धि कहलाता है। (अर्थात् एक ही स्थान मे ऐसे दो भावो का वर्णन रहता है जो एक दूसरे को दबाने मे समर्थ होते हुए भी एक दूसरे को दबा नही पाते।) उदाहरण -

'यौवनोद्गमनितान्तशङ्किताः शीलशौर्यबलकान्तिलोभिता।
सङ्कुचन्ति विकसन्ति राघवे जानकीनयननीरजश्रियः।[126]

इसमे नयनो का सङ्कोच और विकास–दोनो परस्पर अनभिभूत परन्तु अभिभावनसमर्थ है। अर्थात् जब सङ्कोच होता है तो विकास नही रहता और जब विकास होता है तो सङ्कोच नही रहता। अत एक के भाव मे दूसरे का अभाव और दूसरे के भाव मे प्रथम का अभाव रहता है। इसमे एक भाव दूसरे भाव की पार्यन्तिक तिरोहृति नही करता – उदय और शान्ति मे परम्परा-सी बनी रहती है अत. भाव-सन्धि है। इसमे व्यङ्ग्य भाव है। व्रीडा और औत्सुक्य जो क्रमशः नयनगत सङ्कोच और विकास से व्यङ्ग्य हो रहे है। उन्ही (व्रीडा और औत्सुक्य) की सन्धि व्यङ्ग्य होने से यहाँ भावसन्धि है।

भावशबलता

'भावशबलत्वं भावानां बाध्यबाधकभावमापन्नानामुदासीनानां वा व्यामिश्रणम्।'[127]

अर्थात् भावो का बाध्य बाधक भाव से अथवा उदासीन भाव से व्यामिश्रण ही भावशबलता है। अर्थात् जिस स्थान में अनेक भावो की उपस्थिति हो वहाँ भाव-शबलता होती है। यह उपस्थिति दो प्रकार से हो सकती है—(१) जहाँ अनेक भाव हो परन्तु एक दूसरे के बाध्य-बाधक हो और (२) दूसरे जहाँ अनेक भाव हो परन्तु कोई किसी का बाधक न हो, सभी अपने-अपने स्थान मे उदासीन भाव से स्थित हो।

भावो की शबलता का तात्पर्य है एक ही चमत्कृति के जनक ज्ञान का विषय होना अर्थात् अपने-अपने अभिव्यञ्जको के द्वारा, पृथक्-पृथक् वाक्यो से व्यङ्ग्य होने वाले भी उन-उन भावो का एक ही महावाक्यार्थ मे—जो कि वास्तव मे चमत्कार का जनक है, अवसान होना (उस चमत्कार को उत्पन्न करने वाले बोध का विषय हो जाना)। जहाँ सभी भाव एक ही चमत्कार को उत्पन्न करें वहाँ भावशबलता होती है। उदाहरण—

पाप हन्त मया छलेन विहितं सीतापि यद्यापिता
सा मामिन्दुमुखी बिना बत वने किं जीवितं धास्यति।

१२६. रस. पृ. १०३
१२७. रस. पृ. १०३

आलोकेय कथ मुखानि कृतिना कि ते वदिष्यन्ति मां
राज्य यातु रसातल पुर्नारद न प्राणितु कामये ।[१२८]

इसमे मति, असूया, विषाद, स्मृति, वितर्क, व्रीडा, शङ्का और निर्वेद आदि भावो का, जो अपने-अपने विभावा से उत्पन्न हुए है, शबलत्व है - व्यामिश्रण है ।

मम्मट पर आक्षेप

इस प्रसङ्ग मे मम्मट के मत का पण्डितराज खण्डन करते है कि मम्मट ने जो यह कहा है कि 'उत्तरेण भावेन पूर्वपूर्वभावोपमर्द शबलता'[१२९] (अर्थात् उत्तरोत्तर भाव के द्वारा पूर्व-पूर्व भाव को दबा देना ही भावशबलता है) वह अनुचित है । क्योकि उन्होने स्वय ही पञ्चम उल्लास मे भावशबलता का ऐसा उदाहरण दिया है जिसमे उत्तरोत्तर भाव के द्वारा पूर्व-पूर्व भाव का नाश (उपमर्द) नहीं होता । वह उदाहरण है—'पश्येत्कश्चिच्चल चपल रे का त्वराह कुमारी हस्तालम्ब वितर हहहा व्युत्क्रम: क्वासि यासि ।' इसमे शङ्का, असूया, धृति, श्रम दैन्य, मति और औत्सुक्य इन सब भावों मे परस्पर कोई किसी का उपमर्दन नहीं करता । परन्तु फिर भी राज-स्तुति को गौण रूप से दिखाकर इसको भावशबलता के प्राधान्य का स्थल बताया है । स्वोत्तरविशेषगुणरूप से होने वाला (अर्थात् एक भाव के बाद दूसरे भाव के उदय में विशेषगुणशालिता होने से प्रथम भाव का) नाश यहाँ व्यङ्ग्य नहीं है, और न इस प्रकार का भावनाश उपमर्द का ही वाच्य है (अर्थात् यदि उपर्युक्त भावनाश को दुर्जनतोष न्याय के द्वारा मान भी लिया जाए तो भी उपमर्द यहाँ नहीं है । क्योंकि उसका वाच्यार्थ इस प्रकार का भावनाश नहीं है । पुन: उसी न्याय से उपमर्द का वाच्य तादृशभावनाश भी मान लिया जाए तो उस प्रकार के उपमर्द में कोई चमत्कार भी नही है ।) इसलिये भावशबलता को इस प्रकार समझना चाहिए—

'नारिकेलजलक्षीरसिताकदलमिश्रणे ।
विलक्षणो यथास्वादो भावानां संहतौ तथा ।'[१३०]

अर्थात् नारियल, जल, दुग्ध, शर्करा और केले के मिश्रण में एक विलक्षण आस्वाद होता है (जो अपना पृथक् आस्वाद नष्ट किए बिना सबके मिश्रण से उत्पन्न होता है ।) उसी प्रकार भावो का मिश्रण भी (अपने-अपने अस्तित्व को नष्ट किए बिना एक सम्मिलित अलौकिक) आस्वाद उत्पन्न करता है ।

---

१२८. रस. पृ १०४
१२९. का. पृ. १४४
१३०. रस. पृ. १०५

भावशान्त्यादि का भाव-ध्वनि में अन्तर्भाव

भावशान्ति, भावोदयादि ध्वनियाँ उदाहृत की गई हैं वह सब भी वास्तव मे भाव-ध्वनि ही है क्योकि उन सबमे भी आस्वाद्यमान होता है भाव ही न कि भाव की विशेष-विशेष अवस्थाएँ —शान्ति, उदय, सन्धि आदि । अर्थात् तत्तद् अवस्थाओ मे पड़े हुए नाना भावो मे ही आस्वाद्यत्व होता है न कि भावो की तत्तद् अवस्थाओ में । प्राधान्य मे ही चमत्कार की विश्रान्ति है अत स्वभावतः ही वह सब भावध्वनि के अन्तर्भूत हो जाती है ।

३

गुण

गुण-निरूपण के प्रति पण्डितराज की अरुचि ही प्रतीत होती है क्योंकि दोषों के समान ही गुणों का भी रसगङ्गाधर मे केवल प्रसङ्गतः ही यत्किञ्चित् प्रतिपादन किया गया है।

प्राचीन आलङ्कारिको ने गुण सम्बन्धी जिन विषयों पर विचार किया है उनमें से मुख्यतः हैं—गुण का स्वरूप, लक्षण, संख्या और आश्रय। पण्डितराज के पूर्व यह निश्चितप्राय हो चुका था कि रस के उपस्कारक तत्त्व गुण है, वह तीन है और रस मे रहते हैं। पण्डितराज की दृष्टि इससे भिन्न रही है। इस सम्बन्ध में यद्यपि उन्होंने स्पष्ट शब्दों में अपना कोई मत नहीं दिया है तथापि अन्य मतो और उन मतों पर दिये गए उनके विचारों से जो कुछ प्रतीत होता है वह यही कि विभिन्न रसों से उत्पन्न होने वाली द्रुति, दीप्ति आदि चित्तवृत्तियाँ ही गुण हैं। अतएव मम्मट के मत में जो गुण चित्तवृत्तियो के कारण थे वही पण्डितराज के मत में चित्तवृत्ति रूप ही रह गए। इस प्रकार मूल विषय में ही अन्तर आ जाने से अर्थात् गुण के स्वरूप में ही मतभेद हो जाने से उस पर किये गए अन्य विचारो मे भी अन्तर आ गया है। पण्डितराज के मत को मान लेने पर गुण कहाँ रहते हैं, कितने हैं इत्यादि प्रश्नों का प्रसङ्ग ही नहीं होता। सम्भवतः यही कारण रहा होगा जिससे रसगङ्गाधर में इन पर विशेष विचार नहीं हुआ है।

पण्डितराज का मत

माधुर्य का आश्रय—गुण के स्वरूप को लेकर तो कवि ने कोई विचार ही नहीं किया है। आरम्भ मे प्राचीन मत के अनुरोध से गुणो को रस का धर्म मानकर माधुर्य गुण किस रस मे अधिक और किसमे न्यून रहता है—इस पर तीन मतो को उद्धृत किया है। मतत्रय के निष्कर्ष में कही गई उनकी उक्ति मे यह प्रतीत होता है कि उन्हें भी मम्मट का ही मत मान्य है। जिसके अनुसार शृङ्गार रस में रहने वाला माधुर्य गुण सबसे अधिक शान्तरस में रहता है, उससे कम विप्रलम्भ शृङ्गार मे और सबसे कम करुण में। अन्य जिन तीन मतों का उल्लेख किया है वह क्रमशः

इस प्रकार है—

मतत्रय

(१) शृङ्गारे संयोगाख्ये यन्माधुर्यं ततोऽतिशयितं करुणे, ताभ्यां विप्रलम्भे, तस्मोऽपि शान्ते उत्तरोत्तरमतिशयितायाश्चित्तद्रुतेर्जननात् इति ।[1] अर्थात् माधुर्य गुण संयोग शृङ्गार में जितना रहता है उससे अधिक करुण रस में रहता है, उन दोनों से (शृङ्गार व करुण से) अधिक विप्रलम्भ में रहता है और उन सबसे अधिक शान्त रस में रहता है । क्योंकि उत्तरोत्तर अतिशय माधुर्ययुक्त होने से चित्त की द्रुति होती है ।

(२) 'संयोगशृङ्गारात्करुणशान्तयोस्ताभ्यामपि विप्रलम्भे' इति ।[2] अर्थात् संयोग शृङ्गार से अधिक करुण और शान्त में एवं उन दोनों से अधिक विप्रलम्भ में माधुर्य होता है ।

(३) 'संयोगशृङ्गारात्करुणविप्रलम्भशान्तेष्वतिशयितमेव न पुनस्तत्रापि तारतम्यम् ।'[3] अर्थात् संयोग शृङ्गार की अपेक्षा करुण विप्रलम्भ शृङ्गार और शान्त इन तीनों में ही माधुर्य अधिक रहता है । उनमें (अन्तिम तीन रसों में) कोई तारतम्य नहीं रहता ।

निष्कर्ष

इन तीनों मतों के मान्य-अमान्य होने का निर्णय किया है मम्मट के 'करुणे विप्रलम्भे तच्छान्ते चातिशयान्वितम्'[4] इस मत के आधार पर । प्रथम एवं तृतीय मत इसके अनुकूल है अर्थात् माधुर्य गुण सर्वाधिक शान्तरस में, उससे न्यून विप्रलम्भ में तथा उससे भी कम करुण रस में रहता है । मध्यम मत मान्य नहीं है क्योंकि सहृदयानुभव उसमें साक्षी नहीं है ।

गुण का आश्रय रस नहीं है, गुण का कारण (जनक) रस है

इस संक्षिप्त विचार में यह स्पष्ट ही है कि मम्मट के मत में भी रस ही गुणों के आश्रय है । पण्डितराज ने गुणों के आश्रय के सम्बन्ध में कोई विशेष निरूपण नहीं किया है केवल मम्मट के मत का खण्डनमात्र किया है । उस खण्डन से जो कुछ प्रतीत होता है वह यह कि पण्डितराज के मत में गुण रस के धर्म नहीं हैं अपितु उसके कार्य हैं । अर्थात् विभिन्न रसों से द्रुति आदि जो विभिन्न चित्तवृत्तियाँ हैं वही चित्तवृत्तियाँ गुण हैं । अतः उनके आश्रय का प्रश्न ही सम्मुख नहीं आता ।

मम्मट का मत

इस प्रसङ्ग में मम्मट का जो मत उल्लिखित किया गया है वह यह कि मम्मट

१. रस. पृ. ५३
२. वही
३. वही
४. रस. पृ. ५३-५४

के अनुसार माधुर्य, ओज और प्रसाद यह तीन गुण हैं एव तीनो गुण रस मे रहते हैं। इन तीनों गुणों की द्रुति, दीप्ति और विकास नाम की तीन प्रयोज्य चित्तवृत्तियाँ हैं। इस कारण से ही रसमात्र मे रहने वाले इन गुणो मे 'मधुरा रचना' 'ओजस्वी बन्ध।' इत्यादि व्यवहार होते हैं वह उसी प्रकार लाक्षणिक हैं जिस प्रकार 'आकारोऽस्य शूर'' इत्यादि लोक-प्रचलित व्यवहार हैं। अर्थात् माधुर्यादि रसमात्र मे रहते है —यह मम्मट का निश्चयीभूत मत है।[५]

मम्मट के मत का खण्डन

पण्डितराज के उक्त मत में एवं मम्मट के इस सिद्धान्त मे विभिन्नता है। मम्मट के मत मे रस की गुणों के प्रति आश्रयता का निरास करने के लिए पण्डितराज ने जो तर्क दिए हैं वह इस प्रकार हैं :—

(१) माधुर्यादि को रस का धर्म मानने मे कोई प्रमाण नहीं है क्योंकि प्रत्यक्ष को तभी प्रमाण माना जा सकता था जब अग्नि के धर्म उष्णत्व और कार्य दाह के समान ही रस के धर्म गुण और कार्य द्रुति आदि का स्पष्टत' पृथक्-पृथक् अनुभव होता। अर्थात् जिस प्रकार अग्नि के गुण और उसके कार्य का पृथक्-पृथक् अनुभव होता है उसी प्रकार रस के गुण और कार्य का पृथक्-पृथक् अनुभव होता तो माधुर्य आदि को रस का गुण माना जा सकता था।

अनुमान को भी प्रमाण नहीं मान सकते क्योंकि उसमें गौरव होता है। अर्थात् चित्तद्रुति के प्रति गुणविशिष्ट रस को कारण मानने पर कारण का विशेषण होने से गुण भी विशेषणतया चित्तद्रुति के प्रति कारण हो जाएगा। विशिष्ट जब कारण होता है तो विशेषण भी कारण सिद्ध हो जाता है। (चित्तद्रुति के प्रति कारण है माधुर्यगुणविशिष्ट रस तो कारणता का अवच्छेदक होगा माधुर्यगुण। जिस प्रकार घट का कारण है दण्ड तो कारणतावच्छेदक होगा दण्डत्व उसी प्रकार चित्तवृत्ति के प्रति कारण है गुणविशिष्टरस तो कारणता का अवच्छेदक होगा गुण।) और इस प्रकार कारणतावच्छेदक होने से गुण कारणकोटि में आ जाता है। परन्तु इस प्रकार से सामान्य कार्य-कारण भाव (माधुर्य गुण के सम्बन्ध में गुण सामान्य चित्तद्रुति के प्रति कारण है) मानने में गौरव होता है।

वह गौरव इसलिए है कि लौकिक अनुभव में 'सामान्य' नामक कोई वस्तु नहीं है। जो कुछ भी है वह तद्व्यक्ति (विशेष) करके ही है। उदाहरणतः तद्घट, तद्घट इत्यादि संज्ञक जो घट है उनसे अतिरिक्त घट सामान्य नाम की कोई वस्तु है

५. गुणानां चैषां द्रुतिदीप्तिविकासाख्यास्तिस्रश्चित्तवृत्तयः क्रमेण प्रयोज्याः। तत्तद्गुणविशिष्ट-रसचर्वणाजन्या इति यावत्। एवमेतेषु गुणेषु रसमात्रधर्मेषु व्यवसितेषु मधुरा रचना, ओजस्वी बन्ध इत्यादयो व्यवहारा आकारोऽस्य शूर इत्यादिव्यवहारवदौपचारिका इति मम्मटभट्टादयः। (रस. पृ. ५४)

ही नही । अतः कार्यकारणभाव व्यक्तिगत ही होना चाहिये सामान्य नही । व्यक्तिगत कार्यकारण भाव होने से अनन्त कार्य-कारण भाव मानने पडेंगे और सामान्य कार्य-कारण भाव एक ही मानने से अभीष्ट सिद्धि हो जायेगी ऐसा नही कह सकते क्योकि व्यक्तिगत कार्यकारणभाव मानना तो अनिवार्य है ही, सामान्य कार्यकारणभाव को मानने पर भी उसे मानना आवश्यक है फिर केवल व्यक्तिगत कार्य-कारण भाव मानना ही उचित है क्योकि उसमे लाघव है ।

यह इससे सिद्ध होता है कि शृङ्गार, करुण और शान्त इन तीनो से ही चित्तद्रुति होती है परन्तु उनमे (चित्तद्रुतियो) भी तारतम्य होने से भेद है। अर्थात् चित्तद्रुति रूप जो कार्य है वह एक नही है, अनेक है । कार्यभेद से कारण भेद होता है—इस सिद्धान्त के अनुसार उक्त कार्यों मे से प्रत्येक के प्रति भिन्न कारण मानने पडते हैं । वह कारण हैं शृङ्गार, करुण और शान्त । कारणो मे भिन्न होने पर कारणता-वच्छेदक भी भिन्न हो जायेंगे—शृङ्गारत्व, करुणत्व और शान्तत्व । इस प्रकार इन भिन्न-भिन्न कारणो के रहते हुए व्यक्तिगत कार्यकारणभाव मानना तो नान्तरीयक है ही उसके साथ सामान्य कार्यकारणभाव मानना व्यर्थ ही है । केवल सामान्य कार्य-कारणभाव मानने से तो प्रयोजन सिद्ध नही होता । (गुणविशिष्ट रस अर्थात् माधुर्यवान् रस चित्तद्रुति के प्रति कारण है—यह है सामान्य कारणकार्यभाव । शृङ्गार, करुण और शान्त का सामान्य रूप है माधुर्यवान् और द्रुति, द्रुतितर और द्रुतितम का सामान्य रूप है द्रुति) इस प्रकार अन्तिम रूप मे जब प्रातिस्विक कार्यकारणभाव ही सिद्ध होता है तो गुण मात्र को चित्तद्रुति के प्रति कारण मानना अनुपपन्न है ।

(२) दूसरा कारण यह है कि आत्मा है निर्गुण फिर काव्य के आत्मारूप रस को गुणवान् मानना असङ्गत एव विरुद्ध है । इस दृष्टि से भी माधुर्यादिका रसधर्मत्व सिद्ध नहीं होता ।

माधुर्यादि गुणो को रस की उपाधि (रत्यादि स्थायिभाव) का धर्म भी नहीं माना जा सकता क्योंकि एक तो इसको सिद्ध करने वाला कोई प्रमाण नहीं है, दूसरे 'रत्यादि से अवच्छिन्न (विशिष्ट) भग्नावरणचित् ही रस है' इस वाक्य से यह सिद्ध किया जा चुका है कि रत्यादि स्वय भी धर्म अर्थात् गुण है । उन गुण रूप रत्यादि स्थायिभावों में पुनः माधुर्यादि गुण रहे—यह न्याय विरुद्ध है क्योकि नैयायिको का यह सिद्धान्त है कि गुण मे गुण नहीं रहता, द्रव्य में गुण रहता है ।

गुण-संख्या

पण्डितराज का मत

जैसाकि पहले कहा जा चुका है, पण्डितराज ने गुणों के सम्बन्ध मे उसकी सख्या को लेकर भी कोई निर्णय नहीं दिया है । प्रथमतः उन्होंने वामन के दस गुणो

का लक्षण वामन के ही अनुसार अपनी भाषा मे किया है तथा अनेक को सोदाहरण स्पष्ट भी किया है तत्पश्चात् मम्मट के मतानुसार उनका तीन गुणो मे अन्तर्भाव प्रतिपादित किया है ।

पण्डितराज के पूज्य थे मम्मट अतः परोक्ष रूप से अधिकांशत इन्होने उनका ही अनुसरण किया है । इस प्रसङ्ग मे भी वामन के मत का मम्मट के मत के विरुद्ध कोई पोषण न करना एव मम्मट के अनुसार गुणत्रय मे अन्तर्भाव द्योतित कर उसके औचित्य अनौचित्य के विषय मे कुछ न कहना इसी को प्रमाणित करता है कि उन्हे भी तीन ही गुण स्वीकार थे ।

वामन के दस गुण

वामन के अनुसार दस शब्द गुण और दस अर्थ गुण माने गये हैं । नाम दोनो प्रकार के गुणो के समान हैं । परन्तु लक्षण में भिन्नता है । वामन के अनुसार पण्डितराज की शब्दावलि मे वह लक्षण इस प्रकार है :—

शब्दगुण—

(१) **श्लेष**—'शब्दानां भिन्नानामप्येकत्वप्रतिभानप्रयोजक संहितयैकजातीयवर्णविन्यासविशेषो गाढत्वापरपर्याय श्लेषः ।'[६] अर्थात् समान जातीय वर्णों का पास-पास इस प्रकार विन्यास करना जिससे भिन्न-भिन्न शब्द भी एक शब्द के समान प्रतीत हो, श्लेष कहलाता है, इसका दूसरा नाम गाढत्व भी है । जैसे 'अनवरतविद्रद् द्रुमद्रोहिद्विदारिद्रुयमाद्यद्विपोद्दामदर्पौघविद्रावणप्रौढपञ्चाननः' [७] इति । इसमें विद्रत् द्रुम, द्रोहि इत्यादि एक प्रकार के शब्दों का पास-पास प्रयोग करने से उनकी स्पष्ट रूप से पृथक्-पृथक् प्रतीति नही हो पाती है । अतः यहाँ श्लेष है ।

(२) **प्रसाद**—'गाढत्वशैथिल्याभ्यां व्युत्क्रमेण मिश्रण बन्धस्य प्रसादः ।'[८]

अर्थात् किसी रचना में गाढत्व और शैथिल्य का जब विपरीत क्रम से मिश्रण होता है तो वह प्रसाद गुण कहलाता है । विपरीत क्रम का तात्पर्य यह है कि पहले शिथिल वर्णविन्यास हो और फिर गाढ (जटिल—एक समान प्रतीत होने वाला) हो । उदाहरण के लिए

> किं ब्रूमस्तव वीरतां वयममी यस्मिन्धराखण्डल
> क्रीडाकुण्डलितभ्रु शोणनयने दोर्मण्डलं पश्यति ।
> माणिक्यावलिकान्तिदन्तुरतरैर्भूर्पासहस्रोत्करै—
> विन्ध्यारण्यगुहागृहावनिरुहास्तत्कालमुल्लासिता ।।[९]

६. रस. पृ ५६
७. वही
८ वही
९. रस. पृ. ५६

इस पद्य मे 'यस्मिन्' पद तक शिथिलता है, उसके पश्चात् 'भ्रू' पद पर्यन्त गाढ़ता है। इसके पश्चात् पुनः शैथिल्य एव अन्तिम दो चरणो मे गाढत्व है। इस कारण इस पद्य-रचना मे प्रसाद गुण है।

(३) समता—'उपक्रमादासमाप्ते रीत्यभेद' समता।'[१०]

अर्थात् आरम्भ से लेकर अन्त तक रीति मे भिन्नता का न होना समता है जैसे—

'नितरां परुषा सरोजमाला न मृणालानि विचारपेशलानि।
यदि कोमलता तवाङ्गकानामथ का नाम कथापि पल्लवानाम्॥'[११]

इस पद्य मे आरम्भ से लेकर अन्त तक उपनागरिका रीति मे ही रचना हुई है अत. यहाँ समता नामक गुण है।

(४) माधुर्य—'सयोगपरह्रस्वातिरिक्तवर्णघटितत्वे सति पृथक्पदत्व माधुर्यम्।'[१२]

अर्थात् जहाँ ह्रस्ववर्णों के परे सयुक्ताक्षर वाले पदो को छोड़कर उनसे अतिरिक्त पदो को पृथक्-पृथक् रखा जाय वहाँ माधुर्यगुण होता है। जैसे उपर्युक्त 'नितरां परुषा–' इत्यादि पद्य मे ही है। इसमे प्रत्येक पद पृथक्-पृथक् रखा गया है तथा कही भी ऐसा पद प्रयोग नहीं हुआ है जिसमे ह्रस्व वर्ण के आगे सयोग हो।

(५) सुकुमारता—'अपरुषवर्णघटितत्व सुकुमारता।'[१३]

अर्थात् अकठोर पदो से रचना करना ही सुकुमारता है। यथा—

'स्वेदाम्बुसान्द्रकणशालिकपोलपालि-
दोलायितश्रवणकुण्डलवन्दनीया।
आनन्दमङ्कुरयति स्मरणेन कापि
रम्या दशा मनसि मे मदिरेक्षणाया॥'[१४]

इस पद्य में प्रथम दो चरणों मे सुकुमारता है क्योकि उसमे किसी कठोर वर्ण का प्रयोग नहीं हुआ है, एवं अन्तिम दो चरणों में माधुर्य भी है क्योंकि प्रत्येक पद पृथक्-पृथक् है।

(६) अर्थव्यक्ति—'झगिति प्रतीयमानार्थान्वयकत्वमर्थव्यक्तिः।'[१५]

अर्थात् जिस पद रचना से व्यङ्ग्यार्थ का बोध (अन्वय) तुरन्त हो जाये वहाँ अर्थव्यक्ति नामक शब्दगुण होता है। जैसे 'नितरां परुषा—' इत्यादि उपर्युक्त समता

१०. रस. पृ. ५६
११. रस. पृ. ५७
१२. रस. पृ. ५६
१३. रस. पृ. ५७
१४. रस. पृ ५७
१५. रस. पृ. ५७

के उदाहरण में ही नायिका की कोमलतातिशयता का (व्यङ्ग्यार्थ का) बोध तुरन्त हो जाता है। अतः वहाँ अर्थव्यक्ति नामक गुण भी है।

(७) उदारता—'कठिनवर्णघटनारूपविकटत्वलक्षणोदारता।'[१६]

अर्थात् कठिन वर्णों से युक्त रचना होने से विकटतारूप गुण ही उदारता है। अर्थात् जहाँ कठिन वर्णों का इस प्रकार प्रयोग किया जाय कि उसका अर्थ कठिनता से बोधगम्य हो तो उदारता होती है। जैसे—

'प्रमोदभरतुन्दिलप्रमथदत्ततालावली–
विनोदिनि विनायके डमरुडिण्डिमध्वानिनि।
ललाटतटविस्फुटश्वक्रपीटयोनिच्छटो
हठोद्धतजटोद्भटो गतपटो नटो नृत्यति॥'[१७]

इस पद्य में वर्णों का विन्यास इतना कठिन है कि उससे अर्थबोध भी सुकरता से नहीं हो पाता। अत. उदारता गुण है।

(८) ओजस्—'संयोगपरह्रस्वप्राचुर्यरूप गाढत्वमोज।'[१८]

अर्थात् ऐसे पदों की अधिकता होना जिनमे ह्रस्व स्वर के पश्चात् संयुक्ताक्षर हो—ओजोगुण होता है, यह गाढत्वरूप है। जैसे—

'साहङ्कारसुरासुरावलिकराकृष्टभ्रमन्मन्दर–
क्षुभ्यत्क्षीरधिवल्गुवीचिवलयश्रीगर्वसर्वंकषा।
तृष्णालाम्यदमन्दतापसकुलं सानन्दमालोकिता
भूमीभूषण भूषयन्ति भुवनाभोगं भवत्कीर्तयः॥'[१९]

इसमे 'कृष्टभ्रमन्,'—'रक्षुभ्यत्क्षीरधिवल्गु'—'यश्रीगर्वसर्वंकषा',' 'अमन्द,' 'आनन्द' आदि अनेक ऐसे पदो का बाहुल्य से प्रयोग हुआ है जिसमें संयुक्ताक्षर के पूर्व ह्रस्ववर्ण हैं।

(९) कान्ति—'अविदग्धवैदिकादिप्रयोगयोग्यानां पदानां परिहारेण प्रयुज्यमानेषु पदेषु लोकोत्तरशोभारूपमौज्ज्वल्यं कान्तिः।'[२०]

अर्थात् सहृदयताशून्य वैदिक व्यक्तियों के द्वारा प्रयोग करने योग्य पदों को छोड़कर अन्य पदों का प्रयोग करने से जो लोकोत्तर शोभा होती है वही औज्ज्वल्य (उज्ज्वलता) कान्ति है।

जैसे—'नितरां परुषा–' इत्यादि पूर्वोक्त पद्य मे ही यह गुण है।

१६. वही
१७. वही
१८. रस. पृ. ५८
१९. वही
२०. वही

(१०) **समाधि**—'बन्धगाढत्वशिथिलत्वयोः क्रमेणावस्थापन समाधिः ।'[२१]

अर्थात् रचना मे क्रमश गाढता और शिथिलता का होना ही समाधि है । जैसे–

'स्वर्गनिर्गतनिरर्गलगङ्गातुङ्गभङ्गुरतरङ्गसखानाम् ।
केवलामृतमुचां वचनानां यस्य नास्यगृहमास्यसरोजम् ।।'[२२]

इस पद्य मे प्रथम व द्वितीय चरण मे गाढ़त्व और तृतीय चरण मे शिथिलता है । अत समाधि का उदाहरण है ।

प्राचीन आलङ्कारिको ने गाढत्व को आरोह और शिथिलता को अवरोह कहा है । प्रसाद गुण और समाधि गुण मे केवल इनके क्रम का ही भेद है । अर्थात् प्रसाद मे पहले शिथिलता और फिर गाढता रहती है और समाधि मे पहले गाढता और फिर शिथिलता ।

इस प्रकार यह दस शब्दगुण है । इसके पश्चात् अर्थगुणो के लक्षण इस प्रकार है-–

अर्थगुण

(१) **श्लेष** 'एव क्रियापरम्परया विदग्धचेष्टितस्य तदस्फुटत्वस्य तदुपपादकयुक्तेश्च सामानाधिकरण्यरूपः ससर्ग श्लेषः ।'[२३]

किसी पद्य मे क्रियाओ के क्रम से, चतुरता से किये गए कार्य की, उस कार्य की अस्पष्टता की, और उस कार्य की सहायिका युक्ति की जब एकाधिकरणता होती है तो वहाँ अर्थ श्लेष होता है । अर्थात् उपर्युक्त अर्थांशो का एक ही स्थान पर (पद्यादि में) होना अर्थश्लेष है । भाव यह है कि एक ही स्थान पर क्रमशः चातुर्य से किसी कार्य का किया जाना, उस कार्य के होने का ज्ञान न होने देना तथा उस कार्य मे उपायभूत युक्ति का प्रयोग करना ही अर्थश्लेष है । नागेश भट्ट ने अपनी मर्मप्रकाश टीका मे इसको एक उदाहरण देकर स्पष्ट किया है ।

'दृष्ट्वैकासनसंस्थिते प्रियतमे पश्चादुपेत्यादरा–
देकस्या नयने पिधाय विहितक्रीडानुबन्धच्छलः ।
ईषद्वक्रितकन्धरः सपुलकः प्रेमोल्लसन्मानसा–
मन्तर्हासलसत्कपोलफलकां धूर्तोऽपरां चुम्बति ।।'[२४]

इस पद्य मे एक नायिका को छोड़कर दूसरी नायिका का चुम्बन करना विदग्ध चेष्टा है, किन्तु उसका ज्ञान अचुम्बित नायिका को न होने देना उस चेष्टा की अस्फुटता है तथा नयनो को बन्द कर देना ही उस चेष्टा की सिद्धि का उपाय है ।

---

२१. वही
२२. रस. पृ. ५८
२३. रस. पृ. ५९
२४. वही (ना० टी० में उद्धृत अमरुकरचित पद्य)

इन तीनों प्रकार के अर्थों का एक ही स्थान पर वर्णन किया गया है इसलिये यहाँ अर्थश्लेष है । पीछे से आना, आँख बन्द करना, और चुम्बन—क्रियाओं का क्रम है ।

(२) प्रसाद—'यावदर्थकपदत्वरूपमर्थवैमल्यं प्रसादः ।'[२५]

अर्थात् जितने अर्थ हों उतने ही पदों के होने से जो अर्थ की निर्मलता होती है वही उसका प्रसाद गुण है । जैसे—

'कमलानुकारि वदनं किल तस्याः ।'[२६]

इसमें अभीष्ट अर्थ के प्रतिपादन के लिए ही यथावश्यक शब्दों का प्रयोग किया गया है । यदि इसी को 'कमलकान्त्यनुकारि वक्त्रम् ।' इस प्रकार कर दिया जाय तो वह गुण नष्ट हो जायेगा क्योंकि उसमें अर्थ की स्पष्टता में व्याघात हो जाता है ।

(३) समता—'प्रक्रमाऽभङ्गेनार्थघटनात्मकमवैषम्यं समता ।'[२७]

अर्थात् प्रक्रम (विशेष क्रम) को भङ्ग किये बिना अर्थों को सजाना ही अविषमतारूप समता है । जब सभी अभीष्ट अर्थों को इस प्रकार रखा जाता है कि उनका विशेष क्रम न भङ्ग होने पाये (परस्पर सम्बन्ध बना रहे) तो अर्थों में समता नामक गुण होता है । जैसे—

'हरिः पिता हरिर्माता हरिर्भ्राता हरिः सुहृत् ।
हरिं सर्वत्र पश्यामि हरेरन्यन्न भाति मे ।।'[२८]

इस पद्य में हरि के प्रति विभिन्न सम्बन्धों का वर्णन हुआ है । उन सभी में एक विशेष क्रम है अतः समता है । इसी में यदि 'विष्णुर्भ्राता' कर दिया जाये तो प्रक्रम भङ्ग हो जायेगा तथा समता समाप्त हो जायेगी ।

(४) माधुर्य—'एकस्या एवोक्तेर्भङ्ग्यन्तरेण पुनः कथनात्मकमुक्तिवैचित्र्यं माधुर्यम् ।'[२९]

अर्थात् एक ही उक्ति को प्रकारान्तर से कहना रूप उक्ति की विचित्रता ही माधुर्य है । जिस रूप में अर्थ विवक्षित हो उससे भिन्न रूप में उसे कहना ही उक्ति की विचित्रता है । यही उक्ति वैचित्र्य माधुर्य नामक अर्थगुण है । जैसे—

विधत्तां निश्शङ्कं निरवधिसमाधिं विधिरहो
सुखं शेषे शेतां हरिरविरलं नृत्यतु हरः ।
कृतं प्रायश्चित्तैरलमथ तपोदानयजनैः
सवित्री कामानां यदि जगति जागर्ति भवती ।।'[३०]

२५ वही
२६. वही
२७. वही
२८. रस. पृ. ५६
२९. रस. पृ. ५६
३०. वही

इसमे 'ब्रह्मा से कोई प्रयोजन नही है' इस विवक्षित अर्थ को इस रूप मे न कह कर 'वह निश्चिन्त होकर समाधि मे बैठे रहे' इस रूप मे कहा है। अत. यहाँ माधुर्य गुण है।

(५) **सुकुमारता**—'अकाण्डे शोकदायित्वाभावरूपमपारुष्य सुकुमारता।'[31]

अर्थात् असमय मे शोक न देना ही सुकुमारता है। जैसे—

'त्वरया याति पान्थोऽय प्रियाविरहकातर:।'[32]

इसमे 'प्रियामरणकातर' कहकर शोक न देकर 'प्रियाविरहकातर' कहने से अकठोरता है अत सुकुमारता है।

(६) **अर्थव्यक्ति**—'वस्तुनो वर्णनीयस्यासाधारणक्रियारूपयोर्वर्णनमर्थव्यक्ति।'[33]

अर्थात् जिस वस्तु का वर्णन करना हो उसके असाधारण क्रिया और रूप का वर्णन करना अर्थव्यक्ति है। जैसे—

'गुरुमध्ये कमलाक्षी कमलाक्षेण प्रहर्तुकाम माम्।
रदयन्त्रितरसनाग्र तरलितनयन निवारयाञ्चक्रे।।'[34]

इस पद्य मे वर्णनीय नायिका का 'कमलाक्षी' पद से विशेषरूप और 'रदयन्त्रितरसनाग्र' पद से उसकी विशेष क्रिया (व्यवहार) का (दाँतो से जिह्वाग्र को दबाना) वर्णन हुआ है। इसी गुण को अन्य आचार्यों ने स्वभावोक्ति अलङ्कार कहा है।

(७) **उदारता**—'चुम्बन देहि मे भार्ये कामचाण्डालतृप्तये' इत्यादिग्राम्यार्थपरिहार उदारता।'[35]

अर्थात् 'चुम्बन देहि मे भार्ये कामचाण्डालतृप्तये' इत्यादि ग्राम्य अर्थात् असुन्दर अर्थों का परिहार (निराकरण) करना ही उदारता है।

(८) **ओजस्**—'एकस्य पदार्थस्य बहुभि पदैरभिधानम्, बहूनां चैकेन, तथैकस्य वाक्यार्थस्य बहुभिर्वाक्यै:, बहुवाक्यार्थस्यैकवाक्येनाभिधानम्, विशेषाणां साभिप्रायत्व चेति पञ्चविधमोज।'[36]

अर्थात् ओजोगुण पाँच प्रकार का होता है। प्रथम प्रकार वह है जिसमे एक पदार्थ का अनेक पदो से अभिधान हो, द्वितीय—जिसमे अनेक पदार्थों का एक पद से कथन हो, तृतीय—जहाँ एक वाक्यार्थ का अनेक वाक्यार्थों से कथन हो, चतुर्थ—जहाँ अनेक वाक्यार्थों का एक वाक्यार्थ से कथन हो और पचम है—जहाँ विशेषणो को किसी

---

३१. रस. पृ. ६०
३२. वही
३३. वही
३४. रस. पृ. ६०
३५. रस. पृ. ६०
३६. वही

विशेष अभिप्राय (प्रयोजन) से प्रयोग किया जाए। पाँचों प्रकारों के उदाहरण क्रमश इस प्रकार है :--

(१) 'सरसिजवनबन्धुशोभाभिभावका
रजनिरमणराज्यं नाणमाणु प्रयाति।
परमपुरुषवक्त्रादुद्गताना नराणा
मधुमधुरगिरा च प्रादुरासीद्विनोदः ॥'[३७]

इसमे 'उषसि' मात्र पद्य से प्रतिपाद्य एक पदार्थ का अभिधान सम्पूर्ण प्रथम-चरण से (अनेक पदो से) हुआ है। अतः ओजोगुण का प्रथम प्रकार है।

(२) 'खण्डितानेत्रकञ्जालिमञ्जुरञ्जनपण्डिता।
पण्डिताखिलदिक्प्रान्ताश्चण्डांशोर्भान्ति भानवः ॥'[३८]

इसमे 'जिसका पति दूसरी नायिका के निवास से प्रातःकाल मे अपने घर आवे' इस वाक्यार्थ का 'खण्डिता' इस एक ही पद मे अभिधान हो गया है। अतः दूसरे प्रकार का ओजस् है।

(३) 'अयाचितः सुखं दत्ते याचितश्च न यच्छति।
सर्वस्वं चापि हरते विधिरुच्छृङ्खलो नृणाम् ॥'[३९]

इसमे 'सबकुछ दैव (भाग्य) के अधीन है' इस एक वाक्यार्थ का अनेक वाक्यो से कथन हुआ है अतः अर्थविस्तार है। यह ओजस् का तृतीय भेद है।

(४) 'तपस्यतो मुनेर्वक्त्राद्वेदार्थमधिगत्य सः।
वासुदेवनिविष्टात्मा विवेश परमं पदम् ॥'[४०]

इस पद्य मे ओजस् का चतुर्थ प्रकार है क्योंकि 'जो मुनि तपस्या करते है उनके मुख से उसने वेदार्थ को जाना, तदनन्तर परब्रह्म वासुदेव मे अपना चित्त लगाया, और मुक्त हो गया' इतने वाक्यों का कथन शतृ (तपस्यतः) व क्त्वा (अधिगत्य) प्रत्यय तथा बहुव्रीहि समास (वासुदेवनिविष्टात्मा) तथा तिङन्त (विवेश) के प्रयोग से ही अनुवाद्य और विधेय के रूप मे एक वाक्य से हो गया है। तात्पर्य यह है कि उपर्युक्त अर्थ में वास्तव मे अनेक वाक्य है परन्तु कवि ने उन नाना वाक्यार्थों का प्रतिपादन विशेष प्रत्यय और समास की सहायता से एक ही वाक्य मे कर दिया।

(५) विशेषणो के साभिप्राय होने का तात्पर्य है प्रकृत अर्थ के प्रति उनका पोषक होना। उदाहरण के लिए—

---

३७. रस. पृ. ६१

३८. रस. पृ. ६१

३९. रस पृ. ६१

४०. रस. पृ. ६१

गणिकाजामिलमुख्यानवता भवता बताहमपि ।
सीदन्भवमरुगर्ते करुणामूर्ते न सर्वथोपेक्ष्य ।।[४१]

इस पद्य में करुणामूर्ते सम्बोधन विशेष अभिप्राय से प्रयुक्त हुआ है। यह सम्बोधन उपेक्षाभाव को पुष्ट करता है। क्योकि प्रस्तुत अर्थ—पापी होने से मुझ पर करुणा का अभाव होगा—मे अभीष्ट यह है कि मुझ पर भी करुणा हो उस अभीष्ट अर्थ के पोषण के लिए गणिका और अजामिल का उद्धार उदाहरण रूप मे रखकर भगवान् को करुणामूर्ति कहा गया है। इससे यह व्यङ्ग्य होता है कि गणिका आदि को उद्धार देने के कारण भगवान् अत्यन्त करुणायुक्त हैं अत· मेरा भी उद्धार करे। यह ओजोगुण का पञ्चम प्रकार है।

(९) **कान्ति**—दीप्तरसत्व कान्ति.।[४२]

अर्थात् रस की स्पष्ट प्रतीति होना ही कान्ति है। इसका उदाहरण 'शयिता सविधेऽप्यनीश्वरा'–इत्यादि रस प्रकरण मे उद्धृत पद्यो को समझना चाहिये।

(१०) **समाधि**—'अवर्णितपूर्वोऽयमर्थ पूर्ववर्णितच्छायो वेति कवेरालोचन समाधिः।'[४३]

अर्थात् 'यह अर्थ अपूर्व वर्णित है' अथवा 'यह अर्थ पूर्ववर्णित अर्थ की छाया मात्र है' इस प्रकार का कवि का ज्ञान (आलोचना) ही समाधि है।

इस गुण के सम्बन्ध में यह सन्देह होता है कि समाधिगुण जब आलोचनारूप है अर्थात् ज्ञान रूप है तो वह अर्थनिष्ठ कैसे हो सकता है? ज्ञान तो आत्मा मे रहता है, अर्थ में नहीं अत: समाधि को अर्थगुण न कहकर आत्मगुण कहना चाहिये। परन्तु इसका निवारण इस आधार पर हो जाता है कि विषयता सम्बन्ध से आलोचन अर्थ में भी रहता है अत· उसे अर्थनिष्ठ कहना अनुचित नही है।

(जिसका जिससे जो सम्बन्ध होता है वह उस सम्बन्ध से उसमे रहता है—इस नैयायिक सिद्धान्त के अनुसार अर्थ और ज्ञान मे विषयता सम्बन्ध है क्योकि वे क्रमशः विषय और विषयी है। अत: विषयता सम्बन्ध से ज्ञान अर्थनिष्ठ हो गया।)

प्रथम आलोचन का उदाहरण 'तनयमैनाक०'–इत्यादि मध्यमकाव्यके प्रसङ्ग में उदाहृत पंक्ति है और द्वितीय आलोचन सर्वत्र ही दृष्टिगोचर होता है।

गुणत्रय में अन्तर्भाव :—

इस प्रकार वामन के दस गुणो का वर्णन करने के पश्चात् पण्डितराज ने उनका मम्मट के अनुसार तीन गुणो मे अन्तर्भाव भी प्रतिपादित किया है। यह अन्तर्भाव तीन गुणो में, दोषों में और वैचित्र्यमात्र मे होता है।

---

४१ रस. पृ. ६२
४२. रस. पृ. ६२
४३. वही

दस शब्द गुणो मे से श्लेष, उदारता, प्रसाद और समाधि को ओजोगुण की व्यञ्जक रचना मे, माधुर्य की माधुर्य गुण की व्यञ्जक रचना मे गतार्थता हो जाती है।

समता को तो गुण मानना अनुचित है क्योंकि सर्वत्र उसका होना सङ्गत नही है। यदि एक ही पद्य मे उद्धत और अनुद्धत दोनो प्रकार के अर्थ प्रतिपाद्य हो तो उनके अनुकूल रीति भी होगी और इस प्रकार रीति का भेद वहाँ दोष नही गुण ही होगा। अत. रीति का भेद न होना रूप जो समता है उसको गुण नहीं कहना चाहिये। जैसे—

निर्माणे यदि मार्मिकोऽसि नितरामत्यन्तपाकद्रव-
न्मृद्वीकामधुमाधुरी-मदपरीहारोद्धुराणां गिराम्।
काव्यं तर्हि सखे! सुखेन कथय त्वं सम्मुखे मादृशां,
नो चेद् दुष्कृतमात्मना कृतमिव स्वान्ताद्बहिर्मा कृथाः ॥[४४]

इसमे पूर्वार्ध मे एव तृतीय चरण मे लोकोत्तर काव्य निर्माण के प्रतिपादन के लिए जिस रीति का प्रयोग किया गया है वह रीति निकृष्ट काव्य के प्रतिपादन मे प्रयुक्त चतुर्थ चरण की रीति से भिन्न है। परन्तु उचित होने से वह दोष नही है।

कान्ति और सुकुमारता का ग्राम्यत्व और कष्टत्व रूप दोषो के अभाव मे अन्तर्भाव हो जाता है।

प्रसाद गुण मे अर्थव्यक्तिरूप शब्द गुण समाविष्ट हो जाता है।

इसी प्रकार अर्थ गुणों मे भी, श्लेष एव ओजोगुण के प्रथम चार भेदो को वैचित्र्य मात्र ही कहना चाहिये, वह कोई पृथक् गुण नहीं है। प्रत्येक वैचित्र्य को गुण माना जायेगा तब तो प्रत्येक पद्य में पृथक् गुण माना जायेगा और इस प्रकार असख्य गुणों की आपत्ति होगी।

इसी प्रकार अधिक पदो का न होना रूप प्रसाद गुण अधिकपदत्व नामक दोष के अभाव में, उक्ति-वैचित्र्यरूप माधुर्य का अनवीकृतत्व रूप दोष के अभाव में, अकठोर शरीर (वपु) वाला सौकुमार्य, अमङ्गल या अश्लील नामक दोष के अभाव मे, अग्राम्यत्वरूपा उदारता का ग्राम्यत्वरूप दोषाभाव में, विषमता के अभाव रूप समता का भग्नप्रक्रमतारूप दोष के अभाव मे, विशेषणों के साभिप्रायत्वरूप ओजस् में पञ्चम प्रकार का अपुष्टार्थत्वरूप दोष के अभाव में अन्तर्भाव हो जाता है।

कान्ति का भी, जो स्फुटरसत्वरूपा है, स्वभावोक्ति अलङ्कार, रसध्वनि और रसवदलङ्कार आदि मे अन्तर्भाव हो जाता है।

समाधि— तादृश आलोचन (बोध)—जो कवि में रहने वाला काव्य का

---

४४ रस. पृ ६३

कारण ही है । वह कोई पृथक् गुण नही है । यदि समाधि को भी गुण मानेगे तो फिर प्रतिभा को भी गुण मानना पडेगा ।

अत: गुण तीन ही है दस नही—यह मम्मटादि का मत है ।

गुण व्यञ्जक

उपर्युक्त रीति से गुणो का निरूपण करने के पश्चात् इन गुणो को अभिव्यक्त करने वाले वर्णों का भी दिग्दर्शन किया गया है । पूर्वोक्त सम्पूर्ण गुण निरूपण से यही प्रतीत होता है कि प्राचीन मतानुसार गुणो की दो प्रकार की गणनाओ मे पण्डितराज को मम्मटकृत गणना ही स्वीकार्य है । तदनुसार तीन ही गुणो के व्यञ्जक वर्णों का उल्लेख किया गया है ।

माधुर्य गुण के व्यञ्जक .

ट वर्ग से अतिरिक्त अन्य चारो वर्गों के (कवर्ग, चवर्ग, तवर्ग और पवर्ग) के प्रथम और तृतीय वर्णों से (अर्थात् क, च, त, प और ग, ज, द, ब से) श, ष, स तथा य, र, ल, व, (श र और अन्तस्थ) वर्णों से, अनुस्वारो के पास-पास प्रयोग से, केवल अनुनासिक वर्णों से (ङ, ञ, ण, न, म) तथा सामान्य अथवा विशेष रूप से निषिद्ध सयोगादि से रहित, समास रहित अथवा छोटे-छोटे समासो से युक्त रचना माधुर्य गुण की अभिव्यञ्जना करती है । रचना का तात्पर्य है वर्णानुपूर्वी । वर्गों के द्वितीय और चतुर्थ वर्ण इस गुण के लिए न तो अनुकूल होते है न प्रतिकूल, यदि उनका प्रयोग दूर-दूर पर किया जाय तो पास-पास प्रयोग करने से प्रतिकूल ही हो जाते है । इसका एक उदाहरण यह है —

ता तमालतरुकान्तिलङ्घिनी किङ्किरीकृतनवाम्बुदत्विषम् ।
स्वान्त मे कलय शान्तये चिर नैचिकीनयनचुम्बिता श्रियम् ।।[४५]

उपर्युक्त कथनानुसार इसमे वर्ग के प्रथम व तृतीय वर्णों का आधिक्य है, समास लघु है, इत्यादि इस कारण यह माधुर्य गुण की व्यञ्जिका रचना है ।

ओजोगुण के व्यञ्जक

द्वितीय और चतुर्थ वर्गों के वर्णों से अर्थात् कवर्ग, चवर्ग, तवर्ग और पवर्ग के द्वितीय और चतुर्थ वर्णों के पास-पास प्रयोग से तथा टवर्ग से युक्त, जिह्वामूलीय और उपध्मानीय विसर्गों से तथा सकार के बाहुल्य से निर्मित एव झय् (वर्गों के प्रथम चार वर्ण) अथवा रेफ के सयोगो से—जिन सयोगो (सयुक्ताक्षरो) के आगे ह्रस्व स्वर हो, तथा दीर्घ समासों के शीघ्र-शीघ्र प्रयोग से युक्त रचना ओजोगुण की व्यञ्जिका होती है ।

४५ रस. पृ. ६४

माधुर्य गुण के समान ओज गुण की रचना मे भी यदि वर्ग के प्रथम और तीय वर्ण दूर-दूर प्रयोग किये जाये तो वह न अनुकूल होते है न प्रतिकूल और यदि ायुक्त रूप मे उनका प्रयोग हो तब तो अनुकूल ही होते है। इसी प्रकार अनुनासिक र्ण भी सयुक्त होने पर अनुकूल और असयुक्त होने पर प्रतिकूल होते है। जैसे —

—अय पततु निर्दय दलितदृप्तभूभृद्गल-
स्खलद्रुधिरघस्मरो मम परश्वधो भैरवः ।।[४६]

इत्यादि पद्य मे 'दलितदृप्तभूभृद्गलस्खलद्रुधिरघस्मरो' पद मे दीर्घ समास तथा रेफ आदि का सयोग एव द्वितीय व चतुर्थ वर्णों का आधिक्य होने से यह रचना ओजोगुण की व्यञ्जिका है।

प्रसाद गुण के व्यञ्जक

जिस रचना को सुनने मात्र से ही अर्थ का बोध झटिति हो जाये वह रचना प्रसाद गुण की अभिव्यञ्जिका होती है। जैसे—

चिन्तामीलितमानसो मनसिजः सख्यो विहीनप्रभाः
प्राणेशः प्रणयाकुल पुनरसावास्तां समस्ता कथा ।
एतत्त्वां विनिवेदयामि मम चेदुक्तिं हितां मन्यसे
मुग्धे मा कुरु मानमाननमिद राकापतिर्जेष्यति ।।[४७]

इस पद्य को सुनने के साथ ही अर्थ का भी बोध हो जाता है अतः इसमे प्रसाद का अभिव्यञ्जन है। अशभेद से यह उदाहरण माधुर्य और ओजस् की भी अभिव्यञ्जना करता है। क्योंकि 'मा कुरु' पर्यन्त चतुर्थ चरण की रचना माधुर्य की अभिव्यञ्जक है तथा 'सख्यो विहीनप्रभा.' इत्यादि अंश ओजस् का अभिव्यञ्जक है। पूर्वांशेन यह रचना प्रसाद गुण की ही अभिव्यञ्जिका है।

वर्ज्यवर्ण

गुणों को अभिव्यक्त करने वाली रचनाओं का निर्देश करने के पश्चात् पण्डितराज ने वर्ज्यवर्णों का भी निदर्शन किया है। वर्ज्यवर्णों का तात्पर्य द्विधा है— प्रथम तो ऐसी वर्णानुपूर्वी जो काव्य मात्र में ही प्रयुक्त नहीं होनी चाहिये, दूसरी विभिन्न गुणों मे विभिन्न विशिष्ट वर्णानुपूर्वी जो उस गुण की अभिव्यञ्जना मे बाधक हो जाती है। इन दोनों का ही सत्कवि को प्रयोग नही करना चाहिये।

सामान्यत वर्जनीय

अश्राव्यत्व—(क) एक ही वर्ण का, एक पद में एक बार भी निरन्तर आना कुछ अश्रव्य (सुनने में कठिन) लगता है। जैसे कुम्भसुरभि विततगात्रः, पललमिवा-

४६ रस. पृ. ३६
४७. रस. पृ. ६५

भाति' इत्यादि मे है। इनमे क्रमश क, त और ल का आनन्तर्य अश्राव्य है। यही आनन्तर्य यदि अनेक बार हो तो अधिक अश्रव्य होता है। जैसे 'विततततरस्तरुरेष भाति भूमौ।' इत्यादि मे।

इसी प्रकार यह आनन्तर्य पदो की भिन्नता होने पर भी अश्रव्य होता है। जैसे 'शुक ! करोषि कथ विजने रुचिम्।' इत्यादि मे क वर्ण का दो पदो मे आनन्तर्य है। यदि इसी प्रकार का आनन्तर्य एक से अधिक बार हो तो और भी अधिक श्रुति-कठिन हो जाता है। जैसे–'पिक ! ककुभो मुखरीकुरु प्रकामम्।' इत्यादि मे।

(ख) एक ही वर्ग के दो वर्णों का यदि एक ही पद मे निरन्तर प्रयोग हो तो अश्रव्य होता है। जैसे–'वितथस्ते मनोरथ'।' इसमे त थ क्रमश आये है तथा समान वर्ग के हैं। अनेक बार आवृत्ति होने से और अधिक कर्णकटु होता है। जैसे–'वितथतर वचन तव प्रतीम.।' इत्यादि मे त-थ-त इस क्रम से एक ही वर्ग के दो वर्ण एकाधिक बार आये हैं। इसी प्रकार भिन्न पद मे एक बार होने पर एवं अनेक बार होने पर और भी अधिक अश्रव्य होता है। यथा–'अथ तस्य वच: श्रुत्वा', एव 'अथ तथा कुरु, येन सुख लभे।' इत्यादि में।

(ग) इसी प्रकार वर्गों के प्रथम और द्वितीय वर्णों का तथा तृतीय और चतुर्थ वर्णों का आनन्तर्य भी अश्रव्य होता है। यदि प्रथम और तृतीय का तथा द्वितीय और चतुर्थ वर्णों का आनन्तर्य हो तो उतना अश्रव्य नही होता। अश्रव्यत्व भी पूर्वोक्त रीति से एक बार की अपेक्षा अनेक बार होने पर अधिक अश्रव्य हो जाता है। जैसे–'खग ! कलानिधिरेष विजृम्भते।' 'इति वदति दिवानिश स धन्य.।'

यदि वर्गों के पञ्चम वर्णों की इस प्रकार अपने वर्ग्य के साथ आवृत्ति हो तो वह अश्रव्य नही होती। जैसे–'तनुते तनुता तनौ।' इत्यादि मे।

यदि इन पञ्चम वर्णों का स्वय के साथ ही पुनरावर्तन हो तो वह अश्रव्य हो जाता है। जैसे–'मम महती मनसि व्यथाऽविरासीत्।' इत्यादि।

उपर्युक्त सभी प्रकार के अश्रव्यत्व तब दूर हो जाते हैं जब उनके मध्य मे किसी गुरु स्वर को रख दिया जाता है। जैसे–'सजायता कथकार काके केका-कलस्वन.' इत्यादि मे है। (इसमे दीर्घपरक गुरु स्वर है।) अथवा

'सदा जयानुषङ्गाणामङ्गाना सङ्गरस्थलम्।
रङ्गाङ्गणमिवाभाति, तत्तत्तुरगताण्डवै.॥'[४८]

इत्यादि में सयोगपरक दीर्घ स्वर से वह दोष दूर हुआ है।

(घ) इसी प्रकार तीन वर्णों का सयोग भी प्राय. अश्रव्य होता है। जैसे–'राष्ट्रे तवोष्ट्र्य: परितश्चरन्ति।' इत्यादि।

---
४८ रस पृ. ६७

श्रुतिकटुत्व के अन्य भेद भी इसी प्रकार समझ लेने चाहिये ।

यह अश्रव्यत्व काव्य की पङ्गुता के समान प्रतीत होता है ।

जिस प्रकार वर्णों का अश्रव्यत्व होता है उसी प्रकार सन्धिकृत अश्रव्यत्व भी होता है । जैसे अपनी इच्छा से यदि एक बार भी सन्धि न की जाय तो वह श्रवण कठिन हो जाती है । उदाहरण के लिए 'रम्याणि इन्दुमुखि ! ते किलकिञ्चितानि । इसमे रम्याणि तथा इन्दुमुखि मे सन्धि होनी चाहिये थी परन्तु नही है अत अश्रव्य है ।

प्रगृह्य सञ्ज्ञा के कारण होने वाली असन्धि भी यदि अनेक बार आये तो अश्रव्य हो जाती है । जैसे– 'अहो अमी इन्दुमुखीविलासाः ।' इत्यादि मे ।

इसी प्रकार य और व के (लोप शाकल्यस्य के अनुसार) लोप हो जाने से जो सन्धि नही होती वह भी बारम्बार आने से कर्णकटु हो जाती है । जैसे– 'अपर इषव एते कामिनीनां दृगन्ताः ।' इत्यादि ।

इसी प्रकार रोरुत्वका, हल् के लोप का (हलि लोपस्य) यण गुण, वृद्धि, सवर्णदीर्घ, पूर्वरूप आदि सन्धियो का शीघ्रता से बाहुल्य भी अश्रव्य होता है ।

इस प्रकार यह सभी अश्रव्यता के भेद काव्यमात्र मे वर्जनीय है ।

विशेषत. वर्जनीय

इनके विषय मे सामान्य स्थिति यह है कि जो मधुर रस मे वर्जनीय होंगे वही ओजो गुण मे अनुकूल होंगे एव जो मधुर रस के अनुकूल होगे वह ओजो गुण के प्रतिकूल होंगे ।

(क) मधुर रसों मे दीर्घ समासो का, वर्ग के प्रथम चार वर्णों के संयोगो का तथा वह भी ऐसे संयोगो का जिनके पूर्व ह्रस्वस्वर हों, विसर्ग के स्थान पर आये हुये सकार का, जिह्वामूलीय और उपध्मानीय विसर्गों का, सवर्ग के वर्णों एवं अन्य वर्गों के प्रथम चार वर्णों का, रेफ अथवा हकार से बने संयुक्ताक्षरो का, ल, म, न के अतिरिक्त अन्य व्यञ्जनों के अपने ही साथ संयोग का तथा दो झयों (वर्गों के प्रथम चार वर्ण) से बने संयोग का अनेक बार प्रयोग नहीं करना चाहिये ।

एवं एक वर्ग के दो वर्णों का संयोग तथा श, ष, स से भिन्न किसी महाप्राण अक्षर से बने सयोग का एकबार भी प्रयोग नहीं करना चाहिये ।

इन सभी वर्जित पदों को सोदाहरण स्पष्ट भी किया है । सर्वप्रथम दीर्घसमासों का उदाहरण देते हैं :—

लोलालकावलिवलयन्नयनारविन्द–
लीलावशव्वदितलोकविलोचनायाः ।

सायाह्नि प्रणयिनो भवन व्रजन्त्या–

श्चेतो न कस्य हरते गतिरङ्गनाया ।। इति । [४९]

इसमे अतिदीर्घकाय समास है जो माधुर्य गुण के विपरीत है ।

झय्घटितसयोगपरह्रस्वो का निकटता से बाहुल्य–(अर्थात् वर्ग के प्रथम चार द्रवर्गों मे इस प्रकार का सयोग कि जिसके पूर्व ह्रस्वस्वर हो, एव पास-पास प्रयुक्त किये गए हो)–

हीरस्फुरद्रदनशुभ्रिमशोभि किञ्च,

सान्द्रामृत वदनमेणविलोचनाया ।

वेधा विधाय पुनरुक्तमिवेन्दुबिम्ब,

दूरीकरोति न कथ विदुषा वरेण्य. ।।[५०]

इसमे 'भ्रि' शब्द तक का अंश माधुर्य गुण के अनुकूल नही है क्योकि इसमे अनेक बार सयोगपर ह्रस्वो का प्रयोग हुआ है । उत्तरार्ध मे तकार और ककार का सयोग भी है (सान्द्रा और उक्त मे ।) परन्तु उसका बहुत अधिक बार प्रयोग नही है अत वह अश्राव्य नही है ।

विसर्ग के प्रचुर प्रयोग से होने वाले अश्राव्यत्व का उदाहरण देते है ––

सानुरागास्सानुकम्पाश्चतुराश्शीलशीतला ।

तरन्ति हृदयं हन्त ! कान्तायास्स्वान्तवृत्तय· ।। [५१]

इसकी प्रथम पक्ति मे (प्रथमार्ध मे) 'स्सा', 'श्च' 'श्शी', रूप में अनेक बार विसर्गों की स्थिति है । पास-पास होने से वह सुनने मे कठिन हो जाती है एव माधुर्य के प्रतिकूल भी पडती है ।

जिह्वामूलीय विसर्गों का प्राचुर्य–

कलितकुलिशघाता ᳵकेऽपि खेलन्ति वाता ᳵ–

कुशलमिह कथं वा जायता जीविते मे ।

अयमपि बत ! गुञ्जन्नालि ! माकन्दमौलौ,

चुलुकयति मदीया चेतना चञ्चरीक· ।।[५२]

इसमे भी द्वितीय जिह्वामूलीयविसर्ग तक का अंश माधुर्य गुण के अनुकूल है । इसी को यदि 'कथय कथमिवाशा जायता जीविते मे, मलयभुजगवान्ता वान्ति वाता. कृतान्ता ।' इस प्रकार कर दिया जाय तो विसर्गों के हट जाने से अश्राव्यत्व रूप दोष हट जायेगा ।

---

४९ रस. पृ ६९

५० रस. पृ ६९

५१. रस. पृ. ७०

५२ रस. पृ ७०

उपध्मानीय विसर्गों की प्रचुरता का उदाहरण यह है–

अलका॒फणिशावतुल्यशीला नयनान्ता॒परिघृद्धितेपुलीला
चपलोपमिता खलु स्वय या, बत! लोके सुखसाधन कथं सा ।। [५३]

इसमे प्रयुक्त दोनो उपध्मानीय विसर्ग शान्त गुण के प्रतिकूल है ।

टवर्ग एव झयो की बहुलता इस पद्य मे है–

वचने तव यत्र माधुरी सा, हृदि पूर्णा करुणा च कोमलेऽभूत् ।
अधुना हरिणाक्षि ! हा कथ वा, कटुता तत्र कठोरताऽऽविरासीत् ।।[५४]

इसमे उत्तरार्ध मे टकार ठकार आने से एव सम्पूर्ण पद्य मे कोमल वर्णों के स्थान पर क, च, य इत्यादि सभी वर्णों की अधिकता होने से रचना मे कोमलता नही आ पायी है जो माधुर्य के विपरीत है ।

रेफकृत सयोग का अनेक बार होना अश्राव्य है । उदाहरण के लिए यह पद्य है :—

तुलामनालोक्य निजामखर्वं, गौराङ्गि! गर्वं न कदापि कुर्याः ।
लसन्ति नानाफलभारवत्यो लता. कियत्यो गहनान्तरेषु ।।[५५]

इसमे खर्वं, गर्वं, कुर्या. इत्यादि मे रकार के साथ हुआ सयोग शृङ्गार के प्रतिकूल है । इसी को यदि 'तुलामनालोक्य महीतलेऽस्मिन्' इस प्रकार कर दिया जाय तो वह दोष समाप्त हो जायेगा ।

ल, म, न से अतिरिक्त व्यञ्जनो का उन्ही के साथ सयोग जैसे–

'विगणय्य मे निकाय्य, तामनुयातोऽसि, नैव तन्न्याय्यम् ।'[५६]

इसमे य का य के साथ संयोग अनेक बार प्रयुक्त हुआ है । जो प्रकृत रस विप्रलम्भशृङ्गार के प्रतिकूल हो गया है ।

ल, म और न से अतिरिक्त इसलिये कहा कि यदि इनका (ल, म, न का) सयोग इनके साथ हो तो वह इतना श्रुतिकटु नहीं होता । जैसे–

इयमुल्लसिता मुखस्य शोभा,
परिफुल्लं नयनाम्बुजद्वय ते ।
जलदालिमय जगद् वितन्वन्,
कलितः क्वापि किमालि ! नीलमेघ. ।।[५७]

---

५३. रस. पृ ७०
५४. रस. पृ ७१
५५. रस. पृ. ७१
५६. रस. पृ. ७१
५७. रस. पृ. ७१

इसमे 'ल्ल' का प्रयोग असकृत् हुआ है परन्तु सुनने मे कठिन अथवा कठोर न होने से वह दोष नही है ।

दो झयो का सयोग किस प्रकार अश्राव्य होता है, वह इस उदाहरण से स्पष्ट है--

आसाय सलिलभरे, सवितारमुपास्य सादर तपसा ।
अधुनाऽब्जेन मनाक् तव, मानिनि ! तुलना मुखस्याप्ता ।।[५८]

इसमे द्वितीयार्ध मे 'अब्जेन' एव 'आप्ता' पदो मे जो बकार जकार तथा पकार तकार का सयोग है वह माधुर्य का अपकार करता है । इसको यदि 'सरसिज-कुलेन सम्प्रति, भामिनि ! ते मुखतुलाऽधिगता ।' इस प्रकार कर दिया जाय तो वह दोष निवृत्त हो जायेगा ।

इसी प्रकार एकबार ही सवर्ण के (समान वर्ण के) सयोग की अश्राव्यता जैसे .—

अपि मन्दस्मितमधुर, वदन तन्वङ्गि ! यदि मनाक्कुरुषे ।
अधुनैव कलय शमित, राकारमणस्य हन्त ! साम्राज्यम् ।। [५६]

इसमे 'मनाक्कुरुषे' पद मे 'क' का सयोग कटु है ।

महाप्राण (वह वर्ण जिनमे हकार होता है जैसे ख, घ, ज, झ, आदि) वर्णों का सयोग, जैसे--

'अयि मृगमदबिन्दु चेद्भाले बाले समातनुषे ।' इत्यादि । इसमे 'चेद्भाले' पद मे द व भ का सयोग सुनने मे कठोर है । अत माधुर्य का अनुपकारक है ।

इन सब के अतिरिक्त मधुर रस मे उस प्रकार के पदो का भी प्रयोग नही करना चाहिये जिनके अन्त मे त्व प्रत्यय हो, अथवा जो यङन्त या यङ्लुङ्न्त हो ।

इसी प्रकार इस प्रकार के अनुप्रास या यमकादि अलङ्कारो की योजना भी सुन्दर नही होती जिनके लिए व्यङ्ग्यार्थ को चमत्कारी बनाने के अतिरिक्त विशेष प्रयास करना पडे एव आपात-दृष्ट्या सुन्दर भी न लगे । इस प्रकार की अलङ्कार-योजना इसलिये रसादि की प्रतिकूल होती है क्योकि रसचर्वणा के अन्तर्गत न आने के कारण वह सहृदय के हृदय को आकृष्ट कर उसे रस से पराङ्मुख कर देते है । अर्थात् सामाजिक का ध्यान अनुप्रासादि मे ही खिच जाता है, रस की ओर नही जा पाता ।

इस प्रकार की अलङ्कार योजना विप्रलम्भ शृङ्गार मे तो विशेष रूप से नही करनी चाहिये, क्योकि यह रस अन्य सभी रसो मे सर्वाधिक मधुर है । उसमे वह

५८. रस. पृ. ७१
५६. रस. पृ ७२

अलङ्कार उसी प्रकार अरुचिकर लगते है जिस प्रकार निर्मल सिता से निर्मित पानकरस मे किसी ऐसे अन्य पदार्थ का मिश्रण जो अपने स्वाद मे विशेषता–स्वतन्त्र सत्ता रखता हो। अर्थात् उसके पड जाने से रस का स्वाद व्याहत हो जाता है।

आनन्दवर्धन की सम्मति

इस प्रसङ्ग मे आनन्दवर्धनाचार्य का मत भी अपने मत के समर्थन मे उद्धृत किया है। आनन्दवर्धनाचार्य की कारिका इस प्रकार है–

ध्वन्यात्मभूते शृङ्गारे यमकादिनिवेशनम्।
शक्तावपि प्रमादित्व, विप्रलम्भे विशेषत. ॥[६०]

अर्थात् जहाँ शृङ्गार की ध्वनि हो वहाँ, सामर्थ्य होते हुए भी, यमकादि अलङ्कारो का विन्यास करना कवि का प्रमाद ही है। विशेष रूप से विप्रलम्भ शृङ्गार मे इस प्रकार का निबन्धन अत्यन्त अनुचित है।

यदि किसी काव्य मे इस प्रकार का अनुप्रास आदि हो जो कोमल वर्णों से प्रयुक्त हो एव प्रधान रूप से प्रतीत न हो अर्थात् विशेष रूप से ध्यान आकर्षित न करे अपितु उस रस के आस्वाद को अधिक चारु बना दे, तो वह त्याज्य नही होता। जैसे–

'कस्तूरिकातिलकमालि! विधाय साय,
स्मेरानना सपदि शीलय सौधमौलिम्।
प्रौढि भजन्तु कुमुदानि मुदामुदारा–
मुल्लासयन्तु परितो हरितो मुखानि ॥'[६१]

इसमे निबद्ध अनुप्रास शृङ्गार का व्याघात नहीं है। एव च उसके लिए कवि का पृथक् प्रयास भी नही है।

इस प्रकार सक्षेप मे मधुर रसो की अभिव्यञ्जक रचनाओ मे होने वाले दोषो का निरूपण किया गया है।

प्रसङ्गतः यह भी कहा है कि इन दोषो से रहित जो रचना होती है वही वैदर्भी रीति कहलाती है। क्योंकि यह कहा गया है कि–

एभिर्विशेषविषयैः, सामान्यैरपि च दूषणै रहिता।
माधुर्यभारभङ्गुरसुन्दरपदवर्णविन्यासा ॥
व्युत्पत्तिमुद्गिरन्ती, निर्मातुर्या प्रसादयुता।
ता विबुधा वैदर्भी वदन्ति, वृत्ति गृहीतपरिपाकाम् ॥[६२]

अर्थात् उपर्युक्त विशेष और सामान्य दोषो से रहित, माधुर्य गुण से भरे हुए सुन्दर पदों के वर्णों के विन्यास वाली, कवि की व्युत्पत्ति अर्थात् ज्ञान को प्रकाशित

६०. ध्व पृ. २१०
६१. रस पृ ७३
६२. रस. पृ. ७३

करने वाली, प्रसाद गुण से युक्त जो रस से परिपूर्ण रीति होती है वह विद्वद्ज्जनो के द्वारा वैदर्भी रीति कही गयी है।

इस रचना शैली मे कवि को अत्यन्त निपुण होना चाहिये अन्यथा रस का व्याघात होता है। अर्थात् जिस प्रकार रस की अभिव्यक्ति होनी चाहिये वैसी नही होती। जैसे अमरुक कवि के इस पद्य मे हो गया है—

> शून्य वासगृह विलोक्य, शयनादुत्थाय किञ्चिच्छनै—
> निद्राव्याजमुपागतस्य सुचिर निर्वर्ण्य पत्युर्मुखम्।
> विस्रब्ध परिचुम्ब्य, जातपुलकामालोक्य गण्डस्थली
> लज्जानम्रमुखी प्रियेण हसता बाला चिर चुम्बिता॥[६३]

यहाँ 'उत्थाय किञ्चिच्छनै' इसमे दो सवर्णों का (झयो) का सयाग है और वह भी पास-पास ही है अत अश्राव्य हो गया है। यह झयो का ऐसा सयोग है जिनमे ह्रस्व स्वर पूर्व मे हो गया है अत इससे भी वह अश्राव्य हो गया है। इसी प्रकार 'शनैर्निद्रा', 'निर्वण्य', 'पत्युर्मुखम्' इन सब मे रेफ का सयोग हो जाने से और झय्घटित सयोग पर ह्रस्व की अधिकता होने से श्रुतिकटुत्व आ गया है। 'विस्रब्ध' मे महाप्राण का 'लज्जा' मे स्वात्मसवर्ण दो व्यञ्जनो का 'मुखी प्रियेण' इसमे भिन्न-भिन्न पद मे रहने वाला दीर्घ स्वर के अनन्तर आने वाला सयोग है। एव क्त्वा प्रत्यय का पाँच बार (विलोक्य, उत्थाय, निर्वर्ण्य, परिचुम्ब्य, और आलोक्य मे) और लोकृ धातु का दो बार (विलोक्य और आलोक्य) प्रयोग कवि के शब्द-दारिद्रय को प्रकाशित करता है।

तात्पर्य यह है कि वैदर्भी रीति के निर्माण मे कुशल न होने से उसमे अनेक दोष आ गये है जिससे रस परिपाक मे बाधा होती है।[६४]

समवलोकन

गुण के अन्तर्गत पण्डितराज ने जो भी विवेचन किया है वह अभिनवगुप्त और मम्मट के मत से प्रभावित है।

गुण के स्वरूप और लक्षण के विषय मे जगन्नाथ ने कोई प्रयत्न नही किया केवल गुण के आश्रय, सख्या, व्यञ्जक और अभिव्यजक वर्णों का निरूपण मात्र किया है। गुणो के आश्रय मे मम्मट का मत खण्डित कर के अभिनव से प्रभावित, अपना मत स्थिर किया है।[६५] काव्य-लक्षण मे मम्मट के मत का खण्डन करते हुए भी इसका सङ्केत मिल जाता है कि गुण क्या है इस विषय मे पण्डितराज का भी कोई स्पष्ट मत नही है और प्राचीन मतो मे भी उसका स्पष्टरूप सम्मुख नही आया है।

---

६३. रस पृ ७४

६४. रस. पृ. ७४ (वर्ज्यवर्ण की चर्चा देखिये रस पृ. ६६–७४)

६५. दे. ध्व. लोचन पृ. २१६–२२४

इसी कारण गुण-निरूपण मे गुण के स्वरूप और लक्षण पर कोई विचार नहीं किया गया ।

सख्या के सम्बन्ध में पण्डितराज मम्मट के अनुयायी रहे है । व्यञ्जक वर्णादि भी उनके ही अनुसार प्रतिपादित है ।

इस सम्बन्ध मे पण्डितराज की जो विशेषता रही वह यही कि गुणाश्रय रस मानें या अन्य कुछ इसको खण्डन-मण्डन के साथ स्थापित कर यह सिद्ध किया कि इन्हे रस का धर्म नही मानना चाहिये । यद्यपि यह सम्पूर्ण खण्डन शास्त्रीय (Logical) ही है, आनुभविक नही तथापि महत्त्वपूर्ण है क्योकि मम्मट के समय तक इन्हे रस का ही धर्म माना जाता रहा था अत. इनका मत उस प्राचीन परम्परा के विरोध मे आ जाता है ।

रसगङ्गाधरकार की सर्वप्रमुख विशेषता यही रही कि जिस भी परम्परा को स्वीकार किया उसे खण्डन मण्डन से पुष्ट कर प्रमाणित भी किया, केवल परम्परा के अनुरोध से उसे स्वीकार नही किया ।

दोष

ध्वनि काव्य के प्रसङ्ग मे रस पर विचार करते हुए पण्डितराज ने दोषो पर भी अत्यन्त सक्षेप मे विचार किया है । मम्मट भट्ट की भाँति इन्होने किसी प्रकार के विशेष 'आनन' की इसके लिए रचना नहीं की है अपितु अवान्तर विषय के समान रसादि के प्रकरण मे उस पर किञ्चित् प्रकाश डाल दिया है ।

पण्डितराज ने उन दोषो का वर्णन इस प्रकार किया है—

(१) प्रथम दोष का नाम है 'वमन' । जहाँ व्यङ्ग्यार्थ का अभिधा से भी प्रतिपादन हो जाये वहाँ यह दोष होता है । अर्थात् शृङ्गारादि रसों का शृङ्गारादि शब्दों के द्वारा यदि कथन हो जाये तो वमन नामक दोष होता है ।[६६]

(२) प्रथम दोष के समान ही स्थायिभावो या व्यभिचारी भावों का यदि शब्द से कथन हो जाये तो भी दोष होता है ।[६७]

(३) विभाव अनुभाव आदि की सम्यक् प्रकार से प्रतीति न होने पर अथवा विलम्ब से प्रतीति होने पर भी रसास्वाद मे व्याघात पड जाने से दोष होता है ।[६८]

(४) जब किसी समान बल वाले अथवा अधिक बल वाले अथवा प्रतिकूल

६६ व्यङ्ग्यस्य वाच्यीकरणे सामान्यतो वमनाख्यदोषस्य वक्ष्यमाणत्वात् (रस. पृ ५०)

६७. एवं स्थायिव्यभिचारिणामपि शब्दवाच्यत्वं दोषः (रस. पृ. ५०)

६८. एवं विभावानुभावयोरसम्यक्प्रत्यये विलम्बेन प्रत्यये वा न रसास्वाद इति तयोर्दोषत्वम् (वही)

रस का वर्णन प्रकृत रस के मध्य कर दिया जाये तो भी प्रकृत रस के परिपोषण के विपरीत होने से वह दोष होता है।[६९]

(५) पञ्चम दोष है 'विच्छिन्नदीपन'। अर्थात् रस विशेष प्रसङ्गान्तर के आ जाने से नष्ट हो जाये एव पुन उसको उद्दीप्त किया जाये तो उक्त दोष होता है। क्योकि इस प्रकार के विच्छेद से सामाजिको को सम्यक् रूप से रसास्वादन नही हो पाता है।

इसी प्रकार जिस स्थान पर जिस रस का वर्णन नही करना चाहिये उस स्थान पर उस रस का वर्णन करना एव जब जिस रस का विच्छेद नही करना चाहिये उस स्थान पर उस रस को भङ्ग करना भी दोष है। उदाहरण के लिए सन्ध्यावन्दन अथवा देवार्चन मे सलग्न किसी नायिका के साथ किसी कामुक व्यक्ति के अनुराग का वर्णन करना अनुचित है। अथवा सैनिको से भरी हुई रणभूमि मे प्रतिसैनिको के उद्घोषो का वर्णन करते समय नायक का सन्ध्यावन्दन आदि करने का वर्णन करना भी दोष है।[७०]

(६) प्रतिनायक आदि के, जो प्रधान रस की दृष्टि से गौण है, नाना प्रकार के चरित्रो अथ च सम्प्रदायो का अत्यधिक वर्णन करना भी प्रमुख रस के उद्भावन मे बाधक होता है। अर्थात् नायक की अपेक्षा प्रतिनायक की अधिक चर्चा करना दोष है। इससे नायक का उत्कर्ष नही हो पाता और नायक का उत्कर्ष न होने पर रस की प्रतीति भी नही हो पाती। अत. यह दोष है।[७१]

(७) काव्य के मध्य मे स्थान-स्थान पर यदि रस के आलम्बन विभाव और आश्रय का वर्णन न हो तो भी दोष होता है क्योकि रसधारा उसी के अनुसन्धान के अधीन होती है। उसके अभाव मे रसधारा ही प्रभावित नही हो सकेगी।[७२]

(८) प्रकृत रस के अनुपकारक पदार्थ का वर्णन भी प्रकृत रस को रोक देने के कारण दोष है।[७३]

---

६९. समबलप्रबलप्रतिकूलरसाङ्गाना निबन्धन तु प्रकृतरसपोषप्रातीपिकमिति दोष। (वही)

७० प्रबन्धे प्रकृतरसस्य प्रसङ्गान्तरेण विच्छिन्नस्य पुनर्दीपने सामाजिकाना न सामग्र्येण रसास्वाद इति विच्छिन्नदीपन दोष। तथा तत्तद्रसप्रस्तावनानर्हेऽवसरे प्रस्ताव, विच्छेदानर्हे च विच्छेद। यथा सन्ध्यावन्दनदेवयजनादिधर्मवर्णने प्रसक्ते कयापि कामिन्या सह कस्यचित्कामुकस्यानुराग-वर्णने। यथा च समुपस्थितेषु महाहवदुर्मदेषु प्रतिभटेषु मर्मभिन्दि वचनान्युद्गिरत्सु नायकस्य सन्ध्यावन्दनादिवर्णने चेत्युभयमनुचितम्। (वही)

७१. एवमप्रधानस्य प्रतिनायकादेर्नानाविधाना चरितानामनेकविधायाश्च सम्पदो नायकसम्बन्धिभ्यस्तेभ्यो नातिशयो वर्णनीय। (वही)

७२. तथा रसालम्बनाश्रययोरनुसन्धानमन्तरान्तरा न चेद्दोष। (रस पृ. ५१)

७३. प्रकृतरसानुपकारकस्य वस्तुनो वर्णनमपि प्रकृतरसविरामहेतुत्वाद्दोष। (वही)

(६) अनौचित्य भी रस-भङ्ग का होने के कारण दोष है जो परिहार्य भी है।[७४]

इन दोषो के आने से रसास्वादन मे बाधा आ जाती है। रसास्वादन की इस बाधा से क्या तात्पर्य है इसे भी पण्डितराज ने अत्यन्त सरल से उदाहरण से स्पष्ट कर दिया है। वह कहते हैं कि जैसे पानकरस मे बालुका कण के पड जाने से उसके आस्वादन मे विघ्न पड जाता है ठीक उसी प्रकार किसी एक स्थायी भाव का उद्बोधन होने से जो रस सामाजिक के हृदय को विभोर कर देता है वह रस वक्ष्यमाण दोषो मे से अन्यतम के होने पर अनास्वाद्य हो जाता है। वह अनौचित्य है जाति, देश, काल, वर्ण, आश्रम, वय, अवस्था, प्रकृति और व्यवहार का, लोक और शास्त्र से सिद्ध उचित द्रव्य, गुण और क्रिया आदि से विरुद्ध होना। अर्थात् उपर्युक्त पदार्थों का जब इस रूप मे वर्णन किया जाय कि वह शास्त्र के विरुद्ध हो अथवा लौकिक व्यवहार के प्रतिकूल हो तो वह अनौचित्य कहलाता है। इन सबके अनौचित्य को सोदाहरण स्पष्ट करते है—

गौ से तेज, बल, पराक्रम आदि से युक्त कार्यों का होना और सिंह मे साधुभाव आदि का होना जाति का अनौचित्य है।

स्वर्ग मे जरा, व्याधि और पृथ्वी पर मधुसेवनादि का होना देशगत अनौचित्य है।

शिशिरकाल मे जलविहारादि करना और ग्रीष्म मे अग्निसेवनादि कालानौचित्य के उदाहरण हैं।

वर्ण का अनौचित्य है जैसे ब्राह्मण का शिकार खेलना, क्षत्रिय का दान लेना और शूद्रो का वेद पुराण आदि का अध्ययन करना।

ब्रह्मचारी का तथा मुनियों का ताम्बूल ग्रहण करना, अथवा परस्त्री का सेवन करना—आश्रम का अनौचित्य है।

बालक अथवा वृद्ध के द्वारा स्त्री सेवन और युवा व्यक्ति के द्वारा विरक्ति भाव दिखाना वयगत (अवस्थागत) अनौचित्य है।

व्यवहार का अनौचित्य तब होता है जब दरिद्र धनवान् के समान और धनवान् दरिद्र के समान आचरण करे।

इसके पश्चात् आता है—प्रकृति का अनौचित्य। इस अनौचित्य को स्पष्ट करने के पूर्व यह आवश्यक है कि प्रकृति का अभिप्राय स्पष्ट किया जाय।

प्रकृति का सम्बन्ध है नायक से। यह प्रकृति नायक की विभिन्न कोटियाँ ही हैं। प्रकृति तीन प्रकार की होती है - दिव्या, अदिव्या और दिव्यादिव्या। यह भेद हैं

---

७४. अनौचित्यं तु रसभङ्गहेतुत्वात्परिहरणीयम्। भङ्गश्च पानकादिरसादौ सिकताविनिपातजनितेवारुन्तुदता। (वही)

कथावस्तु के आधार पर । नायक के स्वभाव के आधार पर भी भेद होते है । वह है—धीरोदात्त, धीरोद्धत, धीरललित और धीरशान्त । इन चारो के स्वभाव मे क्रमश उत्साह, क्रोध, कामिनी-रति और निर्वेद का भाव प्रधान होता है । इन चारो प्रकारो के नायको मे भी, प्रत्येक की तीन-तीन श्रेणियाँ होती है—उत्तम, मध्यम और अधम ।

प्रकृति भेद
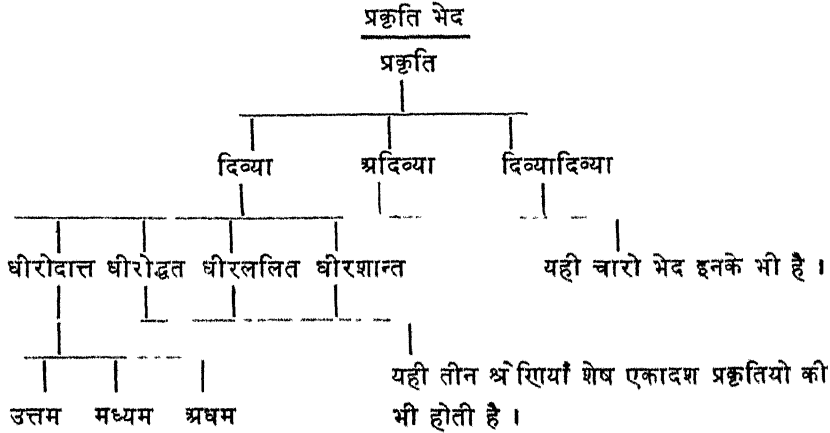
अब इन प्रकृतियो का विरोध बताते हैं—

सभी प्रकृतियो में भय के अतिरिक्त रति आदि स्थायिभाव सर्वत्र समान रूप से विद्यमान रहने पर भी, सम्भोग-रूप रति का, मनुष्यो के समान देवताओं मे भी स्पष्ट रूप से, सब के अनुभव मे आ जाने योग्य वर्णन करना अनुचित है ।

इसी प्रकार समस्त ससार को भस्म करने मे कुशल तथा दिवारात्रि को परिवर्तित कर देना आदि विविध कार्य करने वाले क्रोध का दिव्यो के समान मनुष्यादि अदिव्यो मे भी वर्णन करना अनुचित है ।

देवताओ मे सर्वजनसुलभ रति का वर्णन करना भी उचित नही है ।[७५] इसी प्रकार अन्य प्रकृतियो का अनौचित्य भी समझ लेना चाहिये । प्रकृति विशेष के नायक मे तदितर प्रकृति विशेष का स्वभाव वर्णन करना ही प्रकृति का अनौचित्य है ।

अब अन्त मे व्यवहार का अनौचित्य बताते हैं—जो व्यक्ति विद्या, आयु, वर्ण, आश्रम और तपस्या आदि से उत्कृष्ट हो, उनका अपने से उत्कृष्ट लोगो को, अत्यन्त सम्मानयुक्त वचनो से, सम्बोधित करना व्यवहार का अनौचित्य है । उचित

७५. (इस स्थान पर प्रसङ्गत देवताओ के आराध्यत्व आदि की व्यञ्जनावृत्ति अथवा भावकत्ववृत्ति (व्यापार) से हानि करके उनकी रति के औचित्य की सम्भावना पर तर्क दिया गया है । यद्यपि पण्डितराज अन्तत उसे अनुचित ही सिद्ध करते हैं, तथापि जिज्ञासा होने पर रसगङ्गाधर पृ ५२ देखा जा सकता है । यही पर जगन्नाथ ने जयदेव के गीत गोविन्द पर भी कटाक्ष किया है ।)

यह है कि उपकृष्ट व्यक्ति उत्कृष्ट व्यक्ति को सम्मान और आदर से सम्बोधित करे। (इसमे पण्डितराज ने यह भी विस्तृत रूप से बताया है कि किस व्यक्ति को किस व्यक्ति के द्वारा किन शब्दो मे सम्बोधित किया जाना चाहिये।)

उपर्युक्त अनौचित्य अनौचित्य अवश्य है परन्तु कभी-कभी किसी-किसी स्थल विशेष मे कोई अनौचित्य रस का पोषण भी कर देता है। उस स्थिति मे उस अनौचित्य को दोष मानकर उसका परिहार नही करना चाहिये। जैसे–

> ब्रह्मन्नध्ययनस्य नैष समयस्तूष्णीं बहिः स्थीयता
> स्वल्प जल्प बृहस्पते जडमते नैषा सभा वज्रिणः ।
> वीणा संहर नारद स्तुतिकथालापैरल तुम्बुरो
> सीतारल्लकभल्लभग्नहृदयः स्वस्थो न लङ्केश्वरः ।।[७६]

इस पद्य मे विप्रलम्भ शृङ्गार के अङ्गीभूत (अङ्ग बने हुए) वीर रस के अनुकूल होने के कारण ब्रह्मा के प्रति कहे गये द्वारपाल के तिरस्कारपूर्ण वचन दोष नही है। उन वचनो से रावण का परम ऐश्वर्य द्योतित होता है जो वीर रस का परिपोषक है।

इसी प्रकार अन्य स्थानो पर भी इनका औचित्य समझ लेना चाहिये।

समवलोकन

दोषो पर जगन्नाथ ने विशेष ध्यान नही दिया है। जैसाकि आरम्भ मे कहा गया है, पण्डितराज ने अवान्तर विषय के रूप मे ही इसका यत्किञ्चित् निरूपण कर दिया है, विशेष रूप से उस ओर प्रवृत्त नही हुए हैं।

जिन दोषों का पण्डितराज ने उल्लेख किया है लगभग वह सभी मम्मट ने काव्यप्रकाश मे प्रदर्शित किये हैं। अन्तर इतना ही है कि इन्होने प्रत्येक दोष को विस्तार से स्पष्ट करते हुए प्रतिपादित किया है जबकि मम्मट ने केवल नामोल्लेख और उदाहरण मात्र दिया है।

दूसरी ध्यान देने योग्य बात यह है कि इन्होने जितने भी दोष स्वीकार किये हैं वह सब केवल रस से ही सम्बन्धित हैं।

---

७६. रस. पृ. ५३

४

वृत्ति-विचार

पण्डितराज ने केवल अभिधा और लक्षणा इन दो ही वृत्तियो पर विचार किया है, व्यञ्जना का कोई निरूपण नही किया। अभिधा और लक्षणा का लक्षण तथा भेद इस प्रकार है—

अभिधा

लक्षण

पण्डितराजकृत लक्षण

'शक्त्याख्यो अर्थस्य शब्दगत', शब्दस्यार्थगतो वा सम्बन्धविशेषोऽभिधा।'[1]

अर्थात् शब्द और अर्थ का परस्पर जो सम्बन्ध है वह सबध विशेष ही अभिधा है तथा इसी का दूसरा नाम है शक्ति। सम्बन्ध होने के कारण यह उभय सम्बन्धियो—शब्द और अर्थ—मे समान रूप से रहता है। अतः शक्ति को शब्दनिष्ठ भी कहा जा सकता है और अर्थनिष्ठ भी।

इस सम्बन्ध का क्या आकार है इसमे अनेक मत हैं—

वैयाकरणों का मत

वैयाकरण व मीमासको के अनुसार यह सम्बन्ध सप्त पदार्थों मे पृथक् एक पदार्थान्तर है। अर्थात् द्रव्य-गुण-कर्म आदि में से किसी के अन्तर्गत इसका निरूपण नही हो सकता। उन सबसे पृथक् एक पदार्थ है।[2]

नैयायिकों का मत

प्राचीन नैयायिको के अनुसार 'इस पद से इस अर्थ को समझना चाहिये' इत्याकारक ईश्वरेच्छा ही अभिधा शक्ति है। अर्थात् 'इस पद से इस अर्थ को समझना चाहिये' यह किसी मनुष्य की नही अपितु साक्षात् ईश्वर की ही इच्छा है जिसे अभिधा कहा जाता है।

ईश्वरेच्छा का विषय तो सब कुछ ही है अर्थात् सभी विषयो मे रहने के कारण घटादि पद से पटादि का भी बोध हो जायेगा—इस दोष का निवारण करने के लिये

१. रस. पृ. १४०

२ सा च पदार्थान्तर मिति केचित्। (वही)

यह कहते है कि व्यक्ति विशेप (घट पट आदि) को उपाधित्वेन ग्रहण करके घटादि की अभिधा का व्यवहार होता है। अर्थात् यद्यपि ईश्वरेच्छा समान रूप से सब मे विद्यमान है तथापि वह व्यक्ति विशेषरूप उपाधि से उपहित हो जाने के कारण भिन्न-भिन्न हो जाती है। इसीलिये घट शब्द की अभिधा, पट शब्द की अभिधा इत्यादि भिन्न-भिन्न अभिधाओं का व्यवहार होता है।[३]

न्याय विरोधी मत

कुछ अन्य विद्वानो का यह मत है कि ईश्वर ज्ञान ईश्वरेच्छा से पृथक् नही है। इच्छा, ज्ञान और यत्न तीनो ही एक, नियत और सर्वविषयक है। अतः जो ईश्वरेच्छा का विषय होगा वह उनके ज्ञान और यत्न का भी विषय होगा। फलतः किसी प्रबल युक्ति के अभाव मे तीनो को अभिधा मानना पड़ेगा अतः यही मानना ठीक है कि अभिधा पदार्थान्तर है।[४]

अप्पयदीक्षितकृत लक्षण

अभिधा का लक्षण है-'शक्त्या प्रतिपादकत्वमभिधा'[५] अर्थात् शक्ति के द्वारा अर्थ का प्रतिपादन करना (प्रतिपादकता) ही अभिधा है।

पण्डितराजकृत अप्पय का खण्डन

अप्पयदीक्षित ने अभिधा का जो लक्षण किया है वह ठीक नही है क्योंकि उसमे असङ्गति और आत्माश्रय दोष है।

१– असङ्गति

अभिधा वृत्ति वह वृत्ति है जिसका ज्ञान शब्द से होने वाली अर्थ की उपस्थिति मे कारण रूप मे होता है। अर्थात् शब्द द्वारा अर्थ की उपस्थिति मे जो कारण है वही है अभिधा। शब्द मे रहने वाली उस प्रतिपादकता का ज्ञान अर्थबोध मे कारण नहीं होता। अत. प्रतिपादकता को अभिधा नहीं कहा जा सकता। अतः असङ्गति है।

२—आत्माश्रय

प्रतिपादकता का तात्पर्य यदि 'प्रतिपत्ति के अनुकूल जो व्यापार, तद्रूप ज्ञान'– यह माना जाय तो वह शाब्दबोध के प्रति कारण हो सकता है परन्तु तब भी दीक्षित का लक्षण सङ्गत नही हो सकता क्योंकि 'शक्त्या' पद की विवक्षा है शब्द मे अथवा अर्थ मे रहने वाली किसी शक्ति में। वही शक्ति है अभिधा। अत. पर्यवसित लक्षण होगा 'अभिधयाप्रतिपादकत्वमभिधा' (अर्थात् अभिधा के द्वारा अर्थ प्रतिपादकता ही अभिधा है।) अतएव इस लक्षण में आत्माश्रय दोष है। इसमे कोई प्रमाण है नही

---

३. अस्माच्छब्दादयमर्थोऽवगन्तव्य इत्याकारेश्वरेच्छैवाभिधा। (वही)

४. एवमपीश्वरज्ञानादिना विनिगमना विरह स्यात् अतः प्रथममतमेव न्यायः। (वही)

५ वृ. वा. पृ. १

कि अभिधा से अतिरिक्त कोई अन्य शक्ति शाब्दबोध मे कारण है। इसलिये आत्मा-श्रय दोष का निवारण भी नही हो सकता।[६]

भेद

अभिधा तीन प्रकार की होती है।

१—**केवल समुदाय शक्ति**। जैसे डित्थादि शब्दो मे। इसमे शब्दो के अवयवो मे कोई शक्ति नही होती।

२—**केवल अवयव शक्ति**। जैसे पाचक पाठक आदि। इसमे सम्पूर्ण शब्द का वही अर्थ होता है जो उसके अवयवो (प्रकृति, प्रत्यय) के अन्वय का अर्थ होता है। पाचक व पाठक मे पच्+ण्वुल् तथा पठ+ण्वुल् के अन्वय मे जिस अर्थ का बोध होता है वह है पाक करने वाला अथवा पाठ करने वाला। यही अर्थ पाचक और पाठक पदो का भी है, उसके अतिरिक्त कोई अर्थ प्रतीत नही होता।

३—**समुदायावयव शक्ति का सङ्कर**। जैसे पङ्कजादि। इसमे धातु (जन्) उपपद (पङ्क) और प्रत्यय (ड) रूप अवयवो की शक्ति से जानने योग्य अर्थ है पङ्क से उत्पन्न होने वाला। परन्तु इस अर्थ के अतिरिक्त भी एक अर्थ की प्रतीति होती है—कमल की—जो उन अवयवो के अन्वय से ज्ञात नही होता अपितु 'पङ्कज' शब्द से ही ज्ञात होता है। अवयव और समुदाय दोनो शक्तियो से बोध होने के कारण ही यहाँ समुदायावयव का सङ्कर स्वीकार किया गया है।

यही तीनों प्रकार क्रमशः रूढ़ि, योग और रूढ़ियोग नाम से कहे जाते है।

नानार्थकपदो की शक्ति पर विचार

नानार्थक शब्दो मे अर्थात् जहाँ रूढि और योग दोनो शक्तियो से अर्थ का बोध होता हो वहाँ कौनसी शक्ति मानी जाय इसमे अनेक मत है। उदाहरणस्वरूप अश्वगन्धा, अश्वकर्ण, मण्डप, निशान्त आदि शब्दो को लिया जा सकता है। इन सभी के रूढ और यौगिक दो-दो अर्थ हैं। तत्सम्बन्धी मत इस प्रकार है—

प्रथम मत

अश्वगन्धा पद की 'अश्वगन्धा रस विबेत्' इत्यादि स्थलो मे केवल समुदाय शक्ति है जिससे 'औषधिविशेष' अर्थ की प्रतिपत्ति होती है और जब अश्वगन्धा का अर्थ वाजिशाला होता है तब वहाँ, केवल योगशक्ति रहती है।

इसमे यदि यह आपत्ति की जाय कि जब एकही पद मे दोनो शक्तियाँ विद्यमान हैं तो उनमे केवलता (केवलत्व) का व्यवहार कैसे सम्भव होगा ? तो इसका उत्तर यह है कि यहाँ केवलता का व्यवहार 'यदन्वयायोग्यार्थबोधकत्व' के अर्थ मे हुआ है।

६. रस पृ. १४०

अर्थात् केवलसमुदायशक्ति या केवल योगशक्ति कहने का तात्पर्य यह है कि अपने से भिन्न (केवल समुदाय मे समुदाय से भिन्न योगशक्ति और केवल योग मे योग से भिन्न समुदाय शक्ति) जो शक्ति, उससे सम्बन्धित जो अन्वय, उस अन्वय के अयोग्य जो अर्थ उसकी बोधकता--जिसमे हो वैसी शक्ति। जिस समय समुदाय शक्ति से औषधि रूप अर्थ आता है उस समय अवयवशक्ति का अन्वय नही होता और जिस समय योग शक्ति से वाजिशाला अर्थ का ग्रहण होता है उस क्षण समुदाय शक्ति का अन्वय नही होता है। अत: दोनो शक्तियो के रहते हुए भी केवलता का व्यवहार अनुचित नही है।

इसके विपक्ष मे यदि यह कहे कि यहाँ इन दोनो शक्तियो का सङ्कर ही क्यो नही मानते, तो इसका उत्तर यह है कि जहाँ दोनो शक्तियो के समन्वितरूप से अर्थ का प्रतिपादन हो वही सङ्कर होता है। प्रकृत उदाहरण में तो एक समय मे एक, दूसरे समय मे दूसरी शक्ति प्रतिपादिका होती है दोनो समान रूप से एकही साथ एक अर्थ का प्रत्यायन नहीं करती। अतः साङ्कर्य नहीं रहता। सङ्कर का स्थल वहीं होता है जहाँ द्वित्व का प्रयोग एक साथ और एकही प्रयोजन मे हो।

तात्पर्य यह है कि इस मत मे अश्वगन्धा आदि शब्द कभी केवल यौगिक होत है और कभी केवल रूढ़।[७]

नैयायिकों का मत

नैयायिक उपर्युक्त मत को स्वीकार नहीं करते। उनका मत यह है कि कैवल्य का अभाव होने से अश्वगन्धा आदि पदो में केवल समुदाय शक्ति और केवलयोगशक्ति का प्रसङ्ग नही हो सकता है।

सङ्कर के दो भेद हैं--योगरूढ़ि और यौगिक-रूढ़ि। जहाँ अवयव शक्ति से प्रतिपादित होने वाले अर्थ में समुदाय शक्ति भी सम्मिलित हो वहाँ योगरूढ़ि शक्ति होती है और जहाँ यौगिक अर्थ और रूढ़ि अर्थ का स्वतन्त्र रूप से बोध हो वहाँ यौगिकरूढ़ि शक्ति होती है। योग रूढ़ि का उदाहरण पङ्कजादि शब्द है और यौगिक रूढ़ि के अश्वगन्धादि। इस प्रकार अभिधा के चार भेद है, तीन नहीं और उनमें से अन्तिम भेद के अन्तर्गत अश्वगन्धा आदि पद आते है।[८]

तृतीय मत

यह अभिधा का चतुर्थ भेद है। अर्थात् उक्त नैयायिको के मतानुसार अभिधा के चार भेदों में से अन्तिम भेद का ही यह उदाहरण है।[९]

---

७. 'अश्वगन्धारसं पिबेत्' इत्यादिषु विषयविशेषे केवलसमुदायशक्ति.। (रस. पृ. १४१)

८. अश्वकर्णादिशब्देषु नाभिधाया. प्रथमद्वितीययोर्विधयोः प्रसक्तिः, कैवल्यविरहात्। परन्तु सङ्करस्य द्वौ भेदाः—योगरूढियौगिकरूढिश्चेति।—(रस. पृ. १४२)

९. चतुर्थ एवायमभिधाया भेदः। (वही)

वैयाकरणों का मत

इनके सिद्धान्त के अनुसार शब्द अखण्ड है अत योगशक्ति का कोई प्रसङ्ग ही नही।[१०]

यह शब्द कभी समस्त और कभी व्यस्त होते है। समस्त पद मे अनेक पदो का और पदो मे प्रकृतिप्रत्यय आदि का जो विभाजन किया जाता है वह काल्पनिक है वास्तविक नही। जब अवयव की ही कोई सत्ता नही तो उनमे रहने वाली अवयव शक्ति (योग शक्ति) की भी सत्ता स्वत. असिद्ध हो जाती है। विशिष्ट की विशिष्ट मे रूढि ही एकमात्र शक्ति है। अर्थात् अखण्ड पद की अखण्ड पदार्थ मे और अखण्ड वाक्य की अखण्ड वाक्यार्थ मे शक्ति होती है।

शब्दो की अखण्डता को स्वीकार करने पर यह आपत्ति हो सकती है कि—

'गीष्पतिरप्याङ्गिरसो गदितुं ते गुणगणान् सगवो न।
इन्द्रः सहस्रनयनयोऽप्यद्भुतरूप परिच्छेत्तुम्॥'[११]

इस प्रकार के स्थलो में 'गीष्पति' और अङ्गिरस पदो से एकही अर्थ–बृहस्पति का बोध होगा जिससे पुनरुक्ति दोष आता है और दूसरे गीष्पति के अवयवार्थ (यौगिकार्थ) का जो विशेष प्रयोजन है वह भी सिद्ध नही होगा। तब इस प्रकार के पद्यों मे इन पदो का किस प्रकार अर्थ किया जाय–यह समस्या हो जाती है।

पुनरुक्ति दोष को निवृत्त करने के लिये यदि यह कहा जाय कि जिस पद मे योगरूढ शक्ति है उसमे केवल योग शक्ति से ही अर्थ का प्रदिपादन होगा रूढ शक्ति से नही क्योकि उतने मात्र अर्थ का ही प्रकृत अर्थ के अतिशय का आधान करने मे उपयोग है, तो भी ठीक नही है। उसका कारण यह है कि योगरूढ पद की रूढ शक्ति को नियन्त्रित करने में कोई प्रमाण नही होने से यह कहना निराधार है कि उससे केवल यौगिक अर्थ का ही प्रतिपादन होगा रूढि अर्थ का नही।

दूसरी आपत्ति यह है कि केवल गीष्पति पद को कहने से ही वाणीपति (योगार्थ) और बृहस्पति (रूढ्यर्थ) दोनो का बोध, यदि आवश्यकता होगी तो, हो ही सकता है फिर आङ्गिरस आदि पदो को प्रयोग करने से क्या लाभ ? अर्थात् द्वितीय पद निरर्थक है।

---

१०. अखण्डा एव हि शब्दाः। (वही)
यह वास्तव मे वैयाकरणों का मत है। नागेश भट्ट ने इस मत को ही सैद्धान्तिक मत माना है। अर्थात् उनके अनुसार यही प्रतीत होता है कि पण्डितराज को अभिधा का एक ही भेद मान्य था—रूढि। (वही। ना. टी.)

११. रस. पृ. १४२

उत्तर मे यह कहते है कि एकही पद से बोध्य होने के कारण पहले गीष्पति के योगार्थ और रूढ्यर्थ मे ही परस्पर अन्वय की आकांक्षा होगी। उसमे 'वाणी का पति बृहस्पति' इस विशिष्ट अर्थ की प्रतिपत्ति होने के पश्चात् ही उसका पदान्तर के अर्थ (आङ्गिरस) के साथ अन्वय होगा। परस्पर अन्वय हुए बिना पृथक्-पृथक् 'वाणी-पति' और 'बृहस्पति' इन अर्थों का अन्वय आङ्गिरस के साथ नहीं होगा। इस प्रकार से यद्यपि अर्थ बोध हो सकता है तथापि यह तभी स्वीकार्य हो सकता है जब आङ्गिरस और गीष्पति दोनो को वाचक माना जाय तथा दोनो के वाच्यार्थ का ही अन्वय करना अभीष्ट हो।

यदि गीष्पति आदि योगरूढ़ पद को लाक्षणिक मान लिया जाय और उसमे केवल वाणीपति रूप लक्ष्यार्थ का ही बोध माना जाय तब तो उस योगार्थ का आङ्गिरस के साथ अन्वय होने मे कोई बाधा नहीं रह जाती। इस प्रकार पुनरुक्ति वाली आपत्ति खण्डित हो जाती है।

द्वितीय पद की निरर्थकता भी नहीं है क्योंकि यदि द्वितीय पद (आङ्गिरस) का प्रयोग न किया जाय तो योगरूढ पद रूढ्यर्थ का बोध करवाकर शान्त हो जायेगा क्योंकि उसमे योगार्थ का प्रतिपादन होने पर भी वह अर्थ नान्तरीयक समझ कर उसी प्रकार छोड दिया जायेगा जिस प्रकार 'पङ्कजाक्षीय' में 'पङ्कज' का केवल रूढ्यर्थ (पद्म) ही ग्रहण किया जाता है योगार्थ (पङ्क से उत्पन्न) छोड़ दिया जाता है क्योंकि उसमे कवि का अभिप्राय नही होता। परन्तु जब द्वितीय पद का भी प्रयोग हो जायेगा तब उसी से रूढ्यर्थ का प्रतिपादन सिद्ध हो जाने से योगरूढपद से योगार्थ की ही प्रतिपत्ति होगी। उसमें नान्तरीयकता (कवि का अनभिप्राय) की शङ्का नही होगी। इस प्रकार उस योगार्थ से व्यङ्ग्य होने वाली राजा के गुणो की अवर्णनीयता भी अभिव्यक्त हो जायेगी।

यह तो हुई उस स्थल की स्थिति जहाँ एकही अर्थ के प्रतिपादक दो पदो का प्रयोग होता है। दूसरा स्थल वह है जहाँ योगार्थ और रूढ्यर्थ दोनों के प्रतिपादक एकही पद का प्रयोग होता है। जैसे—'पुष्पधन्वा विजयते जगत्करुणावशात्' इत्यादि। उसमे किस प्रकार अर्थ बोध होता है, वह बताते हैं।

'पुष्पधन्वा विजयते—' इत्यादि में पुष्पधन्वा पद योगरूढ है अतः इसके योगार्थ मे कुवंद्रूपता (कवि का अभिप्राय) नही होगी-यही सिद्ध होगा परन्तु वह ठीक नहीं है क्योंकि जब सहृदय को इसका ज्ञान होता है कि कामदेव के प्रतिपादक अन्य अनेक रूढ़ पदो के होते हुये भी कवि के द्वारा योगरूढ़ पद का प्रयोग किया गया है तब वह समझ जाता है कि अवश्य ही इसके योगार्थ में भी कोई विशेष अभिप्राय होगा। और इसी ज्ञान के वश वहाँ योगरूढ़ पद योगार्थ और रूढ्यर्थ दोनों का बोधक हो जाता है।

इस प्रकार पृथक्-पृथक् पदो का उपादान अथवा अनुपादान होने मे कोई हानि नही होती, दोनो स्थितियो मे अभीष्ट अर्थ का बोध हो जाता है ।[१२]

वाचक पद

'अनया य शब्दो यमर्थं बोधयति स तस्य वाचक ।'[१३]

अर्थात् अभिधा के द्वारा जो शब्द जिस अर्थ का प्रस्थापन करवाता है वह शब्द उस अर्थ का वाचक कहलाता है। जैसे 'घट.' पद के द्वारा घट पदार्थ का अभिधा से बोध होता है तो घट पदार्थ के प्रति घट पद वाचक है ।

अभिधेय अर्थ

'इय च यस्य शब्दस्य यस्मिन्नर्थेऽस्ति तस्य सोऽर्थोऽभिधेय ।'[१४]

अर्थात् जिस शब्द की जिस अर्थ मे अभिधा हो वही अर्थ उस शब्द का अभिधेय होता है । जैसे उपर्युक्त घट पदार्थ घट पद का अभिधेय अर्थ है ।

वैयाकरणों का मत

यह अभिधेय अर्थ चार प्रकार के होते हैं—जाति, गुण, क्रिया और याहच्छिक ।

१—जाति

सस्थान विशेष (आकार विशेष) से अभिव्यक्त होने वाली, प्रत्यक्ष दिखाई देने वाली गोत्वादि जाति गो आदि पदों की अभिधेय होती है। घ्राणत्व, रसनत्व आदि जातियाँ अनुमान से सिद्ध है तथा घ्राण, रसना आदि पदो की वाच्य (अभिधेय) है ।

२—गुण

शुक्लादि गुण शुक्लादि पदो के अभिधेय हैं ।

३—क्रिया

चलन आदि पदो से चलनादि क्रिया अभिहित होती है ।

शुक्लादि गुण और चलनादि क्रिया का प्रत्येक व्यक्ति मे पृथक्-पृथक् दर्शन होने से आनन्त्य और व्यभिचार दोषो का, जोकि व्यक्ति मे शक्ति मानने पर आते है, निवारण करने के लिये, लाघव व अनुभव के बल पर उन्हे एक ही स्वीकार किया गया है । अर्थात् सभी पदार्थों मे रहने वाला श्वेतादि गुण भिन्न-भिन्न नही प्रतीत होता अपितु यह वही श्वेत गुण है इस प्रकार एक रूप से ही भासित होता है ।

अनेक मानने मे गौरव (अनेक श्वेत गुणों की स्वीकृति) भी है । अत: अनुभव के बल पर और लाघव के कारण उन दोनों को एकही स्वीकार किया गया है ।

१२. रस. पृ. १४३
१३. रस. पृ. १४३
१४. रस. पृ. १४३–१४४

मम्मट भी इसमे प्रमाण है क्योकि काव्यप्रकाश मे उन्होने कहा है कि गुण क्रिया और यदृच्छा वास्तव मे एक ही है केवल आश्रय भेद से वह भिन्न-भिन्न प्रतीत होते हैं। अर्थात् गुणादि की भेद प्रतीति भ्रम ही है।[१५]

४—यादृच्छिक

यादृच्छिक वह धर्म है जो वक्ता द्वारा स्वेच्छा से डित्थादि शब्दो के प्रवृत्ति-निमित्त रूप मे सन्निवेशित किया जाता है। उस धर्म के विषय मे कुछ अन्य मत भी है—पहला—'परम्परा से व्यक्ति मे रहने वाला, अन्तिम वर्ण से अभिव्यङ्ग्य अखण्ड स्फोट रूप है।' (यह वैयाकरणो का मत है।) दूसरा—'आनुपूर्वी से अवच्छिन्न वर्णों का समुदाय है।' अर्थात् डित्थ शब्द केवल वर्णों का समुदाय है जो विशेष क्रम से युक्त है। (वह आनुपूर्वी इस प्रकार है :—ड्+इ+त्+थ्+अ) तीसरा—कुछ लोगो के अनुसार सञ्ज्ञी (व्यक्ति) ही वह धर्म है और सञ्ज्ञा शब्दो का वाच्य है।

इनमे से पहले दो मतों मे विशेषण ज्ञान से विशिष्ट का बोध होता है अर्थात् स्फोट और वर्णसमुदाय रूप विशेषणों के ज्ञान से तादृश व्यक्तिरूप विशेष्य अर्थ का बोध होता है। और तृतीय मत मे बिना किसी विशेषण के शुद्ध व्यक्ति का ही बोध होता है।[१६]

मीमांसकों का मत

मीमांसको के अनुसार केवल जाति ही पदो का अर्थ है गुण-क्रिया आदि नहीं। क्योंकि गुण-क्रिया रूप शब्दों की गुण और क्रिया मे रहने वाली जाति तथा यदृच्छात्मक शब्दों मे रहने वाली जाति ही अभिधेय हो सकती है। अर्थात् जिस प्रकार गोत्वादि जाति है उसी प्रकार श्वेतत्व, चलनत्व, डित्थत्वादि भी जाति है जो तत्तद्-विशिष्ट व्यक्तियों मे रहती है। अतः एकमात्र जाति ही अभिधेय अर्थ होता है जात्यादि चार प्रकार नहीं।[१७]

लक्षणा

लक्षणा

पण्डितराजकृत लक्षण

'शक्यसम्बन्धो लक्षणा।[१८]

---

१५. का. प्र. पृ २८

१६. स च 'परम्परया व्यक्तिगतश्चरमवर्णाभिव्यङ्ग्योऽखण्डः स्फोट' इत्येके। 'आनुपूर्व्यवच्छिन्नो वर्णसमुदायः' इत्यपरे। 'केवला व्यक्तिरेव' इतीतरे। तत्राद्यमतद्वये विशेषणज्ञानाद्विशिष्ट-प्रत्यय। तृतीयमते च निर्विकल्पकात्मक प्रत्यय। (का. प्र. पृ. २७)

१७. का. प्र. पृ. २८–२९

१८ रस. पृ १४५

अर्थात् शक्यार्थ के साथ शक्येतर अर्थ का जो सम्बन्ध है वही सम्बन्ध है लक्षणा। शक्येतर अर्थ है लक्ष्यार्थ। अत पर्यवसित अर्थ हुआ- लक्ष्यार्थ के साथ वाच्यार्थ का सम्बन्ध ही है लक्षणा।

लक्षणा-बीज

लक्षणा की प्रवृत्ति के लिये अन्वयानुपपत्ति का होना आवश्यक नही है क्योकि अन्वयबाध को ही लक्षणा का कारण मानने पर 'काकेभ्यो दधि रक्ष्यताम्' इत्यादि स्थानो पर लक्षणा की प्रवृत्ति नही हो सकेगी। इसमे काक पद के मुख्यार्थ—काक पदार्थ—के साथ दधिरक्षण का अन्वय होने मे कोई बाधा नही है। परन्तु केवल काक से दधिकी रक्षा करना तात्पर्य नही है अपितु प्रत्येक दध्युपघातक (दधि को नष्ट करने वाले) से दधि की रक्षा करने मे ही तात्पर्य है। तात्पर्य की पूर्ति केवल काक पद के काक पदार्थ को ग्रहण करने से नही होती। अत. उसमे लक्षणा करनी पड़ती है। इसलिये लक्षणा का बीज **अन्वयानुपपत्ति नहीं है, तात्पर्यानुपपत्ति है**।

मुख्यार्थ और लक्ष्यार्थ के मध्य अनेक प्रकार का सम्बन्ध हो सकता है जैसे-'गङ्गाया घोष' इसमें सामीप्य, 'मुखचन्द्र' इसमे सादृश्य, व्यतिरेक लक्षणा मे विरोध, 'आयुर्घृतम्' मे कारणता, इत्यादि है। इस प्रकार लक्षणा के नाना शरीर हो सकते है।

भेद

सर्वप्रथम लक्षणा दो प्रकार की होती है—निरूढ़ लक्षणा और प्रयोजनवती लक्षणा। पुन' इसके भेदोपभेद मिलाकर कुल सात प्रकार की लक्षणा हो जाती है।[१६] वह इस प्रकार है—

१६. रम. पृ. १४६
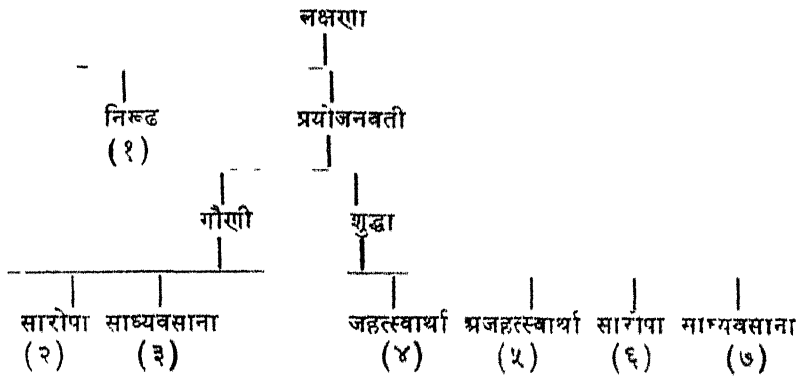
(उपर्युक्त निरूढ और प्रयोजनवती लक्षणा मे से प्रयोजनवती के पुन दो भेद हो जाते है गौणी, शुद्धा । गौणी के दो प्रकार होते है -सारोपा, साध्यवसाना । शुद्धा के चार प्रकार होते है- जहत्स्वार्था, अजहत्स्वार्था, सारोपा और साध्यवसाना ।)

निरूढ लक्षणा—

आरम्भकाल से व्यवहार मे अज्ञान के कारण जब किसी लक्ष्यार्थ मे पद की शक्ति (वृत्ति) निश्चित हो जाती है तब वह निरूढ लक्षणा होती है । इसके उदाहरण—अनुकूल, प्रतिकूल, अनुलोम-प्रतिलोम, लावण्य और नील आदि पद हैं । 'धर्मस्यायमनुकूल ' इत्यादि वाक्यो मे कूलानुगतत्व रूप मुख्यार्थ का बोध होने से, एकही वस्तु मे जो प्रवणत्व (झुकाव) ससक्त है इस रूपसे 'कूलके अनुगत' इस वाच्यार्थ से सादृश्य सम्बन्ध होने के कारण अनुकूल आदि पद से अनुगुण आदि अर्थ लक्षित होते हैं ।

इसी प्रकार नीलादि पदों से, वाच्यार्थ के साथ लक्ष्यार्थ का (नील गुण के साथ नील पदार्थ का) समवाय सम्बन्ध होने से गुणी का भान होता है । अर्थात् वास्तव मे नील पद गुण का वाचक है परन्तु व्यवहार के कारण गुणी मे उसकी लक्षणा रूढ हो गई है ।

प्रयोजनवती लक्षणा— जब किसी लक्ष्यार्थ के पीछे वक्ताका विशेष प्रयोजन हो तो वहाँ प्रयोजनवती लक्षणा होती है ।

गौणी लक्षणा जहाँ वाच्यार्थ और लक्ष्यार्थ मे सादृश्य सम्बन्ध होता है वह सादृश्यात्मक लक्षणा गौणी लक्षणा कहलाती है ।

शुद्धा लक्षणा—सादृश्येतर सम्बन्धात्मक लक्षणा शुद्धा लक्षणा होती है ।

गौणी सारोपा लक्षणा— जहाँ विषय और विषयी का अलग-अलग निर्देश हो और तब दोनों का अभेदारोप सादृश्यमूलक हो तो वहाँ सारोपा लक्षणा होती है । जैसे 'मुख चन्द्र.' इसमे मुख रूप विषय और चन्द्ररूप विषयी का पृथक्-पृथक् उपादान किया गया है । तथा मुख पर चन्द्र का आरोप है, यह आरोप भी सादृश्यमूलक है । अतः चन्द्र पद मे लक्षणा है । यह आरोप यदि सादृश्येतर मूलक हो तो शुद्धा साध्यवसाना होगी ।

गौणी साध्यवसाना लक्षणा—जब अपृथक् रूप से विषय और विषयी का निर्देश रहता है तथा विषय और विषयी मे अभेदाध्यवसाय रहता है तो वहाँ साध्यवसाना लक्षणा होती है । यह अभेद यदि सादृश्यमूलक हो तो गौणी साध्यवसाना और सादृश्येतर मूलक हो तो शुद्धा साध्यवसाना होती है । उदाहरण के लिए 'पुरेऽस्मिन् सौधशिखरे चन्द्रराजी विराजते' इसमे चन्द्रराजी इस एक ही पद से मुखरूप विषय और चन्द्ररूप विषयी दोनों का ग्रहण किया गया है । विषयी के द्वारा विषय का निगरण कर लिया है । अत. दोनों मे अभेद है और वह सम्बन्ध भी सादृश्य

सम्बन्धाधारित है अत साध्यवसाना लक्षणा है। चन्द्रराजी की चन्द्रराजी-सदृश मे लक्षणा है।

इसके पश्चात् लक्षणा के अन्य भेदो का स्पष्ट न करके, पण्डितराज ने, अत्यन्त विस्तार से, उपमा और रूपक मे शाब्द-बोध के अन्तर तथा लाक्षणिक वाक्यो के शाब्द-बोध पर विचार किया है।[२०]

व्यञ्जना

व्यञ्जना के विषय मे पण्डितराज ने कोई विशेष निरूपण नही किया है। उन्होने इस वृत्ति को स्वीकार ही न किया हो ऐसा भी नही है क्योकि शब्द शक्तिमूल ध्वनि के प्रसङ्ग में यत्र-तत्र इसकी स्वीकृति का आभास मिलता है।[२१] पण्डितराज ने यह सिद्ध किया है कि नानार्थवाची शब्दो मे, यदि प्राकरणिक और अप्राकरणिक दोनो अर्थ रूढ हो तो, उन दोनो का बोध अभिधा से ही होता है तथा उन अर्थों का परस्पर औपम्य व्यञ्जना से ज्ञात होता है। (यद्यपि मम्मटादि के मत में सर्वत्र अप्राकरणिक अर्थ व्यञ्जना बोध्य ही होता है।) और जहाँ अप्राकरणिक अर्थ योगार्थ और प्राकरणिक रूढ्यर्थ होता है वहाँ अप्राकरणिक अर्थ का बोध व्यञ्जना से होता है।

> "योगरूढस्य शब्दस्य योगे रूढ्या नियन्त्रिते।
> धियं योगस्पर्शिऽर्थस्य या सूते व्यञ्जनैव सा॥"[२२]

इस प्रकार यह निश्चित है कि पण्डितराज भी व्यञ्जना को अङ्गीकार करते हैं।

इस सम्बन्ध मे व्यञ्जना के स्वरूप आदि की चर्चा न करके उन्होने केवल, प्राचीन मत (मम्मटादि) के अनुसार अभिधा के नियामक सयोगादि तत्त्वो का ही विवेचन किया है। वह इस प्रकार है —

नानार्थकस्थल मे शक्ति नियामक

अभिधा-नियामको की सग्रह कारिका इस प्रकार है :—

> सयोगो विप्रयोगश्च साहचर्यं विरोधिता।
> अर्थ: प्रकरणं लिङ्गं शब्दस्यान्यस्य सन्निधि॥
> सामर्थ्यमौचिती देश. कालो व्यक्ति: स्वरादय.।
> शब्दस्यार्थस्यानवच्छेदे विशेष स्मृति हेतव.॥[२३]

---

२०. रस. पृ १४७-१५६ (इसी विचार का अधिकाश भाग उपमा के शाब्द-बोध म आजाने के कारण इसको पृथक् रूप से उल्लिखित नही किया है।)

२१ रस. पृ. ११०–११८

२२ रस पृ. ११९

२३ रस. पृ ११९

संयोग नानार्थक शब्द के अन्य अर्थों में अवृत्तिरूप से प्रसिद्ध होने पर एक अर्थ में वृत्तितया प्रसिद्ध होना रूप सम्बन्ध ही संयोग है।[२४] अर्थात् किसी वस्तु के विषय में जब नानार्थक शब्द के किसी विशेष अर्थ में वृत्तित्वेन प्रसिद्धि होती है और तद्भिन्न अर्थों में अवृत्तित्वेन प्रसिद्धि होती है तो उस अर्थ का उस वस्तु विशेष के साथ संयोग सम्बन्ध होता है। उदाहरण के लिए नानार्थक पद है। इसके एक अर्थ विष्णु के साथ शङ्खादि की वृत्ति रूप में प्रसिद्धि है और विष्णु से इतर इन्द्रादि अर्थों में अवृत्ति रूप से। (वृत्ति-रहना, अवृत्ति न रहना। वृत्तित्वेन-रहना रूप से) अतः शङ्खादि का विष्णु के साथ जो सम्बन्ध है वही संयोग सम्बन्ध है। 'सायुधो हरि' कहने से हरि की अभिधा विष्णु में नियन्त्रित नहीं होती और न 'सयाशाङ्कुशो हरि.' इसमें ही सायाशाङ्कुशादि का संयोग ही विष्णु में हरि की अभिधा को नियन्त्रित करता है। पहले उदाहरण में आयुधत्वेन (आयुधरूप से) अन्य पदार्थों के साथ (इन्द्र आदि के साथ) अप्रसिद्धि नहीं है। प्रसिद्धि ही है अतः लक्षणगत अन्य अर्थों में वृत्तित्वेन अप्रसिद्धि होते हुए इस अंश के न होने के कारण संयोग नहीं है। दूसरे उदाहरण में–'सपाशाङ्कुशो हरिः' इसमें भी अभिधा का नियामक संयोग नहीं है क्योंकि लक्षणगत द्वितीय विशेष्य 'उसके एक अर्थ में वृत्तित्वेन प्रसिद्धि होना' यहाँ सङ्गत नहीं होता। विष्णु में पाश और अङ्कुश की सहचारिता नहीं है। अतः संयोग को नियामक होने के लिए अन्य अर्थों में अवर्तमान रूप से प्रसिद्ध और तदर्थ में वर्तमान रूप से प्रसिद्ध होना आवश्यक है। इसमें से किसी भी एक का अभाव होने पर संयोग नियामक नहीं हो सकता।

इस संयोग को लिङ्ग के अन्तर्गत नहीं मानना चाहिए क्योंकि इसमें (लिङ्ग में) जो लिङ्गत्व है वह अन्य अर्थों में नियम से न रहने के ही कारण है। अर्थात् जो जिसका लिङ्ग होगा वह अन्य किसी में कभी भी नहीं रहेगा। शङ्खचक्र आदि को विष्णु से अतिरिक्त और कोई धारण कर ही नहीं सकता ऐसी बात नहीं है अतः जब और कोई धारण कर लेगा तो वह उसका लिङ्ग बन जायेगा। अर्थात् शङ्खचक्र रूप विष्णु का लिङ्ग कोई ऐसा लिङ्ग नहीं है जो अन्यत्र असम्भव हो और लिङ्ग उसीको कहते हैं जो त्रिकाल में भी अन्यत्र सम्भव न हो। अतः संयोग का लिङ्ग में अन्तर्भाव उचित व सम्भव नहीं है।

विप्रयोग—विश्लेष ही विप्रयोग है।[२५] एक वस्तु का दूसरी वस्तु से पृथक् रूप से ही प्रसिद्ध होना विप्रयोग है। जैसे 'अशङ्खचक्रो हरि' यहाँ हरि और अशङ्खचक्र का ही विश्लेषण प्रसिद्ध है। इस विश्लेष में विश्लेष के पहले नियतरूप से रहने

---

२४ संयोगो नानार्थशब्दशक्यान्तरवृत्तितया अप्रसिद्धत्वे सति तच्छक्यवृत्तितया प्रसिद्ध सम्बन्धः। (रस. पृ. ११६)

२५. विप्रयोगो विश्लेषः। (रस. पृ. ११६)

वाला संश्लेष पहले कहे गये दो विशेषणो से युक्त समझना चाहिए। अर्थात् यहाँ भी सश्लेष को विश्लेष के पूर्व मानना पडेगा, क्योकि सयोग-निरूपित ही वियोग होता हैं। तात्पर्य यह है कि जिसका जिसके साथ कभी सयोग रहा हो उसी के साथ उसी का वियोग हो सकता है। जिन दो वस्तुओ का कभी सयोग ही न रहा तो उनका वियोग कैसा ? इस प्रकार इस विप्रयोग के लक्षण मे भी सयोग का समावेश हो ही जाता है। इस प्रकार का विवेचन मानने से आयुध सामान्य का विश्लेष अथवा पाशाङ्कुशादि का वियोग उस प्रकार का (अभिधानियामक) नही होता, क्योकि यहाँ पर आयुध और पाशाङ्कुश का वियोग तादृश सयोगपूर्वक नही है। अत जब सयोग ही ठीक नही है तो तन्निरूपित वियोग ही कैसे होगा।

इस प्रकार के विप्रयोग मे विशेषणरूप से (अथवा अप्रधान रूप से) रहने वाला सयोग ही अभिधा का नियमन कर सकता है परन्तु जब प्रधान और अप्रधान की एक साथ प्राप्ति हो तो प्रधान का ही ग्रहण होता है। इसलिए विप्रयोग को ही नियामक कहना उचित है। अथवा यह कहा जा सकता है कि संयोग दो प्रकार से अभिधा का नियामक हो सकता है—केवल सयोग के रूप मे (प्रधान रूप से) और विप्रयोग के गुण (विशेषण) के रूप मे अप्रधान होकर। इसलिए (संयोग की प्रधानता और अप्राधान्य दिखाने के लिए) संयोग और विप्रयोग को पृथक्-पृथक् अभिधा-नियामक माना। इस प्रकार से इस शङ्का को निरवकाश कर दिया कि जब विप्रयोग मे सयोग भी समाविष्ट है तो सयोग को ही अभिधा-नियामक मान लें, विप्रयोग को मानने की क्या आवश्यकता है।

साहचर्य—एक कार्य मे एक दूसरे की अपेक्षा करना ही साहचर्य है।[२५] जैसे 'रामलक्ष्मणौ' इसमे राम शब्द का लक्ष्मण साहचर्य रघुनाथ रूपी राम के अर्थ मे नियामक है। (राम शब्द के अनेक अर्थ हैं—श्री रामचन्द्र, बलराम, परशुराम आदि। परन्तु रामलक्ष्मणौ इसमे राम शब्द की अभिधा लक्ष्मण के साहचर्य के कारण दाशरथि राम में नियन्त्रित हो जाती है।)

साहचर्य का स्वरूप-निरूपण--परस्पर अपेक्षा करने का क्या तात्पर्य है ?—इस विषय को लेकर पण्डितराज ने विशद विवेचन किया है। सर्वप्रथम यह शङ्का करते हैं कि यह अपेक्षा प्रत्येक कार्य मे रहती है या किसी-किसी कार्य मे ? किसी-किसी कार्य में यदि परस्परापेक्षित्व माने तो घट आदि की भी कभी-कभी राम को अपेक्षा होने से राम और घट मे भी साहचर्य हो जाएगा और उसके कारण रामघटौ कहने से भी दाशरथि राम का बोध हो जाना चाहिए। परन्तु ऐसा बोध अनुभव का विरोधी है, अत अनुचित है। एव च दूसरा पक्ष—प्रत्येक कार्य में परस्पर अपेक्षा होना—मानें तो ? वह भी ठीक नही है क्योंकि उससे 'रामलक्ष्मणौ' का साहचर्य भी

२५ साहचर्यमेकस्मिन्कार्ये परस्परापेक्षित्वम्। (वही)

निराकुल हो जाएगा। क्योंकि राम और लक्ष्मण ने सदा प्रत्येक कार्य एक साथ ही किया हो, कोई भी कार्य स्वतन्त्र रूप से न किया हो ऐसा तो है नहीं। अतः सब कार्यों में पारस्परिक अपेक्षा न रहने से लक्ष्मण का साहचर्य भी राम पद की अभिधा का श्रीरामरूप अर्थ में नियामक नहीं हो सकता। परन्तु यहाँ तो अनुभव इसका विपरीत ही होता है - रामलक्ष्मणौ कहने से राम पद की अभिधा लक्ष्मण-साहचर्य के बल पर दाशरथि राम में नियन्त्रित हो जाती है। अतः प्रत्येक कार्य में साहचर्य होना और यत्किञ्चित्कार्य में साहचर्य होना —यह दोनों ही अभीष्ट नहीं है। इन दोनों में से किसी को भी मानने पर 'रामायोध्ये' और 'रघुरामौ' इनमें आपत्ति होगी। अर्थात् साहचर्य का अर्थ यदि किसी कार्य के सम्पादन के रूप में लगाएँ तो अयोध्या- —जो निर्जीव है और रघु—-जो दिवङ्गत है, दोनों में से कोई भी अभिधा के नियामक नहीं हो सकेंगे। जबकि व्यावहारिक रूप से वह नियमन करते हैं।

अतः साहचर्य का दूसरा स्वरूप निर्धारित किया गया। नानार्थक पद के साथ समभिव्याहृत पद के अर्थ का जो प्रसिद्ध सम्बन्ध है वही साहचर्य है। अर्थात् नानार्थक पद के ठीक पूर्व या पश्चात् उच्चरित होने वाले शब्द का जो अर्थ है उस अर्थ का नानार्थक पद के अर्थ के साथ जो भी प्रसिद्ध सम्बन्ध है वही है साहचर्य। क्योंकि वह सम्बन्ध एकजन्यत्वेन रामलक्ष्मणौ में, दाम्पत्यरूप से सीतारामौ में, जन्य-जनक रूप से रामदशरथौ में, स्वामि-भृत्यभाव से राम-हनुमान् में, स्वस्वामि-सम्बन्ध में—- रामायोध्ये में, इत्यादि अनेक-अनेक प्रकार का होते हुए भी साहचर्य के कारण अभिधा-नियामक होता है।

परन्तु इस स्वरूप को मानने पर भी निस्तार नहीं, क्योंकि फिर 'सशङ्खचक्र' आदि पद में भी साहचर्य ही नियामक हो जाएगा क्योंकि लक्ष्मण के सम्बन्ध की अपेक्षा चक्रादि के सम्बन्ध की कोई विशेषता ही नहीं रह जाएगी। इसके उत्तर में यदि कोई यह कहकर साहचर्य और संयोग में अन्तर सिद्ध करे कि यदि सशङ्खचक्र इत्यादि के समान जहाँ संयोग सम्बन्ध हो वहाँ संयोग का और जहाँ तदतिरिक्त सम्बन्ध हो वहाँ साहचर्य का स्थल होगा, तो भी ठीक नहीं है क्योंकि ऐसा कहने में संयोग को ही पृथक् मानने में कोई कारण नहीं रह जाता। अर्थात् संयोग को एक पृथक् अभिधा-नियामक क्यों माना जाय क्योंकि उसके कार्य का साहचर्य से ही सम्पादन हो जाता है। सभी सम्बन्ध जब समान हैं तब संयोग सम्बन्ध को ही भिन्न क्यों और किस आधार पर माना जाए? इसके लिए एक दूसरी युक्ति है—-

जहाँ संयोग-सम्बन्ध शब्दतः उपात्त हो वहाँ संयोग अभिधा-नियामक होगा और जहाँ सम्बन्धी मात्र का उपादान हो सम्बन्ध का नहीं वहाँ साहचर्य अभिधा-

नियामक होगा । अतएव 'सशङ्खचक्र' यह संयोग का और रामलक्ष्मण यह साहचर्य का उदाहरण होगा । परन्तु इस प्रकार से भी अभीष्ट सिद्धि नही होती क्योकि 'सलक्ष्मणो राम' 'विलक्ष्मणो राम' इसमे भी संयोग और वियोग रूप विशेषणो की प्रतीति न होने से, साहचर्य की ही उदाहरणता होगी अर्थात् यह भी साहचर्य के ही उदाहरण हो जाएँगे । और इस प्रकार सशङ्खचक्र आदि भी साहचर्य के उदाहरण हो जाएँगे । (संयोग और वियोग धर्म है अत द्रव्यनिष्ठ है, उनकी प्रतीति द्रव्य के साथ ही (लक्ष्मण के साथ) हो सकती है उससे पृथक् नही । इस प्रकार संयोग और वियोग की अपृथक् प्रतीति होने से 'सलक्ष्मणो राम' इत्यादि साहचर्य के ही उदाहरण होगे'। और जब 'सलक्ष्मणो रामः' साहचर्य का उदाहरण है तो 'सशङ्खचक्रो हरि' यह भी साहचर्य का ही उदाहरण कहना ठीक है ।

प्राचीन आलङ्कारिको का आशय है—संयोग शब्द सम्बन्ध सामान्य का बोध करवाता है । अत. जहाँ शब्द से प्रतिपादित कोई प्रसिद्ध सम्बन्ध सामान्य शक्ति का नियामक हो वहाँ संयोग को नियामक मानना चाहिए और जहाँ द्वन्द्वादि गत केवल सम्बन्धी ही कथित हो वहाँ साहचर्य का उदाहरण होगा । इस रीति से 'सगाण्डीवोऽर्जुन.' यह संयोग का और 'गाण्डीवार्जुनौ' यह साहचर्य का उदाहरण होगा । (अर्थात् कारिकागत संयोग किसी सम्बन्ध विशेष का द्योतक नही है अपितु सम्बन्ध सामान्य का द्योतक है ।) इसलिए जहाँ प्रसिद्ध सम्बन्ध सामान्य का शब्दतः कथन हो वहाँ संयोग का स्थल और जहाँ सम्बन्ध का कथन नही होगा केवल संबधियो का कथन होगा वहाँ साहचर्य का स्थल होगा ।

विरोधिता—विरोधिता है प्रसिद्ध वैर और एक साथ न रहना ।[२६] उनमे से प्रथम वैर का उदाहरण प्राचीनो ने दिया है—'रामार्जुनौ ।' (यह उदाहरण मम्मट ने दिया है इसका प्राचीन रूप है 'रामार्जुनगतिस्तयो ।)

अप्पयदीक्षित का मत

अप्पयदीक्षित ने मम्मट के उपर्युक्त उदाहरण को शब्दान्तर-सन्निधि का उदाहरण माना है विरोधिता का नही । क्योकि विरोधिता का उदाहरण मानने मे इसमें अन्योन्याश्रय दोष आता है—राम पद की अभिधा का नियमन हो तो अर्जुन पद की अभिधा कार्तवीर्य मे नियमित हो और अर्जुन पद की अभिधा नियमित हो तो राम की अभिधा परशुराम मे नियमित हो । किसी एक की अभिधा नियमित होने पर दूसरे की अभिधा नियमित हो क्योकि दोनो ही पद नानार्थक है । इसलिए इसे विरोधिता का उदाहरण कहना असङ्गत है । रामरावणयो —यह विरोधिता का उदाहरण हो सकता है (प्रसिद्ध वैर रूप विरोध का) क्योकि दो पदों मे से एक पद

---

२६. विरोधिता प्रसिद्धं वैरम्, सहानवस्थान च । (रस. पृ १२०)

का अर्थ निश्चित होने पर जब वैर की स्मृति होती है तब अभिधा का नियमन होता है।[२७]

पण्डितराजकृत खण्डन

'रामरावणयो' यह विरोधिता का उदाहरण नहीं है अपितु 'रामलक्ष्मणयो' की भाँति साहचर्य का ही उदाहरण है। जैसे पिता, भाई, पत्नी, स्वामी, पुत्र, भृत्य और नगरी आदि का सम्बन्ध प्रसिद्ध है वैसे ही शत्रु का सम्बन्ध भी प्रसिद्ध है। इसलिए यह नहीं कह सकते कि राम-लक्ष्मण का साहचर्य तो प्रसिद्ध है और राम-रावण का नहीं। यदि शत्रु के सम्बन्ध की विरोधिता के रूप में पृथक् गणना की जाएगी तब मित्रादि के सम्बन्ध की भी पृथक् रूप में गणना करनी होगी। इस प्रकार प्राचीन (मम्मट) के उदाहरण के समान इनका (अप्पयदीक्षित का) उदाहरण भी अशुद्ध है।

अप्पयदीक्षित ने जो यह कहा कि 'अन्यतरपद के अर्थ के निश्चय होने पर' ही दूसरे पदार्थ के साथ वैर की स्मृति होना विरोधिता है वह भी असङ्गत ही है। क्योंकि 'हरिनागस्य' इत्यादि में दोनों पदों की अभिधा अनिश्चित है। तथापि वहाँ एक शब्द के समान अभिव्यक्त विरोध के द्वारा अभिधा का नियमन हो जाता है। यह अभिव्यक्त विरोध सम्बन्ध मात्र रूप में बिना किसी सम्बन्धी के ही अभिधा का नियमित करता है। यह नियमन भी दोनों पदों में एक साथ ही हो जाता है क्रमशः नहीं। (अर्थात् 'हरिनाग' सुनने से दो पद भी एक पद के समान विरोध को अभिव्यक्त करते हैं।) उस विरोध का ज्ञान होने पर हरि और नाग रूपी धर्मियों की अभिधा नियन्त्रित होती है श्रीकृष्ण और कालिय नाग में।

'रामार्जुनौ' को शब्दान्तरसन्निधि का उदाहरण मानना भी उचित नहीं है क्योंकि अप्पयदीक्षित ने जो शब्दान्तर सन्निधि के उदाहरण दिए हैं--'निपश्य पश्य भूभृतम्', 'नागो दानेन राजते' इत्यादि उनमें जबतक अभिधा नियन्त्रित नहीं होती तबतक अन्वय ही नहीं होता और रामार्जुनयोः में नियत अर्थ के अतिरिक्त भी जब अर्थज्ञान रहता है (अर्थान्तरविषयत्व रहता है) तो अन्वय न हो ऐसा नहीं होता अतः अप्पयदीक्षित के और मम्मट के उदाहरण में महान् अन्तर है।

उपर्युक्त रीति से अप्पय का खण्डन हो जाने पर भी 'रामार्जुनगतिस्तयोः' यह उदाहरण विरोधिता के उदाहरण के लिए तो उसी प्रकार असङ्गत रहा---ऐसा नहीं कहना चाहिए क्योंकि 'उन दोनों प्रसिद्ध वैर वाले व्यक्तियों में रामार्जुनगति, अर्थात्

---

२७ यत्तु--'रामार्जुनपदयोर्वध्यघातकभावविरोधाद्भार्गवकार्तवीर्ययोरभिधा नियम्यते'--इत्युदाहरणम्, तन्न। 'राम' पदस्य भार्गवेऽभिधानियमने सति तद्विरोधप्रतिसन्धानेन 'अर्जुन'-पदस्य कार्तवीर्येऽभिधानियमनम्, तस्मिंश्च सति तद्विरोधप्रतिसन्धानेन 'राम' पदस्येति परस्पराश्रयापत्तेः। तस्मादन्यतरपदस्य व्यवस्थितार्थत्व एव स्मृततद्विरोधप्रतिसन्धानादन्यार्थ-पदस्याभिधानियमनमिति प्रागुक्तमेवोदाहरणमनुसर्तव्यम्। (वृ. वा. पृ ७)

राम और अर्जुन के समान आचरण है'—इस तात्पर्य के वर्णन मे प्रकरणवश प्रतीत होने वाले विरोध से एक साथ भार्गव और कार्तवीर्य रूप अर्थ मे राम और अर्जुन की अभिधा नियन्त्रित हो जाती है।

इसको (विरोधिता को) प्रकरण के अन्तर्गत नही मानना चाहिए, क्योंकि विरोध के प्रकरण प्राप्त होने पर भी भार्गव और कार्तवीर्यरूप अर्थ, जिनमे शक्ति नियमित होती है, प्रकरण प्राप्त नही है। अर्थात् प्रकरण वही पर नियामक होता है जहाँ अभिधा नियामक का आश्रय-अर्थ-भी प्रकरण प्राप्त हो।

विरोधिता का दूसरा स्वरूप है एक स्थान मे न रहना। उसका उदाहरण है—छायातपौ। इसमे तदधिकरणावृत्तित्व-रूप विरोधिता होने से छाया की अभिधा आतपाभाव मे नियन्त्रित हो जाती है।

अर्थ—चतुर्थी विभक्ति आदि के द्वारा अभिहित होने वाले प्रयोजन को अर्थ कहते है।[२८] उदाहरणार्थ 'स्थाणुं भज भवच्छिदे' इत्यादि मे भवच्छेदन-रूप प्रयोजन से स्थाणु पद की अभिधा शिव मे नियन्त्रित हो जाती है।

प्रकरण—वक्ता और श्रोता की बुद्धिस्थता ही प्रकरण है।[२९] बुद्धिस्थता का अर्थ है—बुद्धि मे स्थित रहना। बुद्धि मे स्थित रहता है प्रसङ्ग। काव्य का अनुशीलन धाराप्रवाह रूप मे करने से किसी भी स्थल-विशेष का बोध होते समय उसका आगा-पीछा सामाजिक को ज्ञात रहता है और कभी-कभी उसी आगे-पीछे के ज्ञान के आधार पर सामाजिक किसी-किसी अर्थ को समझता है, वही है प्रकरण मे अर्थ का बोध होना। उदाहरण के लिए राजा को सम्बोधित करके किसी सेवक का कथन है—'सर्वं जानाति देव.'—इसमे राजा और सेवक का कथोपकथन है यह सामाजिक की बुद्धि मे स्थित है अत. उसी आधार पर वह इस वाक्य मे 'देव' का अर्थ 'आप' है यह जान लेता है।

लिङ्ग—नानार्थक शब्द के अन्य अर्थों मे न रहने वाला, किसी एक अर्थ मे रहने वाला साक्षात् शब्द से प्रतिपादित धर्म ही लिङ्ग है।[३०] जैसे 'कुपितो मकरध्वज'—इसमे 'कोप' मकरध्वज का लिङ्ग (चिह्न) है इसलिए उसकी अभिधा (मकरध्वज की अभिधा) कामदेव मे नियन्त्रित हो जाती है।

शब्दान्तरसन्निधि—नानार्थक पद के एक ही अर्थ मे सम्बन्ध रखने वाले अन्यार्थों के वाचक पद की निकट मे स्थिति होना, 'अन्य शब्द की सन्निधि' कहलाती है।[३१] अर्थात् दो ऐसे नानार्थक पदों का पास-पास होना जिनका एक-एक अर्थ ही

२८. अर्थः प्रयोजनं चतुर्थ्याद्यभिधेयम्। (रस. पृ. १२२)

२९. प्रकरणं वक्तृश्रोतृबुद्धिस्थता। (रस. पृ. १२२)

३०. लिङ्गं नानार्थपदवाच्यान्तरावृत्तिरेकवाच्यगतः साक्षाच्छब्दवेद्यो धर्मः। (वही)

३१. शब्दस्यान्यस्य सन्निधिर्नानार्थपदैकार्थमात्रसंसर्ग्यर्थान्तरवाचकपदसमभिव्याहारः। रस. पृ. १२१

परस्पर अन्वित हो शब्दान्तरसन्निधि कहलाती है। जैसे 'करेण राजते नागः' इसमें कर पद की नाग पद को लेकर और नाग पद की कर पद को लेकर शुण्ड और गज में अभिधा नियन्त्रित हो जाती है।

यहाँ एक शब्द की शक्ति के नियमन के लिए दूसरे शब्द की शक्ति के नियमन की अपेक्षा नहीं होती जिससे अन्योन्याश्रय की शङ्का हो, किन्तु कर और नाग की अर्थान्तर को लेकर अन्विति नहीं होने से एक साथ ही शक्ति नियमित हो जाती है।

शब्दान्तर-सन्निधि का नियामकत्व वहीं होगा जहाँ अन्य अर्थों को लेकर अन्वय न हो परन्तु 'देवस्य पुराराते' इसमे देव पद के सुरत्व और भूपत्व रूप दोनो अर्थों का पुरारति के नगरशत्रु या असुर विशेष के शत्रु-रूप अर्थों के साथ अन्वय हो जाता है। राजा का नगर शत्रु को लेकर और शिव का असुर विशेष का शत्रु रूप अर्थ लेकर अन्वय हो ही जाता है। अत अन्यार्थ को लेकर अन्वय न होना—यहाँ नहीं लेने के कारण, यहाँ पर शब्दान्तर सन्निधि अभिधा का नियामक नहीं है। —अतः मम्मट भट्ट का शब्दान्तर सन्निधि का यह उपर्युक्त उदाहरण कैसे सङ्गत होगा ? इस शङ्का का उत्तर देते हैं कि पुरारति पद योगरूढ है। (अर्थात् प्राचीन लोग पुरारति की शिव में रूढिलक्षणा मानते हैं) और उस प्रकार रूढिगत अर्थ यौगिक अर्थ का अपहरण कर लेता है। इस नियम से शिवत्व रूप में ही उस पद का बोध्य अर्थ सम्मुख आता है इसलिए देवपद की शक्ति की नियामकता उसमें है। परन्तु इस प्रकार फिर से यह प्रश्न किया जा सकता है कि पुरारति में योगरूढि है इसमें प्रमाण क्या है। अर्थात् प्रमाण के अभाव में उसका नियामकत्व असिद्ध है।

'देवस्य पुरारातेः' यह पाठ हो तब भी पदान्तर से उपस्थापित त्रिपुरासुरवैरित्व की लिङ्गता होने से लिङ्ग का ही यह उदाहरण होना चाहिए न कि शब्दान्तरसन्निधि का। अर्थात् 'त्रिपुरारातेः' इस पाठ में त्रिपुरारति की अभिधा नियन्त्रित है अतः वह देव पद का नियामक शब्दान्तरसन्निधि के रूप से होगा—यह भी नहीं कहा जा सकता क्योंकि त्रिपुरासुरवैरित्व रूप से यह शिव का अनन्यसाधारण धर्म है जिसके कारण वह लिङ्ग ही है अतः लिङ्ग रूप से वह नियामक है। इसलिए उस प्रकार का पाठ होने पर भी यह लिङ्ग का पाठ है शब्दान्तरसन्निधि का नहीं।

काव्यप्रकाशटीकाकार गोविन्द ठक्कुर का मत

गोविन्द ठक्कुर के अनुसार अव्यभिचरित (निश्चितार्थक) शब्द की समानाधिकरणता ही सन्निधि है।

पण्डितराजकृत खण्डन

यह कथन मान्य नहीं है क्योंकि उनके मूलकार काव्यप्रकाश की उदाहृति 'करेण राजते नागः' में ही वह अव्याप्त हो जाता है। और यदि किसी नियामक की खोज की जाय तो व्यर्थ उसमें गौरव होगा। लिङ्ग के उदाहरण 'कुपितो मकरध्वजः'

इसमे उस सबकी अतिव्याप्ति होती है। क्योकि कुपित पद निश्चितार्थक है और मकरध्वज नानार्थक पद की समान विभक्ति वाला भी है। इस प्रकार अव्याप्ति, अतिव्याप्ति और गौरव दोषो से दूषित होने के कारण उनका मत मान्य नही है।

सामर्थ्य—कारणता सामर्थ्य है।[32] जैसे—'मधुना मत्त कोकिल.' इसमें कोकिलमदजनकतारूप कारणता मधु शब्द की वसन्तार्थ मे अभिधा नियन्त्रित कर देता है।

इसमे तर्क करते है कि यदि इसी का प्रतिपादन इस प्रकार किया जाय कि 'कोकिलमदजनकता वसन्त मे ही रहती है मद्य मे नही (वसन्तेतर मे नही)' तो यह लिङ्ग का उदाहरण बन जाएगा। इसके समाधान के लिए यदि यह कहे कि मादकत्व तो मद्य मे भी रहता है अत वह वसन्तर्तु का असाधारण धर्म नही हुआ। अत. इस लिङ्ग का उदाहरण नही कह सकते, तो यह उत्तर ठीक नही है क्योकि सुरा मे भी मादकता रहती है इसलिए वह वसन्त का अनन्यसाधारण धर्म नही है। (जिसमे वह लिङ्ग हो अतः लिङ्ग और सामर्थ्य मे अन्तर है।)

परन्तु मादनसामर्थ्य मद्य मे रहता है पर कोकिलमादन-सामर्थ्य तो वसन्त मे ही रहता है—उस रूप मे तो वह लिङ्ग का उदाहरण ही रहा। इसके उत्तर मे यदि यह कहा जाय कि सुरा मे प्राणिमात्र के मादन की सामर्थ्य होने से कोकिलमादन-सामर्थ्य भी है ही तो ठीक नही है क्योकि ऐसा कहने पर सामर्थ्य की वाचकता को नियामक कहना असङ्गत हो जाएगा। दूसरे 'न तु मधुन:' (अर्थात् 'कोकिल-मद-जनकता वसत मे ही है सुरा मे नही) इस प्रकार की उक्ति मे आप ही की उक्ति का ('सुरा मे कोकिल मद-जनकता भी है') इसका विरोध होता है।

सामर्थ्य की सिद्धि के लिए यदि प्रसिद्धि को आधार माने तो भी सुरा मे कोकिल-मद-जनकता होने पर भी अप्रसिद्ध होने से मधु से सुरा रूप अर्थ का ग्रहण नही होगा अपितु मधुमास मे ही तज्जनकता प्रसिद्ध होने से वसन्त रूप अर्थ ही लिया जाएगा—इसमे सामर्थ्य का नियामकत्व सिद्ध हो जाएगा। परन्तु फिर भी, प्रसिद्धि को लेने पर भी, कोकिलमदजनकत्व मधु का लिङ्ग रूप तो सिद्ध ही है अर्थात् अनन्य-साधारण धर्म है। अतः इस सब पर भी सामर्थ्य और लिङ्ग मे भेद सिद्ध नही हुआ।

अब स्वय लिङ्ग और सामर्थ्य का भेद बताते है—शाब्दत्व और एकपदार्थत्व तथा अशाब्दत्व और अनेकपदार्थत्व को लेकर दोनो मे विभिन्नता हो सकती है। अर्थात् लिङ्ग उस बोध का विषय होता है जो शब्दजन्य होता है और एक पद से प्रतिपादित होता है और सामर्थ्य उस बोध का विषय होता है जो अशाब्द होता है तथा अनेक पदार्थों से शब्दो से प्रतिपादित होता है। यह मानसबोध का विषय होता है।

---

३२. सामर्थ्यं कारणता। (रस. पृ. १२४)

औचिती—योग्यता है औचिती।[33] जैसे 'पातु वो दयितामुखम्' इसमे दयितामुखकर्तृक, रक्षणकर्मत्व से आक्षिप्त कामार्त रूप सम्बोध्य पुरुषों का त्राण उस नायिका के साम्मुख्य से ही होता है न कि मुख मात्र से। [अत त्राण के योग्य होना, मुख और उसके साम्मुख्य दोनो अर्थों के प्रत्यायक, मुख शब्द की अभिधा को साम्मुख्य मे नियन्त्रित करता है।]

देश—नगरादि देश है।[34] जैसे 'भात्यत्र परमेश्वर' इत्यादि मे परमेश्वरादि शब्द की राजा आदि मे अभिधा नियमित होती है। क्योकि राजा का ही नगर आदि से सम्बन्ध होना या सम्बन्ध न होना सम्भव है इसलिए अभाव का (असम्बन्ध का) व्यावर्तन (निराकरण) करने के लिए अधिकरण विशेष का कथन सार्थक है। 'अत्र' की सङ्गति तभी होगी जब राजा रूप अर्थ लेंगे क्योकि परमेश्वर (देवता) तो किसी स्थान विशेष में रहता नही है, वह सर्वगामी है। इसी प्रकार 'वैकुण्ठे हरिर्वसति' इसमे भी वैकुण्ठ रूप देश से हरि की अभिधा विष्णु रूप अर्थ में नियन्त्रित हो जाती है।

काल—दिवस आदि काल है।[35] 'चित्रभानुर्दिने भाति' इत्यादि मे चित्रभानु आदि पदो की सूर्य आदि मे अभिधा नियमित होती है। इसी प्रकार 'चातुर्मास्ये हरि शेते' इसमे हरि की अभिधा विष्णु मात्र मे नियन्त्रित होती है।

व्यक्ति—स्त्रीलिङ्ग, पुल्लिङ्ग, नपुंसकलिङ्ग आदि ही व्यक्ति है।[36] जैसे 'मित्रो भाति', 'मित्र भाति' इसमे मित्र शब्द की पुल्लिङ्ग और नपुंसकलिङ्ग होने से सुहृद् और सूर्य मे अभिधा नियमित होती है। इसी प्रकार 'नभो भाति' 'नभा भाति' इसमे नभ पद की अभिधा पुल्लिङ्ग और स्त्रीलिङ्ग होने के कारण क्रमशः आकाश और श्रावण मास मे नियमित हो जाती है।

स्वर—उदात्त, अनुदात्त, स्वरित,—यह स्वर हैं।[37] जैसे 'इन्द्रशत्रु' इसमे समास के अन्त मे उदात्त होने पर 'इन्द्रशत्रु' की अभिधा 'इन्द्र के शत्रु' मे नियमित होती है और पूर्वपद प्रकृतिस्वर-प्राप्त (आदि उदात्त) होने पर 'इन्द्र है शत्रु जिसका', इस अर्थ मे नियमित होती है।

कारिकागत (संयोगो विप्रयोगश्च—इत्यादि मम्मटीय कारिका मे) आदि पद से—(''''''''कालो व्यक्ति' स्वरादय') अभिनय आदि का ग्रहण करना चाहिए। जैसे 'एतावन्मात्रस्तनिका' इत्यादि।

---

३३. औचिती योग्यता (रस. पृ. १२४)
३४. देशो नगरादिः (रस. पृ. १२४)
३५. कालो दिवसादि. (रस. पृ १२५)
३६. व्यक्तिः स्त्रीपुनपुंसकलिङ्गानि (वही)
३७. स्वर उदात्तादिः (वही)

इन अभिधा-नियामको मे अर्थ, सामर्थ्य, और औचिती के उदाहरणो मे क्रमश चतुर्थी विभक्ति तृतीया विभक्ति और अर्थ सामर्थ्य (योग्यता) से प्रतिपादित होने वाला कार्य-कारण भाव ही नियामक है। इनमे वास्तव मे कोई अन्तर नही है अर्थात् केवल विभक्ति आदि की ही विभिन्नता है, वस्तु (कार्य-कारणभाव) की नही। कार्य-कारणभाव के बोधको मे (चतुर्थी, तृतीया, अर्थसामर्थ्यादि) अन्तर होने के कारण ही नियामको को भी भिन्नत्वेन कह दिया है। वस्तुत तो सयोगादियो का अर्थान्तर-साधारण्य होने पर नानार्थक शब्द मे अर्थविशेष मे शक्ति का सङ्कोच (अभिधा का नियमन) सम्भव ही नही होता क्योकि नियामक असङ्कुचित है (असख्य है) तथापि यदि प्रसिद्धि के आधार पर उनकी (सयोगादि की) असाधारणता बुद्धि जिस किसी प्रकार उपपन्न की भी जाय तो वे सभी प्राय लिङ्ग के ही भेद हो जाते हैं, लिङ्ग से सर्वथा स्वतन्त्र नही रहते।

अन्ततोगत्वा प्रतीत यह होता है कि अपने उपजीव्य आलङ्कारिको के द्वारा मान्य होने के कारण पण्डितराज ने इन विभिन्न नियामको को बिना किसी खण्डन-मण्डन के निरूपित तो किया है परन्तु उनकी अपनी कोई विशेष रुचि नही है। सामर्थ्य, अर्थ और औचिती को परस्पर अपने मूलरूप मे अभिन्न माना है। और अन्त मे स्पष्ट ही यह कहा कि सभी नियामक अन्त मे लिङ्ग मे ही परिवर्तित हो जाते है।

समवलोकन

अभिधा और लक्षणा पर जितना भी विचार किया गया है वह सब नैयायिक दृष्टि पर ही पूर्णत आधारित है। लक्षण, भेद तथा अवान्तर शास्त्रार्थ सब कुछ न्यायशास्त्र-सम्मत है।

व्यञ्जना पर कोई विचार लक्षण, स्वरूप आदि को लेकर नही किया गया है। यह भी न्याय के प्रभाव को ही पुष्ट करता है क्योकि नैयायिको ने केवल दो ही वृत्तियाँ मानी है—अभिधा और लक्षणा। परन्तु आलङ्कारिक होने के नाते पण्डितराज को व्यञ्जना का निर्वचन करना अपेक्षित था। काव्य मे तो व्यञ्जना का ही साम्राज्य सबसे अधिक है। अभिधानियामको का विवरण भी शब्दशक्तिमूलध्वनि के प्रसङ्ग मे ही प्राप्त है। 'सयोगो विप्रयोगश्च ' ...' इत्यादि कारिका मूलरूप से वाक्यपदीय की है जो वैदिक अर्थों के नियामको का सग्रह करती है। आलोचना-प्रधान पण्डितराज ने उस कारिका को अनालोचित रूप से अपने ग्रन्थ मे उद्धृत कर दिया है, यह भी कुछ असङ्गत-सा लगता है। उस कारिका के अन्त मे एक नियामक है **'स्वर'**। वह केवल वैदिक सस्कृत मे ही लागू हो सकता है लौकिक सस्कृत मे नही। इस ओर जगन्नाथ की दृष्टि या तो गई नही या गई तो उसे महत्ता नही मिली।

सार यह है कि वृत्तिविचार के समय उनका नैयायिक रूप ही प्रमुख रहा है।

५

स्फुटसादृश्यमूलक अलङ्कार

पण्डितराज ने अलङ्कारों को मुख्य रूप से तीन भागों में बाँटा है :—सादृश्य-मूलक अलङ्कार, विरोधमूलक अलङ्कार और शृङ्खलामूलक अलङ्कार। प्रस्तुत प्रबन्ध में प्रथम भेद को ही दो भेदों में बाँट दिया गया है, जिसका उल्लेख आरम्भ में हुआ ही है।

सादृश्यमूलक अलङ्कारों में प्रधान है उपमा, विरोधमूलक अलङ्कारों में प्रधान है विरोध तथा शृङ्खलामूलक अलङ्कारों में प्रधान है स्वयं शृङ्खला।

शृङ्खला का अर्थ है पंक्तिबद्ध अर्थों में प्रथम-प्रथम अर्थ का दूसरे-दूसरे अर्थ में अथवा दूसरे-दूसरे अर्थ का प्रथम-प्रथम अर्थ में संसृष्ट होना। (पंक्तिरूपेण निबद्धानामर्थानां पूर्वपूर्वतरस्योत्तरोत्तरस्मिन्, उत्तरोत्तरस्य वा पूर्वपूर्वस्मिन् संसृष्टत्वं शृङ्खला।[1])

संसृष्टत्व का अर्थ है सम्बन्धित होना। एक जञ्जीर में जिस प्रकार एक कड़ी दूसरी से, दूसरी तीसरी से इत्यादि सम्बन्धित होती है अथवा तीसरी दूसरी से, दूसरी पहली से सम्बन्धित होती है उसी प्रकार जब अर्थों की एक शृङ्खला बनती है तो वहाँ अर्थ-शृङ्खला होती है।

शृङ्खला स्वतन्त्र रूप से कोई अलङ्कार नहीं हो सकती क्योंकि किसी न किसी विशेष प्रकार में ही उसका अन्तर्भाव हो जाता है। इसके विभिन्न प्रकार ही है विभिन्न अलङ्कार।

उपमा और विरोध भी क्रमशः उपमामूलक और विरोधमूलक सभी अलङ्कारों में व्याप्त रहते हैं। उनका निर्वचन उपमा व विरोध अलङ्कार के प्रकरण में ही किया जाएगा।

उपमा

लक्षण

पण्डितराजकृत लक्षण

पण्डितराज ने इसका लक्षण इस प्रकार किया है—सादृश्यं सुन्दरं वाक्यार्थोपस्कारकमुपमालङ्कृतिः।[2] अर्थात् सुन्दर और वाक्यार्थ का उपस्कारक जो

१. रस. पृ. ६२०
२. रस. पृ. १५७

सादृश्य है वह उपमालङ्कार है। सुन्दर पद का तात्पर्य है चमत्कार को उत्पन्न करने वाला।

इस लक्षण मे विशेष्य पद है 'सादृश्यम्' और विशेषण पद है 'सुन्दरम्' तथा 'वाक्यार्थोपस्कारकम्'।

'सुन्दरम्' विशेषण देने से अनन्वय आदि अलङ्कारो मे रहने वाला सादृश्य उपमालङ्कार का विषय नही हो पाता क्योंकि वह सादृश्य किसी प्रकार के चमत्कार को उत्पन्न नही करता केवल द्वितीय उपमानाभाव को ही सिद्ध करता है। इसी प्रकार व्यतिरेकालङ्कारगत सादृश्य भी सादृश्याभाव को ही सिद्ध करने मे कृतार्थ हो जाता है, आह्लादजनक नही होता। इस दृष्टि से भेद प्रधान तथा अभेद प्रधान वे सभी अलङ्कार, जिनमे सादृश्य विद्यमान रहता है, जैसे दृष्टान्त, प्रतिवस्तूपमा, दीपक, तुल्ययोगिता तथा रूपक, अपह्नुति, परिणाम, भ्रान्तिमान् और उल्लेखादि, उपमा से पृथक् हो जाते है। जहाँ भी सादृश्य चमत्कार का कारण होगा वही उपमालङ्कार होगा।

उदाहरणार्थ, जैसे—

गुरुजनभयमद्विलोकनान्त समुदयदाकुलभावमावहन्त्या।
दलदरविन्दसुन्दर हा हरिणदृशो नयनं न विस्मरामि॥[3]

इस पद्य मे उपमान है 'दलदरविन्द' और वाचक शब्द है 'सुन्दरम्'। इन दोनों का 'उपमानानि सामान्यवचनैः' इस सूत्र से समास हुआ है जिससे उपमा प्रतीत होती है।[४] एव च इस पद्य का महावाक्यार्थ (प्रधानीभूत अर्थ) हैं विप्रलम्भशृङ्गार। समस्त पद से प्रतीत होने वाली उपमा महावाक्यार्थ रूप विप्रलम्भ की उपस्कारिका है अत: वह अलङ्कार है। वास्तव मे तो उपमा विप्रलम्भ की उपस्कारिका स्मृति की उपस्कारिका है अत: परम्परया वह विप्रलम्भ शृङ्गार का उपस्कार करती है।

(इस प्रसङ्ग में उक्त उदाहरण मे विप्रलम्भ ही व्यङ्ग्य है, स्मृति भाव अथवा त्रास एव औत्सुक्य की भावसन्धि नही, यह सिद्ध किया गया है। सिद्धान्त पक्ष से सम्बद्ध न होने के कारण यहाँ नहीं दिया जा रहा है। इसके अतिरिक्त अन्य अनेक पद्यों मे भी उपमालङ्कार की सिद्धि की है।)[५]

मम्मट का मत

मम्मट का लक्षण है 'साधर्म्यमुपमा भेदे'[६] अर्थात् भिन्न होने पर भी दो पदार्थों मे साधर्म्य होना उपमा है।

---

३. रस, पृ. १६०
४. वै. परि. ब–६
५. रस. पृ. १६०
६. का प्र. पृ. ३३५

पण्डितराजकृत मम्मट के मत का खण्डन

(१) इस लक्षण की प्रौचित्ती इस कारण व्याहत है क्योंकि व्यतिरेक में रहने वाले सादृश्य में भी इसकी सङ्गति हो जाती है। यदि उस 'अतिव्याप्ति को निवृत्त करने के लिए यह कहें कि जो साधर्म्य साधर्म्य-पर्यवसायी हो वही उपमा होता है तो भी ठीक नहीं है क्योंकि तब अनन्वय में रहने वाला साधर्म्य साधर्म्यपर्यवसायी होने से ही निवृत्त हो जाएगा और 'भेदे' विशेषण व्यर्थ हो जाएगा। 'भेद' विशेषण की सार्थकता तो इसीलिए थी कि वह अनन्वय का वारण करता था जिसमें दो भिन्न पदार्थों का सादृश्य वर्णित नहीं होता अपितु एक ही वस्तु का उसी से सादृश्य वर्णित रहता है।

शोभाकर मित्र का लक्षण

शोभाकर मित्र का अभिमत यह लक्षण है—'प्रसिद्धगुणेनोपमानाप्रसिद्धगुणस्योपमेयस्य सादृश्यमुपमा।'[७] अर्थात् प्रसिद्ध गुण वाले उपमान के साथ प्रसिद्ध गुण वाले उपमेय की समानता ही उपमा है।

पण्डितराजकृत खण्डन

पण्डितराज ने इस लक्षण को भी अनुचित कहा है क्योंकि श्लेषमूलक उपमा में इसकी अव्याप्ति है। श्लेषमूलक उपमा में तादृश शब्द ही समान धर्मरूप होता है और वह प्रसिद्ध नहीं होता अपितु कवि-कल्पित होता है। अतः इस प्रकार का सादृश्य उक्त लक्षण से सङ्गृहीत नहीं होता।

विद्यानाथ का लक्षण

इसी प्रकार विद्यानाथ का अभिमत उपमा का यह लक्षण—

"स्वतःसिद्धेन भिन्नेन सम्मतेन च धर्मतः।
साम्यमन्येन वर्ण्यस्य वाच्यं चेदेकदोपमा॥"[८]

(अर्थात् कवि के द्वारा अकल्पित अर्थात् स्वयंसिद्ध, उपमेय से भिन्न, कविसमाज में प्रसिद्ध किसी उपमान के साथ, समान धर्म के आधार पर उपमेय का साम्य यदि विवक्षित (वाच्य) हो तो उपमा होती है) भी परास्त हो जाता है क्योंकि इस लक्षण की अतिव्याप्ति व्यतिरेक में रहने वाले सादृश्य में हो जाती है। व्यतिरेक में भी जो सादृश्य रहता है वह उक्त विशेषणों से युक्त होता है अतः उपमालङ्कार का विषय हो जाएगा।

प्राचीन आलङ्कारिक का मत

एक अन्य प्राचीन आलङ्कारिक के द्वारा निर्मित लक्षण भी अनुचित सिद्ध किया है। वह लक्षण इस प्रकार है—

७. अ. र. पृ. ६
८. प्र. रु. पृ. २४५

'उपमानोपमेयत्वयोग्ययोरर्थयोर्द्वयोः ।
हृद्यं साधर्म्यमुपमेत्युच्यते काव्यवेदिभिः ।।'[9]

अर्थात् उपमान और उपमेय होने योग्य दो अर्थों का जो आह्लादकारी (सुन्दर) साधर्म्य है वह उपमा है ।

पण्डितराजकृत खण्डन

(१) इस लक्षण का अनौचित्य इस कारण है कि इसमे 'हृद्यता' मात्र कह देने से ही अभीष्ट अर्थ प्राप्त हो जाता है अतः तदतिरिक्त विशेषणो के देने से कोई लाभ नही है ।

दीक्षिताभिमत लक्षण

अप्पयदीक्षित के द्वारा दिया गया उपमा का लक्षण यह है —

'उपमितिक्रियानिष्पत्तिमत्सादृश्यवर्णनमुपमा ।
स्वनिषेधापर्यवसायि सादृश्यवर्णनमुपमा ।।
इति द्विविधमप्येतदुपमासामान्यलक्षणम् ।'[10]

अर्थात् ऐसा सादृश्य वर्णन जो उपमिति-रूप क्रिया को निष्पन्न करता हो (औपम्य की स्थिति बनाता हो) उपमा है अथवा अपने ही निषेध मे (सादृश्य के निषेध मे) जिसका पर्यवसान न होता हो ऐसा सादृश्य वर्णन उपमा है ।–यह दोनो ही उपमा सामान्य के दो लक्षण हैं । (एक ही वस्तु का द्विधा लक्षण है, कोई भी स्वीकार किया जा सकता है ।) अप्पयदीक्षित कहते हैं कि इसी मे यदि अदुष्ट और अव्यङ्ग्यत्व विशेषण जोड दिया जाय तो यही उपमा अलङ्कार का लक्षण हो जायेगा । ('अलङ्कारभूतोपमालक्षणं त्वेतदेवादुष्टाव्यङ्ग्यत्वविशेषितम्' ।[11]) अर्थात् उपमालङ्कार का निष्कृष्ट लक्षण यह हुआ कि ऐसा सादृश्य-वर्णन जो उपमिति की स्थिति बनाता हो तथा अव्यङ्ग्य और दोषहीन हो, उपमालङ्कार है अथवा जो सादृश्यवर्णन सादृश्य निषेध मे पर्यवसित न होता हो, व्यङ्ग्य न हो और दोषयुक्त न हो वह उपमालङ्कार है । इसमे मुख्य विशेष्य है–सादृश्यवर्णनम्, विशेषण है–उपमितिक्रिया-निष्पत्तिमत्, स्वनिषेधापर्यवसायि, अव्यङ्ग्य और अदुष्ट ।

पण्डितराजकृत खण्डन

पण्डितराज इस पर आपत्ति करते हैं कि सादृश्य-वर्णन को उपमालङ्कार नही कह सकते ।

(१) प्रथम कारण तो यह है कि उपमालङ्कार है अर्थालङ्कार अर्थात् अर्थकृत एक चमत्कृति । सादृश्य वर्णन है एक विशेष प्रकार का शब्द जो चमत्कारी है । अतएव जो तत्त्व अर्थात्मक है उसका लक्षण शब्दात्मक बनाना उचित नहीं ।

---

९. रस. पृ १६२
१०. चि. मी. पृ २०
११. वही ,,

(२) यदि उसे शब्दात्मक बनाया भी जाय तो उसका विशेषण 'अव्यङ्ग्य' देना व्यर्थ है क्योंकि शब्द कभी व्यङ्ग्य नहीं होता, अर्थ ही व्यङ्ग्य होता है। वर्णन पद का तात्पर्य यदि 'वर्णनविषयीभूत' लिया जाय, शब्दात्मक न माना जाय, तो भी वह अर्थात्मक तो नहीं हो पाता विषयात्मक ही रहता है। अत: सादृश्य वर्णन पद का विलक्षण शब्द अथवा वर्णनविषयीभूत-इन दोनो मे से कोई भी अर्थ लेने पर वह उपमालङ्कार की लक्षणकोटि मे नहीं आ सकता क्योंकि वह अर्थात्मक नहीं है। अर्थात्मक न होने से 'अव्यङ्ग्य' विशेषण देना भी व्यर्थ है क्योंकि जो अर्थ तक की कोटि मे नही आ पाता उसे फिर व्यङ्ग्य या अव्यङ्ग्य कहना तो नितान्त अनुचित है।

(३) इसके अतिरिक्त केवल यह कहने पर, कि अव्यङ्ग्य और अदुष्ट सादृश्य जब वर्णन का विषय हो तो उपमालङ्कार होता है-'यथा गौस्तथा गवय.' इसमे भी उपामालङ्कार का लक्षण लग जाता है क्योंकि गौ और गवय का जो सादृश्य वर्णित है वह न व्यङ्ग्य है न दुष्ट। अत: अतिव्याप्ति होती है।

(४) 'उपमितिक्रियानिष्पत्तिमत्' यह विशेषण भी व्यर्थ है क्योंकि उपमा मे ऐसा सादृश्य होता ही नही जो औपम्य का निष्पादक न हो। अर्थात् उपमा कभी भी उस स्थान पर नहीं होती जहाँ सादृश्य के आधार पर उपमेयोपमान मे उपमा न सिद्ध होती हो क्योंकि ऐसा कोई स्थल चमत्कारी ही नहीं होता। अलङ्कार वहीं होगा जहाँ चमत्कार होगा। चमत्कार के अभाव में वहाँ किसी अलङ्कार का व्यपदेश नहीं हो सकता। अत: जब यह अनिवार्य ही हो गया कि चमत्कारपूर्ण सादृश्य ही उपमालङ्कार होता है एवं च वह चमत्कारी तभी होता है जब उपमिति की सिद्धि करे तो उस सादृश्य को 'उपमितिक्रियानिष्पत्तिमत्' कहना भी व्यर्थ है। आपाततः प्रतीत होने वाला, अनिष्पन्न सादृश्य चमत्कृत्याधायक नहीं होता।

(५) स्वनिषेधापर्यवसायि-इसी प्रकार उपमा के द्वितीय लक्षण मे जो 'स्वनिषेधापर्यवसायि' विशेषण दिया है, वह भी अनुचित सिद्ध होता है क्योंकि व्यतिरेक और अनन्वय में क्रमशः उपमेयोपमान के सादृश्य का निषेध तथा उपमेय के सादृश्य का सर्वथा निषेध ही चमत्कृति का कारण होता है न कि उपमेयोपमान का औपम्य।

(इस प्रकार पण्डितराज ने अप्पयदीक्षित के लक्षण में दिये गये सादृश्य वर्णन, उपमितिक्रियानिष्पत्तिमत्, अव्यङ्ग्य और निषेधापर्यवसायि ये सभी विशेष्य और विशेषण असङ्गत सिद्ध किये।) इसके पश्चात् एक और दोष देते हैं—

(६) लक्षण की अतिव्याप्ति—'स्तनाभोगे पतन्भाति कपोलात्कुटिलोऽलक।
शशाङ्कबिम्बतो मेरौ लम्बमान इवोरगः।।'[१२]

१२. रस. पृ. १६१

उक्त लक्षण की इस स्थल पर अतिव्याप्ति होती है। अप्पयदीक्षित इसमें कल्पितोपमा नामक अलङ्कार मानते हैं परन्तु पण्डितराज कहते है कि अप्पयदीक्षित का ही उपमा का लक्षण यहाँ व्याप्त होता है। क्योकि यहाँ पर उपमा वाच्य है तथा वही प्रधान है। उस वाक्यार्थीभूत उपमा मे वे सभी विशेषण सङ्गत होते है जो अप्पय ने उपमा के लक्षण मे दिये है अर्थात् अव्यङ्ग्य भी है, उपमिति का निष्पादक भी है, दोष रहित भी है, स्वनिषेधापर्यवसायि भी है। परन्तु वास्तव मे यहाँ उपमालङ्कार नही है क्योकि अलङ्कार अप्रधान एव उपस्कारक होता है जबकि यहाँ उपमा प्रधान और अनुपस्कारिका है। यहाँ उपमा लक्ष्य (लक्षण की विषय) है—ऐसा नही कह सकते क्योकि फिर प्रधानरूप से व्यङ्ग्य होने वाली ध्वनिरूप उपमा का निराकरण नही हो सकेगा, वहाँ भी उपमालङ्कार हो जायेगा। प्रस्तुत स्थल मे उपमानोपमेय के सादृश्य रूप उपमा से अतिरिक्त कोई वाक्यार्थ है ही नही कि जिसे उपमा अलङ्कृत करे।

(७) सादृश्य—इसके अतिरिक्त लक्षण मे दिया गया 'सादृश्य' पद भी व्यर्थ है क्योकि उपमिति-क्रिया का निष्पादक सादृश्य ही हो सकता है अन्य कुछ नही। जब उपमिति क्रिया निष्पत्तिमत् कहने से ही सादृश्य का बोध हो जाता है तो पुन: उसे सादृश्य पद से कहना ठीक नहीं है। केवल 'उपमितिक्रियानिष्पत्तिमद्वर्णनमुपमा' इतना कहने से ही अभीष्ट अर्थ की प्राप्ति (अवगति) हो जाती है।

इस प्रकार अपने लक्षण का निरूपण और अन्य लक्षणो का अनौचित्य प्रदर्शित कर पण्डितराज ने उपमा का स्वरूप एव लक्षण सुस्थिर किया।

उपमा के भेद

पण्डितराज का मत

भेद निरूपण के अन्तर्गत मुख्य रूप से मम्मट एव अप्पयदीक्षितकृत भेदो का ही प्रतिपादन किया है। तादृश सम्पूर्ण प्रतिपादन से यही प्रतीत होता है कि पण्डितराज की दृष्टि मे भेद अधिक महत्त्वपूर्ण नहीं थे क्योकि उन भेदो का कोई विशेष चमत्कार उपमा मे नही रहता। सार अलङ्कार के प्रकरण में तो यह स्पष्ट रूप से ही कह दिया गया है कि उपमा के पूर्णत्व या लुप्तत्व आदि विभिन्न भेदो का चमत्कार नही है केवल उपमात्व ही चमत्कारी है। विशेष रुचि एव मतवैभिन्य न होते हुए भी मम्मट कृत ६ प्रकार की पूर्णोपमा एवं १९ प्रकार की लुप्तोपमा को सोदाहरण स्पष्ट किया गया है। तत्पश्चात् अप्पयदीक्षित के द्वारा माने गये उन अतिरिक्त भेदों का भी उल्लेख किया है जो मम्मट के मत में नहीं गिने गये थे। उन सब भेदों को स्पष्ट करने के पश्चात् पण्डितराज ने निजी दृष्टि से उनके अन्य विभिन्न दृष्टियों से पुनः भेद प्रदर्शित किये हैं।

उपस्कारकत्व के आधार पर उपमा के भेद

सङ्कलित रूप से मम्मटानुसार उपमा के २५ भेद हैं तथा अप्पयदीक्षित के अनुसार ३२ भेद है। पुन: उन भेदों को उपमा अलङ्कार की उपस्कारकता की दृष्टि से पञ्चधा विभक्त किया जा सकता है।

उपस्कारकत्व के आधार पर उपमा के भेद—

उपमा

(१) प्रथम, जहाँ उपमालङ्कार किसी ऐसे वस्तु का उपस्कार करे जो प्रधान रूप से व्यङ्ग्य हो।

(२) द्वितीय, जहाँ वह प्रधान रूप से व्यक्त होने वाले अलङ्कारान्तर का उपस्कार करें।

(३) तृतीय, जब वह प्रधान रूप से व्यक्त होने वाले किसी रस का उपस्कार करे।

(४) चतुर्थ, जब किसी वाच्य वस्तु का उपस्कार करे।

(४) पञ्चम, जहाँ किसी वाच्य अलङ्कार का उपस्कार करे।

उक्त पाँच भेदों के अनुगुणन से क्रमश: उक्त २५ और ३२ भेद १२५ और १६० हो जाते हैं।

पाँचों प्रकार के उदाहरण इस प्रकार हैं :—

(१) व्यङ्ग्य वस्तु की उपस्कारिका जैसे—

> अविरतपरोपकरणव्यग्रीभवदमलचेतसां महताम्।
> आपातकाटवानि स्फुरन्ति वचनानि भेषजानीव॥[13]

इसमे जो वस्तु व्यङ्ग्य है वह यह कि जो मनुष्य अर्थ समझकर तादृश वचनों का सेवन करता है वह बिना किसी क्षोभ के अन्त मे सुख प्राप्त करता है। 'भेषजानीव' पद से वाच्य होने वाली उपमा इसी व्यङ्ग्यार्थ का उपस्कार करती है।

(२) व्यङ्ग्यालङ्कार की उपस्कारिका उपमा जैसे—

> अङ्कायमानमलिके मृगनाभिपङ्कम्,
> पङ्केरुहाक्षि वदनं तव वीक्ष्य बिभ्रत्।

---

१३. रस. पृ. १७२

उल्लासपल्लवितकोमलपक्ष्मूला—
श्चञ्चूपुट चपलयन्ति चकोरपोता. ।।[१४]

इसमे प्रधान रूप से व्यङ्ग्य होने वाला अलङ्कार है भ्रान्तिमान् । उस अलङ्कार का उपपादक है कस्तूरी-द्रव मे युक्त मुख से सकलङ्क चन्द्र का सादृश्य। अतः उपमा से उस व्यङ्ग्य अलङ्कार का उपस्कार होता है ।

(३) रस की उपस्कारिका उपमा 'दलदरविन्द–' इत्यादि मे पहले कही जा चुकी है । (इसी प्रकार कुछ अन्य उदाहरण भी दिये गये है ।

(४) वाच्य वस्तु की उपस्कारिका—

अमृतद्रवमाधुरीभृत सुखयन्ति श्रवसी सखे गिर· ।
नयने शिशिरीकरोतु मे शरदिन्दुप्रतिम मुख तव ।।[१५]

इसमे नयनशिशिरीकरण-रूप वाच्यवस्तु की उपस्कारिका है शरत्कालीन चन्द्र से दी गयी मुख की उपमा ।

(५) वाच्यालङ्कार की उपस्कारिका :—

शिशिरेण यथा सरोरुह दिवसेनामृतरश्मिमण्डलम् ।
न मनागपि तन्वि शोभते तव रोषेण तथेदमाननम् ।।[१६]

इसमे दीपक अलङ्कार वाच्य है एवं उसकी उपस्कारिका है यथा आदि पद से अभिहित उपमा ।

रसादि वाच्य होते ही नही अतः वाच्यरस की उपस्कारिका उपमा का कोई स्थल सम्भव नहीं है ।

उपर्युक्त उदाहरणों मे से द्वितीय और पञ्चम उदाहरण मे एक अलङ्कार दूसरे अलङ्कार का उपस्कारक है । अर्थात् एक अलङ्कार उपस्कारक है, दूसरा उपस्कार्य । अलङ्कार सामान्य का लक्षण करते हुए कहा गया है कि जो उपस्कारक होता है वह अलङ्कार होता है अत· यहाँ विरोध होता है कि उपस्कार्य होने पर वह अलङ्कार कैसे होगा । उस विरोध का परिहार इस प्रकार करना चाहिये कि जिस प्रकार ताटङ्कादि कर्णाभरण कामिनी के कर्णों के प्रति उपस्कारक होते हैं परन्तु आपण (बाजार) में बिकते समय वही अन्य रत्नादि के प्रति अलङ्कार्य हो जाते हैं ठीक उसी प्रकार रसादि के सान्निध्य मे जो उपमादि अलङ्कार अलङ्कार रहते है अर्थात् उपस्कारक रहते हैं वही किसी अन्य अप्रधान अलङ्कार के प्रति अलङ्कार्य अर्थात् उपस्कार्य हो जाते हैं । अतः उक्त आशङ्का आपत्तिजनक नही है । अलङ्कार्य होने पर भी वह अलङ्कार इसलिये कहलाता है क्योंकि उसमे उपस्कारकता (उपस्कार करने की शक्ति) है ।

---

१४. रस. पृ १७२
१५. रस. पृ. १७३
१६. रस. पृ १७३

यह उपस्करण भी द्विधा होता है - साक्षात् एव परम्परया । अर्थात् कही तो उपमालङ्कार साक्षात् मुख्यार्थ का उपस्कार करती है और कही वह मुख्यार्थ के उपस्कारक का उपस्कार करके परम्परया मुख्यार्थ की उपस्कारिका होती है । साक्षादु पस्कारिणी उपमा के उदाहरण के लिये उपर्युक्त सभी पद्य लिए जा सकते हैं ।

परम्परया उपस्कारिणी उपमा का उदाहरण यह है :

नर्दान्त मददन्तिनः परिलसन्ति वाजिव्रजा
पठन्ति विरुदावलीमहितमन्दिरे बन्दिनः ।
इद तदवधि प्रभो यदवधि प्रवृद्धा न ते
युगान्तदहनोपमा नयनकोणशोणद्युतिः ।।[17]

इसमे प्रधान है रतिभाव (राजविषयक रति) उसका उपस्कारक है 'जैसे ही आपका क्रोध उत्पन्न होता है वैसे ही शत्रुओ की सम्पत्ति नष्ट हो जाती है', इत्याकारक वाच्य अर्थ, जो वस्तु रूप है, एव उस अर्थ की उपस्कारिका है नयन की रक्तिमा और प्रलयाग्नि की उपमा ।

साधारण धर्म के आधार पर पुनः षड्विध भेद

उक्त भेद पुन साधारण धर्म के वैभिन्य से षड्धा विभक्त हो सकते है -

साधारण धर्म के आधार पर उपमा के भेद

उपमा

अनुगामिधर्मा-श्रित	केवलबिम्ब-प्रतिबिम्बभाव युक्त धर्माधा०	बिम्बप्रति-बिम्बभाव युक्त अनु-गामि धर्माधा.	वस्तुप्रतिवस्तु-भाव से पोषित बिम्बप्रतिबिम्ब-भावयुक्त धर्माधा	आक्षिप्त धर्माधा०	शब्दात्मक धर्माधा०

(१) जहाँ वह धर्म अनुगामी हो ।
(२) जहाँ वह धर्म केवल बिम्बप्रतिबिम्बभाव रूप हो ।
(३) जहाँ वह अनुगामी एव बिम्बप्रतिबिम्बभाव से मिश्रित हो ।
(४) वस्तु-प्रतिवस्तुभाव से पोषित बिम्बप्रतिबिम्बभाव से युक्त हो ।
(५) जहाँ वह आक्षिप्त होता हो ।
(६) जहाँ वह शब्दात्मक हो ।

अनुगामी धर्म पर आधारित उपमा का उदाहरण यह है—

शरदिन्दुरिवाह्लादजनको रघुनन्दनः ।
वनस्रजा विभाति स्म सेन्द्रचाप इवाम्बुदः ।।[18]

---

१७. रस. पृ. १७१
१८. रस. पृ. १७४

इसमे पूर्वार्ध मे एक ही बार साधारण धर्म का—आह्लादजनकत्व का—कथन हुआ है जिसका उत्तरार्ध मे भी अन्वय होता है । अत वह अनुगामी धर्म है ।

बिम्बप्रतिबिम्बात्मक धर्म का उदाहरण, जैसे—

कोमलातपशोणाभ्रसन्ध्याकालसहोदर ।
काषायवसनो याति कुङ्कुमालेपनो यति ।।[19]

इसी पद्य का उत्तरार्ध दोनो प्रकारो मे मिश्रित तृतीय प्रकार के धर्म का उदाहरण है । तृतीय प्रकार के भी तीन भेद है—जहाँ विशेषण मात्र ही बिम्बप्रतिबिम्बभाव हो वहाँ प्रथम, जहाँ विशेष्यमात्र मे बिम्बप्रतिबिम्बभाव हो वहाँ द्वितीय, एव जहाँ दोनो मे बिम्बप्रतिबिम्ब भाव हो वहाँ तृतीय भेद होता है ।

इस प्रकार इन तीनो उपभेदो को तथा शेष तीन प्रकार के धर्मों मे से भी प्रत्येक को रसगङ्गाधर मे सोदाहरण स्पष्ट किया गया है । (विशेष प्रयोजन के अभाव मे वह सब यहाँ अनुद्धृत है ।)

उपर्युक्त छहो प्रकार के धर्मों का परस्पर मिश्रण होने पर अन्य भेद भी हो सकते है ।

इसके अतिरिक्त यह साधारण धर्म कहीं वाच्य होता है, कही लक्ष्य और कही व्यङ्ग्य । वाच्य एव व्यङ्ग्यधर्मों के स्थल उपर्युक्त उदाहरणो मे प्रदर्शित हो चुके है ।[20] लक्ष्य साधारण धर्म का उदाहरण यह है :—

सर्प इव शान्तमूर्ति , श्वेवाय मानपरिपूर्ण ।
क्षीब इव सावधानो मर्कट इव निष्क्रियो नितराम् ।।[21]

इसमे सर्पादि उपमानवाचक पदो के बल से शान्तमूर्ति आदि पदो से अशान्तमूर्ति आदि अर्थों की लक्षणा हो रही है अत. अशान्तत्व आदि धर्मों का प्रतिपादन लक्षणा से होता है ।

साधारण धर्म के भेद

साधारण धर्म पुन. तीन प्रकार का होता है—उपादेय, अनुपादेय और उपादेयानुपादेय । जिस साधारण धर्म को शब्दत. कहने की नियमत· अपेक्षा होती हो वह उपादेय होता है । जैसे—'नीरदा इव ते भान्ति बलाकाराजिता भटा ।' इत्यादि 'बलाकाराजिता' रूप श्लिष्ट शब्दात्मक धर्म (बलाका से सुशोभित, बल और आकार मे अजित) । इस प्रकार के धर्मों की प्रसिद्धि न होने से उनका कथन आवश्यक होता है, उसके अभाव मे उपमा और उपमान मे सादृश्य की प्रतीति सुकर नही होगी ।[22]

---

१९. रस. पृ. १५९
२०. रस. पृ. १७२–१७३
२१. रस. पृ. १७८
२२. रस. पृ. २२३

जो साधारण धर्म प्रसिद्ध हो एवं शब्दतः कथित न होने पर भी जिनका बोध नियमत हो ही जाता है वह अनुपादेय धर्म होते हैं। जैसे 'अरविन्दमिव मुखम्' इत्यादि मे सुन्दरत्व धर्म का उपादान आवश्यक नहीं है क्योंकि अरविन्द और मुख मे सौन्दर्य के अतिरिक्त कोई साधर्म्य प्रसिद्ध ही नही है। अतः यह धर्म अनुपादेय है।[२३]

उपादेयानुपादेय धर्म का उदाहरण है 'शङ्खवत्पाण्डुरच्छवि।' इसमे पाण्डुरत्व धर्म उपादेयानुपादेय है। 'शङ्खवत्' पद से सदैव श्वेतत्वरूपधर्म की ही प्रतीति होगी अन्य किसी वर्ण की नही, अत इस दृष्टि से उसका कथन अनुचित है। परन्तु शङ्ख और छवि मे श्वेतत्व धर्म ही साधारण धर्म के रूप मे प्रसिद्ध हो ऐसा नही है। वह सादृश्य वर्तुलत्वादि अन्य धर्मों के आधार पर भी हो सकता है। अतः किस धर्म के आधार पर सादृश्य का वर्णन किया गया है इसे स्पष्ट करने के लिए 'पाण्डुरत्व' धर्म का उपादान आवश्यक है। अत. पाण्डुरत्व धर्म उपादेयानुपादेय है।[२४]

इस प्रकार साधारण धर्म तीन प्रकार का होता है।

प्रकारान्तर से उपमा के अष्टधा भेद

पुन: एक दूसरी दृष्टि से इसके आठ भेद किये जा सकते है। जिस प्रकार रूपक अलङ्कार के सावयव और निरवयव के अनेक भेद होते है उसी प्रकार उपमा मे भी वह भेद होते हैं -

२३. रस. पृ. २२१
२४. रस. पृ. २२१

आठो भेद इस प्रकार हैं :—(१) केवल निरवयवा

(२) मालारूपनिरवयवा

(३) समस्तवस्तुविषयसावयवा

(४) एकदेशविर्वतिसावयवा

(५) केवलश्लिष्टपरम्परिता

(६) मालारूपश्लिष्टपरम्परिता

(७) केवलशुद्धपरम्परिता

(८) मालारूपशुद्धपरम्परिता

केवल निरवयवा मे केवल का तात्पर्य है माला के अन्तर्गत न होना और निरवयवा का तात्पर्य है कि अन्य उपमा की अपेक्षा न करना । इसके उदाहरण उपर्युक्त पद्यो में से अनेक पद्य हो सकते हैं । द्वितीय भेद का उदाहरण यह है—

आह्लादिनी नयनयो रुचिरैन्दवीव
कण्ठे कृताति शिशिराम्बुजमालिकेव ।
आनन्दिनी हृदिगता रसभावनेव
सा नैव विस्मृतिपथं मम जातु याति ।।[२५]

इसमें एक ही उपमेय की अनेक उपमानों के साथ उपमा दी गई है अत. मालारूपा है परन्तु किसी भी उपमा को अन्य उपमा की अपेक्षा नही है अतः निरवयवा है । एवं यहाँ मालारूपनिरवयवा उपमा का उदाहरण है ।

इसी प्रकार अन्य उपमा के भेदो की भी ऊहा कर लेनी चाहिये । (पण्डितराज ने प्रत्येक भेद का उदाहरण दिया है ।)

इन सब भेदों को यदि मम्मटादि के अनुसार प्रतिपादित सम्पूर्ण भेदो के साथ मिला दिया जाए तो असंख्य भेद हो जायेंगे । निष्कर्ष यह है कि इस प्रकार सूक्ष्म दृष्टि से उपमा के इतने अधिक भेद हो सकते हैं कि जिनकी इयत्ता नहीं है ।

पुनश्च

उपमा का वाच्यत्व, लक्ष्यत्व व व्यङ्ग्यत्व से त्रिधाविभाजन

यदि इव, यथा आदि शब्दों का साक्षात् उपादान होता है तो उपमालङ्कार वाच्य होता है । इन पदो के अभाव में वह व्यङ्ग्य या लक्ष्य होता है । वाच्य उपमा का उदाहरण ऊपर अनेकशः आ ही चुका है । लक्ष्योपमा का उदाहरण यह है—

नीवीं नियम्य शिथिलामुषसि प्रकाश-
मालोक्य वारिजदृशः शयनं जिहासो. ।
नैवावरोहति कदापि च मानसान्मे
नाभेर्निभा सरसिजोदरसोदरायाः ।।[२६]

इसमें 'सोदरा' पद का मुख्यार्थ—'एक ही उदर से उत्पन्न'—बाधित है । अतः उस पद की लक्षणा से सदृशरूप अर्थ की अवगति होती है । उस लक्षणा का प्रयोजन है 'शोभा मे समान भाग ग्रहण करना' इत्याकारक अर्थ ।

उपमालङ्कार व्यङ्ग्य—

अद्वितीयं रुचात्मानं मत्वा किं चन्द्र हृष्यसि ।
भूमण्डलमिदं मूढ केन वा विनिभालितम् ।।[२७]

---

२५. रस. पृ. १८२
२६. रस. पृ. १७६
२७. रस. पृ. १७६

इस पद्य मे 'मेरी प्रिया का मुख, जो कभी बाहर न निकलने के कारण तेरे द्वारा भी नही देखा गया, तेरे समान है' यह उपमारूप अर्थ व्यङ्ग्य होता है एव उस उपमा से उपस्कार हो रहा है उस असूया का जो वक्तृनिष्ठ है एव ध्वनित हो रही है।

इत्थम्प्रकारेण पण्डितराज ने विभिन्न दृष्टियो से उपमालङ्कार के विभिन्न भेदो का निरूपण किया है।

मम्मट का मत

सर्वप्रथम उपमा के दो प्रकार होते हैं—पूर्णा और लुप्ता। (जहाँ उपमा के चारो अङ्ग–उपमान, उपमेय, धर्म, वाचकपद–उपस्थित हो वहाँ पूर्णा उपमा तथा जहाँ इनमे से किसी का भी लोप (अनुपादान) हो वहाँ वह लुप्ता उपमा होती है।)

तदनुसार उपमा के १९ प्रकार होगे—

उपमा
पूर्णोपमा
लुप्तोपमा
श्रौती
आर्थी
उपमान लुप्ता
धर्मलुप्ता
वाचक-लुप्ता
धर्मोपमान लुप्ता
वाचकधर्म-लुप्ता
वाचकोपमेय-लुप्ता (१८)
धर्मोपमान वाचकलुप्ता
वाक्यगा (१)
समासगा (२)
तद्धितगा (३)
वाक्यगा (४)
समासगा (५)
तद्धितगा (६)
वाक्यगा (१)
समासगा (२)
वाक्य-गता (१४)
समास-गता (१५)
क्विब-गता (१६)
समास-गता (१८)
समासगता (१९)
वाक्यगा
समासगा
तद्धितगा
आर्थी (७)
श्रौती (३)
आर्थी (४)
श्रौती (५)
आर्थी (६)
समासगता (८)
कर्मक्यज्गता (९)
आधार क्यज्गता (१०)
क्यङ्गता (११)
कर्मणमुल्गता (१२)
कर्तृणमुल्गता (१३)
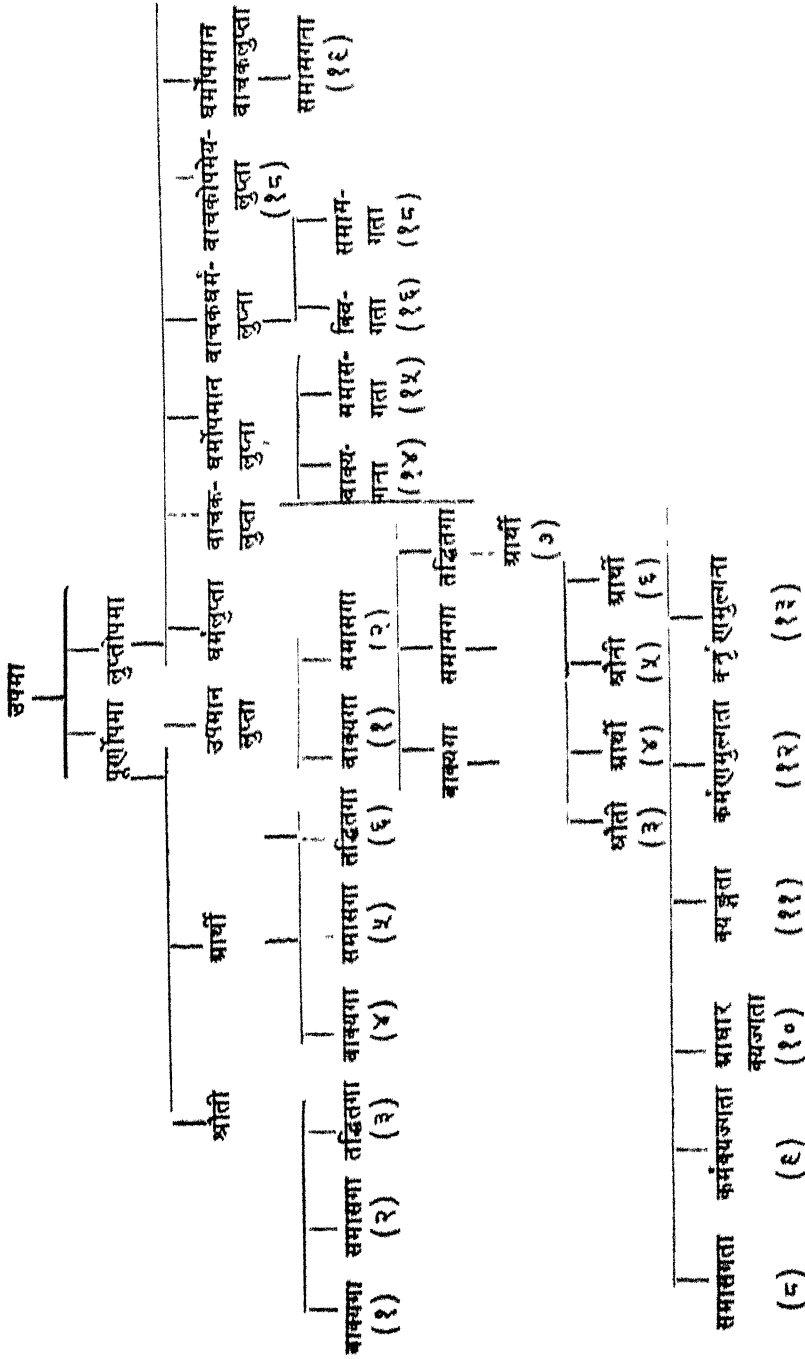
पूर्णोपमा—पूर्णोपमा के दो भेद होते है—श्रौती और आर्थी । ये दोनो भेद भी तीन-तीन प्रकार के होते है—वाक्यगा (वाक्य मे रहने वाली), समासगा (समास मे रहने वाली) तथा तद्धितगा (तद्धित प्रत्ययो मे रहने वाली) अत सकल रूप से पूर्णोपमा के छह भेद होते हैं।

लुप्तोपमा—लुप्तोपमा सात प्रकार की होती है—उपमानलुप्ता, धर्मलुप्ता, वाचकलुप्ता, धर्मोपमानलुप्ता, वाचकधर्मलुप्ता, वाचकोपमेयलुप्ता, तथा धर्मोपमान-वाचकलुप्ता ।

इनमे से उपमानलुप्ता दो प्रकार की होती है—वाक्यगा और समासगा ।

धर्मलुप्ता पाँच प्रकार की होती है। श्रौती वाक्यगा, आर्थी वाक्यगा, श्रौती समासगा, आर्थी समासगा, और आर्थी तद्धितगा ।

वाचकलुप्ता के समासगता, कर्मक्यज्गता, आधारक्यज्गता, क्यङ्गता, कर्मण-मुल्गता, कर्तृणमुल्गता—ये छः प्रकार होते है ।

धर्मोपमानलुप्ता दो प्रकार की होती है—वाक्यगता और समासगता ।

वाचकधर्मलुप्ता क्विगता और समासगता दो प्रकार की होती है ।

वाचकोपमेयलुप्ता एक ही प्रकार की होती है ।

धर्मोपमानवाचकलुप्ता केवल समासगता ही होती है ।

इस प्रकार सकलरूप से पूर्णोपमा ६ प्रकार की तथा लुप्तोपमा १९ प्रकार की होती है ।

इन सभी भेदो के उदाहरण क्रमशः इस प्रकार हैं—

(१) पूर्णा श्रौती वाक्यगा उपमा—

> ग्रीष्मचण्डकरमण्डलभीष्मज्वालसमरणातापितमूर्ते ।
> प्रावृषेण्य इव वारिधरो मे वेदना हरतु वृष्णिवरेण्य ।।[२८]

इस पद्य मे उपमान-वारिधर और उपमेय-भगवान् तथा साधारण धर्म-वेदना को दूर करना, तथा वाचक शब्द 'इव' इन सबके विद्यमान होने से पूर्णोपमा है और उपमा-वाचक इव शब्द का कथन होने से श्रौती है ।

(२) पूर्णा श्रौती समासगा—

> हरिचरणकमलनखगणकिरणश्रेणीव निर्मला नितराम् ।
> शिशिरयतु लोचन मे देवव्रतपुत्रिणी देवी ।।[२९]

इस पद्य में 'किरणश्रेणी' पद के साथ 'इव' पद का समास हुआ है । अत यह उपमा समासगता है ।

२८. रस. पृ. १६३
२९. रस. पृ. १६४

(३) पूर्णा श्रौती तद्धितगा—

निखिलजगन्महनीया यस्याभा नवपयोधरवत् ।
अम्बुजवद्विपुलतरे नयने तद्ब्रह्म सश्रये सगुणम् ।।[३०]

इसमे पूर्वार्द्ध मे 'वति' (पयोधरवत्)प्रत्यय का विधान 'तत्र तस्येव' इस पाणिनि सूत्र के अनुसार सादृश्य के अर्थ मे हुआ है । अतः श्रौती है ।

(४) पूर्णोपमा आर्थी वाक्यगा—

प्राणापहरणेनासि तुल्यो हालाहलेन मे ।
शशाङ्क केन मुग्धेन सुधांशुरिति भाषितः ।।[३१]

इसमे हलाहल उपमान, सुधांशु उपमेय, प्राणापहरणकर्तृत्व समानधर्म और तुल्यः वाचक शब्द है अर्थात् पूर्णा उपमा है । 'तुल्यः' पद सादृश्य का वाचक नहीं है, बोधक है अतः आर्थी उपमा है ।

(५) पूर्णा आर्थी समासगा—

आनन्दनेन लोकानामातापहरणेन च ।
कलाधरतया चापि राजन्निन्दूपमो भवान् ।।[३२]

'इन्दूपम' पद समस्त पद है जिससे उपमा व्यक्त हो रही है अत. समासगा उपमा है ।

(६) पूर्णा आर्थी तद्धितगा का उदाहरण वही है जो श्रौती तद्धितगा का है । इसके उत्तरार्द्ध मे 'अम्बुजवत्' पद मे 'वति' प्रत्यय पाणिनि के 'तेन तुल्यं क्रिया चेद्वतिः' सूत्र के अनुसार 'तुल्य' के 'सादृश्ययुक्त' अर्थ में हुआ है । अतः आर्थी उपमा है ।

(७) उपमानलुप्ता वाक्यगा—

यस्य तुलामधिरोहसि लोकोत्तरवर्णपरिमलोद्गारैः ।
कुसुमकुलतिलक चम्पक न वयं तं जातु जानीमः ।।[३३]

इसमें चम्पक उपमेय है एव उसके उपमान का लोप है अतः उपमानलुप्ता उपमा है । लोकोत्तरवर्णादि साधारण धर्म और 'तुलाम्' वाचक पद है ।

इसी को यदि 'यत्तुलामधिरोहसि' कर दिया जाय तो समासगा उपमा का उदाहरण हो जायेगा ।

इस पद्य को, उपमानाभावका सादृश्यभाव में पर्यवसान मानकर अनन्वय का उदाहरण नहीं मानना चाहिये क्योंकि 'वयं न जानीम.' से यह स्पष्ट होता है कि उपमान का नितान्त अभाव नहीं है, वह है, परन्तु हम नहीं जानते । अर्थात् अपना असर्वज्ञत्व ही उपमानाभाव का कारण है सादृश्य का अभाव नहीं ।

---

३०. रस. पृ. १६४
३१. रस. पृ. १६४
३२. वही पृ. १६४
३३. रस. पृ. १६५

(८) धर्मलुप्ता वाक्यगा श्रौती—

कलाधरस्येव कलावशिष्टा विलूनमूला लवलीलतेव ।
अशोकमूल परिपूर्णशोका सा रामयोषा चिरमध्युवास ।।[३४]

इस पद्य में वह साधारण धर्म उक्त नही है जिसके आधार पर सीता और लवलीलता का औपम्य कहा गया है । अत. धर्मलुप्ता है । इव पद के होने से श्रौती और वाक्य मे होने से वाक्यगा है ।

(६) धर्मलुप्ता वाक्यगा आर्थी—

कोपेऽपि वदन तन्वि तुल्य कोकनदेन ते ।
उत्तमाना विकारेऽपि नापैति रमणीयता ।।[३५]

इसमे भी कोकनद (रक्तकमल) एव रमणीमुख के सादृश्य का आधारभूत धर्म अनुक्त है, एवं 'तुल्यम्' पद का प्रयोग होने से आर्थी है ।

(१०) धर्मलुप्ता समासगा श्रौती आर्थी तथा तद्धितगा आर्थी—

सुधेव वाणी वसुधेव मूर्तिः सुधाकरश्रीसदृशी च कीर्तिः ।
पयोधिकल्पा मतिरासफेन्दोर्महीतलेऽन्यस्य नहीति मन्ये ।।[३६]

'सुधेव' और 'वसुधेव' मे समास होने से समासगा, इव का प्रयोग होने से श्रौती और वाणी तथा सुधा, वसुधा एव मूर्ति के साधारण धर्मों का कथन न होने से धर्मलुप्ता उपमा है । उत्तरार्ध मे 'पयोधिकल्पा' मे 'कल्पप्' प्रत्यय होने से तद्धितगा है । कल्पप् प्रत्यय ईषदसमाप्ति (थोड़ा कम होना) के अर्थ मे प्रयुक्त होता है जो एक प्रकार से सादृश्य का ही दूसरा रूप है ।

(११) वाचकलुप्ता समासगा उपमा का उदाहरण पूर्वोक्त 'दलदरविन्द-सुन्दरम्—'[३७] इत्यादि पद्य ही है । उसमें वाचक पद का अभाव एव समस्त पद से उपमा का प्रतिपादन किया है ।

(१२) कर्मधारक्यङ्गता क्यङ्गता—

मलयानिलमनलीयति मणिभवनं काननीयति क्षणत. ।
विरहेण विकलहृदया निर्जलमीनायते महिला ।।[३८]

इसमें 'अनलमिवाचरति' इस अर्थ मे अनल शब्द मे 'उपमानादाचारे' सूत्र से तथा कानन पद मे उसी सूत्र के 'अधिकरणाच्च' इस वार्तिक से क्यच् प्रत्यय हुआ

३४. रस. पृ. १६५
३५. रस. पृ. १६६
३६. रस. पृ. १६६
३७. रस. पृ. १४५
३८. रस. पृ. १६६

है। 'निर्जलमीन' शब्द मे 'कर्तुः क्यङ् सलोपश्च' इस सूत्र से क्यङ् प्रत्यय लगा है। इन प्रत्ययों के प्रयोग मे ही उपमा है।[३९] वाचक शब्द का अभाव है ही।

(१३) औपम्यवाचकलुप्ता कर्तृकर्मणमुल्गता—

निरपाय सुधापायं पयस्तव पिबन्ति ये।
जह्नुजे निर्जरावासं वसन्ति भुवि ते नराः ॥[४०]

इस पद्य मे 'सुधापायम्' का अर्थ है 'सुधा के समान' और 'निर्जरावासम्' का अर्थ है 'निर्जर (देवता) के समान'। दोनो ही पदो मे णमुल् प्रत्यय का प्रयोग हुआ है। 'उपमानात् कर्मणि च' इस सूत्र के अनुसार 'सुधापायम्' में सुधारूप उपमान कर्म के उपपद होने से और निर्जरावासम् मे निर्जर रूप कर्ता उपमान के उपपद होने से यह प्रत्यय हुआ है।[४१] इन्हीं प्रत्ययो के प्रयोग से उपमा की स्थिति है इसलिये कर्तृकर्मणमुल्गता उपमा है।

(१४) धर्मोपमानलुप्ता वाक्यगा और समासगा—

गाहितमखिलं विपिनं परितो दृष्टाश्च विटपिनः सर्वे।
सहकार न प्रपेदे मधुपेन तवापि ते समं जगति ॥[४२]

इसमे आम्रवृक्ष का तथा अन्य उपमान के मध्य साधारण धर्म का तथा उपमान का कथन नहीं हुआ है अतः धर्मोपमान लुप्ता है। यह वाक्यगा का उदाहरण है। इसी मे यदि 'भवत्समम्' कर दिया जाय तो समासगा उपमा हो जायेगी।

(१५) औपम्यवाचकधर्मलुप्ता क्विब्गता—

कुचकलशेष्वबलानामलकायामथ पयोनिधेः पुलिने।
क्षितिपाल कीर्तयस्ते हारन्ति हरन्ति हीरन्ति ॥[४३]

इसमे हार, हर और हीर शब्दों में आचार अर्थ मे क्विप् प्रत्यय हुआ, पश्चात् उसका लोप हो गया जिससे यह धातु रूप हो गये हैं। यह शब्द लक्षणा से हार विसादृश्य का बोध कराते हैं। अतः क्विब्गता उपमा है। वाचक पद और साधारण धर्म का अनुपादान होने से वाचकधर्मलुप्ता उपमा है।

(१६) औपम्य–वाचक–धर्म–लुप्ता समासगा—

शोणाधरांशुसम्भिन्नास्तन्वि ते वदनाम्बुजे।
केसरा इव काशन्ते कान्तदन्तालिकान्तयः ॥[४४]

---

३९. दे. परि, ख–७
४०. रस. पृ. १६७
४१. दे. परि. ख–७–८
४२. रस. पृ. १६७
४३. रस. पृ. १६७
४४. रस. पृ. १६७

यहाँ 'वदनाम्बुजे' पद मे समास होने से समासगा है। वाचक शब्द और साधारणधर्म का लोप होने से वाचकधर्मलुप्ता है।

(१७) औपम्यवाचकोपमेयलुप्ता क्यङ्गता, धर्मोपमानवाचकलुप्ता समासगा उपमा—'तया तिलोत्तमीयन्त्या मृगशावकचक्षुषा।

ममाय मानुषो लोको नाकलोक इवाभवत् ॥[४५]

इसमे तिलोत्तमीयन्त्या पद मे क्यच् प्रत्यय का प्रयोग हुआ है।[४६] उसका तात्पर्य होता है तिलोत्तमासादृश्य मे। अत क्यच्गता है परन्तु वाचक शब्द और स्पष्ट रूप से प्रतीत होने वाले उपमेय (आत्मरूप) का उपादान न होने से वाचकोपमेयलुप्ता उपमा है।

'मृगशावकचक्षुषा' पद मे धर्मोपमानवाचकलुप्ता उपमा है। इस पद का अर्थ है 'मृगशावक के चक्षु के समान चक्षु वाली' जिसमे न तो मृगशावक के चक्षु का—उपमान का—कथन हुआ है, न सादृश्यार्थक किसी वाचक शब्द का एव न उन दोनो में रहने वाले (उपमेय और उपमान मे रहने वाले) साधारणधर्म का ही। इस प्रसङ्ग में 'मृगशावकचक्षुषा' पद का नैयायिक और वैयाकरण दृष्टियो से विग्रह करके उसके उपमोदाहरणत्व पर विचार किया गया है।)[४७]

पण्डितराजकृत खण्डन

वाचकलुप्ता के कर्माधारक्यजगता क्यङ्गता उपमा का जो उदाहरण मम्मट ने दिया है उसी का खण्डन पण्डितराज ने किया है। काव्यप्रकाशगत वह पद्य इस प्रकार है—

पौर सुतीयति जन समरान्तरेऽसा—
वन्त पुरीयति विचित्रचरित्रचुञ्चु.।
नारीयते समरसीम्नि कृपाणपाणे—
रालोक्य तस्य चरितानि सपत्नसेना ॥[४८]

पण्डितराज कहते हैं कि यह उदाहरण वाचकलुप्ता का उदाहरण नही बन सकता क्योकि इसमे धर्म का भी लोप है। धर्म का लोप कैसे है इसके लिये तर्क देते हैं—

(१) साधारण धर्म वही होता है जो उपमा का प्रयोजक हो (उपमाप्रयोजकतावच्छेदक हो)। तादृश धर्म के वाचक शब्द का न होना ही है धर्मलुप्ता उपमा का स्वरूप। उपर्युक्त पद्य मे ऐसे किसी साधारणधर्म का कथन नही हुआ है जो उपमा का प्रयोजक हो।

४५. रस पृ. १६६
४६. दे. परि. ख-७
४७. रस. पृ. १६८
४८. का. प्र. पृ. १४४

(२) क्यच् और क्यङ् प्रत्ययों का वाच्य आचार रूप अर्थ साधारणधर्म नहीं हो सकता क्योंकि वह केवल धर्म-रूप ही है, उपमा का प्रयोजक नहीं है। 'नारीयते सपत्नसेना' इसमें व्यङ्ग्य होने वाले कातरता आदि धर्मों से अभिन्न होकर ही आचार रूप धर्म सादृश्य का प्रयोजक होता है, स्वतन्त्र रूप में नहीं।

(३) उपमा के प्रयोजक रूप से (उपमाप्रयोजकतावच्छेदकरूपेण) ही साधारण-धर्म का अभाव होना धर्मलोप कहलाता है—यदि ऐसा नहीं मानेंगे तो 'मुखरूपमिव वस्तु प्रफुल्लमिव पङ्कजम्' इसमें पूर्णोपमा हो जायेगी क्योंकि मुख—उपमेय, पङ्कज-उपमान, वस्तुत्व—साधारण धर्म और इव—वाचक शब्द का कथन यहाँ हुआ ही है। वस्तुत्व धर्म उपमा का प्रयोजक न होते हुये भी उभय साधारण तो है ही।
इस प्रकार के सहतरूप से उपमा २५ प्रकार की है ६ प्रकार की पूर्णोपमा और १९ प्रकार की लुप्तोपमा।

भेद सम्बन्धी अप्पयदीक्षित के कतिपय मत :—
प्रथम मत—

मम्मट के अभिमत भेदों के अतिरिक्त भी कुछ भेद है जो इस प्रकार हैं :—
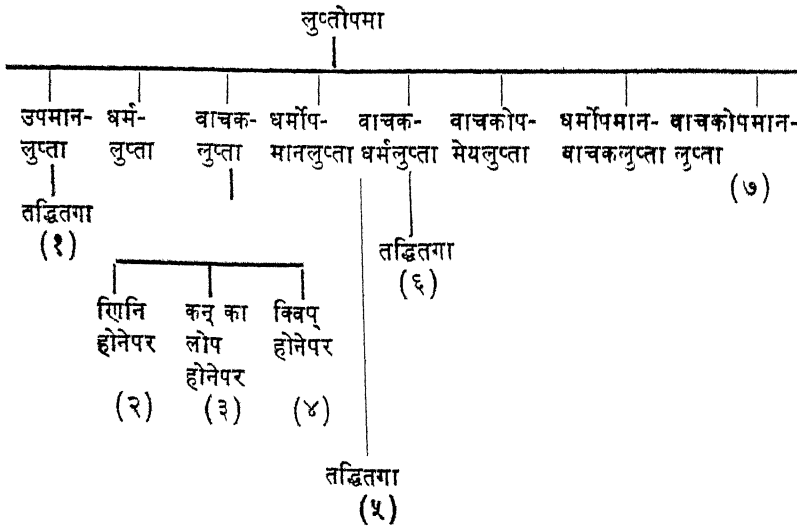
मम्मट ने वाचकलुप्ता के जो ६ भेद दिखाये है उसके अतिरिक्त उसके तीन भेद और होते हैं। उनमे से पहला भेद वह है जिसमे 'कर्त्तर्युपमाने' [४९] सूत्र के अनुसार णिनि होने पर उपमालङ्कार होता है। जैसे 'कोकिलालापिनी' इसमे 'कोकिल इव आलपति' इस अर्थ मे णिनि प्रत्यय है।

४९. दे. परि ख–६

दूसरा भेद वह है जिसमे 'उपे प्रतिकृतौ' इसके अनुसार कन् प्रत्यय होता है तथा 'लुम्मनुष्ये' के अनुसार उसका लोप भी हो जाता है।[५०] जैसे 'चञ्चा पुरुषः सोऽय य स्वहित नैव जानीते।' इसमे 'चञ्चा' पद मे कन् का लोप है।

तीसरा भेद वहाँ होता है जहाँ आचार अर्थ मे क्विप् प्रत्यय होता है तथा किसी अन्य पद से समान धर्म का प्रतिपादन होता है। जैसे 'आह्लादि वदन तस्य शरद्राकामृगाङ्कति' इत्यादि मे। यहाँ 'मृगाङ्कति' मे क्विप् है।

उपमानलुप्ता वाक्यगा और समासगा दो प्रकार की दिखाई गयी है उसका तृतीय प्रकार भी होता है—तद्धितगा।

उदाहरण के लिये—

यच्चोराणामस्य च समागमो यच्च तैर्वधोऽस्य कृत ।
उपनतमेतदकस्मादासीत्तत्काकतालीयम् ॥[५१]

इस पद्य मे 'काकतालीयम्' पद मे उपमा है। इस पद मे काक और ताल पद का समास है तथा उसके पश्चात् है छ प्रत्यय। यहाँ उपमान है 'तालपतनजन्यकाकवध' इस उपमान का वाचक पद कोई नही है। 'काकतालीयम्' मे प्रयुक्त छ प्रत्यय से ही सम्पूर्ण उपमा का—'तालपतनजन्यकाकवध के समान चोरो के द्वारा देवदत्त का वध'—का बोध होता है। अत उपमान—लुप्ता तद्धितगा उपमा है। (इस स्थान पर काकतालीय पद की वैयाकरण व्युत्पत्ति दी गयी है।[५२]

वाचकोपमानलुप्ता का उल्लेख ही नही किया है यद्यपि वह भी लुप्तोपमा का एक प्रकार है। उदाहरण के लिये उपर्युक्त पद्य का ही 'काकताल' पद लिया जा सकता है। इस पद से जिस उपमा का बोध होता है उसका आकार है 'काकताल-समागम इव'। इसमे उपमान है समागम जिसका वाचक शब्द कोई नही है तथा सादृश्य का वाचक इवादि पद का भी अभाव है। अत उपमानवाचकलुप्ता उपमा है।

धर्मोपमानलुप्ता वाक्यगा और समासगा दो प्रकार की कही गयी है। वह तद्धितगा भी होती है। उक्त पद्य के ही तृतीय चरण को यदि हटा दिया जाय, क्योकि उसमे अकस्मात् प्राप्ति रूप साधारणधर्म का अभिधान हुआ है, तो वह धर्मोपमानलुप्ता का उदाहरण बन जायेगा। यहाँ उपमा का बोध काकतालीयम् पद के छ प्रत्यय से ही होता है इसलिये तद्धितगा है।

वाचकधर्मलुप्ता क्विब्गता और समासगता दो प्रकार की बतायी गई है। वह तद्धितगा भी होती है। जैसे, 'चञ्चा पुरुष सोऽ य योऽत्यन्त विषयवासनाधीन' यह

---

५०. दे परि ख—६

५१ रस पृ १६६

५२. दे परि ख-६

स्थल है। इसमे चञ्चा पद मे उपमा है। इसमे कन् प्रत्यय का लोप हुआ है।[५३] उसी प्रत्यय के बल पर उपमा का बोध होने से तद्धितगा, स्वाहिताकरणरूप साधारण धर्म का कथन न होने से धर्मलुप्ता और इवादि सादृश्यवाचक पद के न होने से वाचक-लुप्ता है। अत वाचकधर्मलुप्ता तद्धितगा उपमा का स्थल है।

मम्मट के द्वारा प्रतिपादित २५ भेदो के साथ उक्त (रेखाचित्र मे अङ्कित) ७ भेदो को मिलाने से कुल ३२ भेद होते हैं। अत उपमा के कुल ३२ भेद है।

द्वितीय मत

जो धर्मलुप्ता उपमा वाक्यगा, समासगा और तद्धितगा तीन प्रकार की कही गयी है वह द्विर्भाव मे भी दृष्टिगत होती है। जैसे 'पटुपटुर्देवदत्त ' इसमे पटुसदृश देवदत्त इत्याकारिका उपमा है। इसमे 'पटु' पद का द्वित्व ही सादृश्य का वाचक है, देवदत्त उपमेय है तथा पटु उपमान है केवल धर्म का ही लोप हुआ है अतः धर्मलुप्ता उपमा है।[५४]

तृतीय मत—

धर्मवाचकलुप्तोपमा मे (मम्मट सम्मत) क्विब्गता और समासगता के अतिरिक्त 'कन्' प्रत्यय के लोप से भी उपमा का एक भेद होता है। इसका उदाहरण है—

'नृणा य सेवमानाना ससारोऽप्यपवर्गति।
त जगत्यभजन्मर्त्यश्चञ्चा चन्द्रकलाधरम् ।।'[५५]

इस पद्य मे 'अपवर्गति' मे क्विप् प्रत्यय तथा 'चञ्चा' पद मे कन् प्रत्यय है। इन्ही पदो मे उपमा है। अर्थात् 'अपवर्गे इव आचरति' और 'चञ्चा तृण-निर्मित पुत्तलिकेव' इत्याकारक उपमा है तथा वाचक शब्द और साधारणधर्म का उपादान न होने से वह (क्विन्गता और कन्गता—दोनो) वाचकधर्मलुप्ता है। (साधारणधर्म क्रमशः सुखमयत्व और आत्महिताकृति है।[५६]

इसी पद्य को यदि—

'यद्भक्ताना' सुखमय ससारोऽप्यवर्गति।
त शम्भुमभजन् मर्त्यश्चञ्चैवात्महिताकृते ।।'[५७]

इस प्रकार बना दिया जाय तो 'सुखमय.' और 'आत्महिताकृते ' से साधारणधर्मों का अभिधान हो जायेगा। इस प्रकार क्विप् और कन् के होने पर साधारणधर्म का श्रवण भी सम्भव हो जाता है।

---

५३ दे. परि ख–६

५४ दे परि ख–१८
'धर्मलुप्ता वाक्यसमासतद्धितेषु दर्शिता द्विर्भावेऽपि दृश्यते। 'पटुपटुर्देवदत्त.' इत्यत्र 'प्रकारे गुणवचनस्य' इति सादृश्ये द्विभावविधानात्। (रस पृ २२३)

५५ रस पृ १७१

५६. 'अत्र क्विप्कनोर्लोपे प्रत्येक वाचकधर्मलोप उभयत्रापि।' (रस पृ १७१)

५७. रस पृ. १७१

चतुर्थ मत—

रूपयौवनलावण्यस्पृहणीयतराकृतिः ।
पुरतो हरिणाक्षीणामेष पुष्पायुधीयति ।।[५८]

यह पद्य वाचकोपमेयलुप्ता उपमा का उदाहरण है।

पञ्चम मत—

उपमा तीन प्रकार की होती है—(१) अपने वैचित्र्य मात्र मे शान्त हो जाने वाली, (२) उक्त अर्थ की उपपादिका तथा (३) प्रधानरूप से व्यङ्ग्य होने वाली।

प्रथम प्रकार का उदाहरण है—

स छिन्नमूलः क्षतजेन रेणुस्तस्योपरिष्टात्पवना धूतः ।
अङ्गारशेषस्य हुताशनस्य पूर्वोत्थितो धूम इवाबभासे ।।

द्वितीय प्रकार का उदाहरण है—

अनन्तरत्नप्रभवस्य यस्य हिमं न सौभाग्यविलोपि जातम् ।
एको हि दोषो गुणसन्निपाते निमज्जतीन्दोः किरणेष्विवाङ्कः ।।[५९]

षष्ठ मत—

पूर्णोपमा मे साधारणधर्म के भेद से जो नाना प्रकार होते है वे लुप्तोपमा मे नही होते। अर्थात् पूर्णोपमा मे जैसे साधारणधर्म कभी बिम्बप्रतिबिम्ब-भावयुक्त होता है, कभी अनुगामी, कही वस्तुप्रतिवस्तुभाव-युक्त इत्यादि वैसे लुप्तोपमा मे सम्भव नही है क्योकि उसमे साधारणधर्म सदा अनुगामी ही होता है।[६०]

पण्डितराजकृत अप्पय के उक्त मतो का खण्डन :—

प्रथम मत के सम्बन्ध मे पण्डितराज ने कुछ नही कहा है।

द्वितीयमत का खण्डन—

'पटुपटुर्देवदत्तः' इसको धर्मलुप्ता का उदाहरण नही कहना चाहिये अपितु वाचकधर्मलुप्ता उपमा का उदाहरण कहना चाहिये क्योकि यहाँ वाचक शब्द का भी उपादान नही हुआ है।

द्वित्व को सादृश्य का वाचक नही कह सकते क्योकि वह सादृश्य का वाचक नही है, द्योतक है। इस द्योतकता मे प्रमाण है कैयट के अनुसार 'प्रकारे गुणवचनस्य'[६१] इस पाणिनि के सूत्र के प्रसङ्ग मे की गयी व्याख्या।

'प्रकारे गुणवचनस्य' सूत्र मे 'गुणवचन' पद के प्रति विशेषण कौन है इसके समाधान मे कैयट ने कहा है जिसकी द्विरुक्ति होती है उसका स्थानी प्रकृति (अर्थात्

---

५८ रस. पृ. १७१
५९ रस पृ २१५
६०. रस. पृ १८१
६१. दे. परि. ख–१८

'पटु' की द्विरुक्ति हुई है पटुपटु मे । पटुपटु. की प्रकृति है 'पटु') ही गुणवचन के प्रति विशेष्य है । इस प्रकार विशेषण रूप जो शब्द ज्ञात हो उसका सादृश्य द्योतित करने के लिये द्वित्व होता है । अर्थात् द्विर्वचन सादृश्य का द्योतक है ।

तृतीय मत का खण्डन.—

नृणा य सेवमानाना ससारोऽप्यपवर्गति ।
त जगत्यभजन्मर्त्यश्चञ्चा चन्द्रकलाधरम् ।।

इत्यादि पद्य वाचक धर्मलुप्ता का उदाहरण नही है क्योकि—

(१) 'चञ्चा' पद मे सादृश्य के वाचक कन् प्रत्यय का लोप होने पर भी त चन्द्रकलाधरमभजन् इस अश से 'चन्द्रकलाधरभजनराहित्य' रूप साधारणधर्म का कथन हो गया है । अत इसमे धर्म का लोप कहना अनुचित है । (इसमे जिस धर्म को लेकर धर्मलुप्तात्व का व्यवहार अप्पय ने किया है वह है 'स्वहिताकर्तृत्व' और जिस धर्म को लेते हुये पण्डितराज ने धर्म को उपात्त माना है वह है शिवभजनराहित्य) ।

(२) चन्द्रकलाधरभजनराहित्य को इस आधार पर साधारणधर्म न कहना कि उसका कथन मर्त्यरूप उपमेय के विशेषण ('अभजन्मर्त्य') के रूप मे हुआ है, अतएव सादृश्य के विशेषण ('चञ्चा इव') चञ्चाके साथ उसका अन्वय नही हो सकता और इस प्रकार उपमान और उपमेय उभय का अन्वयी न होने से वह साधारणधर्म नही हो सकता, अनुचित है, क्योकि ऐसा मानने पर उन्ही की उक्ति से कि 'यद्भक्ताना सुखमय —'इत्यादि पाठ कर देने से साधारणधर्म उक्त हो जाता है—विरोध होता है । इस परिवर्तित पाठ मे भी ससार रूप उपमेय के विशेषण के रूप मे सुखमयत्व-रूप धर्म (सुखमय ससार) उपात्त हुआ है । अत: सादृश्य के विशेषण रूप अपवर्ग के साथ उसका अन्वय नही हो सकेगा । और पूर्व स्थिति के समान उसके भी उभयान्वयी न होने से उसे साधारणधर्म नही कहा जा सकेगा ।

(३) यदि यह कहा जाय कि साधारणधर्म का वस्तुत नियामक है उभय-वृत्तित्वज्ञान (उपमानोपमेय दोनो मे रहना)तो चाहे उसका साक्षात् दोनो के साथ अन्वय न होता हो फिर भी उपमेय या उपमान के विशेषण के रूप मे उपात्त होने से उसे (सुखमयत्व को) साधारणधर्म मान लेना चाहिये—तो यही दृष्टि चन्द्रकला-धरभजनराहित्य के प्रति भी अपनानी चाहिये ।

(४) यदि चन्द्रकलाधरभजनराहित्य का उपमेयतावच्छेदक तथा 'स्वात्महिता-करण' को साधारणधर्म माना जाय तब 'नृणा य सेवमानाना—'इत्यादि पद्य मे धर्म का लोप माना जा सकता है ।

चतुर्थ मत का खण्डन —

वाचकोपमेयलुप्तोपमा के 'रूपयौवनलावण्य—'आदि उदाहरण मे व्याकरण-सम्मत त्रुटि है 'पुरत ' पद के दूषित होने से । पुर शब्द को यदि नगर वाचक माना

जाये और उससे तसिल् (पञ्चम्यास्तसिल् ५।३।७ के अनुसार) प्रत्यय लगाकर पुरत. शब्द की सिद्धि मानी जाय तो उसका—'हरिणाक्षियो के नगर से' यह अर्थ सङ्गत नही होता। यहाँ 'पुर' शब्द का जो अर्थ विवक्षित है—सम्मुख—वह वास्तव मे होता ही नही। अर्थात् पूर्व अर्थ के वाचक पुर शब्द की कही प्राप्ति नही होती। अत पुर शब्द से तसिल् प्रत्यय करके पुरत शब्द की व्युत्पत्ति नही हो सकती। पूर्व शब्द से यदि असि प्रत्यय किया जाय तो 'पुर' शब्द बनेगा 'पुरत' नही, क्योकि इसमे प्रमाण है यह सूत्र—'पूर्वाधरावराणामसिपुरधवश्चैषाम्।'[६२] इसीलिये महाकवि कालिदास ने 'अमु पुर पश्यसि देवदारुम्'[६३] इस प्रकार प्रयोग किया है।

इसके अतिरिक्त वैयाकरणो ने भी स्पष्ट रूप से कहा है कि 'पत्या पुरत. परत' 'आत्मीय चरण दधाति पुरतो निम्नोन्नताया भुवि' और 'पुरत सुदती समागत माम्' इत्यादि सभी व्याकरण के अज्ञान के कारण होने वाले अपशब्द है।[६४]

पञ्चम मत का खण्डन :—

अप्पयदीक्षित के द्वारा किये गये उपमा के उक्त त्रिविध भेद उचित नही है क्योकि

(१) उन भेदों मे 'नयने शिशिरीकरोतु मे शरदिन्दुप्रतिम मुखम्,' इस वाच्य-वस्तु की उपस्कारिका उपमा का सग्रह नही होता।

उक्त पद्य का वाच्यार्थ है मुखदर्शन से नयनो को शीतल करना। उसकी सिद्धि करती है मुख के साथ चन्द्र की उपमा। अत. यह उपमा वाच्य अर्थ की उपस्कारिका है।

(१) दूसरा दोष यह है कि यदि यह भेद माने तो उपमालङ्कार के लक्षण मे दिया गया 'अव्यङ्ग्यत्व' विशेषण व्यर्थ हो जाता है। स्ववैचित्र्य मात्र मे शान्त होने वाली उपमा तो किसी की उपस्कारिका नही है अत वास्तव मे वह अलङ्कार ही नही है, इस प्रकार जो वास्तव मे उपमा नही है उसको भी जब उपमा के प्रभेदो के अन्दर समाविष्ट कर लिया तो अव्यङ्ग्यत्व विशेषण देकर ध्वन्यमाना उपमा का वारण करने से क्या लाभ ? (अत उक्त विशेषण की सार्थकता सिद्ध करने के लिये यह नही कह सकते कि उससे ध्वनित होने वाली उपमा का निरास होता है।) प्राचीनालङ्कारिको ने भी स्ववैचित्र्य मे शान्त होने वाली उपमा को उपमा कहा है। अत उसे अनुपमा कहना ठीक नही है—ऐसा अप्पयदीक्षित का कथन भी तभी उचित हो सकता था जब प्राचीन आलङ्कारिको ने व्यङ्ग्योपमा का निराकरण

६२ रस. पृ १७१-१७२

६३. वही ,, ,,

६४. वही ,, ,,

किया होता। परन्तु वास्तव मे उन्होने न तो व्यङ्ग्योपमा का निराकरण किया न स्ववैचित्र्यमात्र मे शान्त होने वाली उपमा का विशेष ग्रहण किया। उन्होने केवल उपमा तत्त्व का ही निरूपण किया है। अत: प्राचीनो को अपनी उक्ति मे प्रमाण मानना ठीक नही है।

(३) इसी प्रकार स्ववैचित्र्यमात्रविश्रान्तोपमा को प्रबन्ध (ग्रन्थ) की उपस्कारिका कहना भी उचित नही होगा क्योकि तब उसको 'अपने वैचित्र्य मे ही शान्त हो जाने वाली' कहना विरुद्ध हो जायेगा।

(४) इसके अतिरिक्त 'अव्यङ्ग्य' विशेषण देकर उपमा का जो लक्षण बना उससे व्यङ्ग्योपमा का निरास हुआ परन्तु उक्त प्रकारत्रय मे उस व्यङ्ग्योपमा का सङ्ग्रह किया गया है। तात्पर्य यह है कि स्ववैचित्र्यमात्रविश्रान्तोपमा जो वास्तव मे उपमा नही है अप्पयकृत उपमा के लक्षण से सङ्गृहीत हो रही है, जो नहीं होनी चाहिये थी और प्रधानरूप से व्यङ्ग्य होने वाली उपमा का निराकरण हो रहा है जिसका कि सङ्ग्रह होना चाहिये था। इस प्रकार प्रकृत भेदत्रय मानने से अप्पयकृत लक्षण मे भी अतिव्याप्ति और अव्याप्ति दोष आता है।

(५) उक्तार्थोपपादनपरा उपमा का जो उदाहरण दिया है वह भी उचित नही है क्योकि उसमे वास्तव मे उपमा अलङ्कार है ही नही, उदाहरणालङ्कार है। उपमालङ्कार वहाँ होता है जहाँ दो भिन्न पदार्थों मे सादृश्य प्रतिपादित किया जाता है। एव उदाहरणालङ्कार वहाँ होता है जहाँ किसी सामान्य उक्ति को उसी के विशेष स्थल का उदाहरण देकर पुष्ट और स्पष्ट किया जाता है। सामान्य और विशेष मे भेद नही होता। 'अनन्तरत्नप्रभवस्य—'[६५] इत्यादि मे 'गुणो के समूह के साथ रहने वाला एक दोष दोषत्वेन प्रतीत नही होता' इस सामान्य अर्थ का (जो पूर्वार्ध से प्रतिपादित हो रहा है) 'चन्द्रमा की किरणो के साथ रहने वाला कलङ्क' इस विशेष रूप उदाहरण से पोषण हो रहा है। दोनो मे कोई भेद नही है। केवल विशेष कथन से सामान्य कथन का स्पष्टीकरणमात्र है। अत उपमालङ्कार नही है, उदाहरणालङ्कार है।

षष्ठ मत का खण्डन :—

अप्पयदीक्षित का यह कहना कि उपमा के लुप्ता प्रकार मे उक्त भेद सम्भव नही है, ठीक नही है क्योकि 'मलय इव जगति पाण्डुर्वल्मीक इवाधिधरणि धृतराष्ट्र' इसमे अनुगामी धर्म का बोध नही होता अपितु चन्दन और पाण्डवो का तथा सर्पों एव दुर्योधनादि कौरवो का बिम्बप्रतिबिम्बभाव ही अवगत होता है। (यहाँ जिस उपमा का बोध होता है वह यह है कि जिसके द्वारा चन्दन के समान पाण्डवो की

६५. पृ. १७१

उत्पत्ति हुई वह पाण्डु मलयाचल के समान है और जिसने सर्पो के समान कौरवो को उत्पन्न किया वह धृतराष्ट्र इस पृथ्वी पर वल्मीक (चीटी का घर) के समान है।) यहाँ धर्मलुप्ता उपमा है परन्तु इसमे कोई धर्म अनुगमी नही है। साधारण-धर्म के रूप मे चन्दन और पाण्डवो का तथा सर्पो और कौरवो का बिम्बप्रतिबिम्ब भाव ही ग्रहण करना पडता है।

यह आवश्यक नही है कि जिन पदार्थो मे बिम्बप्रतिबिम्ब भाव हो उनका शब्दत कथन किया जाय क्योकि जहाँ वह शब्दत उपात्त होगा वहाँ शाब्दी बिम्बप्रतिबिम्ब भाव और जहाँ शब्दत उपात्त नही होगा वहाँ आर्थी बिम्बप्रतिबिम्ब भाव होगा।

यदि आर्थ बिम्बप्रतिबिम्बभाव के समान आर्थ वस्तु प्रतिवस्तु भाव नही स्वीकार किया जाय तो अप्रस्तुतप्रशसा अलङ्कार की स्थिति ही नही बन पायेगी क्योकि उसमे प्रस्तुत और अप्रस्तुत अर्थ मे आर्थ बिम्बप्रतिबिम्ब भाव होता है।

उपमा ध्वनि :—

उपमा के भेदो पर विस्तार से विचार करने के पश्चात् पण्डितराज ने उपमा-ध्वनि पर दृष्टिपात किया है।

जहाँ यह उपमा सम्पूर्ण वाक्य से प्रधान रूप से व्यङ्ग्य होती हो तो वह अलङ्कार न होकर ध्वनि हो जाती है। उस ध्वन्यमान उपमा को अलङ्कार उसी प्रकार कहा जाता है जिस प्रकार एक मञ्जूषा मे निहित ताटङ्क को अलङ्कार। मञ्जूषा मे रहते हुए वह ताटङ्क किसी का अलङ्करण नही करता परन्तु अलङ्कारत्व धर्म से युक्त होने के कारण वह अलङ्कार कहलाता है। ध्वन्यमान उपमा भी किसी को उपस्कृत नही करती परन्तु उपस्कारकत्व धर्म से युक्त होने के कारण वह अलङ्कारत्वेन व्यपदिष्ट होती है।

उपमा–ध्वनि के भेद :—

उपमा की यह ध्वनि दो प्रकार की होती है—(१) शब्दशक्तिमूल और अर्थशक्तिमूल। शब्दशक्तिमूल जैसे —

अविरलविगलद्दानोदकधारासारसिक्तधरणितल ।
धनदाग्रम हितमूर्तिर्जयतितरा सार्वभौमोऽयम् ॥ [६६]

इस पद्य के दोनो अर्थ इस प्रकार है–(क) जिसने निरन्तर गिरते हुए जल (सङ्कल्पजल) की धारावाहिक वृष्टिसे धरातल को सिक्त कर दिया और जिसका स्वरूप धनदानियो के सम्मुख पूज्य है ऐसा यह सार्वभौम (चक्रवर्ती) राजा जय को प्राप्त करता है।

---

६६. रस. पृ. १८५

(ख) जिसने सतत गिरते हुए मदजल की (दान–वारि) धारावाहिक वृष्टि से धरणितल को सिक्त कर दिया तथा जिसकी मूर्ति कुबेर के सम्मुख पूजित है ऐसा यह उत्तरदिशा का गज जय प्राप्त करे।

इन दोनो अर्थों से 'गज इव राजा' यह उपमा ध्वनित होती है। यह उपमा शब्द के बल पर प्रतीत हो रही है अतः शब्दशक्तिमूल उपमाध्वनि है।

अर्थशक्तिमूल उपमा, जैसे—

अद्वितीय रुचात्मान दृष्ट्वा कि चन्द्र दृप्यसि।
भूमण्डल मिद सर्व केन वा परिशोधितम् ॥ [६७]

इसमे अर्थ के बल पर प्रतीत होने वाली उपमा (चन्द्र की मुख के साथ) ही सर्वप्रमुख है अत ध्वनि का विषय है।

इस प्रकार प्रत्येक दृष्टि से उपमा के भेदो पर सोदाहरण प्रकाश डालने के पश्चात् पण्डितराज ने उपमा मे रहने वाले आधारभूत तत्त्व 'सादृश्य' पर विचार किया है एव उसके शाब्द बोध को भी सूक्ष्म-दृष्टि से निरूपित किया है। वह अश सिद्धान्त से अधिक सम्बन्धित नही है, विचार से सम्बन्धित है। अत. यहां उल्लेखनीय नही है। [६८]

उपमा के दोष

पण्डितराज का मत .—

उपमा के चमत्कार का अपकर्षक जो कुछ भी हो वह सब दोष है। उपमा के क्षेत्र मे उसके कारण मुख्य रूप से यह है—कवि-समाज मे प्रसिद्धि न होना, उपमान और उपमेय की जाति से असमानता होना, प्रमाण से असमानता होना, लिङ्ग से असमानता होना, सख्याओ से असमानता होना, बिम्बप्रतिबिम्बभाव मे उपमान और उपमेय मे धर्मों का न्यूनाधिक्य, अनुगामी धर्म मे काल, पुरुष, विधि आदि का अर्थ अनुपपन्न होना इत्यादि। उदाहरण के लिये कवि समाज मे अप्रसिद्ध होना—

प्रफुल्लकह्लारनिभा मुखश्री रदच्छद कुडकुमरम्यराग।
नितान्तशुद्धा तव तन्वि वाणी विभाति कर्पूरपरम्परेव ॥ [६९]

इसमे मुख और कह्लारकी, अधरोष्ठ और केशर की तथा वाणी और कर्पूर की उपमा कवियो मे प्रसिद्ध नही है। अतः दोष है।

जातिगत अननुरूपता—

मुनिः श्ववदय भाति सतत पर्यटन् महीम्।
विनिवृत्तक्रियाजात श्वापि लोके शुकायते ॥ [७०]

---

६७ पृ. १८६
६८. दे परि. क–४
६९, रस पृ. १६१
७०, रस. पृ. १६१

इसी प्रकार अन्य दोषो के उदाहरणो की भी ऊहा कर लेनी चाहिये। (रसगङ्गाधर मे प्रत्येक दोष के उदाहरण दिये गये है।)

यह सभी दोष यदि किसी स्थानविशेष पर चमत्कार के अपकर्षक न हो तो दोष नही रहते। जैसे—

नीलाञ्चलेन सवृतमाननमाभाति हरिणनयनाया ।
प्रतिबिम्बित इव यमुनागभीरनीरान्तरेणाङ्क ॥[७१]

इसमे यद्यपि लिङ्गभेद है क्योकि उपमेय स्त्रीलिङ्ग तथा उपमान पुल्लिङ्ग है, परन्तु कवि सम्प्रदाय मे प्रसिद्ध होने से तथा चमत्कार का घातक न होने से वह दोष नही है।

इसी प्रकार—

नवाङ्गनेवाङ्गणेऽपि गन्तुमेष प्रकम्पते ।
इय सौराष्ट्रजा नारी महाभट इवोद्भटा ॥[७२]

इसमे भी लिङ्गभेद है परन्तु चमत्कारापकर्षण न होने से वह दोषरूप नही है। इसी प्रकार अन्य दोषो का निवारण भी किया जा सकता है।

समवलोकन

उपमा के सम्बन्ध मे सभी आलङ्कारिको ने पर्याप्त विचार किया है किन्तु तत्तत् प्रत्येक ग्रन्थ मे केवल ग्रन्थकार का अपना ही मत प्रतिपादित हुआ है। पण्डितराज ने प्रथम बार अपने समय मे सर्वाधिक मान्यताप्राप्त मम्मटादि के लक्षणो को भी दृष्टि मे रखते हुए तुलनात्मक एव प्रामाणिकता की सिद्धि करते हुए उपमा का विवेचन किया है।

साधर्म्य को उपमा कहे या सादृश्य को यह प्रमुख प्रश्न है। मम्मट ने साधर्म्य को ही उपमा माना और पण्डितराज ने सादृश्य को। व्यतिरेक अलङ्कार के प्रसङ्ग मे पण्डितराज ने ही उपमा को साधर्म्यमूलक भी कहा है, इससे यह सकेत मिलता है कि उनकी दृष्टि मे सादृश्य और साधर्म्य मे कोई भेद नही था।

दूसरी बात यह कि सहोक्ति अलङ्कार का निर्वचन करते हुए वास्तव मे पण्डितराज की दृष्टि मे सादृश्य क्या है, यह स्पष्ट होता है। उपमालङ्कार मे भी 'सादृश्य' को लेकर बहुत विस्तार से विचार हुआ है (परन्तु वहाँ रसगङ्गाधरकार का मत अति स्पष्ट नही हो पाता।) इनके अनुसार उपमान और उपमेय मे रहने वाले आह्लादकत्व आदि धर्मों का एकत्वाध्यवसान ही है सादृश्य। दो धर्मों की समानता को साधर्म्य या सादृश्य कहा जाता था परन्तु पण्डितराज ने उनमे अध्यवसान को सादृश्य कहकर उपमा के क्षेत्र मे नवीन योग दिया है।

---

७१ रस. पृ १६४
७२. रस. पृ. १६५

भेदो के सम्बन्ध मे पण्डितराज ने स्पष्ट रूप से अपनी अरुचि प्रकट कर दो है, जो कुछ भी निर्देश हुआ है वह प्राचीन आलङ्कारिको के अनुरोध से ।

अप्पयदीक्षित के मतो का जी खोलकर खण्डन किया गया है । वह खण्डन सर्वत्र हृदयावर्जक हो ऐसा नही है–व्याकरण के बल पर दिये गये दोष सहृदयग्राही नही प्रतीत होते । अत. अनेक स्थलो पर अप्पय दीक्षित के साथ किया गया शास्त्रार्थ वाद नही अपितु जल्प व वितण्डा का रूप धारण कर लेता है ।

उपमेयोपमा

लक्षण

पण्डितराजकृत लक्षण

उपमेयोपमा को पण्डितराज ने पृथक् अलङ्कार न मानकर उपमा का ही एक भेद माना है । इसका लक्षण इस प्रकार दिया है–

'तृतीयसदृशव्यवच्छेदबुद्धिफलकवर्णनविषयीभूत परस्परमुपमानोपमेयभावमापन्नयोरर्थयो. सादृश्य सुन्दरमुपमेयोपमा ।'[७३]

अर्थात् तृतीयसदृशव्यवच्छेद का बोध कराना जिसका फल हो ऐसे वर्णन का विषयीभूत, परस्पर उपमेयोपमानभाव को प्राप्त किये हुये अर्थों का जो सुन्दर सादृश्य है वही उपमेयोपमा है । जब दो अर्थ परस्पर ही उपमेय भी हो और उपमान भी हो (क ख के प्रति उपमेय और ख क के प्रति उपमान हो तथा क के प्रति ख उपमेय और ख के प्रति क उपमान हो तब) उन दोनो के मध्य जिस सादृश्य का वर्णन रहता है, वह सादृश्य यदि सुन्दर (चमत्कारी) हो तो वहाँ उपमेयोपमा होती है । इस प्रकार के सादृश्य का फल यह होता है कि वर्णित दो पदार्थों से अतिरिक्त तीसरा पदार्थ कोई उनके समान है ही नही इस प्रकार का बोध होता है ।)

इसके लक्षण को सिद्ध करते है—

'तडिदिव तन्वी भवती भवती वेय तडिल्लता गौरी' इस स्थल मे उपमेयोपमा न हो जाये इसके लिये 'तृतीयसदृशव्यवच्छेदबुद्धिफलकवर्णनविषयीभूतम्' यह विशेषण दिया सादृश्य का । उपस्थित उदाहरण मे तनुता और गौरिमा इन दोनो अनुगामी धर्मो से प्रयोजित दो उपमाये तीसरे सदृश का व्यावर्तन नही करतीं । अर्थात् तडित् के समान तुम तनु हो और तुम्हारे समान तडित् गौरवर्णा है—ये दो उपमाये है । इनमे एक उपमा मे एक का ही दूसरे के प्रति उपमानत्व है दूसरे का पहले के प्रति नही है । जैसे, तडित् के समान तुम तनु हो इसमे तडित् कामिनी के प्रति उपमान है और कामिनी तडित् के प्रति उपमेय । इसका विपर्यय उसी उपमा को लेकर नही हो सकता अर्थात् तडित् कामिनी के प्रति उपमेय और कामिनी तड़ित् के प्रति उपमान

७३. रस पृ १९६

नहीं हो सकती। इसी प्रकार द्वितीय उपमा मे भी तन्वी उपमान और तडित् उपमेय है इसका विपर्यय नही। इसी प्रकार अन्योन्यत्व न होने से (एक ही धर्म से परस्पर उपमानोपमेय भाव न होने से) तीसरे सदृश पदार्थ का व्यावर्तन (निरास) नही होता। इसलिये यह उपमेयोपमा नही है। ('तृतीयसदृशव्यवच्छेदबुद्धिफलकत्व' विशेषण यहाँ सङ्गत नही हो रहा है।)

'सदृशी तव तन्वि निर्मिता विधिना नेति समस्तसम्मतम्।
अथ चेन्निपुण विभाव्यते मतिमारोहति कौमुदी मनाक् ॥'[७४]

इस पद्य मे तृतीय सदृश पदार्थ का व्यावर्तन ही वर्णन का फल है। इस सादृश्य मे उपमेयोपमा न हो जाये इसलिये 'परस्पर' कहा है। (इस पद्य मे तन्वी और कौमुदी का परस्पर सादृश्य वर्णित नही किया गया है।)

लिङ्ग, वचन आदि के भेद से दूषित सादृश्य का निवारण करने के लिये 'सुन्दर' विशेषण दिया है।

उपमेयोपमा का उदाहरण देते हैं—

'कौमुदीव भवती विभाति मे कातराक्षि भवतीव कौमुदी।
अम्बुजेन तुलित विलोचन लोचनेन न तवाम्बुज समम् ॥'[७५]

इसमे नायिका और कुमुदिनी तथा कमल और नेत्र का परस्पर उपमानोपमेय भाव का एक ही सादृश्य के आधार पर वर्णन किया है जिससे तृतीय सदृश पदार्थ का भी व्यावर्तन होता है अत यहाँ उपमेयोपमा है।

अलङ्कारसर्वस्वकार रुय्यक का मत

रुय्यक का यह मत है—'द्वयो. पर्यायेण तस्मिन्नुपमेयोपमा। तच्छब्देनोपमानोपमेयत्वप्रत्यवमर्श। पयायो यौगपद्याभाव। अत एवात्र वाक्यभेद।'[७६] अर्थात् दो वस्तुओ का क्रमश. उपमानत्व और उपमेयत्व होना ही उपमेयोपमा है। इसमे पर्यायेण पद से 'एक साथ न होना' विवक्षित है। अत उपमेयोपमा मे वाक्यभेद रहता है। आशय यह है कि जब एक वाक्य मे रहने वाला उपमान दूसरे वाक्य मे उपमेय और प्रथम वाक्य मे रहने वाला उपमेय दूसरे वाक्य मे उपमान बन जाय तो उपमेयोपमा होती है।

पण्डितराजकृत खण्डन

पण्डितराज ने रुय्यक के उक्त मत मे 'द्वयो' पद को व्यर्थ कहा है क्योकि (१) जहाँ एक ही वस्तु उपमान और उपमेय दोनो होते है जैसे 'गगन गगनाकारम्' वहाँ तो वाक्यभेद के न होने से पर्याय का अभाव ही उपमेयोपमा के अप्रसङ्ग का

७४ रस पृ १९६
७५ रस पृ. १९६
७६. अ स. पृ ४५

कारण हो जायेगा। (अर्थात् अनन्वय का वारण करने के लिये 'द्वयो' पद की सार्थकता मानना उचित नही है क्योकि 'पर्यायेण' पद से ही उसका वारण हो जाता है।)

(२) यदि यह कहा जाय कि लिङ्ग और वचन की ऐसी अभिन्नता का, जो उपमानोपमेयभाव को बना सकने मे समर्थ हो, स्पष्ट रूप से बोध कराने के लिये अथवा कवि समाज मे प्रसिद्धि का बोध कराने के लिये 'द्वयो.' पद का प्रयोग हुआ है, तब भी पूर्वोक्त 'अह लताया'—इत्यादि पद्य मे अतिव्याप्ति होती है। और

'तद्वल्गुना युगपदुन्मिषितेन तावत्सद्य परस्परतुलामधिरोहता द्वे।
प्रस्पन्दमानपरुषेतरतारमन्तश्चक्षुस्तव प्रचलितभ्रमर च पद्मम्॥'[७७]

इस पद्य मे वाक्यभेद के न होने से अव्याप्ति होती है। द्वितीय पद्य में उपमान और उपमेय का (कमल व नेत्र) एक साथ उपमेयोपमानभाव वर्णित किया गया है अत वाक्य-भेद नही है।

इसके प्रतिरोध मे यह कहना उचित नही है कि यह वाक्य-भेद आर्थ होता है शाब्द नही–अर्थात् आपातत: शब्द एक ही होता है परन्तु उसका पर्यवसान भिन्न-भिन्न वाक्यो मे होता है। क्योकि उस प्रकार की विवक्षा होने पर भी—

सविता विधवति विधुरपि सवितरति दिनन्ति यामिन्य:।
यामिनयन्ति दिनानि च सुखदु खवशीकृते मनसि॥[७८]

इसमे उपमेयोपमा की अतिव्याप्ति होगी। वास्तव मे यहाँ उपमेयोपमा है नही क्योकि तृतीय सदृश पदार्थ का व्यावर्तन यहाँ नही हो रहा अपितु केवल इतना ही बोध होता है कि सुख के समय दु:खद वस्तु भी सुखद प्रतीत होती है और दु ख के समय सुखद वस्तु भी दु खद प्रतीत होती है।

इसी प्रकार अन्य स्थलो पर भी इसकी अतिव्याप्ति प्रदर्शित की है।

तस्मिन् पद को यदि तृतीयसदृशव्यवच्छेदफलक कहकर विशेषित कर दिया जाय तो उक्त दोष निवृत्त हो जायेगा।

इसके पश्चात् विमर्शिनीकार जयरथ का मत भी अनुचित कहा है जो 'वाक्य-भेद' के सम्बन्ध मे ही है।

अलङ्काररत्नाकरकार शोभाकरमित्र का मत

इनके अनुसार उपमेयोपमा का लक्षण यह है–'परस्परमुपमानोपमेयत्वमुपमेयोपमा।'[७९]

अर्थात् परस्पर उपमान-उपमेय भाव होने पर उपमेयोपमा होती है। इसमे परस्पर उपमानोपमेय भाव होने का फल होता है किसी अन्य उपमान का निषेध। जैसे, 'सविता विधवति–' इत्यादि पूर्वोक्त पद्य मे।

७७ रस. पृ २००
७८. रस पृ २०१
७९. रस पृ २०२

पण्डितराजकृत खण्डन

रत्नाकर ने जो उदाहरण दिया है उससे उन्ही का मत खण्डित होता है कि उपमानान्तर का निषेध इस अलङ्कार का फल है क्योकि उक्त उदाहरण मे जैसाकि स्पष्ट किया जा चुका है, किसी उपमानान्तर का निषेध नही होता।

अप्पयदीक्षित का मत

अप्पयदीक्षित के अनुसार उपमेयोपमा का लक्षण यह है—

अन्योन्येनोपमा बोध्या व्यक्त्या वृत्यन्तरेण वा।
एकधर्माश्रिया या स्यात्सोपमेयोपमा मता॥[८०]

अर्थात् जो उपमा एक ही धर्म पर आश्रित होती है तथा परस्पर पदार्थों मे वर्णित होती है और व्यञ्जना अथवा अभिधा आदि से बोध्य होती है वह (उपमा) उपमेयोपमा होती है।

इसमे 'अन्योन्य' विशेषण देने से 'यह उसके समान है' (इद तच्च समम्) इस प्रकार की उभय मे रहने वाली उपमाओ का निरास हो जाता है क्योकि–'वा' पद को कहने से व्यञ्जना और तदितर वृत्तियो की परस्पर निरपेक्षता अतिप्रेत है। और 'इद तच्च समम्' इसमे 'समम्' पद से उपमा तो वाच्य है परन्तु अन्योन्यप्रति-योगिकत्व (एक दूसरे का प्रतियोगी होना अर्थात् 'इद तेन समम्, तच्च अनेन समम्' इस प्रकार का पारस्परिक उपमान भाव व्यञ्जनागम्य है। इसलिये इस उपमेयोपमा मे अभिधा और व्यञ्जना इन दोनो को एक दूसरे की अपेक्षा है–अत उपमेयोपमा का उदाहरण नही हो सकता।

'एकधर्माश्रिया' इस विशेषण से 'रजोभिर्भू रिव द्यौर्घनसन्निभैर्गजैश्च द्यौरिव भू' इत्यादि पद्य के अर्थ मे परस्पर रहने वाली उपमा मे अतिव्याप्ति नही होती। क्योकि इसमे पृथ्वी और द्युलोक की जो परस्पर उपमा है वह रज और गज रूप दो धर्मों पर आधारित है। भूतल को उपमान करते समय रज रूप अनुगामी धर्म है और नभस्तलको उपमान बनाते समय घनसदृश गजसमूह रूप बिम्बप्रतिबिम्ब भावापन्न धर्म है। अत दोनो उपमाओ के प्रयोजक धर्म भिन्न है।

'व्यक्त्या' पद को देने से व्यङ्ग्य उपमेयोपमा का भी सग्रह हो जाता है।

पण्डितराजकृत खण्डन –

पण्डितराज ने अप्पयदीक्षित के उक्त मत का खण्डन किया है। उन्होने तल्लक्षणगत 'एकधर्माश्रिया' और 'एक वृत्तिवेद्यत्व' (बोध्या व्यक्त्या वृत्यन्तरेण वा) इन दो अशो को असिद्ध कहा है।

'एकधर्माश्रिया' को असिद्ध करने के लिये निम्न तर्क दिये हैं –

(१) एकधर्माश्रिया विशेषण देने पर भी—

८०. रस. पृ. १६८

अहृ लताया सदृशीत्यखर्वं गौराङ्गि गर्वं न कदापि यायाः ।
गवेषणेनालमिहापरेषामेषापि तुल्या तव तावदस्ति ।।[८१]

इसमे उपमेयोपमा की अतिव्याप्ति होती है क्योंकि इसमे परस्परोपमानभाव भी है (लता और नायिका का) एव तनुत्वादि धर्मैक्य भी है ।

इस उपमा मे अन्योन्य प्रतियोगिकत्व नही है क्योकि 'लतायाः सदृशी, तव तुल्या' इस कथन से सदृश्य के आश्रयभूत सदृश धर्मी का ही अन्वय होता है सादृश्य का नही—ऐसा भी नही कहा जा सकता क्योकि फिर 'मुखस्य सदृशश्चन्द्रश्चन्द्रस्य सदृश मुखम्' इस उपमेयोपमा मे अव्याप्ति हो जायेगी ।

'अहृ लताया —' इत्यादि पूर्वोक्त पद्य मे उपमेयोपमा ही है ऐसा भी नही कह सकते है क्योकि इसमे केवल गर्वमात्र का निरास ही अभिप्रेत है जो पूर्वार्ध से अवगत होता है, उत्तरार्ध से किसी प्रकार के तृतीय सदृश पदार्थ के व्यावर्तन का बोध तो होता नही । द्वितीयार्थ से केवल यही अर्थ ज्ञात होता है कि 'तुम्हारे समान अन्य भी अनेक पदार्थ है परन्तु उन्हे खोजने से क्या लाभ ?' उपमेयोपमा का सारतत्त्व 'तृतीयसदृशव्यवच्छेद' यहाँ अप्राप्त ही है ।

उपमेयोपमा मे तृतीयसदृशव्यवच्छेद मानना इसलिये आवश्यक है कि उसके अभाव मे 'भुवस्तलमिव व्योम कुर्वन्व्योमेव भूतलम्' इसमे जो अप्पयदीक्षित ने उपमेयोपमा का निवारण किया है वह व्यर्थ हो जायेगा ।

(२) एक-वृत्ति-वेद्यत्व विशेषण इसलिए अयुक्त है क्योकि 'खमिव जल जलमिव खम्' इत्यादि मे उपमेयोपमा नही हो सकेगी क्योकि यहाँ आकाश और जल का सादृश्य के साथ जो अन्वय होता है उससे प्रतियोगिता का बोध ससर्गरूप से होता है । अत ससर्ग होने के कारण वह वृत्ति के द्वारा वेद्य नही है, आकाक्षा-भास्य है । तात्पर्य यह है कि इसमे यद्यपि उपमा का बोध अभिधा शक्ति से हो रहा है परन्तु परस्परप्रतियोगिकत्वविशिष्ट उपमा का बोध वृत्ति से नहीं हो रहा है—संसर्गत्वेन हो रहा है । नैयायिको का यह सिद्धान्त है कि संसर्ग वृत्ति से अवेद्य होता है ।[८२]

उपमेयोपमा के भेद

पण्डितराज का मत ।—

८१. रस.पृ १६६
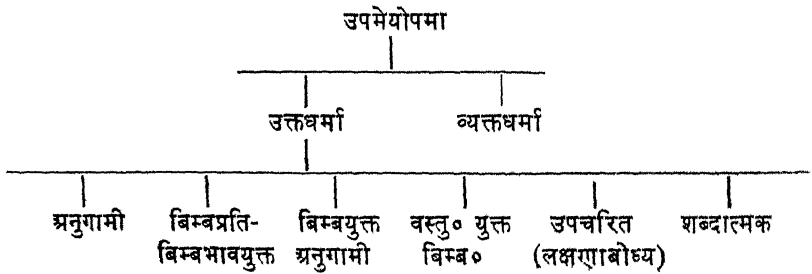
उपमेयोपमा दो प्रकार की होती है—

उक्तधर्मा और व्यक्तधर्मा । अर्थात् जहाँ उपमानोपमेय का आधारभूत साधारण धर्म वाच्य हो वहाँ उक्तधर्मा और जहाँ वह धर्म-व्यञ्जना प्रतिपाद्य हो वहाँ वह व्यक्तधर्मा होती है ।

उक्तधर्मा पुन अनुगामी आदि भेदो से अनेक प्रकार की होती है । (यहाँ आदि पद से उपमा के प्रसङ्ग मे प्रदर्शित साधारण धर्म के केवल बिम्बप्रतिबिम्बभावयुक्त, बिम्बप्रतिबिम्बभावयुक्त अनुगामी वस्तुप्रतिवस्तुभावयुक्त विम्वप्रतिबिम्बभाव वाला, लक्षणाबोध्य और केवल शब्दात्मक—भेदो को समझना चाहिए ।)

उक्तधर्मा का प्रथम भेद जैसे—

निखिले निगमकदम्बे लोकेष्वप्येष निर्विवादोऽर्थ ।
शिव इव गुरुर्गरीयान् गुरुरिव सोऽय सदाशिवोऽपि तथा ।[८३]

यहाँ अतिश्रेष्ठ होना साधारण धर्म है जो उपमानोपमेय दोनो के साथ अन्वित होने के कारण अनुगामी है ।

बिम्बप्रतिबिम्बभावापन्न धर्म से युक्त उपमेयोपमा—

'रमणीयस्तबकयुता विलसितवक्षोजयुगलशालिन्य ।
लतिका इव ता वनिता वनिता इव रेजिरे लतिका ।।'[८४]

यहाँ रमणीत्व और विलासितत्व विशेषणो का और युतत्व तथा शालित्व विशेष्यो का परस्पर बिम्बप्रतिबिम्बभाव है एव इन दोनो के मध्य कथित स्तबक (गुच्छ) और स्तनरूप धर्म परस्पर बिम्वप्रतिबिम्बभाव से युक्त है ।

उपचरित धर्म जैसे—

कुलिशमिव कठिनमसता हृदय जानीहि हृदयमिव कुलिशम् ।
प्रकृति सता सुमधुरा सुधेव हि प्रकृतिरिव च सुधा ।।[८५]

(इसमे पृथ्वीरूप वज्र का धर्म कठोरता हृदय मे तथा अमृतनिष्ठ धर्म–अतिमधुरता स्वभाव मे आरोपित किया जाता है ।)

केवल शब्दात्मक जैसे—

अविरतचिन्तो लोके वृक इव पिशुनोऽत्र पिशुन इव च वृक ।
भारतमिव सच्चित्त सच्चित्तमिवाथ भारत सकृपम् ।।[८६]

(सकृप और अविरतचिन्ता—यह दोनो यहाँ साधारण धर्म है परन्तु केवल शब्दत ही, अर्थतः नही । सकृप–सदय, सच्चित्त, कृपाचार्यसहित च भारतम् ।

८३. रस पृ १९७
८४ रस पृ. १९७
८५, रस पृ १९७
८६. रस पृ. १९७

अविरतचिन्त —अविषु (मेषेषु—भेडो मे) रता चिन्तो मनोव्यापारो यस्य ईदृशो वृक, निरन्तरचिन्त पिशुनः।)

उपमेयोपमा का दूसरा भेद —व्यक्तधर्मा—

'वारिधिराकाशसमो वारिधिसदृशस्तथाकाश।

सेतुरिव स्वर्गङ्गा स्वर्गङ्गेवान्तरा सेतु ॥'[८७]

इसमे अपारत्व आदि धर्म व्यङ्ग्य है। उपमेयोपमा के ये सभी भेद वाक्य-भेद के स्पष्ट रहते हुए दिखाये गये। वाक्यभेद के आर्थ होने पर—

'अभिरामतासदनमम्बुजानने नयनद्वय जनमनोहर तव।

इयति प्रपञ्चविषयेऽपि वैधसे तुलनामुदञ्चति परस्परात्मना ॥'[८८]

इसमे 'परस्परात्मना तुलनामुदञ्चति' इस सक्षिप्त वाक्य से 'इद एतेन तुलनामुदञ्चति' और 'एतद् अनेन तुलनामुदञ्चति' इन दो विवरण रूप वाक्यो का उल्लास होता है। (अर्थात् 'एक दूसरे के साथ ही तुलना प्राप्त करते हैं' इस एक वाक्य से 'यह नेत्र उससे तुलनीय है और वह नेत्र इससे तुलनीय है' इस प्रकार के दो वाक्यो का बोध होता है।)

उपमा के समान इसके भी पूर्णा लुप्ता आदि सभी भेद प्राय सम्भव होते है। वे स्वय समझ लेने चाहिए उनका विवरण नही दिया गया है।

यह उपमेयोपमा यदि किसी अर्थ की उत्कर्षाधायिका होती है तो अलङ्कार कहलाती है अन्यथा अपने वैचित्र्यमात्र मे शान्त हो जाती है (किसी की उपस्कारिका नही होती अपने वैचित्र्य मात्र के कारण चमत्कारी होती है।) इसी प्रकार अन्य अलङ्कारो के सम्बन्ध मे भी समझना चाहिए। अर्थात् कोई भी अलङ्कार जब किसी अर्थ को अलङ्कृत करे तब वह अलङ्कार होता है अन्यथा वह अपने वैचित्र्यमात्र मे ही शान्त हो जाता है।

उपमेयोपमा की ध्वनि

उपमेयोपमा की ध्वनि का उदाहरण—

'गाम्भीर्येणातिमात्रेण महिम्ना परमेण च।

राघवस्य द्वितीयोऽब्धिरम्बुधेश्चापि राघव ॥'[८९]

इसमे 'द्वितीय' शब्द की सादृश्यविशिष्ट मे शक्ति नही है अतः व्यञ्जना है। तात्पर्य यह है कि इसमे सदृश पद से सादृश्यविशिष्ट का ही बोध होता है परन्तु अभिधा से नही, व्यञ्जना से। अत यहाँ पर व्यङ्ग्य होने के कारण उपमेयोपमा ध्वनि का विषय है।

---

८७ रस पृ १९७

८८ रस पृ १९८

८९ रस पृ २०२

उपमेयोपमा यदि लक्षणागत हो (लक्ष्य हो) तो यह उदाहरण होगा—

'सुधासमुद्र तव रम्यवाणी वाच क्षमाचन्द्र सुधासमुद्र ।
माधुर्यमध्यापयितु दधाते सर्वेतरामान्तरगर्वमुद्राम् ।।'[९०]

यहाँ वागादिकर्तृक परस्पर अध्यापन का बोध होने से माधुर्यसङ्क्रान्ति विशेष रूप लक्षणागम्य अर्थ से (एक दूसरे मे अपनी मधुरता को पहुँचाना रूप लक्ष्यार्थ से) बोधित होने वाला प्रयोजन–परस्पर उपमानोपमेयभाव–है, जो व्यङ्ग्य है। अत लक्षणाजन्य व्यङ्ग्योपमेयोपमा अलङ्कार है ।

उपमेयोपमा के दोष

पहले उपमा मे जितने दोष कहे गये और विस्तार के भय से नही कहे गये—वे सभी उपमात्व से युक्त होने के कारण (उपमेयोपमा उपमा का ही भेद है अत उसमे उपमात्व भी है ही, इस कारण) इसमे भी समझने चाहिए। उन दोषो के अतिरिक्त इसमे एक दोष और है—एक उपमा का दूसरी उपमा से वैलक्षण्य। अर्थात् उपमेयोपमा मे दो उपमाये होती है, उन दोनो मे सादृश्यादि की (समानधर्म की) विलक्षणता होना उपमेयोपमा का दोष है। वह दोनो उपमाये समान होनी चाहिये। जैसे 'कमलमिव वदनमस्या वदनेन सम तथा कमलम्' इसमे एक उपमा श्रौती और एक आर्थी हो गयी अतः उपमाओ का वैलक्षण्य है।

'कमलति वदन तस्या कमल वदनायते जगति' इसमे क्विप् और क्यङ् प्रत्यय के कारण उपमाओ मे विलक्षणता है। इसी पद्य मे 'पद्म' वदनायते अथवा वक्त्रायते' यह कर दिया जाय तो उपमान वाचक और उपमेय वाचक शब्दो की विलक्षणता हो जायेगी। इस प्रकार की अनेक विलक्षणताये है जिनसे यदि सहृदयो का हृदय उद्विग्न होता हो तो वह दोष है। अर्थात् यदि उनके कारण रसास्वाद मे बाधा न हो तो वह दोष नही होगी।

समवलोकन

उपमेयोपमा को पण्डितराज ने उपमा का ही एक अवान्तर भेद माना है, पृथक् अलङ्कार नही। यह अन्तर्भाव अन्य किसी आलङ्कारिक ने नही किया था, पण्डितराज ने ही सर्वप्रथम इस ओर दृष्टिपात किया। अत प्राचीनधारा मे एक विकार आया।

स्वतन्त्र अलङ्कार न मानने पर भी उसका जो लक्षण आदि किया गया है वह परम्परा के अनुकूल है। तथा उस लक्षण का तथा उपमेयोपमा के प्रयोजन का स्पष्टीकरण करने का श्रेय एक मात्र पण्डितराज को ही है।

पर-मत-खण्डन मे जितनी सूक्ष्म दृष्टि से इस अलङ्कार का विषय–प्रकाशन हुआ है वैसा अन्यत्र कही उपलब्ध नही है। स्वमतातिरिक्त अन्य मतो को मानने से

९०. रस पृ २०२

हानि क्या होती है—यह बताना पण्डितराज का सहज धर्म है। अतः अपने दिये लक्षण को बडी चतुरता से वह दोषहीन सिद्ध कर देता है। इस खण्डन मे कही-कही आग्रही स्वभाव का परिचय देते हुये पण्डितराज अपने प्रति अनास्था उत्पन्न कर देते है। शास्त्र के बल पर किया गया दोष दर्शन ऐसा ही है।

उपमेयोपमा मे वाक्य भेद होता है यह पण्डितराज को भी मान्य है परन्तु उसे लक्षण मे समाविष्ट नही किया इससे उसकी अनिवार्यता नही है। रुय्यक के लक्षण मे उसका उपादान हो जाने से उसका सर्वत्र होना अपेक्षित हो जाता है जो दूषित है।

अनन्वय

लक्षण

पण्डितराजकृत लक्षण

'द्वितीयसदृशव्यवच्छेदफलकवर्णनविषयीभूत यदेकोपमानोपमेयक सादृश्य तदनन्वय'।[६१]

अर्थात् ऐसा सादृश्य, जिसका फल द्वितीय सदृश व्यावर्तन का बोध कराना हो, तथा उसका उपमान और उपमेय एक ही पदार्थ हो, जब वर्णन का विषय होता है तो अनन्वय होता है अर्थात् जहाँ ऐसा सादृश्य दिखाया जाय जिसमे एक ही वस्तु से उसी वस्तु की उपमा देने से यह ज्ञान होता हो कि उसके समान दूसरी वस्तु है ही नही तब वह अनन्वय होता है। यही अनन्वय जब किसी अन्य अर्थ का उपस्कारक होता है तो अलङ्कार कहलाता है अन्यथा (उपस्कारक न होने पर) शुद्ध अनन्वय होता है।

'लोहितपीतैः कुसुमैरावृतमाभाति भूभृतः शिखरम्।
दावज्वलनज्वालै कदाचिदाकीर्णमिव समये ।।'[६२]

इत्यादि मे अतिव्याप्ति का वारण करने के लिए 'द्वितीयसदृशव्यवच्छेदफलक-वर्णनविषयीभूतम्' यह विशेषण दिया। इस पद्य मे लाल-पीले पुष्पो से घिरा हुआ पर्वत का शिखर दावानल से आकीर्ण स्वय (पर्वत) से ही उपमित हुआ है। अतः उपमान और उपमेय एक ही पर्वत है तथापि द्वितीय सदृश का व्यावर्तन न होने से वह अनन्वय का विषय नही है।

इसी प्रकार—

स्तनाभोगे पतन्भाति कपोलात्कुटिलोऽलक ।
सुधाशुबिम्बतो मेरौ लम्बमान इवोरग ।।[६३]

इस कल्पित उपमान वाली उपमा मे उपर्युक्त अनन्वय की अतिप्रसक्ति का वारण करने के लिए 'एकोपमानोपमेयकम्' विशेषण दिया क्योकि यहाँ 'वास्तव मे

६१. रस पृ. २०३
६२. रस पृ. २०३
६३. रस पृ. २०४

कोई उपमानहीन होने के कारण उपमान कल्पित करना पडा'—इस प्रकार के बोध से द्वितीय सदृशव्यवच्छेद की प्रतीति होती है। परन्तु कल्पित हो अथवा वास्तव, उपमान का होना ही अनन्वय का अविषय है।

इसका उचित उदाहरण अपनी अमृतलहरी से उद्धृत करते है—

'कृतक्षुद्राघौघानथ सपदि सन्तप्तमनस
समुद्धर्तु सन्ति त्रिभुवनतले तीर्थनिवहा ।
अपि प्रायश्चित्तप्रसरणपथातीतचरिता-
न्नरानूरीकर्तु त्वमिव जननि त्व विजयसे ॥'[६४]

इसमे साधारणधर्म वाच्य तथा अनुगामी है। इसमे रहने वाला अनन्वय कविनिष्ठ गङ्गारति के प्रति उपस्कारक होने से अलङ्कार है।

अनन्वय मे बिम्बप्रतिबिम्ब भाव से युक्त धर्म नही होता। क्योकि उसके होने पर सदृशान्तरव्यवच्छेद की प्रतीति नही होगी और तादृश प्रतीति के न होने से तन्मूलक अनन्वय अलङ्कार भी नही होगा। ऐसा इसलिये होगा कि—एक ही वस्तु मे धर्मवैभिन्न्य से भी सादृश्य हो सकता है। अर्थात् धर्म एक ही होना चाहिए और उसके विशेषण यदि भिन्न-भिन्न हो और अनुक्त हो तो भी उनका अन्वय हो ही जायेगा। अत स्व का स्व मे धर्मवैभिन्न्य से अन्वय हो जायेगा। अनन्वय की व्युत्पत्ति है 'न अन्वय सादृश्यस्य, इत्यनन्वयः।' वह यहाँ लागू नही हो सकेगा।

अनन्वय के भेद

६४. रस पृ. २०४
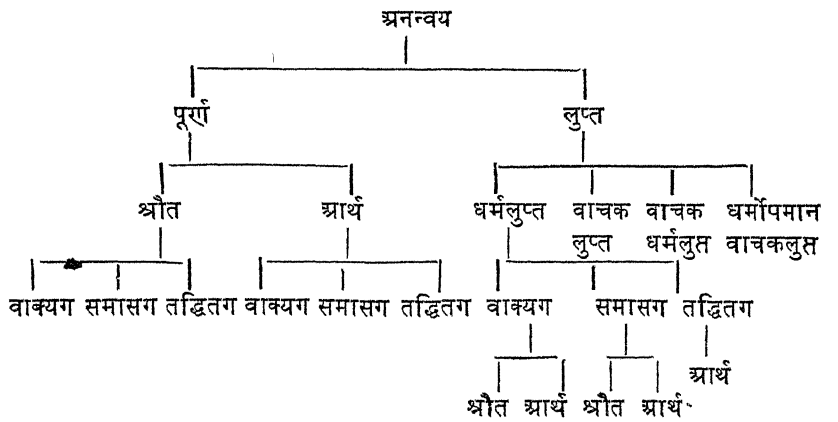
अनन्वय दो प्रकार का होता है—पूर्ण और लुप्त। पूर्णानन्वय पूर्णोपमा के समान ६ प्रकार का होता है (—श्रौत, आर्थ तथा प्रत्येक के वाक्यगत, समासगत और तद्धितगत यह तीन-तीन भेद।)

इसका उदाहरण देते है—

'गङ्गा हृद्या तथा गङ्गा, गङ्गा गङ्गेव पावनी।
हरिणा सदृशो बन्धुर्हरिर्तुल्य परो हरि ॥
गुरुवद्गुरुराराध्यो गुरुवद् गौरव गुरो ॥[६५]

इसमे प्रथम चरण मे श्रौत वाक्यगत, द्वितीय चरण मे श्रौत समासगत, तृतीय चरण मे आर्थ वाक्यगत, चतुर्थ चरण मे आर्थ समासगत, पञ्चम चरण मे 'तेन तुल्य' सूत्र से वति प्रत्यय होने से आर्थ तद्धितगत और षष्ठ चरण मे 'तत्र तस्येव' सूत्र से वति प्रत्यय होने से श्रौत तद्धितगत पूर्ण अनन्वय अलङ्कार है।

लुप्त अनन्वयो मे भी धर्मलुप्त वाला प्रकार पाँच प्रकार का होता है—श्रौत वाक्यग, आर्थवाक्यग, श्रौत समासग, आर्थ समासग और तद्धितग। उपर्युक्त पद्य मे धर्मवाचक पद को छोडकर दूसरा कोई पद लगाने से इसका उदाहरण बन जायेगा।

वाचक लुप्त जैसे—

रामायमाण श्रीराम सीता सीतामनोहरा।
ममान्त करणे नित्य विहरेता जगद्गुरू ॥[६६]

इसमे क्यङ् और समास मे वाचक लुप्तानन्वय के उदाहरण है। इसी प्रकार कर्तृणमुलादि[६७] मे भी समझ लेना चाहिए।

वाचकधर्मोपमान के लुप्त होने पर—

'एतावति प्रपञ्चेऽस्मिन्सदेवासुरमानुषे।
केनोपमीयता तज्ज्ञै रामो रामपराक्रम ॥'[६८]

इसमे उपमानलुप्तादि भेद सम्भव नही होते। यदि सम्भव भी हो तो चमत्कारी नही होते।

शोभाकरमित्र का मत

अलङ्काररत्नाकर मे अनन्वय का लक्षण एव भेद इस प्रकार कहे गये है—

"तेनैव तदेकदेशेनावसितभेदेन वोपमानतया कल्पितेन सादृश्यमनन्वय। उपमेयेनैवोपमानतया कल्पितेनोपमेयस्यामुखावभासमानसाधर्म्यापादनमेकोऽनन्वय।

६५. रसपृ. २०५
६६. रसपृ २०५
६७. दे० परि० ख–७–८
६८. रसपृ २०६

उपमेयैकदेशस्य तथैवोपमानताकल्पनमपर । उपमेयस्यैव प्रतिबिम्बत्वादिना भेदेनावसितस्य तत्त्वकल्पन तृतीय ।"[६६]

अर्थात् अनन्वय तीन प्रकार का होता है—(१) उपमेय को ही उपमान रूप मे कल्पित कर उपमेय के साथ उसका आपातत प्रतीत होने वाला साधर्म्य वर्णन करना, (२) उपमेय के एक देश को उपमान रूप मे कल्पित कर उपमेयोपमान का साधर्म्य दिखाना, और (३) उपमेय को ही प्रतिबिम्ब के रूप मे भिन्न मानकर उपमान रूप मे कल्पित कर लेना । तीनो प्रकारो के उदाहरण क्रमश इस प्रकार है—

(१) 'युद्धेऽर्जुनोऽर्जुन इव प्रथितप्रताप –' इत्यादि ।

(२) 'एतावति प्रपञ्चे सुन्दरमहिलासहस्रभरितेऽपि ।
अनुहरति सुभग तस्या वामार्ध दक्षिणार्धस्य ।।'

(३) 'गन्धेन सिन्धुरधुरन्धरवक्त्रमैत्री–
मैरावणप्रभृतयोऽपि न शिक्षितास्ते ।
तत्त्व कथ त्रिनयनाचलरत्नभित्ति–
स्वीयप्रतिच्छविषु यूथपतित्वमेषि ।।'—

इन तीनो उदाहरणो मे द्वितीय उपमान का अभाव अवभासित होता है अत अनन्वय अलङ्कार है ।[१००]

पण्डितराजकृत खण्डन

शोभाकरमित्र के मत को अनुचित सिद्ध करने के लिए पण्डितराज निम्नोक्त आधार प्रस्तुत करते है ।

(१) किसी अन्य उपमान का अभाव ज्ञात होने से यदि अनन्वय हो जायेगा तब 'स्तनाभोगे पतन्भाति–' इत्यादि पूर्वोक्त कल्पितोपमा के स्थल मे और प्राचीन आलङ्कारिको के द्वारा कही गयी यद्यर्थ अतिशयोक्ति मे भी अतिप्रसक्ति होगी ।

(२) यदि यह कहे कि उपमानान्तरनिषेधरूप फल वाला व एकोपमानोपमेय वाला सादृश्य अनन्वय है अत कल्पितोपमा आदि मे अतिव्याप्ति नही होगी, तो भी जो द्वितीय भेद का उदाहरण दिया हे—'एतावति प्रपञ्चे—' इत्यादि, उसमे लक्षण अव्याप्त हो जायेगा । इस पद्य मे एक ही वस्तु उपमान और उपमेय नही है, भिन्न-भिन्न है अतः 'एकोपमानोपमेयक' विशेषण सङ्गत नही होगा ।

उपमेय का एकदेश हो अथवा प्रतिबिम्ब दोनो मे से किसी के भी उपमान होने से अनन्वय हो जायेगा—यह कह कर भी उक्त अव्याप्ति का वारण नही किया जा सकता क्योकि 'अनन्वय' पद का यौगिक अर्थ 'नास्ति अन्वयो यस्य स' उस स्थान

---

९९. अ० र० पृ ४४/रस पृ २०६

१०० रस पृ २०६-२०७

पर सङ्गत नही होता जहाँ उपमेय के एक देश को उपमान बनाया जाता है । क्योंकि उपमान का अभाव वहाँ नही है ।

'एतावति प्रपञ्चे—' इत्यादि पद्य मे नायिका का निरुपमत्व तो प्रतीत होता है परन्तु वामार्ध का निरुपमत्व नही । एव उपमेय नायिका नही है, वामार्ध है, अत नायिका के निरुपमत्व को लेकर वहाँ अनन्वय की सिद्धि नही हो सकती ।

इस प्रकार अलङ्काररत्नाकर मे किये गये अनन्वय के भेद परस्पर विरुद्ध है अतएव उनसे घटित लक्षण भी असिद्ध है ।

रूय्यक का मत

अलङ्कार सर्वस्वकार के अनुसार 'एतावति प्रपञ्चे—' इत्यादि मे अनन्वय वाच्य नही व्यङ्ग्य है । अर्थात् नायिका का अनुपमत्व व्यङ्ग्य है जिसके आधार पर उसमे अनन्वय की ध्वनि है । यदि इसमे अनन्वय की ध्वनि नही स्वीकार की जायगी तो ध्वनि का विषय ही समाप्त हो जायगा ।

पण्डितराजकृत खण्डन

शोभाकरमित्र के मत को खण्डित करते समय जिन युक्तियो को उपस्थित किया गया है अर्थात् उपमान और उपमेय का एक न होना तथा नायिका का निरुपमत्व अनन्वय का विषय न होना—उन्ही युक्तियो के आधार पर यह कहा है कि इस उदाहरण मे अनन्वय की स्थिति ही नही बन पाती है तब उसकी ध्वनि मानना तो नितान्त असङ्गत ही है ।

अप्पय दीक्षित का मत

अनन्वय अलङ्कार का निरूपण करते हुए चित्र मीमासा मे अप्पय दीक्षित ने कहा है कि यह अनन्वय व्यङ्ग्य भी होता है जैसे—

'अद्य या मम गोविन्द जाता त्वयि गृहागते ।
कालेनैषा भवेत्प्रीतिस्तवैवागमनात्पुन ।।'[१०२]

इस पद्य मे-यहाँ घर आये हुए श्रीकृष्ण के प्रति विदुर के वाक्य मे 'यह तुम्हारे आने के कारण उत्पन्न हुई प्रीति बहुत काल के पश्चात् तुम्हारे ही आने से पुन होगी, अन्य किसी के आने से नही'—इस उक्ति प्रकार से 'तुम्हारे आगमन से उत्पन्न प्रीति उसी के समान है अन्य किसी प्रीति के समान नही—' यह व्यङ्ग्य होता है ।[१०३]

---

१०१ रूय्यक का यह मत उनके ग्रन्थ अलङ्कारसर्वस्व मे प्राप्त नही होता ।

१०२ रस पृ २०८

१०३ अयमनन्वयो व्यङ्ग्योऽप्यस्ति । यथा 'अद्य या मम . ' इत्यादौ । अत्र गृहागत श्रीकृष्ण प्रति विदुरवाक्ये इय त्वदागमनप्रभवप्रीतिर्बहुकालव्यवहितेन पुनरपि त्वदागमनेनैव भवेत् नान्येनेत्युक्तिभङ्ग्या । त्वदागमनप्रीते सैव सदृशी न त्वितरप्रभवेति व्यज्यते । (चि. मी पृ. ५०)

पण्डितराजकृत खण्डन

अप्पयदीक्षित के इस मत को पण्डितराज ने अनुचित कहा है। वह कहते है कि --

(१) 'यह तुम्हारे आने से उत्पन्न प्रीति पुन' तुम्हारे ही आने से उत्पन्न होने वाली प्रीति के समान है' यह ज्ञान सभी को होता है, अत सामान्य प्रीति के भी दो अवयवो की प्रतीति होती है—श्रीकृष्णागमन से होने वाली इस समय की प्रीति और कालान्तर मे होने वाली प्रीति। और इन दोनो प्रीति-व्यक्तियो मे सादृश्य बोध होता है। अनन्वय का योगार्थ (न अन्वय यस्य स -जिसका सम्बन्धी (समान पदार्थ) कोई न हो, वह) यहाँ सङ्गत ही नही होता अत यहाँ अनन्वय नही है। (इसमे श्रीकृष्णागमनजन्य प्रीति है सामान्य प्रीति जो अवयवी है, उसके दो अवयव है—अद्यतनी प्रीति और वारान्तर मे होने वाली प्रीति। प्रथम प्रीति है उपमान एव द्वितीय प्रीति है उपमेय। उन दोनो मे सादृश्य का बोध होने से यहाँ अनन्वय नही है।

(२) इसके अतिरिक्त यदि श्रीकृष्णागमनजन्य प्रीति सामान्य को लेकर अनन्वय कहा जाय तो प्रीति सामान्य उपमेय नही है अत वह भी नही कहा जा सकता। (अर्थात् कृष्णागमनजन्य सामान्य प्रीति को उपमेय के रूप मे वर्णित नही किया है, अवयवभूता अद्यतनी प्रीति का ही उपमेयत्वेन वर्णन हुआ है।) अनन्वय मे उपमेय का ही निरुपमत्व विवक्षित है नकि अनुपमेय का भी। अत उस प्रीति सामान्य का अनन्वयत्व असिद्ध होने से वह अलङ्कार का आधार नही हो सकती।

(३) एव च अप्पयदीक्षित ने स्वय भी अनन्वय अलङ्कार का लक्षण दिया है—

'स्वस्मिन्सादृश्यस्यान्वयाभावादनन्वय '[१०४]

अर्थात् अपने मे सादृश्य का अभाव होने से अनन्वय होता है।

(४) यदि यह कहा जाय कि अवयवो का सादृश्य भी अवयवी का तो निरुपमत्व ही अभिव्यञ्जित करते है अत त्वादृश प्रीति सामान्य का सदृशान्तर-व्यवच्छेद होने से यहाँ अनन्वय है—तो भी ठीक नही है क्योकि इस प्रकार का निरुपमत्व सहृदय के हृदय को चमत्कारी नही प्रतीत होता।

अनन्वय की ध्वनि

अनन्वय की ध्वनि का उदारण यह है—

पृष्टा खलु परपुष्टा परितो दृष्टाश्च विटपिन सर्वे।
भेदेन भुवि न पेदे साधर्म्यं ते रसाल मधुपेन।।'[१०५]

---

१०४. चि मी पृ २०६

१०५. रस पृ. २०६

यहाँ पर 'भेदेन' इस उक्ति से 'अभेद मे सादृश्य को पाया' इस प्रकार की अनन्वयात्मक ध्वनि सिद्ध होती है। अर्थात् 'मधुपो' ने तुम्हारी समता तुमसे भिन्न मे कही नही पायी। इस अर्थ के युक्त 'भेदेन तव सामर्थ्य न पेदे, इस उयि से 'त्वयि तु तव सादृश्य पेदे' यह ध्वनि-'सादृश्य का अनन्वय'-स्वरूपा है अत. अनन्वयात्मक है।

समवलोकन

अनन्वय के स्वरूप आदि मे परम्परा से हटकर पण्डितराज ने किसी तत्त्व का निरूपण नही किया है अत लक्षण भी प्राचीनमत के अनुकूल ही है। केन्द्रीभूत तत्त्व-द्वितीय सदृशव्यवच्छेद को समान रूप से स्वीकार करते हुए भी अन्य आलङ्कारिको के लक्षणो मे दोष दिखाकर पण्डितराज ने अपने लक्षण की निर्दुष्टता को परिपुष्ट किया है।

अप्पयदीक्षित के मत का जिस ढङ्ग से विश्लेषण किया गया है वह सहृदय-हृदयग्राही नही प्रतीत होता अपितु पण्डितराज की हठधर्मिता ही परिलक्षित होती है।

अनन्वय मे भी सादृश्य विद्यमान रहता है परन्तु वह प्रधानरूप से चमत्कारी नही होता, प्रधान चमत्कार होता है 'अनन्वय' (द्वितीयोपमान के अभाव) का ही अत वह उपमा से पृथक् है।

अनन्वय मे वास्तव मे किसका चमत्कार होता है, उस चमत्कार का आधार क्या होता है—इत्यादि अनेक सूक्ष्म विचारो का स्पष्टीकरण पण्डितराज ने ही किया है।

असम

लक्षण

पण्डितराजकृत लक्षण

'सर्वथैवोपमाननिषेधोऽसमाख्याऽलङ्कार ।'[१०६]

अर्थात् जब सर्वथा उपमान का निषेध किया जाता है तो असम नामक अलङ्कार होता है। जैसे—

भुवनत्रितयेऽपि मानवै परिपूर्णे विबुधैश्च दानवै ।
न भविष्यति नास्ति नाभवन्नृप यस्ते भजते तुलापदम् ।।

यहाँ मुख्य रूप से प्रतीत हो रही है राजस्तुति एव उसका उपस्कार कर रहा है किसी भी उपमान का न होना रूप असम। अत वह अलङ्कार है।

एतदलङ्कार सम्बन्धी विशेष विचार

(१) **अनन्वय और असम मे भेद**

उक्त असमालङ्कार के लक्षण को मानने पर यह शङ्का हो सकती है कि अनन्वय मे भी व्यङ्ग्य रूप मे उपमान का सर्वथा निषेध ही प्रतीत होता है और

१०६ रस पृ २१०

असम अलङ्कार मे भी उपमान का सर्वथा निषेध ही वर्णित रहता है अत. इन दोनो को पृथक्-पृथक् अलङ्कार मानना अनुचित है, वास्तव मे दोनो एक ही है। इसी के समाधान मे यह कहते है कि जिस प्रकार रूपकादि मे उपमा अन्तर्गर्भित रहती है, परन्तु गौण हो जाने के कारण वह अलङ्कारत्वेन व्यपदिष्ट नही होती उसी प्रकार अनन्वय मे भी असम अन्तर्गर्भित रहता है परन्तु गौण रहता है अत. अलङ्कारत्वेन अनन्वय का ही व्यपदेश होता है। जहाँ असमकृत उपमान का सर्वथा अभाव वाच्य होकर प्रधानतया प्रतीत होता है वहाँ असमालङ्कार होता है।

साराश यह है कि असम मे उपमान का सर्वथा निषेध प्रधान होता है और चमत्कारी होता है तथा अनन्वय मे वह व्यङ्ग्य किन्तु अप्रधान होता है। अभिहित रूप मे स्व का स्व ही उपमान रहता है, उपमान का अभाव नही।

अनन्वय मे सदा असम अलङ्कार विद्यमान रहता है प्रच्छन्न रूप से। परन्तु प्राधान्य के आधार पर, जैसाकि ऊपर कहा गया है, इन दोनो अलङ्कारो को पृथक्-पृथक् ही मानना चहिए, अनन्वय को असम मे अन्तर्भूत नही करना चाहिए।

(२) उपमानलुप्तोपमा और असम मे भेद

उपमान लुप्तोपमा मे भी उपमान का अभाव रहता है और असम मे भी इसलिये असम को उपमानलुप्ता से अभिन्न नही मान लेना चाहिये क्योकि—(१) उपमानलुप्ता मे क्वाचित्क (कही-कही) सादृश्य का निषेध होता है और असम मे आत्यन्तिक उपमान का निषेध रहता है। क्वाचित्क का तात्पर्य है किसी काल अथवा स्थान विशेष मे सादृश्य का न होना एव आत्यन्तिक का तात्पर्य है किसी भी काल अथवा स्थान मे उपमान का न होना।

(२) उपमानलुप्तोपमा उपमा का भेद होने से सादृश्यमूलक है और असमालङ्कार मे सर्वथा उपमान का निषेध होने से सादृश्य का लेश भी नही होता। अत आधारभूत तत्त्व सादृश्य के अभाव मे असम को उपमानलुप्ता कहना असम्भव है।

अत असमालङ्कार एक पृथक् एव स्वतन्त्र अलङ्कार है इसमे कोई सन्देह नही है।

असम के भेद

पण्डितराज का मत

असमालङ्कार मे भी पूर्णा-लुप्ता उपमा के समान नाना भेद सम्भव हो सकते है। वह स्वय ऊह्य है अत उनका विशेष निरूपण अपेक्षित नही है।

इसके अतिरिक्त यह दो प्रकार का होता है—

(१) उपमान के निषेध से, (२) साक्षात् उपमा के निषेध से।

उपमान के निषेध से होने वाला असम जैसे—

भूमीनाथ शहाबदीन भवतस्तुल्यो गुणाना गणै-
रेतद्भूतभवप्रपञ्चविषये नास्तीति किं ब्रूमहे ।
धाता नूतनकारणैर्यदि पुन सृष्टि नवा भावये-
न्न स्यादेव तथापि तावकतुलालेश दधानो नर ।।[१०७]

इसमे राजा की समानता रखने वाले अन्य पुरुष रूप उपमान का निषेध है जिसके आधार पर असमालङ्कार है ।

उपमा के निषेध से होने वाले असमालङ्कार का उदाहरण यह है—

पूर्णमसुरै रसातलममरै स्वर्गा वसुन्धरा च नरै ।
रघुवशवीरतुलना तथापि खलु जगति निरवकाशैव ।।[१०८]

इसमे सादृश्य का निषेध है सदृश का नही ।

यह निषेध यदि शब्दत उपात्त हो तो यह अलङ्कार वाच्य होता है तथा उसके अभाव मे व्यङ्ग्य । उदाहरणार्थ—

'मयि त्वदुपमाविधौ वसुमतीश वाचयमे
न वर्णयति मामय कविरिति क्रुध मा कृथा ।
चराचरमिद जगज्जनयतो विधेर्मानसे
पद हि न दधेतरा तव खलु द्वितीयो नर' ।।[१०९]

इसमे जो अबतक विधाता के मानस मे आरूढ़ नही हुआ वह आगे भी नही होगा । अत सर्वथा ही उसका अभाव है ।– यह अर्थ व्यञ्जना से ज्ञात हो रहा है । परन्तु व्यङ्ग्य होने पर भी वह राजस्तुति रूप अर्थ का उपस्कारक है अत: अलङ्कार है ।

अलङ्कार रत्नाकर का मत

शोभाकर मित्र ने अपने ग्रन्थ मे असमालङ्कार के प्रकरण मे यह कहा है कि -

ढुण्ढुलन्तो मरीहसि कण्टककलिआइ केअइवणाइ ।
मालइकुसुमसरिच्छ भमर भमन्तो न पावहिसि ।।
(ढुण्ढुलायमानो मरिष्यसि कण्टककलितानि केतकिवनानि ।
मालतीकुसुमसदृश भ्रमर भ्रमन्नपि न प्राप्स्यसि ।।)[११०]

---

१०७ रस पृ २१०
१०८ रस पृ. २१३
१०९. रस पृ २१२
११० अ. र पृ. २११

इस उदाहरण मे उपमानलुप्तोपमा नही है असमालङ्कार है क्योकि उपमान-लुप्ता नही होती हैं जहाँ उपमान की सम्भावना होती है किन्तु उसका कथन नही होता ।[१११]

पण्डितराजकृत खण्डन

पण्डितराज ने शोभाकार मित्र के उक्त मत का खण्डन करते हुए कहा है कि इस पद्य मे असम अलङ्कार नही है, उपमानलुप्तोपमा ही है । अपने मत को सिद्ध करने के लिये उन्होने निम्न युक्तियो का आश्रय लिया है—

(१) 'हे भ्रमर ! मालती पुष्प के समान किसी पुष्प को खोजने पर भी तुम नही पाओगे' इस वाच्यार्थ से जो अर्थ अवगत होता है वह यह कि उस पुष्प के सदृश पुष्प कही न कही है परन्तु तुम उसे प्राप्त नही कर पाओगे । इस बोध के होने से उपमान का आत्यन्तिक निषेध बाधित हो जाता है । अर्थात् इस पद्य मे 'मालती पुष्प के समान कोई पुष्प है ही नही' इस प्रकार का उपमान का सर्वथा निषेध अव-भासित नही हो रहा । उसके अभाव मे असमालङ्कार की स्थिति असम्भव ही है ।

(२) यदि उपमान का सर्वथा निषेध ही अभिमत हो तो 'मालती कुसुम के समान ही कोई पुष्प नही है' यही कहा जाता न कि 'तुम नही प्राप्त करोगे' यह । अत यहाँ उपमानलुप्तोपमा ही है, असम नही ।

समवलोकन

असम अलङ्कार एक ऐसा अलङ्कार है जिसे न मम्मट ने माना है न अप्पय दीक्षित ने तथापि पण्डितराज ने इसको पृथक् रूप मे निर्दिष्ट किया है । इससे प्रतीत होता है कि इनका इस अलङ्कार के प्रति विशेष अनुग्रह था । इसी का प्रभाव है कि आरम्भ मे उपमानलुप्तोपमा और अनन्वय से इसका पार्थक्य विशेष रूप से दिखाया है । असमालङ्कार का पुन स्थापन पण्डितराज की देन कही जाय तो अनुचित नही होगा ।

शोभाकर मित्र के मत का खण्डन जिस प्रकार किया है वह प्रस्तुत प्रबन्धकर्त्री को रुचिकर नही प्रतीत होता । 'ढूँढते हुए मर जाओगे' इससे स्वरसिक प्रतीति यही होती है कि 'अन्य कोई समान पुष्प है ही नही' जोकि सर्वथा उपमान के निषेध मे ही तत्पर है । अत इसमे असमालङ्कार मानना ही अधिक अनुभूतिसङ्गत लगता है उपमानलुप्तोपमा नही ।

---

१११ रस पृ, २११

उदाहरण

लक्षण

पण्डितराजकृत लक्षण

'सामान्येन निरूपितस्यार्थस्य सुखप्रतिपत्तये तदेकदेश निरूप्य तयोरवयवावयविभाव उच्यमान उदाहरणम् ।'[११२]

इसका अर्थ यह है कि सामान्य रूप मे ज्ञात किसी अर्थ को अधिक सरलता से बताने के लिये उसी के किसी विशेष स्थान को कहकर जब यह स्पष्ट किया जाता है कि वह सामान्य और विशेष अर्थ परस्पर अवयवी एव अवयव है, तो उदाहरण अलङ्कार होता है।

इस अलङ्कार के लक्षण मे 'उच्यमान' पद विशेष अभिप्राय से युक्त है। उसका तात्पर्य है इव, यथा, निदर्शन और दृष्टान्त आदि शब्दो के द्वारा उस अवयवावयविभाव का साक्षात् उक्त हो जाना। इव, यथा आदि शब्दो से लक्षणावृत्ति के द्वारा जैसे उत्प्रेक्षण का ज्ञान होता है वैसे ही अवयवावयविभाव का भी ज्ञान हो जाता है। इस लाक्षणिक बोध मे किसी भी आलङ्कारिक को आपत्ति नही है।

उच्यमान पद के देने से ही अर्थान्तरन्यास से उदाहरण की पृथक्ता भी सिद्ध होती है। क्योकि 'गुणवद्वस्तु ससर्गाद्याति स्वल्पोऽपि गौरवम्। पुष्पमालानुषङ्गेण सूत्र शिरसि धार्यते।' इसमे भी गुणशाली वस्तु रूप सामान्य का पुष्पमालारूप विशेष के साथ अवयवावयविभाव है ही, परन्तु इवादि शब्दो से उक्त न होने के कारण ही यहाँ उदाहरणालङ्कार नही है अर्थान्तरन्यास है। उदाहरणालङ्कार का उदाहरण यह है—

> अमितगुणोऽपि पदार्थो दोषेणैकेन निन्दितो भवति।
> निखिलरसायनराजो गन्धेनोग्रेण लशुन इव ॥[११३]

इसमे प्रथमार्ध मे प्रतिपादित सामान्य अर्थ का द्वितीयार्ध मे प्रतिपादित विशेष अर्थ के साथ अवयवावयविसम्बन्ध है तथा प्रथमार्धार्थ के बोध को सरल बनाने के लिये ही द्वितीयार्धार्थ का भी प्रतिपादन किया गया है। (इसी प्रकार 'निदर्शन' और 'दृष्टान्त' पदो के प्रयोग से होने वाले उदाहरण के भी उदाहरण दिये गये है।)

इव तथा निदर्शन आदि पदो के प्रयोग मे यह अन्तर होता है कि जहाँ 'इव' और 'यथा' पदो का प्रयोग होता है वहाँ सामान्य अर्थ प्रधान होता है तथा एक ही वाक्य रहता है। जैसे 'उग्रेण गन्धेन लशुन इव अमितगुणोऽपि पदार्थो निन्दितो भवति।' इसमे एक ही वाक्य है तथा सामान्य अर्थ प्रधान है। एव जहाँ निदर्शन

---

११२. रस पृ. २१३
११३. रस पृ. २१३

और दृष्टान्त पदो का प्रयोग होता है वहाँ विशेष अर्थ प्रधान होता है तथा वाक्य भी दो रहते है । जैसे 'सद्‌गुणशाली उपकारमेव कुरुते । मृत पारदोऽत्र निदर्शनम् ।।'[११४] इसमे दो वाक्य है तथा विशेष अर्थ प्रधान है ।

उदाहरण और अर्थान्तरन्यास का भेद

(१) अर्थान्तरन्यास और उदाहरण मे सर्वप्रमुख भेद तो वही होता है जो ऊपर कहा गया है अर्थात् इवादि शब्दो से सामान्य और विशेष अर्थो का अवयवावयविभाव का उक्त व अनुक्त होना ।

(२) उदाहरणालङ्कार मे सामान्य और विशेष दोनो प्रकार के अर्थों का एक ही क्रिया के साथ अन्वय होता है । जैसे—'उपकारमेव कुरुते—' इत्यादि मे सद्‌गुण रूप सामान्य अर्थ का तथा पारद रूप विशेष अर्थ का 'उपकारमेव कुरुते' इस एक ही क्रिया के साथ अन्वय होता है । परन्तु अर्थान्तरन्यास मे विशेष रूप से दोनो की पृथक् पृथक् क्रियाओ का उपादान होता है । जैसे—

'उपकारमेव कुरुते विपद्‌गत सद्‌गुणो नितराम् ।
मूर्च्छां गतो मृतो वा रोगानपहरति पारद सकलान् ।।'[११५]

इसमे 'सद्‌गुण' के साथ 'उपकार करना' और पारद के साथ रोगापहरण का पृथक् पृथक् अन्वय होता है ।

(१) उदाहरणालङ्कार मे और अर्थान्तरन्यास मे समान रूप से विशेषार्थ के सामान्यार्थ का समर्थन होने पर भी, उदाहरणालङ्कारगत विशेष अर्थ के उद्देश्य और विधेयाशो मे से विधेयाश का सामान्यार्थ मे ही कथन हो चुका होता है तथा अर्थान्तरन्यासगत विशेषार्थ के उद्देश्य और विधेयाशो का विशेष वाक्य से ही कथन होता है । जैसे 'मूर्च्छा गतो मृतो वा निदर्शन पारदो अत्र' इस उदाहरणालङ्कार के विशेष वाक्य का विधेयाश है 'उपकारमेव कुरुते' और इसका कथन सामान्य वाक्य–'उपकारमेव कुरुते सद्‌गुणो नितराम्–' से ही हो चुका है । अतः इसका विधेयाश सामान्यगत ही है । अर्थान्तरन्यास मे—'रोगानपहरति पारद सकलान्' इस विशेष वाक्य मे विधेयाश—रोगापहरण और अनुवाद्याश दोनो का विशेष वाक्य मे ही उपादान किया गया है ।

प्राचीन मत

उदाहरण अलङ्कार के सम्बन्ध मे प्राचीनो का मत इस प्रकार है—

यह अलङ्कार पृथक् अलङ्कार नही है क्योकि यह उपमा मे ही गतार्थ हो जाता है । उपमा से पृथक् सिद्ध करने के लिये यह नही कहना चाहिये कि उदाहरण मे सामान्य और विशेप मे सादृश्य न होने के कारण वहाँ उपमा नही हो सकती । उपमा वही होती है जहाँ दो वस्तुओ मे भेद होते हुए समानता हो । (सामान्य विशेष

११४ रस पृ २१४
११५. रस पृ. ४७१

भाव मे परस्पर भेद नही होता—अवयवावयविभाव होताहि है अतः सादृश्य के अभाव मे उपमा की सिद्धि असम्भव है। क्योकि 'निर्विशेष सामान्यम्' (विशेष से रहित सामान्य नही होता है)—इस प्रकार से सामान्य की किसी भी विशेष के बिना—उदाहरणालङ्कार मे योग्यता नही हो सकती (अर्थात् सामान्य और विशेष मे यदि कोई भी अन्तर न हो तो वह उदाहरणाङ्कार के विषय भी नही बन सकते।) इसलिये तादृश विशेष को लेकर विशेषान्तर के साथ सादृश्य की प्रतीति होने मे कोई बाधा नही होने से, इवादि शब्दो के द्वारा आपातत प्रतीयमान सामान्य विशेष भाव का अन्त मे सादृश्य मे ही पर्यवसान होता है।

समवलोकन

यहाँ भी प्राचीन परम्परा का अनुसरण करते हुए पण्डितराज ने उदाहरणालङ्कार का निरूपण किया है। पूर्वाचार्यो का अनुगमन न करना ही पण्डितराज की इस अलङ्कार की विशेष मान्यता मे प्रबल प्रमाण है।

उदाहरण और अर्थान्तरन्यास के सूक्ष्म भेद का उद्घाटन करना जगन्नाथ की विशेष विद्वत्ता का परिचायक है। प्रसगत. दिया गया शाब्दबोध भी उनकी नैयायिकता का द्योतक है।[११६]

स्मरण

लक्षण

पण्डितराजकृत लक्षण

पण्डितराजकृत स्मरण अलङ्कार का लक्षण इस प्रकार है—

'सादृश्यज्ञानोद्बुद्धसस्कारप्रयोज्य स्मरण स्मरणालङ्कार।'[११७]

अर्थात् सादृश्य विषयक ज्ञान से उद्बुद्ध सस्कार से प्रयोजित जो स्मरण हो वह स्मरणालङ्कार होता है। अर्थात् जब किसी पदार्थ विशेष के देखने से अन्य वस्तु के साथ उसके सादृश्य का बोध होता है तथा उस बोध से उस अन्य वस्तु की स्मृति होती है तो (उपस्कारक होने पर) वह अलङ्कार होती है।

११६. दे परि क-३
११७. रस पृ २१६

इस लक्षण मे जन्य पद की अपेक्षा प्रयोज्य पद देने का प्रयोजन यह है कि यत्किञ्चित् सादृश्य-बोध से उद्बुद्ध सस्कार के द्वारा प्रयोजित सादृश्य के साथ स्मर्यमाण वस्तु का सम्बन्धित होना आवश्यक नही है । जैसे—

एकीभवत्प्रलयकालपयोधिकल्प-
मालोक्य सङ्गरगत कुरुवीरसैन्यम् ।
सस्मार तल्पमहिपुङ्गवकायकान्त
निद्रा च योगकलिता भगवान् मुकुन्द ॥[११८]

इसमे कौरवसेना को देखने से समुद्र के साथ सादृश्यबोध, एव उससे योगनिद्रा और शेषशैया का स्मरण वर्णित है । यहाँ समुद्र और योगनिद्रा तथा शेषशैया का आपातत कोई सम्बन्ध नही है । परन्तु फिर भी स्मरण अलङ्कार है क्योकि समुद्र सादृश्य तल्पनिद्रा आदि का जनक न हो परन्तु प्रयोजक तो है ही । अतः इस प्रकार के स्थलो का भी समावेश करने के उद्देश्य से 'प्रयोज्य' पद दिया गया है । इसका उदाहरण इस प्रकार है :—

दोर्दण्डद्वयकुण्डलीकृतलसत्कोदण्डचण्डध्वनि-
ध्वस्तोद्दण्डविपक्षमण्डलमथ त्वा वीक्ष्य मध्येरणम् ।
वल्गद्गाण्डिवमुक्तकाण्डवलयज्वालावलीताण्डव-
भ्रश्यत्खाण्डवरुष्टपाण्डवमहो को न क्षितीश. स्मरेत् ॥[११९]

इसमे वर्णित पाण्डवो की स्मृति कवि मे रहने वाली राजविषयक रति की उपस्कारिका है अत अलङ्कारभूता है । इसी प्रकार एक और भी उदाहरण दिया गया है । प्रस्तुत पद्य मे 'स्मरेत्' पद का प्रयोग हो जाने से स्मरणालङ्कार वाच्य है । इसके अभाव मे वह लक्ष्य या व्यङ्ग्य हो जाता है ।

रुय्यक तथा शोभाकर मित्र का मत

रुय्यक के द्वारा निर्मित स्मरणालङ्कार का लक्षण यह है–'सदृशानुभवाद्वस्त्व-न्तरस्मृतिः स्मरणम् ।'[१२०] तथा शोभाकर मित्र का लक्षण—'सदृशानुभवात् स्मरणे स्मरणः'–[१२१] यह है । दोनो ही लक्षणो का तात्पर्य एक ही है कि सदृश वस्तु का अनुभव होने से किसी वस्त्वन्तर की स्मृति ही स्मरण अलङ्कार है ।

पण्डितराजकृत खण्डन

पण्डितराज ने उक्त दोनो ही मतो को अशुद्ध बताया है क्योकि उन दोनो लक्षणो की ऐसे स्थल मे अव्याप्ति होती है जिसमे किसी सदृशानुभव से उद्बुद्ध सस्कार से किसी स्मृति की उत्पत्ति होती है । अर्थात् जहाँ इस प्रकार का वर्णन रहता है जिसमे सदृशवस्तु के बोध होने पर किसी पूर्वानुभूत पदार्थ का सस्कार जगता

११८. रस पृ २१६
११९ रस पृ. २१६
१२०–१२१. रस पृ. २२१

है तथा उस सस्कारोद्बोधन से किसी अन्य वस्तु की स्मृति होती है, वहाँ इन दोनो के मत के अनुसार स्मरण अलङ्कार नही हो सकेगा । जैसे —

'सन्त्येवास्मिञ्जगति बहव पक्षिणो रम्यरूपा-
स्तेषा मध्ये मम तु महती वासना चातकेषु ।
यैरध्यक्षैरथ निजसख नीरद स्मारयद्भि
स्मृत्यारूढ भवति किमपि ब्रह्म कृष्णाभिधानम् ॥'[१२२]

इसमे चातक को देखकर भगवान के समान जलधर की स्मृति हुई है और उस स्मृति से भगवान् की स्मृति हुई है । वह भगवत्स्मरण भगवद्विषयकरति का उपस्कारक होने से अलङ्कार है । इसका सङग्रह रत्नाकर आदि के मतानुसार नही होता ।

यदि उनके लक्षण मे से अनुभव के स्थान पर ज्ञान पद रख दिया जाय तो वह दोष समाप्त हो जायेगा । अर्थात् 'सदृशानुभवात्' न कहकर 'सदृशज्ञानात्' कहना चाहिये ।

(ज्ञान और अनुभव मे भेद है । ज्ञान का ही एक प्रकार है अनुभव जो प्रत्यक्षादि प्रमाणो से प्राप्त होता है । ज्ञान का दूसरा प्रकार है स्मृति जो सस्कार से जन्य होती है । अत यदि 'अनुभव' पद का प्रयोग होगा तो 'स्मृति' का सङ्ग्रह नही होगा जिससे उपर्युक्त 'दोर्दण्डद्वय--' इत्यादि स्थलो मे अव्याप्ति होगी परन्तु ज्ञान पद का प्रयोग करने से अनुभव और स्मृति दोनो का सङग्रह हो जायेगा और अव्याप्ति वाला दोष समाप्त हो जायेगा ।)

अप्पयदीक्षित का मत

चित्रमीमासा मे दीक्षित जी ने स्मरण-अलङ्कार का लक्षण इस प्रकार दिया हैं—

'स्मृति सादृश्यमूला या वस्त्वन्तरसमाश्रया ।
स्मरणालङ्कृति सा स्यादव्यङ्ग्यत्वविशेषिता ॥'[१२३]

अर्थात् जब कोई स्मृति सादृश्य पर आधारित, किसी अन्य वस्तु के विषय म तथा अव्यङ्ग्य हो तो वह स्मरणालङ्कार होती है । जैसे—

अपि तुरगसमीपादुत्पतन्त मयूर, न स रुचिरकलाप बाणलक्ष्यीचकार ।
सपदि गतमनस्कश्चित्रमाल्यानुकीर्णे, रतिविगलितबन्धे केशपाशे प्रियाया: ॥[१२४]

अथवा

---

१२२ रस पृ. २२१
१२३. चि० मी० पृ. ५०
१२४. रस पृ. २१८

दिव्यानामपि कृतविस्मया पुरस्तादम्भस्त स्फुरदरविन्दचारुहस्ताम् ।
उद्वीक्ष्य श्रियमिव काञ्चिदुत्तरन्तीमस्मार्षीज्जलनिधिमन्थनस्य शौरि ।।[१२५]

इत्यादि उदाहरणो मे एक मे सदृश वस्तु को देखकर उसके समान धर्मवाली स्मृति होती है और दूसरे मे सदृश वस्तु को देखकर उसके समान लक्ष्मी से सम्बन्धित जलनिधिमन्थन की स्मृति होती है । दोनो मे ही सादृश्य पर आधारित किसी दूसरी वस्तु की स्मृति होना समान रूप से प्राप्त है । इसलिये सदृश वस्तु और सदृश वस्तु सम्बन्धिनी अन्य वस्तु दोनो का सङग्रह करने के लिये ही 'वस्त्वन्तर' पद का ग्रहण किया गया है ।[१२६]

'सौमित्रे ननु सेव्यता तरुतल चण्डाशुरुज्जृम्भते,
चण्डाशोर्निशि का कथा रघुपते चन्द्रोऽयमुन्मीलति
वत्सैतद्विदित कथ नु भवता धत्ते कुरङ्ग यत,
क्वासि प्रेयसि हा कुरङ्ग नयने चन्द्रानने जानकि ।।'[१२७]

इत्यादि पद्य मे श्रुतकुरङ्ग सम्बन्धी (लक्ष्मण के मुख से हिरण का नाम सुनकर, न कि स्वय देखकर अत श्रुत-कुरङ्ग कहा है) उसके नयन की स्मृति से उसके समान सीता के नयनो की स्मृति और उससे (सीता के नयनो की स्मृति से) तत्सम्बन्धी सीता की स्मृति होती है । किन्तु यह स्मृति व्यङ्ग्य है और अलङ्कार्य है । इसलिये यह स्मरणालङ्कार का विषय नही है । इस प्रकार की स्मृति के व्यावर्तन के लिये ही अव्यङ्ग्यत्व विशेषण दिया गया है ।[१२८]

इसी प्रकार—

'अत्युच्चा परित स्फुरन्ति गिरय स्फारास्तथाम्भोधय-
स्तानेतानपि बिभ्रती किमपि न क्लान्तासि तुभ्य नम ।
आश्चर्येण मुहुर्मुहु स्तुतिमिति प्रस्तौमि यावद्भुव-
स्तावद्बिभ्रदिमा स्मृतस्तव भुजो वाचस्ततो मुद्रिता ।।'

इत्यादि मे होने वाली, स्तुति किये जाते हुए भूभृत् (राजा) से सम्बन्धित स्मृति सादृश्य पर आधारित नही है अत यहाँ स्मरणालङ्कार नही होगा । अपितु

---

१२५. रस पृ २१८

१२६ एकत्र सदृशदर्शनात्तत्सदृशधर्मिका स्मृति । इतरत्र सदृशदशनात्तत्सदृशलक्ष्मीसम्बन्धिनो जलनिधिमन्थनस्य स्मृति । उभयत्रापि सादृश्यमूलकवस्त्वन्तरस्मृतित्वमविशिष्टम् । अतएव सदृशासदृशसाधारण्यार्थतया लक्षणे वस्त्वन्तरग्रहणमर्थवत् । (चि०मी० पृ. ५०)

१२७ रस पृ २१८

१२८ अत्र श्रुतकुरङ्गसम्बन्धिनस्तन्नयनस्य स्मरणात्तत्सदृशसीतानयनस्मृतिस्तत्सम्बन्धिसीतास्मृतिश्चेति किन्त्वेषा व्यङ्ग्या, अलङ्कार्यभूता च । तद्व्यावृत्त्यर्थमव्यङ्ग्यत्वविशेषणम् । (चि०-मी० पृ ५०)

स्मृति रूप सञ्चारी भाव राजा विषयक रतिभाव का अङ्ग होने से प्रेयोलङ्कार का विषय है। अत साहश्यमूला विशेषरण दिया है।[१२९]

पण्डितराजकृत खण्डन

(१) **वस्त्वन्तर**—इस अप्पयदीक्षितोक्त समस्त कथन को पण्डितराज ने अरमरणीय घोषित किया है। वह कहते है 'सहश और असहश केशपाश और जलनिधि के मन्थन के लिये 'वस्त्वन्तर' पद लिया गया है'—यह कहना व्यर्थ है। क्योकि उसमे 'साहश्यमूला स्मृति स्मरणालङ्कार है' इतना कहने से ही केशपाश की स्मृति के समान जलनिधिमन्थन की स्मृति का भी ग्रहण हो ही जाता है। एक स्मृति साहश्य के दर्शन से उद्‌बुद्ध सस्कार से उत्पन्न होती है तथा दूसरी साहश्यदर्शन से उद्‌बुद्ध सस्कार से उत्पन्न लक्ष्मी के स्मरण से उद्‌बुद्ध सस्कार से जनित होती है। मूलत दोनो ही साहश्याधारित ही है।

(२) **अव्यङ्ग्य**—इसी प्रकार 'सौमित्रे—'इत्यादि पद्य मे स्मृति को व्यङ्ग्य और अलङ्कार्य कहना भी अनुचित है। यहाँ स्मृति अलङ्कार्य नही है अपितु जानकी के आलम्बन वाली, रात्रिकाल से उद्दीपित, सन्तापादि से अनुभावित, उन्माद आदि सञ्चारिभाव से परिपुष्ट विप्रलम्भ शृङ्गार ही प्रधान है एव अलङ्कार है। उस अलङ्कार्यभूत विप्रलम्भ की उपस्कारिका होने से स्मृति अलङ्कार ही है (अलङ्कार्य नही।) अत अव्यङ्ग्यत्व आदि विशेषणो से उस व्यङ्ग्य स्मृति की व्यावृत्ति करना व्यर्थ है। एव च यह भी आवश्यक नही है कि जो व्यङ्ग्य हो वह प्रधान भी हो। व्यङ्ग्य होते हुए भी वह अप्रधानरूप से अलङ्कार का विषय हो सकता है। जहाँ स्मृति प्रधान होगी भी वहाँ अलङ्कार सामान्य के विशेषण-उपस्कारकत्व-से उसका व्यावर्तन हो जायेगा। अर्थात् अव्यङ्ग्यत्व विशेषण देना निरर्थक ही है।

(३) इसके पश्चात् जो यह कहा गया है कि 'अत्युच्चा परित —' इत्यादि मे स्मृति रूप व्यभिचारी भाव राजविषयक रति का अङ्ग है अत प्रेयोलङ्कार है वह भी अनुचित है क्योकि प्रयोलङ्कार वही होता है जहाँ एक दूसरे भाव का अङ्ग होता है। इसमे स्मृति भाव नही है क्योकि 'स्मृत' पद से उसका अभिधान हो गया है। तथा जब व्यभिचारी भाव वाच्य होता है तब उसे भाव नही कहते। इसमे मम्मट का वाक्य 'व्यभिचार्यञ्चितो भाव'—[१३०] प्रमाण है।

इसके अतिरिक्त अलङ्कार सर्वस्व मे कथित यह अश भी इसमे प्रमाण है कि 'जिस स्मृति का उद्‌भव साहश्य के अतिरिक्त किसी कारण से होता है वही स्मृति प्रेयोलङ्कार का विषय होती है। वह स्मृति भी जब विभावादि के द्वारा अभिव्यक्त

१२९. स्तूयमानभूसम्बन्धिनो भूभृद्भुजस्य स्मृतिर्न सादृश्यमूलेति नात्र स्मरणालङ्कार। किंतु स्मृते सञ्चारिभावस्य भूभृद्विषयरतिभावाङ्गत्वात्प्रेयोऽलङ्कार। (चि० मी० पृ० ५०-५१)

१३०. का. प्र. पृ ९४

होती है तब प्रयोलङ्कार का विषय होती है जैसे–'अहो कोपेऽपि कान्त मुखम् ।' इसमे है । यदि वह स्मृति शब्दत कथित हो जाये तो प्रगोलङ्कार का विषय नही होती । जैसे—

अत्रानुगोद मृगयानिवृत्तस्नरङ्गवातेन विनीतखेद ।
रहस्त्वदुत्सङ्गनिषण्णमूर्धा स्मरामि वानीरगृहेषु सुप्तम् ।।[131] इत्यादि मे ।

इतना ही नही, कुवलयानन्द मे कही गयी इस उक्ति से भी यह स्पष्ट होता है कि विभाव-अनुभाव आदि से अभिव्यक्त निर्वेदादि भाव जहाँ किसी अन्य के अङ्ग हो वहाँ प्रेयोलङ्कार होता है । सार यह है कि 'अत्युच्चा–' इत्यादि मे प्रयोलङ्कार नही है ।

(इस प्रसङ्ग मे पण्डितराज ने प्रेयोलङ्कार के स्वरूप को लेकर भी हल्का सा शास्त्रार्थ किया है । प्रकृत विषय के लिये उपादेय न होने के कारण यहाँ नही दिया जा रहा है ।)[132]

स्मरणालङ्कार के भेद

सादृश्य मूलक होने के कारण, उपमा के समान ही, समानधर्म के आधार पर इस अलङ्कार के विभिन्न भेद सम्भव होते है । उदाहरण के लिये अनुगामी धर्म का स्थल यह है —

सन्त्येवास्मिञ्जगति बहवः पक्षिणो रम्यरूपा-
स्तेषा मध्ये मम तु महती वासना चातकेषु ।
यैरध्यक्षैरथ निजसख नीरद स्मारयद्भि
स्मृत्यारूढ भवति किमपि ब्रह्म कृष्णाभिधानम् ।।[133]

इसमे श्यामत्वरूप धर्म अनुगामी है । बिम्बप्रतिबिम्ब भाव युक्त साधारणधर्म का उदाहरण—

भुजभ्रमितपट्टिशोद्दलितदृप्तदन्तावल
भवन्तमरिमण्डलक्रथन पश्यतः सङ्गरे ।
अमन्दकुलिशाहतिस्फुटविभिन्नविन्ध्याचलो
न कस्य हृदय झगित्यधिरुरोह देवेश्वर ।।[134]

इसमे कुलिश और पट्टिश (वज्र और एक प्रकार का अस्त्र) का, भूधर और दन्तावल (पर्वत और गज) मे बिम्बप्रतिबिम्ब भाव है ।

उपचरित धर्म होने पर—

---

१३१ रस पृ २२०
१३२. पृ. २०८
१३३. रस पृ २१६
१३४. रस पृ २२४

क्वचिदपि कार्ये मृदुलं क्वापि च कठिनं विलोक्य हृदयं ते ।
को न स्मरति नराधिप नवनीतं किं च शतकोटिम् ।।[१३५]

इसमे मृदुलत्व धर्म आरोपित किया जाता है ।

केवल शब्दात्मक धर्म जैसे—

ऋतुराज भ्रमरहितं यदाहमाकर्णयामि नियमेन ।
आरोहति स्मृतिपथं तदेव भगवान् मुनिर्व्यासः ।।[१३६]

इसमे 'भ्रमरहित' होना व्यास और वसन्त के प्रति साधारण धर्म है ।

इस अलङ्कार मे भी कुछ साधारण धर्म उपादेय कुछ अनुपादेय और कुछ उपादेयानुपादेय होते हैं । इसकी व्यवस्था उसी प्रकार है जिस प्रकार उपमालङ्कार के प्रकरण मे प्रदर्शित की गयी है ।

इसके अतिरिक्त साधारण धर्म के वाच्य, लक्ष्य और व्यङ्ग्य होने के आधार पर भी इसके भेद ऊह्य है ।

स्मरणालङ्कार की ध्वनि

यही अलङ्कार यदि प्रधान रूप से व्यङ्ग्य होता है तो ध्वनि का विषय बन जाता है । जैसे—

इदं लताभिः स्तबकानताभिर्मनोहरं हन्त वनान्तरालम् ।
सदैव सेव्यं स्तनभारवत्यो न चेद्युवत्यो हृदयं हरेयुः ।।[१३७]

इसमे गुच्छो से झुकी हुई लताओ के द्वारा स्तनभार से युक्त युवतियो का स्मरण अन्य किसी अलङ्कार्य भावादि के न होने से प्रधान है । स्तन और स्तबक रूप बिम्बप्रतिबिम्ब भावविशिष्ट साधारणधर्म के वाच्य होने पर भी, उसके कारण होने वाले सादृश्यमूलक स्मरण का शब्द से कथन न होने के कारण स्मरण व्यङ्ग्य है ।

स्मरणालङ्कार गत दोष

स्मरणाङ्कार मे सादृश्य सदा व्यङ्ग्य रहता है । अत. उस सादृश्य का शब्दश· कथन होना इस अलङ्कार का प्रमुख दोष है । जैसे—

उपकारमस्य साधोर्नैवाहं विस्मरामि जलदस्य ।
दृष्टेन येन सहसा निवेद्यते नवघनश्यामः ।।[१३८]

इसमे स्मृति मात्र से ही श्री कृष्ण का जलद के साथ सादृश्य व्यक्त हो जाता है परन्तु 'नवघनश्याम' कहकर पुनः अभिधया उसका प्रतिपादन किया गया है अतः दोष है । इसी पद्य मे यदि 'निवेद्यते देवकीतनय' यह कर दिया· जाय तो दोष दूर हो जायेगा ।

---

१३५ रस पृ २२४
१३६ रस पृ २२४
१३७ रस पृ २२२
१३८. रस पृ. २२२

इसके अतिरिक्त उपमागत सभी दोष इसमे भी दोष है। उनका पुन कथन व्यर्थ होगा।

समवलोकन —

पण्डितराजकृत दीक्षित-मत के खण्डन मे प्रथम विचार युक्तिपूर्ण प्रतीत होता है क्योकि वास्तव मे सादृश्यमूल कहने से ही सदृश एव असदृश दोनो वस्तुओ का ग्रहण हो जाता है। क्योकि आरम्भत असदृश वस्तु का भी स्मरण सदृश दर्शन पर ही आधारित रहता है।

दूसरा स्थल जो दिया है कि 'सौमित्रे–' आदि मे स्मृति प्रधान नही है अप्रधान है–यह केवल अनुभव पर ही आधारित है। इसके लिये कोई बाह्य प्रमाण नही दिया जा सकता। एव उसके अभाव मे उसको अप्रधान कहना उचित ही हो, ऐसा नही कहा जा सकता। विशेष रूप से प्रकृत स्थल मे स्मृति ही प्रधान रूप से व्यङ्ग्य हो रही है उससे अप्रधानरूप मे विप्रलम्भ शृङ्गार प्रतीत होता है। स्मृति को अप्रधान कहकर अप्पयदीक्षित का मत दूषित करना अन्याय ही है। एव च अव्यङ्ग्यत्व विशेषण भी इसलिये निरर्थक कहना क्योकि अलङ्कार सामान्य के लक्षण मे ही उसका कथन हो गया है, अनुचित है, क्योकि इस पुनरुक्ति से व्यङ्ग्यत्व का विशेष रूप से निषेध होता है। उसका विधान होने से वह मुख्य समय (शर्त) के रूप मे ज्ञात होता है। अत उसमे कोई दोष नही है।

अन्त मे कही गयी तीसरी युक्ति कि—अत्युच्चा परित —मे स्मृति भाव नही है, सञ्चारिभाव है क्योकि वह वाच्य है, इत्यादि—ऐसा प्रतीत है होता कि, केवल अपने गत जन्म के वैर के प्रतिकार हेतु यथाकथञ्चित् अप्पय का खण्डन करने के लिये कही गयी है। अप्पय के कथन मे मुख्य विषय यह नही है कि यहाँ प्रेयोलङ्कार है या नही अपितु यह है कि इसमे भू-सम्बन्धी भूभृत् की स्मृति सादृश्यमूलक नही है अत इसको स्मरणालङ्कार नही कह सकते है। इस विषय पर किसी प्रकार के आक्षेप को न करके पण्डितराज ने नितान्त अमहत्त्वपूर्ण दीक्षितीय मान्यता लेकर ही सिंह-शशक न्याय से उनको दोषी सिद्ध किया है। केवल अपने पाण्डित्याभिमान का प्रदर्शन मात्र किया है। उस अभिमान मे पण्डितराज यह भूल जाते हैं कि शास्त्रार्थ के विषय मे कोई बल है अथवा नही। केवल अप्पय के कथन को अयुक्त सिद्ध करना मात्र उद्देश्य रहता है चाहे वह कथन नगण्य ही क्यो न हो। जो विषय किसी भी दृष्टि से विवेचनीय एव विश्लेषणीय नही है उसका भी पण्डितराज ने अपने दर्पपोषण के लिये विवेचन और विश्लेषण कर दिया है।

स्मरण के कुछ नवीन भेद दर्शाये हे जो पूर्वाचार्यों ने निर्दिष्ट नही किये थे।

रुय्यक और रत्नाकरकार के मत को नैयायिक पृष्ठभूमि पर ही अनुचित कहा है।

आलङ्कारिक दृष्टि से उसे निर्दोष कहा भी जा सकता है। शोभाकर मित्र ने तो 'पूर्वानुभूतस्य सदृशवस्त्वन्तरदर्शनेन सस्कारप्रबोधात् स्मरणे यदार्थ औपम्य सा स्मृतिः[१३९] इस प्रकार अपने लक्षण की व्याख्या करके यह स्पष्ट कर दिया है कि सदृशानुभव के उद्बुद्ध सस्कार से उत्पन्न स्मृति ही स्मरणालङ्कार है। अत उक्त आक्षेप का अवकाश नही रहता।

रूपक

लक्षण

स्मरण अलङ्कार पर्यन्त उन सब अलङ्कारो का निरूपण किया गया है जो सादृश्याधारित भेद प्रधान है। उसके पश्चात् सादृश्यमूलक अभेद प्रधान अलकारो का निरूपण आरम्भ करते है।

इस कोटि के सभी अलङ्कारो मे दो पदार्थों मे अभेद समान रूप से विद्यमान रहता है। उसी अभेद का दूसरा नाम है रूपक। वह रूपक जब किसी इतर का उपस्कारक होता है तो अलङ्कार कहलाता है।

पण्डितराजकृत लक्षण --

पण्डितराज ने इसका लक्षण इस प्रकार किया है--**'उपमेयतावच्छेदकपुरस्कारेणोपमेये शब्दान्निश्चीयमानमुपमानतादात्म्यं रूपकम्। तदेवोपस्कारकत्वविशिष्टमलङ्कार।'** [१४०] अर्थात् उपमेयतावच्छेदक के पुरस्कार से उपमेय मे उपमान का शब्द द्वारा निश्चित किया गया अभेद (ताद्रूप्य) रूपक है। वही रूपक जब उपस्कारक होता है तो अलङ्कार हो जाता है।

जब उपमेयभूत किसी पदार्थ के विशेष परिचय को (उपमेयतावच्छेदकधर्म को) देते हुए उसमे उपमानभूत किसी अन्य पदार्थ का अभेद वर्णित किया जाता है तो वहाँ रूपक होता है। जैसे 'मुख चन्द्र' मे मुख उपमेय है और चन्द्र उपमान। मुख का मुखत्वेन उपादान कर चन्द्र का अभेद वर्णित किया गया गया है। अत. रूपक है।

इस अभेद की प्रतीति कही तो सम्बन्ध के रूपमे होती है एवं कही विशेषण-विशेष्य के प्रति शब्दार्थ के रूप मे होती है। जहाँ उपमान और उपमेय मे समान विभक्ति का प्रयोग होता है वहाँ यह ससर्गरूप होता है एव अन्यत्र शब्दार्थरूप।

उपर्युक्त लक्षण मे दिये गये प्रत्येक विशेषण की सार्थकता है। क्योकि—

'उपमेयतावच्छेदकपुरस्कारेण' कहने से अपह्नुति, भ्रान्तिमान्, अतिशयोक्ति, और निदर्शना का निरास होता है। अपह्नुति मे स्वेच्छा से उपमेय का निषेध होता है,

---

१३९. अ० र० पृ. २२४

१४०. रस पृ २२५

भ्रान्तिमान् मे भ्रान्ति जनक दोष के कारण विषय का ज्ञान प्रतिबद्ध हो जाता है। तथा अतिशयोक्ति और निदर्शना मे साध्यवसाना लक्षणाके आधार पर अभेद होता है। अर्थात् इन सब मे उपमेय का उपमेयरूप से कथन नही होता।

'शब्दात्' विशेषण दे देने से 'मुखमिद चन्द्र' इसका निरास हो जाता हैं। यह स्थल रूपक का स्थल नही क्योकि इसमे कल्पनाजन्य अभेद निश्चय है तथा वह प्रत्यक्ष है। अर्थात् शब्द द्वारा अभेद का आरोप नही किया गया है अपितु चक्षु आदि के द्वारा प्रत्यक्ष रूप से कल्पित किया गया निश्चय है।

'निश्चीयमान' विशेषण देने से सम्भावनारूप 'नून' मुख चन्द्र' इस उत्प्रेक्षा के अभेद का निरास हो जाता है।

'उपमान' और **उपमेय'** इन विशेषणो से सादृश्य का लाभ हो जाने से 'सुख मनोरमा रामा' इत्यादि शुद्धारोप के विषयभूत तादात्म्य का निरास हो जाता है।

फलितार्थ यह है कि उपमेय मे उपमान का तादात्म्य ही रूपक है। उपमानोपमेयभाव सदा सादृश्यमूलक होता है। अत शब्द के द्वारा निश्चीयमान, सादृश्यमूलक जो उपमान तादात्म्य है वह रूपक है। 'मनोरमा रामा सुखम्' इसमे सुन्दर स्त्री और सुख का अभेद सादृश्यमूलक नही है, कार्यकारणभावमूलक है। अत शुद्धारोप है, रूपक नही।

सादृश्यमूलक आरोप ही रूपक है इसमे मम्मट और दण्डी की उक्तियाँ भी प्रमाण हैं। मम्मट का वचन है 'तद्रूपकमभेदो य उपमानोपमेययो'[१४१] तथा दण्डी का वचन है उपमेव-तिरोभूतभेदा रूपकमुच्यते।[१४२]

रूपक की विशेषता यही है कि उसमे भेद बुद्धि पुरस्सरेण अभेद की कल्पना की जाती है। अर्थात् उपमान और उपमेय मे अभेद का आरोप होता है।

मम्मटकृत लक्षण —

मम्मट ने रूपक का लक्षण इस प्रकार किया है—

'तद्रूपकमभेदो य उपमानोपमेययो.।' अर्थात् उपमान और उपमेय मे जो अभेद होता है वह रूपक है।

पण्डितराजकृत खण्डन:—

पण्डितराज ने मम्मटकृत उक्त लक्षण को अनुचित कहा है तथा उसके लिये निम्नलिखित युक्तियाँ दी है—

---

१४१ का प्र.। पृ ३५७ (रस पृ. २२५)

१४२. रस पृ २२५

(१) अपह्नुति मे इस लक्षण की अतिव्याप्ति होती है क्योकि उसमे भी उपमान और उपमेय के अभेद की प्रतीति निर्विवाद रूप से होती है।

(२) यदि उक्त अतिव्याप्ति का वारण करने के लिये यह कहा जाय कि उपमानोपमेय का अभेद कहने का तात्पर्य है उपमेयतावच्छेदक को लेते हुए उपमानतावच्छेदकावच्छिन्न के साथ उपमेय का अभेद होना और अपन्हुति मे उपमेयतावच्छेदक का ग्रहण नही होता, अत विशेषण सार्थक है, तो भी 'नून मुख चन्द्र' इस उत्प्रेक्षा मे उसकी अतिव्याप्ति होती है। क्योकि इसमे मुखत्वरूप उपमेयतावच्छेदक को सम्मुख रखकर चन्द्रत्वविशिष्ट चन्द्रका अभेद स्पष्ट ही है।

(३) इसके विपक्ष मे यदि यह कहा जाय कि-'प्रकृत यन्निषिध्यान्यत्साध्यते सा त्वपह्नुति' और 'सम्भावनमथोत्प्रेक्षा प्रकृतस्य समेन यत्' इन अपन्हुति और उत्प्रक्षा के लक्षणो से विशेष कथन होने से रूपक के लक्षण द्वारा सामान्य रूप मे कहे गये अभेद का वारण हो जाता है। अर्थात रूपक है अभेद सामान्य और अपह्नुति तथा उत्प्रेक्षा है उसी अभेद के अपवादरूप विशिष्ट स्थल। अत· 'ब्राह्मणेभ्यो दधि देयम्' 'तक्र कौण्डिन्याय' इस उदाहरण के समान ही अपन्हुति-उत्प्रेक्षा आदिरूपविशेष विधान रूपक रूप सामान्य विधानके व्यावर्तक हैं अतः अतिव्याप्ति नही है। (इसमे लौकिक उदाहरण के अतिरिक्त मीमासा और व्याकरण सम्मत उदाहरण भी दिये हैं) [१४३] तो भी उचित नही है क्योकि इस प्रकार का व्यावर्तन वही होता है जहाँ विशेष रूप से किया गया विधान अपने विषय से (सामान्य रूप से विहित लक्ष्य से) अतिरिक्त विषय का विधान करके सामान्य विधान को व्यावृत्त करे। प्रस्तुत स्थल मे अपन्हुति और उत्प्रेक्षा रूप विशेष विधायक रूपक के द्वारा निहित अभेद रूप विषय से अतिरिक्त किसी विषय का विधान नही करते। अत. अतिव्याप्ति रूप दोष तदवस्थ ही है।

शोभाकर मित्रका मत:—

अलङ्काररत्नाकर मे शोभाकर मित्र ने यह कहा है कि सादृश्य अथवा किसी अन्य सम्बन्ध से प्रयुक्त जितना भी दो भिन्न वस्तुओ का सामानाधिकरण्य है (एक स्थान पर विद्यमान होना है) वह सब ही रूपक है। अर्थात् जहाँ भी इस प्रकार का वर्णन हो कि दो भिन्न वस्तुओ की एक ही स्थान मे स्थिति हो वहाँ रूपक होगा। वह सामानाधिकरण्य चाहे सादृश्य सम्बन्ध पर आधारित हो अथवा कार्यकारणादि किसी अन्य सम्बन्ध पर, दोनो के मूल मे समानरूप से सारोपा लक्षणा रहती है। अतः सम्बधान्तर से होने वाले अभेद को भी रूपक मानना चाहिये। प्राचीन आलङ्कारिको

१४३. दे, परि. ख–१०

का यह कहना कि उपमान और उपमेय का ही अभेद रूपक होता है—कार्य-कारण का नही—केवल दुराग्रह मात्र है ।[१४४]

पण्डितराजकृत खण्डन —

पण्डितराज ने उपर्युक्त रत्नाकरकार के मतका खण्डन यह कह कर किया है कि यदि दो भिन्न वस्तुओ का एक स्थान पर होना मात्र ही रूपक माना जाय तो अपन्हुति आदि के स्थल मे भी रूपक ही मानना पडेगा । क्योकि उसमे भी दो भिन्न वस्तुओ का सामानाधिकरण्य रहता ही है ।

इसके अतिरिक्त स्मरण अलङ्कार के प्रकरण मे शोभाकर मित्र ने स्वय यह कहा है कि सादृश्यमूलक स्मरण ही स्मरणालङ्कार है, चिन्तादिमूलक नही । परन्तु रूपक सम्बन्धी मत को मानने पर यहॉ भी उसी प्रकार यह स्वीकार करना पडेगा कि सादृश्य से अतिरिक्त किसी प्रयोजक से होने वाला स्मरण भी स्मरण अलङ्कार है क्योकि जिस प्रकार सादृश्येतर सम्बन्ध पर आधारित अभेद रूपक माना जा सकता है वैसे ही सादृश्येतरमूलक स्मरण भी स्मरण अलङ्कार कहला ही सकता है ।

प्रत्येक स्मरण को स्मरणालङ्कार मानने पर स्मृति भावका कोई स्थान नही रह जायेगा यह भी नही कहना चाहिये क्योकि जहाँ स्मरण व्यङ्ग्य होगा वहाँ स्मृतिभाव-ध्वनि का स्थल होगा ।

अप्पयदीक्षित कृत लक्षण—

अप्पयदीक्षित के अनुसार रूपक का लक्षण इस प्रकार है—

बिम्बाविशिष्टे निर्दिष्टे विषये यद्यनिह्नुते ।
उपरञ्जकतामेति विषयी रूपक तदा ।।

अर्थात् बिम्बप्रतिबिम्बभाव से रहित, शब्दत उपात्त, अनिह्नुत विषय मे जब विषयी का कल्पित अभेद होता है तो रूपक होता है ।

लक्षणगत विशेषणो की सार्थकता—

(क) **'बिम्बाविशिष्टे'**—इस लक्षण मे 'बिम्बाविशिष्टे' विशेषण देने से—

'त्वत्पादनखरत्नाना यदलक्तकमार्जनम् ।
इद श्रीखण्डलेपेन पाण्डुरीकरण विधो. ।।'

इत्यादि निदर्शना के उदाहरण मे अतिव्याप्ति नही होती है । क्योकि यहाँ चन्द्र और नख मे बिम्बप्रतिबिम्ब भाव है ।

---

१४४ 'सादृश्यप्रयुक्त सम्बन्धान्तरप्रयुक्तो वा यावान्भिन्नयो सामानाधिकरण्यनिर्देश स सर्वोऽपि रूपकम् । सारोपलक्षणामूलकत्वस्य तुल्यत्वेन सादृश्यप्रयुक्तस्य तादात्म्यस्येव सम्बन्धान्तर-प्रयुक्तस्यापि तादात्म्यस्य सङ्ग्रहीतुमौचित्यात् । तस्मात् दुराग्रह एवाय प्राचाम् उपमानोप मेययोरभेदो रूपकम्, न तु कार्यकारणयो ।' (रस पृ. २२५)

(ख) **'निर्दिष्टे'**—'निर्दिष्ट' विशेषण के होने से अतिशयोक्ति मे अतिव्याप्ति नही होती है क्योकि अतिशयोक्ति मे विषय का विषयी के द्वारा निगरण हो जाता है।

इस विशेषण से व्यङ्ग्य रूपक मे भी अतिप्रसङ्ग वारित हो जाता है क्योकि व्यङ्ग्य होने पर भी वहाँ विषय का निर्देश रहता ही है।

(ग) **'अनिह्नुते'**—अनिह्नुते विशेषण देने से अपह्नुति मे रूपक का लक्षण सङ्गत नही होता। अनिह्नुते का तात्पर्य है जिसका निषेध न किया जाय। निषेध और अपह्नुति मे विषयका निर्देश रहता है परन्तु वह निषिद्ध होता है।

(घ) **'उपरञ्जकतामेति'**—अर्थात् 'कल्पित अभेद की निश्चयता को प्राप्त करता है,' यह कहने से ससन्देह, उत्प्रेक्षा, समासोक्ति, परिणाम, भ्रान्तिमान् आदि मे अतिव्याप्ति का वारण हो जाता है। समासोक्ति और परिणाम मे ताद्रूप्य (अभेद) का अभाव होता है। परिणाम मे तो आरोप्यमाण (उपमान) की ही विषय (उपमेय) के रूप मे प्रतीति होती है। भ्रान्तिमान् मे वह अभेद आहार्य (कल्पित) नही होता क्योकि मूलत: वह भेद काल्पनिक हो अथवा वास्तविक परन्तु उसका वर्णन इस प्रकार होता है कि जैसे भ्रमित व्यक्ति के अन्तर मे ही वह भ्रम हो अर्थात् उसके लिए वह अभेद स्वाभाविक हो। अत: तत्स्थलीय एव तत्कालीन भेद अनाहार्य ही होता है। यही रूपक जब अव्यङ्ग्य होता है तो अलङ्कार होता है।[१४५]

पण्डितराजकृत खण्डन —

पण्डितराज ने, अप्पयदीक्षित ने जिस प्रकार लक्षण एव उस लक्षण मे दिये गये प्रत्येक विशेष की सार्थकता का निरूपण किया है, उस सबका सयुक्तिक खण्डन किया है। खण्डन क्रमश: इस प्रकार है.—

(क) **'बिम्बाविशिष्टे'**–'बिम्बाविशिष्टे' विशेषण देने से 'त्वत्पादनखरत्नानां–' इत्यादि निदर्शना के उदाहरणो मे अतिव्याप्ति नहीं होती–यह कहना व्यर्थ है क्योंकि वास्तव मे इस उदाहरण मे निदर्शना नही है अपितु रूपक ही है। जिस प्रकार 'मुखं चन्द्र' इत्यादि मे श्रौतारोप रूपक है उसी प्रकार त्वत्पादनख-इत्यादि पद्य मे भी श्रौतारोप रूपक है। क्योकि यहाँ मार्जन रूप उपमेय पर पाण्डुरीकरण रूप उपमान का आरोप हुआ है। (इस पद्य मे निदर्शना नही है रूपक ही है–इस विषय पर दीर्घ वाद विवाद प्राप्त है।[१४६] अप्रक्रान्त होने से यहाँ नही दिया जा रहा है।)

साराश यह है कि प्रस्तुत विशेषण के प्रसङ्ग मे दिये गये उदाहरण मे अप्पयदीक्षित के अनुसार निदर्शना तथा पण्डितराज के अनुसार रूपक अलङ्कार है। अत उसके वारण के लिये इस विशेषण की सार्थकता कहना व्यर्थ है।

---

१४५ चि मी। पृ० ५६–५७ (अप्पयदीक्षित का उक्त सम्पूर्ण मत)

१४६ रस पृ. २२६–२२७

(ख) **निर्दिष्टे**—'निर्दिष्टे' पद भी व्यर्थ है क्योकि इस पद का प्रयोग होने से दो दोष रहते हैं - (१) अतिशयोक्ति मे अतिव्याप्ति और (२) अनिह्नुत और आहार्य विशेषणो की व्यर्थता ।

निर्दिष्ट पद का शाब्दिक अर्थ है—शब्दत कथित होना । इसमे शब्दत कथित होने के भी दो अर्थ सम्भव है—(१) यथाकथञ्चित् रूप से उपात्त होना, और (२) उपमेयके ही रूप मे (उपमेयतावच्छेदकरूपेण) उपात्त होना ।

रूपक के प्रसङ्ग मे यदि निर्दिष्ट पद का तात्पर्य यथाकथञ्चित् रूप से उपात्त होना समझा जाय तो 'सुन्दर कमल भाति लतायामिदमद्भुतम्' इसमे (अतिशयोक्ति मे) अतिव्याप्ति होती है । क्योकि यहाँ पर 'इदम्' पद से सुन्दरत्वेन मुख रूप विषयका कथन हुआ ही है ।

यदि द्वितीय तात्पर्य ग्रहण किया जाय अर्थात् उपमेयतावच्छेदकरूपेण विषय का उपादान आवश्यक हो, तो 'अनिह्नुत' विशेषण जो दिया गया है वह व्यर्थ हो जायेगा । अनिह्नुत विशेषण की सार्थकता इसलिये है कि अपह्नुति मे रूपक का लक्षण व्याप्त न हो । परन्तु उस अपह्नुति की व्यावृत्ति निर्दिष्टे पद से ही हो जायेगी क्योकि अपह्नुति मे उपमेयतावच्छेदकरूपेण उपमेय का कथन होता ही नही है ।

इसके अतिरिक्त, निश्चय के लिये दिये गये 'आहार्य विशेषण की भी कोई उपयोगिता नही रह जायेगी । 'आहार्य' विशेषण 'भ्रान्तिमान्' का व्यावर्तक होने से सार्थक था । उस भ्रान्तिमान् का निवारण भी 'निर्दिष्ट' पद के उक्त द्वितीय तात्पर्य को ग्रहण करने से हो जाता है क्योकि भ्रान्तिमान् मे भी दोष विशेष से प्रतिबद्ध हो जाने के कारण उपमेय का बोध उपमेयत्वेन हो ही नही पाता ।

(ग) '**अव्यङ्ग्य**'—अपने लक्षण को सिद्ध करने के पश्चात् जो अप्पय दीक्षित ने यह कहा है कि 'अव्यङ्ग्य विशेषण देने से वही लक्षण रूपक अलङ्कार का लक्षण हो जायेगा'—वह भी अनुचित है । क्योकि व्यङ्ग्य होने से अलङ्कार होने मे कोई बाधा नही होती । आवश्यक यह है कि वह व्यङ्ग्य अलङ्कार प्रधान न हो । प्रधान होने पर ही वह अलङ्कार्य की कोटि मे जाता है, अप्रधान होने पर नही । प्रधानरूप से व्यङ्ग्य होने वाले रूपक अलङ्कार का निवारण करने के लिये अव्यङ्ग्य विशेषण देना आवश्यक हो—यह भी नही कहा जा सकता क्योकि उसका निवारण तो अलङ्कार-मात्र के विशेषण—उपस्कारत्व—से ही हो जाता है । प्रधान होने पर वह उपस्कारक नही होगा उपस्कार्य हो जायेगा ।

रूपक के भेद

रूपक आठ प्रकार का होता है —
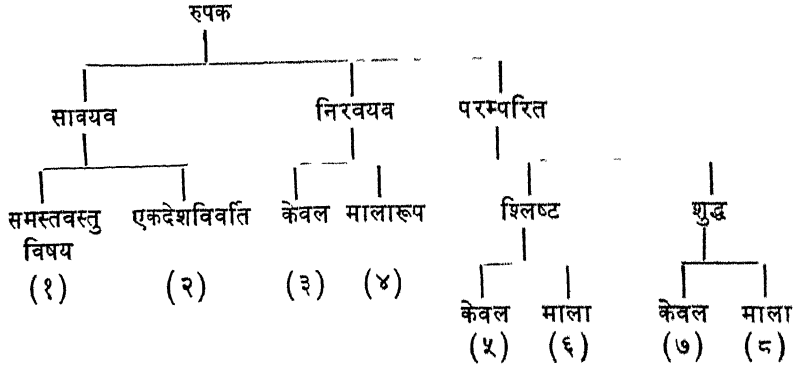
सावयव रूपक —

इन भेदो मे सावयव रूपक का स्वरूप है :—परस्परसापेक्षनिष्पत्तिकाना रूपकाणा सङ्घात सावयवम् ।[147] अर्थात् परस्पर सापेक्ष रूप से निष्पन्न होने वाले रूपको का समूह सावयव रूपक होता है।

(क) **समस्त वस्तुविषयक :—**

उसका भी समस्तवस्तुविषयक भेद है .—समस्तानि वस्तून्यारोप्यमाणानि शब्दोपात्तानि यत्र तत्समस्तवस्तुविषयम् ।[148] अर्थात् जहाँ सभी आरोप्यमाण वस्तुएँ (उपमान) शब्द से कथित हो वहाँ समस्तवस्तुविषय वाला भेद होता है

(ख) **एकदेशविवर्ति —**

एकदेशविवर्ति—यत्र च क्वचिदवयवे शब्दोपात्तमारोप्यमाण क्वचिच्चार्थसामर्थ्याक्षिप्त[149] तदेकदेशे शब्दानुपात्तविषयिके अवयवरूपके विवर्तनात्स्वस्वरूपगोपनेनाऽन्यथात्वेन वर्तनादेकदेशविवर्ति अर्थात् जहाँ कुछ आरोप्यमाण अवयव (अङ्ग) शब्दो से उपस्थित हो और कुछ अर्थसामर्थ्य से आक्षिप्त किये जाये वहाँ उस अवयवभूत एकदेश मे, जिसमे विषय शब्द से उपात्त रहता है, विवर्तन के कारण (विरुद्धरूप से रहने के कारण) अर्थात स्वरूपगोपन करके अन्यथात्वेन वर्तमान रहने से, वह एकदेश-विवर्ति होता है। तात्पर्य यह है कि जहाँ उपमान का ग्रहण शब्दत न किया हो उस अवयवभूत रूपक में (रूपक के एक भाग मे), यह रूपक अपने स्वरूप को छिपाये रहता है तथा अन्यरूप से स्थित रहता है। इसलिये इसे एकदेशविवर्ति कहते है। भिन्न रूप रहने से तात्पर्य है

१४७, १४८, १४९. रस पृ. २३१

शब्दत अनुपात्त रूप से रहना । एकदेशविवर्ति होने का एक दूसरा कारण बताते है–'एकदेशे उपात्तविषयके अवयवे विशेयेण स्फुटतया वर्तनादेकदेशविवर्ति ।'[१५०] अर्थात् एक देश मे, जहा विषयी अर्थात् उपमान उपात्त रहता है, उसमे विषय रूप से स्पष्ट होने के कारण वह एकदेशविवर्ति कहलाता है । दोनो (दोनो व्याख्याओ मे 'विवर्ति' शब्दका अर्थ भिन्न-भिन्न प्रकार से किया गया है । प्रथम व्याख्या मे उसका रूप है–अन्यथात्वेन (अनुपात्तत्वेन) रहना और दूसरी व्याख्या मे स्वरूप है—विशेष रूप से स्फुट रूप से रहना ।)

इन दोनो भेदो के उदाहरण इस प्रकार है —

समस्तवस्तु विषयक सावयव रूपक

सुविमल मौक्तिकतारे धवलाशुक चन्द्रिका चमत्कारे
वदनपरिपूर्णचन्द्रे सुन्दरि राकासि नात्र सदेह ।।[१५१]

इस पद्य मे मुक्तावली और तारावली, धवलवस्त्र और चन्द्रिका, मुख और पूर्णचन्द्र इन सभी मे रूपक है तथा परस्पर सापेक्ष है । अर्थात् एक रूपक के बिना दूसरे रूपक की सिद्धि नही हो सकती । फिर भी इसमे मुख्यरूप से तन्वी और राका का रूपक ही अभीष्ट है अन्य सभी रूपक इसके समर्थक है और यह समर्थ्य है अत समर्थ्य समर्थक भाव से इन सब रूपको का समूह यहाँ वर्णित होने से समस्तवस्तु विषय सावयक रूपक है । इसमे जितने भी रूपक है उन सबमे उपमानका ग्रहण शब्दतः किया है इसी से यह समस्तवस्तुविषयक है ।

एकदेशविवर्ति सावयव

भवग्रीष्मप्रौढातपनिवहसन्तप्तवपुषो
बलादुन्मूल्य द्राड् निगडमविवेकव्यतिकरम् ।
विशुद्धेऽस्मिन्नात्मामृतसरसि नैराश्यशिशिरे
विगाहन्ते दूरीकृतकलुषजालाः सुकृतिनः ।।[१५२]

इसमे साथ मे वर्णित निगडादि (पाशादि) के जो रूपक है उनसे सुकृतियो मे गज का अभेद भी आक्षिप्त हो जाता है अत एकदेशविवर्ति है ।

निरवयव रूपक—

(क) **केवल निरवयव—**

'बुद्धिर्दीपकला लोके यया सर्वं प्रकाशते ।
अबुद्धिस्तामसी रात्रिर्यया किञ्चिन्न भासते ।।[१५३]

इसमे दो रूपक है परन्तु दोनो को एक साथ परस्पर आकाक्षा नही है इसलिये निरवयव है । (बुद्धिका दीपशिखाके साथ एक रूपक, और बुद्धिका रात्रि के साथ

१५० रस पृ २३१
१५१. रस पृ २३१
१५२. रस पृ २३२
१५३ रस पृ २३३

रूपक–यह दो रूपक है अत समूह है परन्तु दोनों रूपक स्वतन्त्र हैं, एक के बिना दूसरे की असिद्धि नही है, अतः निरपेक्ष होने से निरवयव है। और मालात्मकता (एक उपमेयमे अनेक पदार्थों का आरोपण) न होने से यह केवल है।

(ख) मालानिरवयव—

धर्मस्यात्मा भागधेय क्षमायाः सारः सृष्टेर्जीवित शारदायाः।
आज्ञा साक्षाद्ब्रह्मणो वेदमूर्तेराकल्पान्त राजतामेष राजा ॥[१५४]

एक ही विषय पर नाना पदार्थों का आरोप होने से यह मालारूप है। परन्तु परस्पर अपेक्षा न होने से निरवयव है।

परम्परित रूपक

परम्परित का स्वरूप है—'यत्र आरोप एवारोपान्तरस्य निमित्त तत्परम्परितम्। तत्रापि समर्थकत्वेन विवक्षितस्यारोपस्य श्लेषमूलकत्वे श्लिष्टपरम्परितम्।'[१५५]

अर्थात् जहाँ एक आरोप ही दूसरे आरोप का कारण हो वहाँ परम्परित रूपक होता है और उसमे भी समर्थक रूप से अभिप्रेत आरोप श्लेष मूलक होता है तब वह श्लिष्ट परम्परित कहलाता है।

(क) केवलश्लिष्ट परम्परित जैसे—

अहितापकरणभेषज नरनाथ भवान्करस्थितो यस्य।
तस्य कुतो हि भय स्यादखिलामपि मेदिनी चरत. ॥[१५६]

यहाँ दोनो आरोपो मे समर्थ्य-समर्थक भाव यद्यपि समान है तथापि अहितो का अपकरण ही अहियो (सर्पों) का तापकरण है—इस श्लेषमूलक आरोप के कारण राजा मे भेषज (चिकित्सक) का तादात्म्य आरोपित करना ही समर्थनीय रूपक के रूप मे कवि को अभिप्रेत है। इसके लिये भङ्गश्लेष के कारण निवेदित अहिभयाभाव भी प्रतीत होता है। (अर्थात् तुम भेषज हो इसलिये सर्पों से भय नही है—यह भी व्यङ्ग्य होता है। 'अहितापकरण' मे सभङ्गश्लेष है।)

(ख) मालारूप श्लिष्ट परम्परित जैसे—

'कमलावासकासार. क्षमाधृतिफणीश्वरः।
अय कुवलयस्येन्दुरानन्दयति मानवान् ॥'[१५७]

इसमे कमला का वास है कमलो का आवास है, तत्कृत कासार—इस प्रकार सर्वत्र परम्परा है।

---

१५४. रस पृ २३३
१५५ रस पृ. २३३
१५६. रस पृ २३३
१५७. रस पृ. २३४

(ग) शुद्ध परम्परित का केवलरूप—

देवा. के पूर्वदेवा समिति मम नर. सन्ति के वा पुरस्ता-
देव जल्पन्ति तावत्प्रतिभटपृतनावर्तिन क्षत्रवीरा ।
यावन्नायाति राजन्नयनविषयतामन्तकत्रासिमूर्ते
मुग्धारिप्राणदुग्धाशनमसृणरुचिस्त्वत्कृपाणो भुजङ्ग ।।[१५८]

यहाँ भी भुजङ्ग का आरोप दुग्धारोप के प्रति समर्थ्य रूप से कवि का अभिप्रेत है । (इसमे दो आरोप है—खड्ग पर सर्प का आरोप, प्राणो पर दुग्ध का आरोप । इनमे से प्रथम समर्थ्य और द्वितीय समर्थक है ।)

(घ) शुद्ध परम्परित मालारूप मे—

प्राची सन्ध्या समुद्यन्महिमदिनमणेर्मानिमाणिक्यकान्ति-
र्ज्वालामाला कराला कवलितजगत क्रोधकालानलस्य ।
आज्ञा कान्तापदाम्भोरुहतलविगलन्मञ्जुलाक्षारसाना
क्षोणीन्दो सङ्गरे ते लसति नयनयोरुद्भटा शोणिमश्रीः ।।[१५९]

यहाँ प्रतापादि मे सूर्य आदि के आरोप के कारण अरुणता की शोभा मे सन्ध्या आदि अनेक पदार्थों का आरोप हुआ है अत माला रूप है । श्लेष कही नही है अत शुद्ध है ।

सावयवरूपक और परम्परित रूपक में भेद

सावयव रूपक मे भी यद्यपि एक आरोप दूसरे आरोप का उपाश्रय होता है फिर भी उसमे आरोप के बिना भी कवि समाज मे सिद्ध सादृश्य के कारण भी आरोपान्तर की सिद्धि हो जाती है परन्तु परम्परित मे एक आरोप ही दूसरे आरोप का कारण होता है । (प्रथम आरोप के बिना द्वितीय आरोप की सिद्धि नही हो सकती) जैसे पूर्वोक्त 'राका सुन्दरि नात्र सन्देह .....' इसमे मोतियो पर तारावली का आरोप न करके भी उज्ज्वलता (धवलता) मात्र से भी सुन्दरी मे राका का आरोप किया जा सकता है और 'प्राची सन्ध्या–' इत्यादि मे नयन की रक्तता मे ज्वाला आदि का आरोप नियमित रूप से अनल के आरोप की अपेक्षा करता है (नयन मे यदि अग्नि का आरोप न हो तो उसकी रक्तता मे ज्वाला का आरोप भी सिद्ध नही हो सकता ।) इसी प्रकार 'कारुण्यकुसुमाकाश खलः ..' इसमे आकाश और खल मे सादृश्य की अप्रसिद्ध होने से आरोप की सिद्धि के लिये आरोपान्तर ही उपाय है— इस प्रकार दोनो मे (सावयव और परम्परित रूपक मे) अन्तर है ।

---

१५८. रस. पृ. २३४
१५९. रस. पृ २३४

उक्त भेद के सम्बन्ध मे अन्य मत

सावयव और परम्परित रूपक के भेद के सम्बन्ध मे कुछ लोगो का मत है कि बहु आरोपात्मक होने से सावयव और दो आरोप होने से परम्परित रूपक होता है—अर्थात् सावयव रूपक मे दो से अधिक आरोपो का समूह होता है और परम्परित मे दो आरोपो का समूह रहता है। (पण्डितराज ने प्रसङ्गतः इस मत का उल्लेख किया, उस पर अपनी कोई आलोचना नही की है।)

भेद-प्रकरण मे अब तक रूपक के जो आठ भेद बताये गये है वह सब पदार्थ रूपक के भेद है अर्थात् उन सबमे एक पदार्थ (विषय मे) दूसरे पदार्थ (विषयी) का आरोप है। अन्य आधारो पर अन्य भेदो की उद्भावना इस प्रकार की गयी है—

वाक्यार्थ रूपक

जिसमे सम्पूर्ण वाक्यार्थ ही उपमेय हो और उस पर किसी अन्य वाक्यार्थ का आरोप किया जाय तो वहाँ वाक्यार्थ रूपक होता है।

इसमे, जिस प्रकार विशिष्टोपमा मे विशेषणो का उपमानोपमेय भाव (शाब्द नही होता अपितु) आर्थ होता है उसी प्रकार वाक्यार्थों के घटक पदार्थों का भी रूपक आर्थ समझना चाहिये। उदाहरण—

आत्मनोऽस्य तपोदानैर्निर्मलीकरण हि यत्।
क्षालन भास्करस्येद सारसै. सलिलोत्करैः ॥[१९०]

इस पद्य मे प्रधान रूपक है—'यत् निर्मलीकरण', उपमेय और 'इद क्षालन' उपमान के मध्य आरोप विषय निर्मलीकरण के आत्म, तप आदि विशेषण हैं, जो बिम्बभूत हैं, और भास्कर व सलिलोत्कर (जल) आदि उपमान के विशेषण हैं, अत प्रतिबिम्बभूत हैं। इसलिये निर्मलीकरण में क्षालन का आरोप रूप प्रधान रूपक (तप-दान से आत्मा को निर्मल करना–पर सलिल से सूर्य को धोना–का आरोप रूप प्रधान रूपक) जिस प्रकार वाच्य है उसी प्रकार बिम्बभूत आत्मा तपदान आदि मे प्रतिबिम्बभूत भास्कर- सलिलोत्करादि का आरोप रूप अङ्गभूत रूपक व्यङ्ग्य है।

साधारण धर्म के आधार पर रूपक के भेद

रूपक का साधारण धर्म भी उपमा के ही समान कही अनुगामी कही बिम्ब-प्रतिबिम्बभावयुक्त कही उपचरित और कही केवल शब्द रूप होता है। और उन सबमे भी कही तो वह शब्दत· कथित रहते हैं कही अकथित होने से प्रतीयमान (व्यङ्ग्य) होते हैं।

---

१९०. रस पृ. २३८

अनुगामी धर्म शब्दत उपात्त जैसे—

जडानन्धान्पङ्गून्प्रकृतिबधिरानुक्तिविकला-
न्ग्रहग्रस्तानस्ताखिलदुरितनिस्तारसरणीन् ।
निलिम्पैर्निर्मुक्तानपि च निरयान्तर्निपततो
नरानम्ब त्रातु त्वमिह परम भेषजमसि ।।[१६१]

इसमे 'त्रातुम्' इस तुमुन्नन्त पद से उपात्त जडान्धादि का त्राण रूप साधारण धर्म भेषज और भागीरथी मे अनुगामी है ।

यही अनुगामी जब अमुक्त होता है—

समृद्ध सौभाग्य सकलवसुधाया किमपि त-
न्महैश्वर्यं लीलाजनितजगत खण्डपरशोः ।
श्रुतीना सर्वस्व सुकृतमथ मूर्तं सुमनसा
सुधासाम्राज्य ते सलिलमशिव न शमयतु ।।[१६२]

इसमे सौभाग्य और भागीरथी मे स्वभाव से ही व्यापक दुर्भाग्यत्व और परमोत्कर्षाधायकत्व आदि अनुपात्त होने से प्रतीयमान धर्म है । अर्थात् प्रकृत पद्य मे उपमेय है गङ्गाजल और उपमान है वसुधासौभाग्य, शिवैश्वर्य, वेदसर्वस्व, देवसुकृत और अमृतसाम्राज्य । इन सब उपमानो के साथ उपमेय के साधारण धर्म क्या हैं ? गङ्गाजल और सौभाग्य का साधारण धर्म है स्वभाव व्यापक दौर्भाग्यत्व (अर्थात् जहाँ-जहाँ सौभाग्य नही रहता वहाँ-वहाँ दुर्भाग्य रहता है । उसी प्रकार जहाँ-जहाँ गङ्गाजल नही रहता वहाँ-वहाँ भी दुर्भाग्य रहता है) और दूसरा 'परमोत्कर्ष को उत्पन्न करना' (अर्थात् जैसे सौभाग्य परमोत्कर्ष को देता है वैसे ही गङ्गाजल भी परम उत्कर्ष का कारण होता है) यह धर्म शब्दतः उपात्त न होने के कारण अनुपात्त प्रतीयमान है और उपमेयोपमान के समान रूप से अन्वित होने के कारण अनुगामी है । इसी प्रकार ईश्वर का असाधारणधर्मत्व, परमगोप्यत्व, निरतिशयसुखजनकत्व, अन्यापामरसकलजनजरामृत्युहरणक्षमत्व इत्यादि आगामी आरोपो मे (अन्य उपमानो के उपमेय पर आरोप करते समय) अनुगामी साधारण धर्म है, जो प्रतीयमान है ।

बिम्बप्रतिबिम्ब भावयुक्त साधारण धर्म का उदाहरण विशिष्ट रूपक को निरूपित करते समय दिया था ।

उपचरित जैसे—

अविरत परकार्यकृता सता मधुरिमातिशयेन वचोऽमृतम् ।
अपि च मानसमम्बुनिधिर्यशो विमलशारदचन्दिरचन्द्रिका ।।[१६३]

---

१६१. रस पृ. २४३
१६२ रस. पृ. २४३
१६३. रस पृ २४४

यहाँ अमृत के रूपक के उपमेय मे–वचन मे–मधुरिमातिशयरूप साधारण धर्म का शब्दत उपादान नही किया गया है और अम्बुनिधि आदि रूपक मे गाम्भीर्यादि धर्म शब्दत अकथित हैं।

केवल शब्दात्मक जैसे—

अङ्कितान्यक्षसङ्घातै· सरोगाणि सदैव हि।
शरीरिणां शरीराणि कमलानि न सशय ॥[१६४]

यहाँ पर सरोगादि शब्दो से उपात्त होकर ही साधारण धर्म प्रतीत होता है, लुप्त नही है। प्रथम साधारण धर्म अक्षसङ्घात–अभङ्ग है और सरोगादि द्वितीय साधारण धर्म सभङ्ग है।

हेतु रूपक—

यही साधारण धर्म जहाँ युक्तिरूप से कथित होता है वहाँ हेतु रूपक होता है। जैसे—

पञ्चशाख· प्रभो यस्ते शाखा सुरतरोरसौ।
अन्यथानेन पूर्यन्ते कथं सर्वे मनोरथा· ॥[१६५]

रूपक ध्वनि

जहाँ उक्त अभेद ही प्रधान रूप से व्यङ्ग्य हो वहाँ रूपक ध्वनिरूप होता है। उदाहरण के लिये—

शब्दशक्तिमूलध्वनि जैसे—

अविरलविगलद्दानोदकधाराऽसारसिक्तधरणितल ।
धनदाग्रमहितमूर्तिर्देव त्व सार्वभौमोऽसि ॥[१६६]

इस पद्य मे विशेषण और विशेष्य दोनो अशों में ध्वनि है।

अर्थशक्तिमूल जैसे—

तिमिर हरन्ति हरितां पुरः स्थित
तिरयन्ति तापमथ तापशालिनाम्।
वदनत्विषस्तव चकोरलोचने
परिमुद्रयन्ति सरसीरुहश्रियः ॥[१६७]

इसमे 'तुम्हारा मुख कलङ्क और चन्द्रिका से विशिष्ट चन्द्र से अभिन्न है' इस प्रकार का रूपक कुमुदविकासादि से ध्वनित होता है।

१६४. रस पृ. २४४
१६५. सर पृ. २४४
१६६. रस. पृ. २४६
१६७. रस. पृ. २४६

रूपक-गत दोष

इस रूपक मे भी कवि समाज के विरुद्ध होने के कारण, चमत्कार के अपकर्षक लिङ्ग भेद आदि दोष होते हैं। जैसे—

बुद्धिरब्धिर्महीपाल यशस्ते सुरनिम्नगा।
कृतयस्तु शरत्कालचारुचन्दिरचन्द्रिका ॥[१६८]

यहाँ पर विषय और विषयी मे लिङ्गादि का वैलक्षण्य उनके अभेद बोध के प्रतिकूल है।

कभी-कभी कविसमयसिद्ध होने के कारण चमत्कार के अपकर्षक न होने से यह लिङ्ग भेद आदि दोष नही भी होते। जैसे—'सन्तापशान्तिकारित्वाद्वदन तव चन्द्रमा' इत्यादि हेतु रूपक मे।

समवलोकन

अलङ्कार-क्षेत्र मे द्वितीय सर्वाधिक प्रतिष्ठाप्राप्त महत्त्वपूर्ण अलङ्कार है—रूपक। सभी आलङ्कारिको ने अपनी-अपनी प्रतिभा के अनुकूल इसका लक्षण, भेद-आदि निर्दिष्ट किये है। इसमे किसी का भी मतभेद नही रहा कि रूपक का अर्थ है अभेद। वह अभेद किस-किस मे हो तथा किस प्रकार का हो अर्थात् आहार्य हो या वास्तव हो इत्यादि अवान्तर विषयो मे सूक्ष्म मतान्तर हुआ है।

पण्डितराज के द्वारा इसका जितना विश्लिष्ट और स्पष्ट व्याख्यान हुआ है उतना अन्य किसी आलङ्कारिक के द्वारा नही हुआ। रूपक के स्वरूप और भेदो को दर्शाने मे पण्डितराज ने किसी नूतनता को प्रश्रय नही दिया किन्तु जिस सूक्ष्म दृष्टि से प्रत्येक अश को—लक्षण, भेदोपभेद आदि को, अन्य मतो की त्रुटियो को भी प्रस्तुत करते हुए, निष्कृष्ट सिद्धान्तभूत तत्त्व को पुरस्कृत करते हुए, निर्मल रूप मे प्रस्फुटित किया वही इतर आलङ्कारिको की अपेक्षा इनकी अधिक प्रतिष्ठा का कारण बन गया।

मम्मट के अनुयायी और साथ ही आलोचक पण्डितराज का रूप इसमे एक साथ ही सम्मुख आ गया है। रूपक को सादृश्यमूलक मानने मे मम्मट को प्रमाण माना है और तुरन्त ही उनके लक्षण का खण्डन भी किया है।

अपने लक्षण मे पदकृत्य द्वारा निर्दुष्टता स्थापित करना, प्रत्येक भेद का पृथक्-पृथक् लक्षण करना, इतना ही नही आरम्भ मे पहले केवल रूपक का तत्पश्चात् रूपक अलङ्कार का लक्षण करना पण्डितराज की ही विलक्षण प्रतिभा का प्रतिफल है। सादृश्यमूलक होने के कारण सादृश्य के (उपमा के) समान ही साधारण धर्मादि भेद से अन्य विधाओ का स्फुट प्रतिपादन करना भी इन्ही की देन है।

---

१६८. रस पृ २४७

परमत खण्डन करते समय पण्डितराज की यह दुर्बलता यत्र-तत्र अनेक बार दिखायी पडती है कि जिस विषय के अन्तर्गत वह खण्डन करना आरम्भ करते है उससे उनके खण्डन का विषय भिन्न हो जाता है। यह सर्वाधिक होता है अप्पयदीक्षित के खण्डन मे। इसमे भी दीक्षित के लक्षण मे प्रयुक्त विशेषणो का खण्डन करते समय, बिम्बाविशिष्टे विशेषण का मुख्य रूप से खण्डन न करके एक विशेष उदाहरण मे निदर्शना है कि नही इस पर शास्त्रार्थ करने लगे। अन्त मे उस पद्य को कुछ परिवर्तित कर निदर्शना के अनुकूल बनाकर विषय समाप्त किया। पण्डितराज अनेक बार इस दोष से ग्रस्त हुए है।

रूपक का शाब्द-बोध विचारपूर्वक प्रतिपादित किया गया है, यह भी पण्डितराज का ही वैशिष्ट्य है।[१६९]

परिणाम

लक्षण

पण्डितराजकृत लक्षण

परिणाम का लक्षण है—'विषयी यत्र विषयात्मतयैव प्रकृतोपयोगी न स्वातन्त्र्येण, स परिणाम।'[१७०] अर्थात् जहाँ विषयी विषयतया ही प्रकृत का उपयोगी होता है, वही परिणाम होता है। (तात्पर्य यह है कि जब उपमान उपमेय से आत्मसात् होकर ही प्रकृत का उपयोगी हो, पृथक् रूप से नही वहाँ परिणाम होता है।)

इसमे विषयी मे विषय का अभेद होता है। जबकि रूपक मे विषय मे विषयी का अभेद होता है। अत दोनो परस्पर पृथक्-पृथक् हैं, एक नही है।

इसका उदाहरण यह है—

> अपारे ससारे विषमविषयारण्यसरणौ
> मम भ्राम भ्राम विगलितविराम जडमते.।।
> परिश्रान्तस्याय तरणितनयातीरनिलय
> समन्तात्सन्ताप हरिनवतमालस्तिरयतु ।।[१७१]

यहाँ पर भगवान् के रूप से ही तमाल ससार रूपी ताप को समाप्त करने मे समर्थ है (पृथक् रूप से नही) मार्ग के श्रम से युक्त लोगो के सन्ताप को हरण करने वाला, रमणीयता और शोभा का आधार होने से तमाल विषयी के रूप मे उपास्त

१६८—दे० परि० क–७
१६९ रस. पृ २४८
१७० रस पृ २४८

हुआ है । अर्थात् इस उदाहरण मे तमाल है विषयी और भगवान् है विषय । तमाल की उपयोगिता—ससारजन्यतापहरण-योग्यता—तभी सिद्ध हो सकती है जब उसको हरि के ही रूप मे ग्रहण किया जाय । अत विषयी का विषय मे अभेद है ।

अलङ्कारसर्वस्वकार का मत

रूय्यक ने अलङ्कारसर्वस्व मे परिणाम अलङ्कार का यह लक्षण दिया है—

'आरोप्यमाणस्य प्रकृतोपयोगित्वे परिणाम ।'

अर्थात् उपमान यदि प्रकृत कार्य का उपयोगी हो तो परिणाम अलङ्कार होता है ।

इस लक्षण की व्याख्या उन्होने स्वय जो की है वह इस प्रकार है—रूपक मे आरोप्यमाण (उपमान) प्रकृत कार्य मे उपयोगी नही होता अपितु केवल उपमेय पर आरोपित होकर ही प्रकृत कार्य से सम्बन्धित होता है । परिणाम मे वह उपमेय के रूप मे ही प्रकृत का उपयोगी होता है अर्थात् उपमेय उपमान के रूप मे परिणत हो जाता है ।

रूपक और परिणाम का मुख्य भेद यह है कि रूपक मे उपमान उपमेय पर आरोपित होता है और परिणाम मे उपमान के रूप मे उपमेय परिणत हो जाता है । परिणाम मे आरोप्यमाण की सार्थकता उपमेय के रूप मे ही होती है उपमान के रूप मे नही और रूपक मे वह उपमान उपमान के ही रूप मे सार्थक रहता है, केवल उपमेय से अभिन्न रहता है [१७२]

पण्डितराजकृत खण्डन

पण्डितराज ने रुय्यक के उक्त मत का खण्डन किया है । उसके अनौचित्य को सिद्ध करने के लिये सर्वप्रथम जो युक्ति दी है वह यह है कि लक्षण मे 'आरोप्यमाण का प्रकृत मे उपयोग' कहने से वास्तव मे तात्पर्य क्या है ? प्रकृत कार्य मे आरोप्यमाण का उपयोग अथवा प्रकृत विषय (उपमेय) के रूप मे आरोप्यमाण का उपयोग ?

इनमे से यदि प्रथम तात्पर्य माना जाय अर्थात् आरोप्यमाण का प्रकृत कार्य मे उपयोग होने पर परिणाम माना जाय तो अलङ्कार सर्वस्व मे ही जो रूपक का उदाहरण दिया गया है उसमे परिणाम अलङ्कार का लक्षण चला जाता है । वह उदाहरण यह है —

दासे कृतागसि भवत्युचित· प्रभूणा
पादप्रहार इति सुन्दरि ! नास्मि दूये ।

---

१७१. रस पृ ३३२–३३३ (रुय्यक का सपूर्ण मत)
१७२ अ. स पृ ५३

उद्यत्कठोरपुलकाङ्कुरकण्टकाग्रै-
र्यत्खिद्यते तव पद ननु सा व्यथा मे ।।[१७३]

इसमे आरोप्यमाण कण्टको का पुलकाङ्कुर के साथ अभेद होने से रूपक है । परन्तु उपर्युक्त रीति से उन कण्टको की खेदव्यथा रूप कार्य के प्रति उपयोगिता होने से परिणाम हो जायेगा । अत लक्षण की अतिव्याप्ति होती है ।

यदि द्वितीय अर्थ स्वीकार किया जाय, अर्थात् प्रकृत विषय के रूप मे आरोप्य-माण का उपयोग होने पर परिणाम अलङ्कार माना जाय तो उनके ही दिये हुए—

अथ पक्तिमतामुपेयिवद्भि. सरसैर्वक्त्रपथाश्रितैर्वचोभि ।
क्षितिभर्तुरूपायन चकार प्रथम तत्परतस्तुरङ्गमाद्यै ।।[१७४]

इस व्यधिकरण परिणाम के उदाहरण मे लक्षण की असङ्गति हो जायेगी क्योकि राजा से भेट होने मे उपायन (उपहार) रूप आरोप्यमाण का अपने ही रूप से (उपहार के ही रूप मे) उपयोग है उपमेय—वाणी (सद्‌वचन—के रूप मे नही) इतना ही नही, वाणी रूप विषय की उपहार रूप आरोप्यमाण के रूप मे ही उपयोगिता है—जो वास्तव मे परिणाम अलङ्कार के लक्षण के विपरीत है ।

अप्पयदीक्षित का मत

अप्पयदीक्षित ने चित्रमीमासा मे विद्याधर के दिये गये उदाहरण को दूषित बताते हुए कहा है कि— नरसिंह ! धरानाथ के वय तव वर्णने ।
अपि राजानमाक्रम्य यशो यस्य विजृम्भते ।।'

यह जो विद्याधर के द्वारा उदाहृत किया गया है कि इसमे 'राज' पद से चन्द्र रूप विषय की उपस्थिति होती है तथा उसमे आरोप्यमाण विषयी का (नृप का) आक्रमणरूप कार्य मे उपयोग होता है । अत. इस प्रतीति के कारण परिणामालङ्कार यहा व्यङ्ग्य होता है । यह ठीक नही है क्यो कि यहा आरोप्यमाण नृपका नृपत्वेन ही आक्रमण के प्रति उपयोग है चन्द्रत्वेन नहीं ।'—इति ।

पण्डितराजकृत खण्डन

पण्डितराज ने अप्पय दीक्षित के इस दोष दर्शन को अनुचित सिद्ध कर विद्याधर कृत उदाहरण को उचित बताया है । वह कहते है कि इस पद्य मे विजृम्भण से कवि का तात्पर्य केवल प्रागल्भ्य मात्र मे नही है । यदि ऐसी विवक्षा होती तब यश के द्वारा किये गये आक्रमण मे नृप की नृपत्वेन ही कर्मरूप मे उपयोगिता हो सकती थी । परन्तु यहाँ कवि की विवक्षा है अत्यन्त (निरतिशय) निर्मलता रूप गुण

१७३ अ स पृ ६४
१७४ चि० मी० पृ ६८
१७५ चि० मी० पृ. ५०

से युक्त होने मे अर्थात् उस प्रकार की निर्मलता अन्य कही भी प्राप्त नही हो सकती— इस प्रकार के अभिप्राय से इसका प्रयोग हुआ है। (स्वसमानजातीयद्वितीयराहित्य प्रयुक्त हुआ है। ।) आक्रमण तो गौण ही है। और इस प्रकार एवविध विजृम्भण मे चन्द्रकर्मक आक्रमण ही उपयुक्त प्रतीत होता है न कि नृपकर्मक। अत विषयी के रूप मे व्यज्यमान नृप का भी चन्द्रात्मना ही उपयोग होता है अर्थात् विषय रूप मे ही विषयी का उपयोग होता है। इसलिये विद्याधरोक्त उदाहरण सुन्दर ही है।

अन्य मत

अन्य किसी आलङ्कारिक का मत है कि परिणाम अलङ्कार दो प्रकार का होता है—(१) आरोप्यमाण परिणाम और (२) विषयपरिणाम।

१—जहाँ विषय की उपयोगिता विषय के रूप मे नही होती, आरोप्यमाण से अभिन्न रहकर ही होती है वहाँ आरोप्यमाण परिणाम होता है। अर्थात् वहाँ विषय आरोप्यमाण मे परिणत हो जाता है। जैसे—'वदनेनेन्दुना तन्वी शिशिरीकुरुते दृशौ' इसमे मुख चन्द्रमा से अभिन्न होकर ही शिशिरीकरणरूप प्रकृतकार्य के प्रति उपयोगी है, स्वतन्त्र रूप से—केवल मुखरूप से—नही।

२—जहाँ आरोप्यमाण की स्वतन्त्र रूप से प्रकृत कार्य के प्रति उपयोगिता न हो, विषय से अभिन्न होकर ही वह उसका उपयोगी हो सके, वहाँ विषय परिणाम होता है अर्थात् वहाँ आरोप्यमाण विषय के रूप मे परिणत हो जाता है। जैसे— 'वदनेनेन्दुना तन्वी स्मरताप विलुम्पति' इसमे चन्द्रमा मुख से अभिन्न होकर ही स्परतापनाश के प्रति उपयोगी है, स्वतन्त्र रूप से—चन्द्रमा के रूप से—नहीं'।

परन्तु वास्तव मे यह रूपक के ही दो प्रकार है क्योकि विषयतावच्छेदक या विषयितावच्छेदक मे से किसी एक के पुरस्कार द्वारा विषयी या विषय मे विषयता या विषयिता का निश्चय करना ही रूपक का लक्षण है। इसीलिये मम्मट ने भी कहा है 'उपमान और उपमेय का अभेद ही रूपक है।'

अत परिणाम अलङ्कार वास्तव मे रूपक अलङ्कार से पृथक् कोई अलङ्कार नही है।[१७५]

पण्डितराजकृत खण्डन (नागेश की टीका के आधार पर)

इस मत के सम्बन्ध मे पण्डितराज ने स्पष्ट शब्दो मे अपना कोई मत नही दिया है परन्तु नागेश की टीका से उनका जो विचार प्रतीत होता है वह यह है कि 'केचित्' तथा 'वदन्ति' इन पदो से इस मत का प्रतिपादन करने के कारण, अर्थात् आलङ्कारिक का स्पष्ट रूप मे नाम निर्देश न करने से यह द्योतित होता है कि पण्डितराज की इस मत के साथ सहमति नही है।

---

१७५. रस. पृ, २५२ (उक्त सम्पूर्ण मत)

चमत्कृति भेद से अलङ्कार भेद होता है यह सिद्धान्त है। अत· उसके अनुसार जैसे अन्य अलङ्कारो मे भेद माना गया है वैसे ही यहाँ भी भेद मानना ही उचित है। रूपक मे परिणाम का अन्तर्भाव करना उचित नही है। [१७६]

परिणामालङ्कार के भेद

परिणामालङ्कार दो प्रकार का होता है– समानाधिकरण और व्यधिकरण। इनमे से समानाधिकरण पुनः वाक्यगत और समासगत होने से दो प्रकार का होता है।
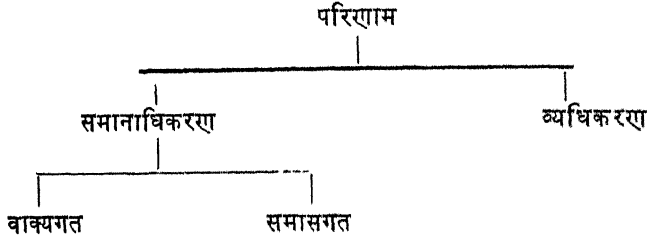
जहाँ उपमान और उपमेय मे समान विभक्ति का प्रयोग होता है वहाँ समानाधिकरण और जहाँ भिन्न विभक्तियो का उपयोग होता है वहाँ व्यधिकरण समास होता है।

वाक्यगत समानाधिकरण परिणाम के उदाहरण के लिए पूर्वोक्त 'अपारे ससारे–' इत्यादि पद्य ही लिया जा सकता है। यह परिणाम वाक्यगत इसलिए है कि विषयरूप से 'प्रकृतकार्य मे उपयोगी होना'– परिणाम का स्वरूप है एवञ्च प्रकृत पद्य मे वह कार्य है 'निवारण करना'। इसका सूचक पद है 'तिरयतु'। वह किसी समास के अन्तर्गत नही है। 'हरिनवतमाल' यह पद उपमानोपमेय का समास रूप है तथापि विग्रह करने पर दोनो मे समान विभक्ति है अतः समानाधिकरण है।

समासगत समानाधिकरण का उदाहरण यह है–

> महर्षेर्व्यासपुत्रस्य श्राव श्राव वच सुधाम्।
> उप (अभि) मन्युसुतो राजा परां मुदमाप्तवान्॥ [१७७]

यहाँ उपमान रूप अमृत मे आरोपित उपमेय रूप वचन का श्रवण रूप प्रकृतकार्य मे उपयोग हो रहा है अर्थात् उपमान का उपमेय रूप से ही उपयोग है। 'श्रावं श्राव वच.सुधाम्' पदो का समास होने से यह समासगत है। (इसमे 'मयूर-व्यसकादित्वात्' से समास है) [१७८]

---

१७६. केचिद्वदन्तीत्याभ्यामरुचि सूचिता। चमत्कृतिनिदानत्वेनालङ्कारभेद इति सिद्धान्तानादन्यत्रेवात्रापि भेद एवोचित इति।–रस (नागेशटीका) पृ. २५२

१७७. रस पृ २४६

१७८ दे. परि क–६

व्यधिकरण परिणाम का उदाहरण यह है–

अहीनचन्द्रा लसताननेन ज्योत्स्नावती चापि शुचिस्मितेन ।
एषा हि योषा सितपक्षदोषा तोषाय केषा न महीतले स्यात् ।। [१७६]

इसमे 'सबके सन्तोष के लिए है' इस कथन से 'विरहीजनो के सन्तोष के लिए है' यह भी प्राप्त हो जाता है । वह विरहितजनतोषजनकत्व आरोप्यमाण (उपमान) शुक्लपक्ष की रजनी के स्वरूप से बाधित है । अर्थात् शुक्लपक्ष की रजनी विरहियो के सुख के लिए नही होती यह सिद्ध होने पर उसका तोषजनकत्व बाधित है परन्तु वही तोषजनकत्व रमणीरूप से (विषयरूप से) सिद्ध हो सकता है । अत परिणाम है । इसमे युवती पर शुक्लपक्ष की रजनी का आरोप किया गया है, तद्रूपेण वह प्रकृत विषय –विरहीजनो के सतोष के लिए होना–के लिए उपयोगी नही हो सकती, बाधित है । अत उसका योषारूप ही इसके लिए उपयोगी होने से परिणाम अलङ्कार है । यह परस्पर सापेक्षा (परिणामो के) अनेक समूह रूप होने से सावयव है । इसके प्रथमार्थ के दो अवयव व्यधिकरण है और उत्तरार्ध के दो अवयव समानाधिकरण है ।

अप्पयदीक्षित का मत—

अप्पयदीक्षित ने परिणाम के समानाधिकरण्य और वैयधिकरण्य से दो प्रकार बताने के पश्चात् व्यधिकरण के निम्नलिखित उदाहरण दिए है–

तारानायकशेखराय जगदाधाराय धाराधर–
च्छायाधारककन्धराय गिरिजासङ्गैकशृङ्गारिणे ।
नद्या शेखरिणे दृशा तिलकिने नारायणेनास्त्रिणे
नागैः कङ्कणिने नगेन गृहिणे नाथाय सेय नति ।। [१८०]

इसमे नदी और नयन (नेत्र) रूप विषयो मे जो विभक्ति है वह शेखर और तिलकी रूप विषयियो (आरोप्यमाणो) मे नही है अत वैयधिकरण्य है ।

अथवा जैसे–

द्विर्भाव पुष्पकेतोर्विबुधविटपिना पौनरुक्त्य विकल्प–
श्चिन्तारत्नस्य वीप्सा तपनतनुभुवो वासवस्य द्विरुक्तिः ।
द्वैत देवस्य दैत्याधिपमथनकलाकेलिकारस्य कुर्व-
न्नानद कोविदाना जगति विजयते श्रीनृसिंहक्षितीन्द्र ।। [१८१]

इसमे राजा रूप विषय का व पुष्पकेतु आदि विषयियो का विभक्तिभेद है अत व्यधिकरण है ।

---

१७६. रस पृ. २४६
१८०-१८१. चि. मी. पृ. ६७

पण्डितराजकृत खण्डन—

इनके सम्बन्ध मे पण्डितराज का विचार इस प्रकार है–प्रथम पद्य का प्रकरण है पार्वती के सङ्ग मात्र से जो शृङ्गारयुक्त है ऐसे शिव मे कवि का नमन। शृङ्गार करने वाले के लिए शेखर आदि भूषणो की आवश्यकता होती है अत नदी का आरोप्यमाण शेखर के रूप मे ही उपयोग है न कि नदी रूप से। इसी प्रकार नेत्र का भी तिलक के रूप मे ही उपयोग है नेत्र के रूप मे नही। अत यहाँ शुद्ध रूपक ही हो सकता है। इस पर यदि परिणाम की सिद्धि करने के लिए यह कहा जाय कि परिणाम मे विषयी विषय से अभिन्न होकर रहता है और इस उदाहरण मे विषय-वाचक नदी आदि शब्दो के उपरान्त आई हुई तृतीया विभक्ति अभेद की वाचिका है और शेखरादि उस अभेद के साथ अन्वित होते हैं अत अभेद है और तत्प्रयुक्त परिणाम है (उपमेय-उपमान का अभेद हो गया–जोकि परिणाम का जीवित है।)–तो भी उचित नही है क्योकि विषय से अभिन्न होकर विषयी का भान यद्यपि यहाँ होता है परन्तु वह उस रूप मे उपयोगी नही है। अर्थात् शिरोभूषण आदि उपमानो का प्रकृत पद्य मे नदी आदि के रूप मे उपयोग नहीं है अपितु शिरोभूषण के ही रूप मे है। अत. परिणाम नही है। (परिणाम वही होता है जहाँ विषयी विषय से अभिन्न होकर प्रतीत हो और उसी रूप मे उपयोगी भी हो। यहाँ विषयी का विषय से अभेद तो है किन्तु उस रूप मे उपयोग नही है। अतः पूर्ण लक्षण का समन्वय न होने से यहाँ परिणाम नही है।)

'द्विर्भावि पुष्पकेतोरिति–' इत्यादि द्वितीय पद्य मे विद्वानो के हृदय मे आनन्द की उत्पत्ति और जगत् मे राजा श्रीनृसिंह का उत्कर्ष (विजय) यह दो अश कहे गये हैं। उसमे राजा का विद्वानो के हृदय मे आनन्द उत्पन्न करना (कोविदानन्दजनकत्व) भी जिस प्रकार आरोपित किए जाने वाले द्वितीय कामदेव के रूप मे बन सकता है वैसा अपने रूप (राजत्वेन) मे नही। क्योकि-'अहा! हमारे नयनो की सफलता, कि जो यह दूसरा कामदेव हम लोगो के द्वारा देखा जाता है'– ऐसा मानने वाले उन लोगो का नयनानन्द पुष्पकेतु के ही द्वारा उत्पन्न होता है राजा के द्वारा नही। इसी प्रकार यह दूसरा कल्पतरु है, दूसरी चिन्तामणि है, पृथ्वी पर आया हुआ द्वितीय इन्द्र एव द्वितीय कर्ण है जो हमारे दारिद्र्य का अपहरण करेगा। यह विष्णु ही है जो इस ससार का हरण करेगा– इस अभिमान से उत्पन्न उनका आनन्द भी आरोप्यमाण कल्पवृक्षादि से ही सिद्ध होता है (राजा रूप से नही) अत विषयात्मना विषयी का उपयोग नहीं है, अपितु विषयीरूप मे ही उपयोग है। अत इसमे भी परिणाम नही है।

इस प्रकार उक्त दोनो उदाहरणो मे विषयो का विषय से अभिन्नरूप मे बोध होने पर भी तद्रूपेण उपयोग न होने से परिणाम नहीं है यह पण्डितराज ने सिद्ध किया है।

परिणामालङ्कार की ध्वनि

यही परिणाम जहाँ प्रमुख रूप से व्यङ्गय होता है वहाँ वह परिणामध्वनि का विषय हो जाता है ।

यह ध्वनि यदि अर्थबल से होती हो तो अर्थशक्तिमूल और यदि शब्द के बल पर होती हो तो शब्दशक्तिमूल होती है ।

अर्थशक्तिमूल ध्वनि का उदाहरण यह है–

'इन्दुना परसौन्दर्यसिन्धुना बन्धुना विना ।
ममाय विषमस्ताप केन वा शमयिष्यते ।। [१८२]

इसमे वक्ता को विरहित रूप से व्यज्यमानरमणीवदन से अभिन्न रूप मे इन्दु अभीष्ट है । क्योकि उसी रूप से वह प्रकृत विरहसन्तापशमन का हेतु है । इस उदाहरणमे विषय का निगरण हो जाने से अतिशयोक्ति की कल्पना नही करनी चाहिए क्योकि उसमे आरोप्यमाण से (विषयी से) अभिन्न होकर विषय का बोध होता है । जैसे 'कमल कनकलतायाम्' इत्यादि मे कनकलता से अभिन्न वनिता मे कमल से अभिन्न मुख की प्रतीति होती है और परिणाम मे मुख का चन्द्र से अभिन्न रूप मे बोध होने पर विरहतापशमनरूप प्रकृत कार्य की सिद्धि नही होती इसलिए आरोप्यमाण चन्द्र को मुखरूप विषय से अभिन्नरूप से स्वीकार करना पडता है । वह अभेद व्यङ्ग्य होने पर ही होता है। अत यहाँ परिणाम की ध्वनि ही है अतिशयोक्ति नही । यह ध्वनि अर्थशक्तिमूल है ।

शब्दशक्तिमूल परिणामध्वनि जैसे–

पान्थ मन्दमते किं वा सन्तापमनुविन्दसि ।
पयोधर समाशास्व येन शान्तिमवाप्नुयाः ।। [१८३]

इसमे तुरन्त तापनाश के कारण रूप मे मेघ के उपस्थित होने पर, उसके बाद मन्दबोधनीयविशेष्यकस्मरतापवत्ता वैशिष्ट्य बोध होने पर सहृदय को तापनाश को शान्त करने वाले रमणीस्तनरूप विषय के साथ अभेदता का बोध होता है । (आशय यह है कि यहाँ पर साधारणरूप से सतापनाश करने वाले के रूप मे पयोधर पद का तत्क्षणात् मेघ रूप अर्थ अभिधा से प्रतीत हो जाता है। इसके पश्चात् 'मन' इस सम्बोधन के अर्थ से सन्ताप पद से स्मरताप का ज्ञान होने पर तादृशताप के शमन करने वाले रमणी मे स्तनरूप अर्थ की ही व्यञ्जना से प्रतिस्थापना होती है । और इस प्रकार पयोधर (रमणीस्तन) मे पयोधर (मेघ) का आरोप होता है । आरोप्यमाण पयोधर स्तन से अभिन्न ही वक्ता का अभीष्ट है क्योकि वही स्मरताप के

१८२ रस पृ २५५
१८३. रस पृ २५६

हरण मे समर्थ है। पयोधर पद अपरिवृत्तिसह (परिवर्तनो का न सह सकनेवाला) है अत शब्दशक्तिमूलध्वनि है।

ध्वनि सम्बन्धी अप्पयदीक्षित का मत—

अप्पयदीक्षित ने अपने मतानुसार उसका यह (परिणाम की ध्वनि का) उदाहरण दिया है—

चिराद्विषहसे ताप चित्त चिन्ना परित्यज ।
नन्वस्ति शीतलः शौरे पादाब्जनखचन्द्रमा. ।।[१८४]

और कहा है कि इसमे—चिरतापार्त्त के प्रति हरिपादाब्जनखचन्द्र के सद्भाव के प्रदर्शन से उसका ही सेवन करो, उसके ही सेवन से यह ताप शान्ति को प्राप्त करेगा इस प्रकार परिणाम व्यङ्ग्य होता है।[१८५]

पण्डितराजकृत खण्डन

उक्त मत उचित नही है क्योकि—अप्पयदीक्षित ने स्वय ही यह कहा है कि "आरोप्यमाण का विषय रूप मे ही प्रकृत कार्य का उपयोगी होना परिणाम है" [१८६] इसमे यह निश्चित ही है कि प्रकृतकार्य के प्रति उपयोगी होना मात्र ही परिणाम का शरीर नही है अपितु विषयिगत प्रकृतकार्य के प्रति उपयोगिता है वह विषयाभेद विशिष्ट भी होनी चाहिये। अर्थात् विषयी का उपयोग विषय से अभिन्न रहते हुए ही होना चाहिये। एव इस उदाहरण मे नखचन्द्रसद्भाव के प्रदर्शन (वर्णन) से 'उसके सेवन से तेरा यह ताप शान्त हो जायेगा' यह प्रकृत के प्रति उपयोगिता व्यङ्ग्य होती है तथापि उसके अवच्छेदक—विषयी मे विषय अभेद—का कथन शब्द से हुआ है अर्थात् वह वाच्य है अथवा वाच्य से सम्बन्धित है। इस दशा मे उसे ध्वनि (व्यङ्ग्य) का स्थल मानना बिल्कुल ही अनुचित है।

तात्पर्य यह है कि पण्डितराज के अनुसार परिणाम के दो अश हैं (१) विषयी का विषय से अभेद और (२) उस विषयाभिन्न विषयी का विषयरूप से प्रकृत कार्य के प्रति उपयोगी होना। परिणाम की ध्वनि मे इन दोनो अशों का व्यङ्ग्य होना आवश्यक है परन्तु उक्त उदाहरण मे उपयोगिता ही व्यङ्ग्य है अभेद नही क्योकि उसका (अभेद का) कथन शब्दत. हो गया है। वैयाकरण रीति से ससार के ताप से तप्त के प्रति भगवन्नख से अभिन्न चन्द्र ही शीतलता का उत्पादक है इस प्रकार आरोप्यमाण चन्द्र का विषय के साथ अभेद अभिधा से स्पष्ट

---

१८४. चि मी पृ ६६

१८५. अत्र चिरतापार्तं प्रति हरिपादाब्जनखचन्द्रसद्भावप्रदर्शनेन तमेव निषेवस्व. तन्निषेवणादयं ताप शान्तिमेष्यतीति परिणामो व्यज्यते। (चि. मी. पृ. ६६)

१८६. आरोप्यमाणस्य विषयात्मकत्वेन प्रकृतकार्योपयोगे परिणामे। (रस० पृ० २५५)
आरोप्यमाणस्य प्रकृतात्मनोपयोगित्वे परिणाम । (चि० मी० पृ० ६४)

रूप मे कह दिया गया ('पादाब्जनखचन्द्रमा' कह कर) अत उस अभेद को व्यङ्ग्य नही कहा जा सकता और इसके वाच्य होने पर परिणाम की ध्वनि असिद्ध हो जाती है। (पादाब्जनखचन्द्र का वाच्यार्थ होगा 'पादाब्जनखाभिन्नचन्द्र' अत अभिन्न रूपी वाच्यार्थ से अभेद भी वाच्य ही हो गया।)

परिणामालङ्कारगत दोष

परिणामालङ्कार मे भी रूपक अलङ्कार के समान ही दोषो को समझ लेना चाहिये। अर्थात् लिङ्ग वचन आदि का भेद होना यहा दोष है। यदि वो भेद कवि-समय प्रसिद्ध हो तो दोष नही होता।

समवलोकन —

रुय्यक, दीक्षित आदि के द्वारा स्वीकृत परन्तु मम्मट के द्वारा अनिरूपित परिणाम अलङ्कार का पण्डितराज ने इतना विशद विवेचन किया है यह स्वय इस बात का द्योतक है कि उन्होने इसे एक स्वतन्त्र अलङ्कार के रूप मे स्वीकार किया है। नागेश का भी अभिप्राय यही है कि इन्हे रूपक मे परिणाम का अन्तर्भाव मान्य नही है।

परिणाम अलङ्कार के दो अश है—विषय और विषयी का अभेद तथा विषय का प्रकृतार्थ मे उपयोग। पूर्वोक्त सभी आलङ्कारिको के लक्षणो मे इन दोनो ही अशो का उल्लेख हुआ है परन्तु उसका इतना विविक्त रूप किसी ग्रन्थ मे सम्मुख नही आया जितना रसगङ्गाधर मे।

पूर्वाचार्यो के मतो की सक्षिप्तता ही उनके लक्षणो के अस्पष्टीकरण का कारण बनकर दोष रूप हो गयी है। पण्डितराज के समान पूर्ण-लक्षण अन्य किसी आलङ्कारिक का नही है।

आरम्भ मे रूपक से उसका सूक्ष्म वैलक्षण्य दिखलाकर उन्होने यह स्पष्ट ही कर दिया है कि इस अलङ्कार को रूपक मे अन्तर्भूत करना अनुचित है।

ससन्देह

लक्षण

पण्डितराजकृत लक्षण

पण्डितराज ने इस अलङ्कार के दो लक्षण दिये है। उनमे से प्रथम लक्षण यह है—

'सादृश्यमूला भासमानविरोधका समबला नानाकोट्यवगाहिनी धी रमणीया सन्देहालङ्कृतिः।'[१८७]

---

१८७. रस पृ २५६

अर्थात् सादृश्यमूला, विरोध की प्रतीति जिसमे होती है, समान बल वाली, भिन्न-भिन्न कोटि मे अवगाहन करने वाली, बुद्धि, रमणीय होने पर ससन्देहालङ्कृति होती है ।

लक्षणगत विशेषणो का समन्वय करने के लिये कहा है कि—

अधिरोप्य हरस्य हन्त चाप परितापं प्रशमय्य बान्धवानाम् ।
परिणेष्यति वा न वा युवाय निरपाय मिथिलाधिनाथपुत्रीम् ।।'[१८८]

इसमे, मिथिला निवासियो के कथन मे उनकी चिन्ता को व्यक्त करने वाले सशय मात्र में अतिव्याप्ति का वारण करने के लिये सादृश्यमूला विशेषण दिया है । जिसका अर्थ है–सादृश्य ज्ञान रूप दोष के कारण से उत्पन्न । इस प्रकार का अर्थ करने पर 'सिंहवत् प्रान्तर गच्छ गृह सेवस्व वा श्ववत्' इस उपमा मे भी, विकल्प रूप अर्थ मे, जिसमे वा पद से विरोध भी प्रतीत हो रहा है, प्रान्तरगमन और गृह सेवन रूप नानार्थों मे अवगाहन करने वाली, सादृश्य विषयक बुद्धि मे भी अतिव्याप्ति नही होती । क्योकि वह सादृश्य ज्ञान रूप है सादृश्य ज्ञान रूप दोषजन्य नही ।

मालारूपक मे अतिव्याप्ति का वारण करने के लिये 'भासमानविरोधका' विशेषण दिया ।

उत्प्रेक्षा की व्यावृत्ति के लिये 'समबला' विशेषण दिया । समबल का तात्पर्य है समान रूप से भासित होने वाली सामग्री वाला होना । उत्प्रेक्षा मे विधेय पक्ष प्रबल होता है । जैसे–'धूमस्तोम तम शङ्के' इसमे धूम और तमस् का समान रूप से भान होने पर भी धूम पक्ष प्रधान है । इन्ही दोनो विशेषणो से प्राप्त अनेकत्व को स्पष्ट करने के लिये 'नाना' कहा है ।

'स्थाणुर्वा पुरुषो वा' इस लौकिक सशय के निरास के लिये 'रमणीय' पद दिया है । रमणीय का अर्थ है चमत्कारी । अलङ्कार सामान्य के लक्षण मे ही यह विशेषण दिया गया है । इसी प्रकार उपस्कारकत्व भी अलङ्कार सामान्य की विशेषता है ।

रमणीयता, उपस्कारकता और असादृश्य पर आधारित होने पर यह भ्रान्ति अलङ्कार का विषय नही हो पाती । अर्थात् यदि कोई भ्रम सादृश्य के कारण न होकर किसी अन्य कारण से हो, किसी प्रकार का चमत्कार उत्पन्न न करे तथा किसी का उपस्कार भी न करता हो तो वह शुद्ध भ्रम ही रहता है, अलङ्कार नही हो पाता ।

ससन्देहालङ्कार का द्वितीय लक्षण इस प्रकार है–'सादृश्यहेतुका निश्चयसम्भावनान्यतरभिन्ना धी रमणीया सशयालङ्कृतिः ।' अर्थात् निश्चय और सम्भावना से अतिरिक्त ऐसी बुद्धि (ज्ञान) जो सादृश्य के कारण होती हो तथा रमणीय हो, सशय अलङ्कार होती है ।

---

१८८ रस पृ २५६

इसमे केवल उक्ति वैभिन्नय ही है, तात्पर्यार्थ तो वही है जो प्रथम लक्षण का है।

अप्पयदीक्षित का मत

अप्पयदीक्षित की दृष्टि से—

अस्या सर्गविधौ प्रजापतिरभूच्चन्द्रो नु कान्तिप्रद
श्रृङ्गारैकरस स्वय नु मदनो मासो नु पुष्पाकर ।
वेदाभ्यासजडः कथ स विषयव्यावृत्तकौतूहलो
निर्मातु प्रभवेन्मनोहरमिद रूप पुराणो मुनि ॥[१८९]

इस ससन्देहालङ्कार के उदाहरण मे लक्षण सङ्गत नही होता। क्योकि—

इसमे चन्द्र आदि सन्देह धर्मी है अर्थात् सन्देहात्मक ज्ञान मे विशेष्यभूत हैं और धर्म है वर्णनीयवनितास्रष्टृत्व। प्रकृत स्थल मे धर्मियो का अनेकत्व है धर्म का नही। अर्थात् चन्द्र, वसन्ततु आदि अनेक धर्मी है और धर्म–वनितासृष्टिकर्तृत्व एक ही है। कभी चन्द्रमा मे वनिता के निर्मातृत्व का सन्देह होता है कभी कामदेव मे उसकी प्रतीति होती है एव कभी वसन्ततु मे। अत. सन्देह का विषय एक ही है प्रजापतित्व। सन्देह का स्वरूप है नानाकोटिक बुद्धि। उसका यहाँ अभाव है।[१९०]

पण्डितराजकृत खण्डन

पण्डितराज ने अप्पयकृत उक्त असङ्गति को अनुचित कहा है। इनके अनुसार उपर्युक्त रीति से प्रस्तुत उदाहरण मे परस्पर प्रतिक्षेप करने वाले नानाकोटिक बोध स्वरूप सन्देहालङ्कार की अव्याप्ति नही होती है। इस उदाहरण में 'इस सृष्टि मे जो प्रजापति था वह चन्द्र था, कामदेव था या वसन्त था–' इस प्रकार का सशय प्रजापति रूप धर्मी वाला चन्द्रत्वादि नानाप्रकार (धर्म) का ही है। (अर्थात् अप्पयदीक्षित ने धर्मी माना चन्द्रादि को और धर्म माना है प्रजापतित्व को तथा पण्डितराज ने धर्मी माना है प्रजापति को और धर्म माना है चन्द्रत्वादि को।) इस प्रकार एक ही प्रजापति मे चन्द्रत्वादि विभिन्न प्रकार की बुद्धि होने से यहाँ लक्षण जाता ही है। चन्द्रादि को यहाँ धर्मी इसलिये नही मानना चाहिये क्योकि फिर प्रजापति का प्रथम (मुख्य) उद्देश्य नही हो सकेगा।

ससन्देहालङ्कार के भेद

रसगङ्गाधर मे अनेक दृष्टियो से ससन्देहालङ्कार के भेद किये गये है। सर्वप्रथम इसके तीन भेद बताये हैं—शुद्ध, निश्चयगर्भ और निश्चयान्त।

---

१८९. रस पृ. २५६
१९०. रस पृ. २५६

(१) शुद्ध ससन्देह वह होता है जहाँ आरम्भ से अन्त तक सन्देह बना ही रहता है। जैसे—

मरकतमणिमेदिनीधरो वा तरुणतरस्तरुरेष वा तमालः।
रघुपतिमवलोक्य तत्र दूरादृषिनिकरैरिति सशयः प्रपेदे ।।[१६१]

इसमे आरम्भ से लेकर अन्त तक सन्देह की ही स्थिति बनी है अत शुद्ध सशय है।

(२) निश्चयगर्भ ससन्देह वहाँ होता है जहाँ सन्देह के साथ-साथ उसकी निवारण करने वाली दृढ बुद्धि का भी वर्णन होता रहे। जैसे—

तरणितनया किं स्यादेषा न तोयमयी हि सा
मरकतमणिज्योत्स्ना वा स्यान्न सा मधुरा कुत'।
इति रघुपतौ कायच्छायाविलोकनकौतुके
वनवसतिभि कै' कैरादो न सन्दिदिहे जनैः।[१६२]

इसमे श्री रामचन्द्र की देह कान्ति के सम्बन्ध मे विभिन्न प्रकार का सन्देह वर्णित है परन्तु प्रत्येक सन्देह का खण्डन करने वाले निश्चय का भी उसके साथ-साथ वर्णन है। जैसे यमुना की प्रतीति के लिये जलयुक्ता न होना, मणि की आभा की प्रतिति के लिये अमाधुर्य का निश्चय इत्यादि। अर्थात् इस प्रकार से सन्देह होता है परन्तु उसके गर्भ मे यह भी निश्चित ज्ञान रहता है कि यह प्रतीति असत्य है।

इसमे पहले सन्देह होता है फिर वह अयथार्थ प्रतीत होता है, पुनः दूसरा निश्चय होता है।

(३) इसमे क्रमश. अनेक सन्देह होते है और अन्त मे कोई एक निश्चित यथार्थ ज्ञान होता है। उदाहरण के लिये—

चपला जलदाच्च्युता लता वा तरुमुख्यादिति सशये निमग्नः।
गुरुनि'श्वसितै कपिर्मनीषी निरणैषीदथ ता वियोगिनीति ।।[१६३]

यहाँ वियोगिनी नायिका के सम्बन्ध मे क्रमश विद्युत् व लता प्रकारिका भ्रान्ति होती है एव अन्त मे यथार्थ निश्चय हो जाता है।

१६१. रस पृ २५७
१६२. रस पृ. २५७
१६३. रस पृ. २५८

इन तीनो ही उदाहरणो मे सन्देहालङ्कार ही मुख्य वाक्यार्थ के रूप मे अवगत हो रहा है, उससे किसी अन्य का उपस्कार नही हो रहा परन्तु फिर भी वह अलङ्कार है क्योकि उनमे अलङ्कारकत्व है, अर्थात् अन्य को उपस्कृत करने की क्षमता है। जिस प्रकार मञ्जूषा मे रखे हुए कटक कुण्डल आदि किसी रमणी का उपस्कार न करने पर भी अलङ्कार कहलाते है क्योकि वह अलङ्कारक होते है। उसी प्रकार अन्योपस्कारक न होते हुए भी वे अलङ्कार अलङ्कार कहलाते है।

आरोपमूल व साध्यवसानमूल ससन्देह

जहाँ उपमान व उपमेय दोनो का शब्दश ग्रहण किया गया हो वहाँ आरोप मूलक ससन्देह होता है। जैसे उपर्युक्त सभी पद्य है।

एव जहाँ उपमेय का ग्रहण न करके केवल उपमान का ही ग्रहण किया गया हो वहाँ अध्यवसानमूलक सन्देह होता है। जैसे—

सिन्दूरै परिपूरित किमथवा लाक्षारसै क्षालित
लिप्त वा किमु कुङ्कुमद्रवभरैरेतन्महीमण्डलम्।
सन्देह जनयन्नृणामिति परित्रातत्रिलोकस्त्विषा
व्रातः प्रातरुपातनोतु भवता भव्यानि भासानिधे. ।।[१९४]

इसमे सवितृविषयक रति का परिपोषक होने से ससन्देह मुख्य अलङ्कार है।

वाच्य लक्ष्य व्यङ्ग्य के भेद से यह अलङ्कार पुनः तीन प्रकार का होता है। सन्देह का प्रत्यायन जिस वृत्ति से हो उसी के आधार पर इसका वाच्यत्व, लक्ष्यत्व व व्यङ्ग्य होता है। वाच्य, लक्ष्य, व्यङ्ग्य के भेद से ससन्देह के भेद—

यथा, उपर्युक्त सभी उदाहरण शब्दबोध्य होने के कारण वाच्य है। लक्ष्य ससन्देह का उदाहरण यह है—

साम्राज्यलक्ष्मीरियमृष्यकेतो सौन्दर्यसृष्टेरधिदेवता वा।
रामस्य रामामवलोक्य लोकैरिति स्म दोला रुरुहे तदानीम् ।।[१९५]

इसमे पर्याय से उभयकोटि का आलम्बन करके भूले के सादृश्य के कारण होने वाला सशय यहाँ 'दोला' शब्द से लक्षित होता है। एक बार 'साम्राज्यलक्ष्मी' की ऊहा करते है पुन· 'सौन्दर्याधिदेवता'—ऐसा अर्थ करते हैं अत· सशय है।

व्यङ्ग्य सन्देहालङ्कार का उदाहरण यह है—

'तीरे तरुण्या वदन सहास नीरे सरोज च मिलद्विकासम्।
आलोक्य धावत्युभयत्र मुग्धा मरन्दलुब्धालिकिशोरमाला ।।'[१९६]

---

१९४ रस पृ. २५८
१९५. रस पृ २६०
१९६ रस पृ. २६०

यहाँ पर पुरोवर्तिव्यक्तिद्वय – वदन और सरोज को देखकर 'अभेद सम्बन्ध से यह कमल है या वह ?' इस आकार से कमल रूप एक ही धर्मी मे इद वा इद वा' इस प्रकार दो भाँति का होने से सशय है। इद इद का बोध शब्द से न होने के कारण वह व्यङ्ग्य है।

> आज्ञा सुमेषोरविलङ्घनीया किं वा तदीया नवचापयष्टि ।
> वनस्थिता कि वनदेवता वा शकुन्तला वा मुनिकन्यकेयम् ।।[१६७]

इसमे भी यद्यपि वाचक शब्द के अभाव से सशय व्यङ्ग्य ही है तथापि विषय-निरूपण से स्पष्ट रूप से निवेदित हो जाने के कारण ध्वनि नही कहलाता। अपितु गुणीभूत व्यङ्ग्यरूप प्रभेद ही कहते हैं। इसमे प्रत्येक प्रकार अनुगामी है और पृथक् निर्दिष्ट है। (चापयष्टि मे तथा शकुन्तला मे नवात्व व मुनिकन्यकात्वरूप साधारण धर्म (नवीना) अनुगामी है।)

साधारण धर्माधारित ससन्देह के भेद

ससन्देहगत साधारण धर्म भी अनेक प्रकार का होता है जिससे सन्देह के भी अनेक प्रकार हो जाते हैं—
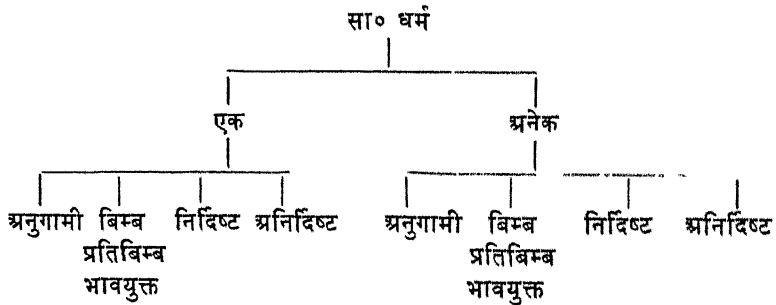
साधारणधर्म के आधार पर ससन्देह के भेद

कही तो समान धर्म एक ही रहता है कही पृथक्-पृथक्। वह भी कभी अनु-गामी और कभी बिम्बप्रतिबिम्ब भाव से युक्त, कही कथित और कही अकथित होता है। अर्थात् एक उपमान के साथ उपमेय का जो साधारण धर्म होगा वही दूसरे उपमान के साथ भी होगा-तब एक साधारण धर्म का स्थल होगा। एव जहाँ उनमे विलक्षणता होगी वहाँ पृथक्-पृथक् साधारण धर्मों वाली स्थिति होगी।

अनुगामी और एक ही धर्म वाला उदाहरण है—

'मरकतमणिमेदिनीधरो वा–'[१६८]

---

१६७. रस पृ. २६०
१६८. रस पृ २४६

इत्यादि पूर्वोक्त पद्य । उस धर्म का आकार है श्यामाभिरामत्व। जो राम रूप धर्मी की तमाल और मरकतभूधर रूप दोनो कोटियो मे एक ही है । तथा प्रतीयमान होने से निर्दिष्ट है ।

वही (अनुगामी, एक) धर्म अनिर्दिष्ट होने पर—

'नेत्राभिराम रामाया वदन वीक्ष्य तत्क्षणम् ।
सरोज चन्द्रबिम्ब वेत्यखिला समशेरत ।।'[१९९]

इसमे नेत्राभिरामत्व रूप धर्म तीनो मे एक ही है, अनुगामी है और निर्दिष्ट है ।

पृथक् अनुगामी निर्दिष्ट धर्म—

सम्पश्यता तामतिमात्रतन्वी शोभाभिरामासितसर्वलोकान् ।
सौदामिनी वा सितयामिनी वेत्यय जनाना हृदि सशयोऽभूत् ।[२००]

इसमे अतिमात्र तनुत्व सौदामिनी का, शोभाभिरामासितसर्वलोकत्व चन्द्रिका-पूर्णरात्रि के साथ कान्ता का पृथक् रूप से अनुगामी धर्म है । इसी मे पूर्वार्ध के दो विशेषणो को छोड दिया जाय तो अनिर्दिष्ट (पृथक् अनुगामी अनिर्दिष्ट) हो जायेगा ।

बिम्बप्रतिबिम्ब भाव से युक्त समान धर्म–'तीरे तरुण्या वदन सहास–' इत्यादि पहले कहे गये पद्य मे है ।

ससन्देह के आहार्यानाहार्यरूप से पुन: द्विविध भेद

यह सशय कही आहार्य होता है कही अनाहार्य । जहाँ कवि के द्वारा परनिष्ठ सशय वर्णित होता है वहाँ पर प्राय ही सशय अनाहार्य रहते हैं । जैसे–'तीरे तरुण्या–' मरकतमणिमेदिनीधरो वा–' इत्यादि उपर्युक्त उदाहरणो मे । इनमे भ्रमर आदि मे, जिनमे सशय उत्पन्न हो गया है, ग्राह्य के प्रति (बोध्य के प्रति) निश्चय का अभाव है । सशय करने वाले भ्रमरो का ग्राह्य विषय क्या था, उसका निश्चय न होने के कारण यह सशय अनाहार्य (अनारोपित, स्वाभाविक) है ।

जहाँ यह सशय स्वगत हो (स्वनिष्ठ हो) वहाँ आहार्य होता है । जैसे—

अलिर्मृगो वा नेत्र वा यत्र किञ्चिद्विभासते ।
अरविन्द मृगाङ्को वा मुख वेद मृगीदृश. ।[२०१]

इनमे वक्ता कवि है तथा वह तत्त्ववेत्ता भी है अत उसका सशय कल्पित है ।

परम्परित सशय

परम्परित सशय भी सम्भव होता है जैसे—

विद्वद्दैन्यतमस्त्रिमूर्तिरथवा वैरीन्द्रवशाटवी
दावाग्नि. किमहो महोज्ज्वलयश शीताशुदुग्धाम्बुधि: ।

१९९ रस पृ २६३
२०० रस पृ २६३
२०१ रस पृ २६५

किं वानङ्गभुजङ्गदष्टवनिताजीवातुरेव नृणा
केषामेष नराधिपो न जनयत्यल्पेतराः कल्पना. ।।[२०२]

इसमे सशय आहार्य है ।

कभी-कभी परनिष्ठ होने पर भी, कवि के द्वारा वर्णित होने के कारण यह आहार्य हो जाता है ।

इसी प्रकार इसके अन्य भेद भी समझ लेने चाहिये ।

ससन्देहालङ्कार की ध्वनि के सम्बन्ध मे अप्पयदीक्षित का मत

अप्पयदीक्षित ने चित्रमीमासा मे ही ससन्देहालङ्कार की ध्वनि निरूपित करते हुए उदाहरण रूप मे यह पद्य दिया है—

काञ्चित्काञ्चनगौराङ्गी वीक्ष्य साक्षादिव श्रियम् ।
वरद सशयापन्नो वक्ष स्थलमवैक्षत ।।

इसमे सशय शब्दश कथित हो गया है परन्तु उतना मात्र होने से अलङ्कार की हानि नही होती । क्योकि सशयालङ्कार का प्रयोजक (कारणीभूत तत्त्व) वक्षः-स्थल मे स्थित रहते हुए ही लक्ष्मी वहाँ से उतरकर सम्मुख बैठी है—इस प्रकार का सशय 'वक्ष स्थल को देखा' इससे व्यङ्ग्य होता है अतः सन्देहालङ्कार की ध्वनि यहां है । जैसे—

'दर्पणे च परिभोगदर्शिनी पृष्ठत प्रणयिनो निषेदुषः ।
वीक्ष्य बिम्बप्रतिबिम्बमात्मन कानि कान्यपि चकार लज्जया ।।'

इसमे 'कानि कान्यपि'—इस सामान्य रूप से निर्दिष्ट अनुभाव-विशेष की प्रतीति के लिये लज्जा शब्द का प्रयोग होने पर भी उसकी अपने विभाव और अनुभाव के द्वारा रस के अनुकूल ही अभिव्यक्ति होने से ध्वनि है । अर्थात् उक्त पद्य मे 'कानि-कानि' पद से अनुभाव का निर्देश हुआ है परन्तु सामान्य रूप मे ही हुआ है विशेष रूप मे नही । (अर्थात् कौन-कौन से अनुभाव हैं यह नही ज्ञात होता केवल अनुभाव मात्र का होना ही प्रतीत होता है ।) उन अनुभावो के विशेष रूप की प्रतीति कराने के लिये लज्जा पद का प्रयोग किया गया । (लज्जा से ज्ञात होता है मुखावनमनादि अनुभावो का वर्णन जो लज्जा से सम्बन्धित है ।) परन्तु लज्जा का शब्दत अनुवाद हो जाने पर भी अपने विभाव (प्रियदर्शन आदि) और अनुभाव आदि से परिपुष्ट जो लज्जा है वह प्रतीयमान (व्यङ्ग्य) ही है । अत रस के अनुकूल होने से उसको ध्वनि कहते हैं ।[२०३]

उपर्युक्त सम्पूर्ण अश का सार यह है कि जैसे 'दर्पणे च ......' इत्यादि पद्य मे लज्जा अभिहित होने पर भी ध्वनित्वेन व्यपदिष्ट होती है उसी प्रकार काञ्चित्का-

---

२०२. रस पृ. २६५

२०३. रस. पृ २६१ (अप्पयदीक्षित का उक्त सम्पूर्ण मत)

श्वन'' ' इत्यादि मे भी सशय का शब्दतः उल्लेख हो जाने पर भी उसकी व्यङ्गचता प्रतीत होती है ।

पण्डितराजकृत खण्डन

पण्डितराज को अप्पय की उक्ति मे आपत्ति है । वह कहते है कि यह सब जो अप्पय ने कहा है वह ध्वनि के तत्त्वज्ञो के द्वारा उपहसनीय है क्योकि सशयाविष्ट ('सशयापन्न –' प्रथम पद्य मे आया हुआ विशेषण) पद मे सशय पद से जो अर्थ साक्षात् सङ्केतित किया जाता है वह है एक ही पदार्थ मे नाना विरोधी पदार्थो का ज्ञान होना । उस ज्ञान के होने पर जब इस प्रकार की आकाक्षा होती है कि यह विरोधी भिन्न-भिन्न पदार्थ कौन से है तब वक्ष स्थल रूप पद से व्यङ्गच होने वाला 'क्या वक्ष स्थल मे रहने वाली लक्ष्मी ही सम्मुख आ गयी है' इस प्रकार का अर्थ ज्ञात होता है । व्यञ्जना द्वारा प्रतीत होने वाला यह विशेष अर्थ, अभिधा द्वारा सशय पद से प्रतीत होने वाले सामान्य अर्थ के साथ अभिन्न हो जाता है । और इस प्रकार सशय म.त्र की शक्ति से प्रतीत हो जाने के कारण वक्ष स्थल पर स्थित रहते हुए ही– इत्यादि अर्थ भी विरुद्धनानार्थरूप सामान्य अर्थ से ही आक्रान्त हो जाने से वाच्यार्थ का स्पर्श पा जाने के कारण ध्वनि नही है । सक्षेप मे, विवक्षितार्थ यह है कि सशय का जो विशेष आकार है–'वक्ष स्थलस्थिता ही लक्ष्मी उतर कर आ गयी है क्या ?'– इत्यादि, वह सशय के सामान्य आकार—विरुद्ध नानार्थक ज्ञान–का ही एक भाग विशेष है । भाग हो जाने से वह वाच्यवृत्ति से स्पष्ट है अत· ध्वनि का हेतु नही है । सशय के सामान्य आकार का विशेष आकार भाग इसलिये है क्योकि वह सामान्यार्थ बोध के पश्चात् उत्पन्न आकांक्षा का पूरक है, अतएव विशेषण (प्रकार) रूप है ।

ध्वनिवादियो का यह सिद्धान्त है कि जो वाच्यवृत्ति से सर्वथा अबोध्य होगा (अस्पृष्ट होगा) वही व्यङ्गच या ध्वनि का कारण होगा, तादृश अर्थ को ही ध्वनि कहा जायेगा ।

इसके प्रमाण के लिये पण्डितराज ने ध्वनिकार आनन्दवर्धनाचार्य के ध्वन्यालोक का कुछ अश दिया है ।–'शब्दार्थशक्त्याक्षिप्तो ''' ' इत्यादि ।[२०४] अर्थात् शब्द शक्ति से जब कोई अर्थ आक्षिप्त होता है तो व्यङ्गच होने पर भी वह ध्वनि नही होता, किसी अन्य अलङ्कार का विषय होता है । इसी प्रसङ्ग मे आनन्दवर्धन के

२०४ शब्दार्थशक्त्याक्षिप्तोऽपि व्यङ्ग्योऽर्थं कविना पुन ।
यत्राविष्क्रियते स्वोक्त्या साऽन्यैवालङ्कृतिर्ध्वने ॥ (ध्व. पृ. २७१–२७२)

द्वारा ही दिये हुए दो उदाहरणो को भी व्याख्या सहित उद्धृत किया है।[२१५] इसके अतिरिक्त भी तृतीयोद्योत मे उक्त अभिनवगुप्त का एक वाक्य भी उपस्थित किया है[२०६] जिसका तात्पर्य इसमे है कि व्यङ्ग्यार्थ का यदि किञ्चिन्मात्र भी वाच्यवृत्ति से उपस्थापन हो जाय तो वह गुणीभूनव्यङ्ग्य हो जाता है। अत. जहाँ अभिधा के बिना केवल तात्पर्यरूप मे व्यङ्ग्यार्थ की प्रतीति होती है केवल वही, वह ध्वनि का विषय होता है।

इस प्रकार उपर्युक्त प्रमाणो के रहते 'काञ्चित् काञ्चनगौराङ्गी ...' इत्यादि तथा 'दर्पणे च परिभोगदर्शिनी'–इत्यादि मे ध्वनि मानी ही नही जा सकती है।

इस प्रकार आनन्दवर्धन एव तट्टीकाकार अभिनवगुप्त को प्रमाण बना कर पण्डितराज ने अप्पयदीक्षित द्वारा प्रदत्त सशय-ध्वनि के उदाहरण को अनुदाहरण सिद्ध किया है।

समवलोकन

पण्डितराज का उक्त (अप्पयदीक्षित सम्बन्धी) खण्डनात्मक विवेचन उचित है या अनुचित यह विचारणीय है। 'काञ्चित् काञ्चन–' इन्यादि पद्य मे व्यङ्ग्यार्थ चमत्कारी अवश्य है परन्तु इतना नही कि केवल उसी मे सहृदय का हृदय रम जाये। ब्रह्मा के चकित होकर अथवा सशङ्क होकर देखने मे अधिक चमत्कार है अपेक्षाकृत उस सशय के विशेष रूप–'वही लक्ष्मी है अथवा अन्य कोई स्त्री–' के। अत. इस पद्य को गुणीभूतव्यङ्ग्य का भेद मानना ही अधिक उपयुक्त होता है।

---

२०५ सङ्केतकालमनस विट ज्ञात्वा विदग्धया।
हसन्नेत्रार्पिताकूत लीलापद्म निमीलितम्॥

अत्र सङ्केतकालमनस ज्ञात्वा लीलापद्म निमीलितमिति वदता कविना लीलापद्मनिमीलनस्य प्रदोषाभिव्यञ्जकत्व स्वोक्त्यैव निवेदितमिति ध्वनिमार्गादयमपर एव गुणीभूतव्यङ्ग्यस्य मार्ग। यथा वा—

अम्बा शेतेऽत्र वृद्धा परिणतवयसामग्रणीरत्र तातो
नि शेषागारकर्मश्रमशिथिलतनु कुम्भदासी तथाऽत्र।
अस्मिन्पापाहमेका कतिपयदिवसप्रोषितप्राणनाथा
पान्थायेत्थ तरुण्या कथितमवसरव्याहृतिव्याजपूर्वम्॥

अत्र नि शशङ्क रन्तुमायाहीत्यर्थश्च रणत्रयव्यङ्ग्योऽप्यवसरव्याहृतेर्व्याजत्व ब्रुवता कविना स्फुट स्वोक्त्या निवेदित इत्ययमपि न ध्वनेर्मार्ग। (रस. पृ २६२-२६३)

२०६. व्यङ्ग्यस्यार्थस्य यदि मनागप्युक्त्या प्रकाशन तदा गुणीभाव एव शोभते। तस्माद्यत्रोक्ति विना व्यङ्ग्योऽर्थस्तात्पर्येण प्रतीयते तत्र तस्य प्राधान्याद् ध्वनित्वम्। रस. पृ २६३
रसगगाधर मे उद्धृत उक्त अश ध्वन्यालोक मे इस क्रम में नही दिया गया है परन्तु इस आशय से कुछ अश अवश्य प्राप्त है जो ध्व. पृ. २७० से २७४ तक देखा जा सकता है।

प्रकृत अलङ्कार का निरूपण करते हुए पण्डितराज ने कोई नवीन विषय सम्मुख नही रखा केवल उस विषय की स्पष्टता को ही विशेष महत्त्व दिया जा सकता है।

भेदो मे आरम्भिक तीन भेदो के अतिरिक्त अन्य भेदो की उद्भावना नवीन है। यद्यपि उनकी स्वीकृति पूर्वाचार्यों को थी किन्तु स्पष्ट उल्लेख पण्डितराज ने ही किया।

भ्रान्तिमान्

लक्षण

पण्डितराजकृत खण्डन

'सदृशे धर्मिणि तादात्म्येन धर्म्यन्तरप्रकारकोऽनाहार्यो निश्चयः सादृश्यप्रयोज्यश्चमत्कारी प्रकृते भ्रान्ति। सा च पशुपक्ष्यादिगता यस्मिन्वाक्यसन्दर्भेऽनूद्यते स भ्रान्तिमान्।'[२०७]

अर्थात् सदृशधर्मी मे तादात्म्यरूप से, धर्म्यन्तर प्रकारक (अपर धर्मी विशेषण है जिसका ऐसा), अनाहार्य तथा सादृश्य के द्वारा होने वाला (सादृश्य प्रयोजक) निश्चय, चमत्कारी होने पर यहाँ (प्रकृत स्थल–काव्य मे) भ्रान्ति है। वह भ्राति पशु-पक्षी और मनुष्यनिष्ठरूप जिस वाक्य मे कही जाती है वह वाक्य भ्रान्तिमान् होता है। अर्थात् एक धर्मी का दूसरे धर्मी मे, सादृश्य के कारण, अभिन्नरूप से ज्ञान हो तो वह भ्रान्ति कहलाती है। वही भ्रान्ति जब चमत्कारी होती है तब अलङ्कार बन जाती है। इस प्रकार की भ्रान्ति काव्य मे ही अलङ्काररूपा होती है, अन्यत्र न्याय-वैशेषिक आदि शास्त्रो मे नही। यह भ्रान्ति अकल्पित होनी भी आवश्यक है। दो वस्तुओ के सादृश्य के कारण सहज रूप से होने वाली भ्रान्ति ही यहाँ विवक्षित है। उस भ्रान्ति से युक्त जो काव्य या रचना होती है वही भ्रान्तिमान् कहलाती है।

वास्तव मे अलङ्कार का विषय केवल भ्रान्ति ही है परन्तु 'भ्रान्तिमान् अलङ्कार' इस प्रकार का लाक्षणिक व्यवहार होता है। इसलिये कहा गया है कि—

प्रमात्रन्तरधीर्भ्रान्तिरूपा यस्मिन्ननूद्यते।
स भ्रान्तिमानिति ख्यातोऽलङ्कारे त्वौपचारिक ॥[२०८]

अर्थात् जिस वाक्यग्रन्थ मे कवि से अतिरिक्त व्यक्ति मे भ्रान्तिरूप बोध का अनुवाद (अनुकथन) किया जाता है वह काव्य भ्रान्तिमान् होता है, अलङ्कार के अर्थ मे इसका प्रयोग औपचारिक है।

मीलित, सामान्य और तद्गुण अलङ्कारो का निवारण करने के लिये दो धर्मियो का ग्रहण किया गया है। मीलितादि मे दो धर्मों मे तादात्म्येन भ्रम होता

---

२०७ रस. पृ. २६६
२०८. रस. पृ. २६६

है। रूपक मे भी अभेद बोध होता है अत उसमे भ्रान्तिमान् का लक्षण न जाये उसके लिये आहार्य पद का सन्निवेश किया। रूपक–गत अभेद कवि कल्पित होता है और भ्रान्तिगत अभेद सहज होता है। सन्देहालङ्कार का वारण करने के लिये 'निश्चय' विशेषण दिया। सन्देहालङ्कार मे होने वाली धर्म्यन्तरप्रकारक बुद्धि दोलायमान रहती है। और भ्रान्तिमान् मे वह बुद्धि निश्चित हो जाती है। 'इद रजतम्' यह भी भ्रान्ति है अत अलङ्कार हो जायेगी इस शङ्का का निरास करने के लिये 'चमत्कारी' कहा। चमत्कारी का अर्थ है कवि प्रतिभा प्रस्तुत होना। राङ्गे मे रजत का बोध तो लोक मे सभी को होता है—उसमे कवि की कल्पना कारण नही है। अत अलङ्कार का विषय वह नही हो पाती।

> 'अकरुणहृदय प्रियतम मुञ्चामि त्वामित पर नाहम्।
> इत्यालपति कराम्बुजमादायालीजनस्य विकला सा॥'[२०९]

इसमे नायिका के सन्देशवाहक की उक्ति मे व्यङ्ग्य होने वाले उन्माद का वारण करने के लिये 'सादृश्य प्रयोज्य' कहा। इसमे जो नायिकागत भ्रान्तियुक्त प्रमाद है वह किसी सादृश्य के कारण नही है बल्कि वियोग के कारण है। इस लक्षण मे एकत्व भी विवक्षित है अर्थात् उक्त प्रकारक निश्चय एक ही होना चाहिये अन्यथा उल्लेखालङ्कार मे अतिव्याप्ति हो जायेगी। उल्लेख अलङ्कार मे अनेक ग्रहीता होते हैं जो एक ही विषय के बारे मे अलग-अलग प्रकार से बोध करते है अर्थात् वहाँ भ्रान्तियो का एक समुदाय सा रहता है।

भ्रान्तिमान् का उदाहरण यह है—

> 'कनकद्रवकान्तिकान्तया मिलित राममुदीक्ष्य कान्तया।
> चपलायुतवारिदभ्रमान्ननृते चातकपोतकैर्वने॥'[२१०]

इसमे चातक मे होने वाले हर्ष की उपस्कारिका होने के कारण, चातक मे रहने वाली भ्रान्ति, अलङ्कार है। इसी मे यदि 'परिफुल्लपतत्रपल्लवैर्मुमुदे चातकपोतकैर्वने'— इस प्रकार उत्तरार्ध को कर दिया जाए तो यही भ्रान्ति की ध्वनि का उदाहरण हो जायेगा।

रुय्यक का मत

रुय्यक ने अलङ्कारसर्वस्व मे भ्रान्तिमान् का लक्षण इस प्रकार किया है— 'सादृश्याद्वस्त्वन्तरप्रतीतिर्भ्रान्तिमान्।' अर्थात् सादृश्य के कारण किसी अन्य वस्तु मे अन्य वस्तु की प्रतीति होना भ्रान्तिमान् होता है।[२११]

---

२०९ रस पृ २६६
२१० रस पृ २६६
२११. अ स पृ ६८

पण्डितराजकृत खण्डन

रुय्यक निर्मित उपर्युक्त लक्षण को अतिव्याप्ति और अव्युत्पत्ति दोषो के कारण पण्डितराज ने अनुचित कहा है ।

अतिव्याप्ति

(१) ससन्देह मे भी दो वस्तुओ के सादृश्य के कारण एक वस्तु मे अन्य वस्तु की सन्देहात्मक प्रतीति होती है और उत्प्रेक्षा मे भी सादृश्य के ही कारण एक वस्तु मे दूसरी वस्तु का भान होता है । अतः दोनो मे इस लक्षण की अतिव्याप्ति होती है ।

(२) यदि यह कहा जाए कि प्रतीति का तात्पर्य है निश्चय मे, अर्थात् एक वस्तु मे दूसरी वस्तु का निश्चय होने पर भ्रान्तिमान् अलङ्कार होता है, तब भी रूपकालङ्कार मे लक्षण की अतिव्याप्ति होगी । रूपक मे वह प्रतीति निश्चयात्मिका ही होती है । रूपक के प्रकरण मे उस पर विचार हुआ ही है ।

(३) निश्चय मे यदि यह और लगा दिया जाए कि उपमेयता के वास्तविक रूप का भान जिसमे न हो ऐसा निश्चय (उपमेयतावच्छेदकानवगाही निश्चय) भ्रान्तिमान् का स्थल है–तथापि अतिशयोक्ति मे होने वाली प्रतीति मे अतिव्याप्ति होती है । अतिशयोक्ति मे उपमेय का उपमेयत्वेन बोध नही रहता ।

अव्युत्पत्ति

एव अनाहार्य निश्चय को भ्रान्तिमान् का लक्षण कहा जाए तब भी दोष है क्योकि वह लक्षण भ्रान्तिमात्र का ही होगा, भ्रान्तिमान् का नही । अत मतुप् प्रत्यय की सङ्गति तब भी नही हो पायेगी ।

अप्पयदीक्षिताभिमत लक्षण

चित्र-मीमासा मे भ्रान्तिमान् का लक्षण इस प्रकार बनाया है—

> कविसम्मतसादृश्याद्विषये पिहितात्मनि ।
> आरोप्यमाणानुभवो यत्र सा भ्रान्तिमान्मत ।।

और कहा है कि 'पिहितात्मनि' इस विशेषण से आरोप्यमाण वस्तु के स्वारसिक (अन्तवर्त्ती) अनुभव का कवि प्रतिभा के द्वारा कल्पित होना विवक्षित है । कवि की कल्पना से उत्थित होने पर ही विषय का पिधान (गोपन) सम्भव है । अत रूपक आदि मे अतिव्याप्ति नही होती ।[२१२] (तात्पर्य यह है कि रूपक मे विषय और विषयी का पृथक्-पृथक् ज्ञान रहते हुए विषयी का विषय पर आरोप होता है अर्थात् विषय मे विषयी का बोध होता है परन्तु भ्रान्तिमान् अलङ्कार मे विषय छिप

२१२ पिहितात्मनीत्यनेनारोप्यमाणानुभवस्य स्वारसिक कविप्रतिभया कल्पन विवक्षितम् । तस्यैव विषयपिधानसामर्थ्यात् । अतो रूपकादौ नातिव्याप्ति. ।–(चि मी पृ ७५)

जाता है, विषय का विषयत्वेन बोध नही होता और तब उस अज्ञात विषय मे विषयी का ही बोध नही होता है । अत· 'पिहितात्मनि' (छिपे हुए) विशेषण से रूपक मे इस अलङ्कार की अतिव्याप्ति नही होती ।'[213]

पण्डितराजकृत खण्डन

(१) उक्त लक्षण बनाने के पश्चात् यह कहना कि 'पिहितात्मनि' इत्यादि विशेषण से रूपकादि मे अतिव्याप्ति नही होती है, ठीक नही है । रूपक मे आरोप्य-माण वस्तु का अनुभव वर्णित नही होता अपितु उससे (रूपक से) अनुभव उत्पन्न होता है । आशय यह है कि भ्रान्ति है अनुभव रूप और रूपक (अभेद) है अनुभव का विषय । अर्थात् अभेद स्वय कोई अनुभव नही है एक है ज्ञान, दूसरा है ज्ञान का विषय । अनुभव रूप भ्रान्ति के लक्षण की अनुभूयमान अभेदरूप रूपक मे किसी प्रकार अतिव्याप्ति होती ही नही है, अत 'पिहितात्मनि' कहकर उस अतिव्याप्ति का वारण करना निर्मूल है ।

(२) रूपक पद से 'रूपक का ज्ञान' (अभेद का ज्ञान) यह अर्थ मानकर भी यदि उस विशेषण को सप्रयोजन सिद्ध किया जाय तो भी ससन्देहालङ्कार मे अति-व्याप्ति होती है । क्योकि उसमे भी विषयतावच्छेदक का बोध नही होता । (अर्थात् विषय की विषयता का अवच्छेदक जो धर्म होता है उसका ज्ञान ससन्देह मे नही होता है ।) जैसे 'मरकतमणिमेदिनीधरो वा तरुणस्तरुरेष वा तमालः' इत्यादि मे 'रघुपति' रूप विषय के अवच्छेदक धर्म रघुपतित्व का बोध नही होता अपितु मरकत-भूधर और तमाल के रूप मे ही बोध हो रहा है । इसके अतिरिक्त उल्लेख अलङ्कार मे भी अतिव्याप्ति होगी क्योकि वह तो भ्रान्तियो का समुदायरूप ही है । उल्लेख की अतिव्याप्ति को निराकृत करने के लिये यह कहना उचित नही है कि उल्लेख भ्रान्ति से सङ्कीर्ण होता है । क्योकि ऐसा कहने से उल्लेख मे होने वाली अतिव्याप्ति को क्षम्य नही माना जा सकता । दुग्ध और जल सदा मिश्रित रहते हैं इसका तात्पर्य यह नही कि दुग्ध का लक्षण ऐसा बनाया जाय जो जल मे भी अतिव्याप्त होता रहे ।

भ्रान्तिमान् के भेद

पण्डितराज ने स्वय इस अलङ्कार के भेदो का निर्वचन नही किया है । केवल अप्पय द्वारा दिये गये एक विशिष्ट भेद के उदाहरण का खण्डन मात्र किया है ।

भ्रान्तिमान् के भेद सम्बन्धी अप्पय का मत

भिन्न-भिन्न कर्त्ताओ के द्वारा होने वाली भ्रान्ति का उदाहरण यह है—

(क्वचिद्भिन्नकर्तृकोत्तरोत्तरभ्रान्तिनिबन्धनेन चमत्कारः)

---

२१३. पिहितात्मनीत्यनेनारोप्यमाणानुभवस्य स्वारसिक कविप्रतिभया कल्पन विवक्षितम् । तस्यैव विषयपिधानसामर्थ्यात् । अतो रूपकादौ नातिव्याप्तिः ।–(चि. मी. पृ. ७५)

शिञ्जानैर्मञ्जरीति स्तनकलशयुग चुम्बित चञ्चरीकै-
स्तत्रासोल्लासलीला किसलयमनसा पारणय. कीरदष्टा ।
तल्लोपायालपन्त्य पिकनिनदधिया ताडिता काकलोकै-
रित्थ चोलेन्द्रसिंह त्वदरिमृगदृशा नाप्यरण्य शरण्यम् ।।[२१४]

पण्डितराजकृत खण्डन

पण्डितराज ने इस उदाहरण को अव्युत्पन्न बताया है क्योकि—

(१) प्रथम चरण मे स्तन की मञ्जरी के साथ उपमा, कवि-समाज मे प्रसिद्धि न होने से, असिद्ध है, असुन्दर है।

(२) दूसरे 'स्तनकलश' कहकर पुन उसका मञ्जरी के साथ औपम्य दिखाना भी अचमत्कारी है। सादृश्य पर ही आधारित रूपक और उपमा का (दो अलङ्कारो का) निबन्धन उद्विग्नकारी है। जैसे—'मुखकमल तव चन्द्रवत्प्रतीमः' इसमे दो अलङ्कार रूपक और उपमा का निबन्धन असुन्दर है।

(३) द्वितीय चरण मे विधेयाविमर्श दोष है। क्योकि इसमे विधेयाश है 'कीरो के द्वारा दर्शन।' शुको का विधेय होना यहाँ प्रतीत नही हो पाता क्योकि वह समासगत हो गया है। 'कीरैर्दष्टा' कर देने पर वह दोष दूर हो जाता है।

(४) तृतीय चरण मे भी दोष है क्योकि कोयल का शब्द ताडन के योग्य नही होता। शब्द है गुण और शब्दवती (आलपन्त्य) है गुणी। अत गुणी मे गुण का भ्रम होना अस्वाभाविक है। यहाँ पर यदि 'पिकनिनदधिया' के स्थान पर 'पिक-निकरधिया' कर दिया जाय, तो दोष निवारण हो जायेगा। दूसरे पिक के साथ मे कूजित आदि पदो का प्रयोग होता है निनाद आदि का नही। निनाद आदि शब्द सिंह और रणभेरी के लिये प्रयोग किये जाते हैं। अत यह भी एक दोष है।

(५) इन सबके अतिरिक्त एक और दोष है—अन्वयानुपपत्ति। प्रथम और द्वितीयचरण मे स्थित 'स्तनकलशयुग' और 'पारणयः' पदो का अन्वय तो 'अरिमृग-दृशा' पद के साथ जैसे-तैसे हो जाता है परन्तु तृतीय चरणस्थ 'आलपन्त्य' इस प्रथमान्त विशेष्य पद का अन्वय 'अरिमृगदृशा' पद के साथ नही होता। अत सम्पूर्ण पद्य अव्युत्पन्न है। भ्रान्तिमान् अलङ्कार का अशमात्र ही होने से इसे उदाहृत कर दिया गया है।

समवलोकन

भ्रान्तिमान् अलङ्कार का अत्यन्त सूक्ष्म एव विश्लिष्ट विवेचन किया गया है। भ्रान्ति और भ्रान्तिमान् का भेद नवीन नही है, स्वय पण्डितराज ने ही उसके

२१४. चि मी. पृ ७६

समर्थन मे प्राचीनोक्ति को उद्धृत किया है । अतः तदश मे इनका विशेष योगदान नही है ।

रूपक के साथ भ्रान्तिमान् का जो भेद दिखाया गया है वह न्याय की भूमिका मे आरोपित बौद्धिक व शास्त्रीय प्रतिपादन है । अनैयायिक सहृदय के हृदय मे उस भेद का प्रकाश कठिन है ।

अलङ्कारसर्वस्वकार का खण्डन भी शास्त्र पर ही आधारित है अनुभव पर नही ।

अप्पयदीक्षित का बुरी तरह खण्डन किया गया है जिसका मौलिक आधार व्याकरण है । व्याकरण की दृष्टि से ही उनका पद्य अव्युत्पन्न कहा है तथापि उपमादिगत युक्तियाँ अनुभवानुकूल है ।

स्वय पण्डितराज ने इसके भेदो की कोई चर्चा नही की है एव दोषादि भी नही दिखाये है ।

उल्लेख

लक्षण

पण्डितराजकृत लक्षण

उल्लेख अलङ्कार की दो स्थितिया होती है । प्रथम स्थिति के उल्लेख का लक्षण इस प्रकार है—

'एकस्य वस्तुनो निमित्तवशाद्यदनेकैर्ग्रहीतृभिरनेकप्रकारक ग्रहण तदुल्लेख ।'[२१५]

अर्थात् एक ही वस्तु का, निमित्त के भेद से जो अनेक ग्रहीताओ के द्वारा अनेक प्रकार से ग्रहण होता है वह उल्लेख होता है । (एक ही वस्तु के प्रति भिन्न-भिन्न व्यक्तियो को भिन्न-भिन्न प्रकार का बोध होना उल्लेख है ।)

'अधर बिम्बमाज्ञाय मुखमब्ज च तन्वि ते ।
कीराश्च चञ्चरीकाश्च विन्दन्ति परमां मुदम् ।।'[२१६]

इसमे भी शुको और भ्रमरो के द्वारा अधर और मुख का क्रमश बिम्बाफल के रूप मे और कमल के रूप मे ग्रहण हो रहा है अत उल्लेखालङ्कार हो सकता है परन्तु 'एकस्य वस्तुन' कह देने से वह उल्लेखालङ्कार निरस्त हो जाता है । इसी प्रकार 'धर्मस्यात्मा भागधेय क्षमाया'[२१७]—इत्यादि माला रूपक मे यह लक्षण न आये इसके लिये 'अनेकैर्ग्रहीतृभि' कहा । अर्थात् माला रूपक मे बोध तो एक वस्तु

२१५. रस पृ २७०
२१६. रस पृ २७०
२१७. पृ. २२५

का होता है और अनेक प्रकार का होता है परन्तु एक ही व्यक्ति के द्वारा होता है, अनेक व्यक्तियो के द्वारा नही। अत लक्षण की अतिव्याप्ति नही होती। उल्लेख मे होने वाला ग्रहण एक व्यक्ति के द्वारा एक ही प्रकार का होता है अनेक प्रकार का नही परन्तु वह ग्रहण अनेक व्यक्तियो के द्वारा भिन्न-भिन्न प्रकार का होता है।

इसी प्रकार जहाँ एक ही वस्तु का अनेक ग्रहीताओ के द्वारा एक ही प्रकार का बोध हो वहाँ भी उल्लेख अलङ्कार नही होगा। इसी को स्पष्ट करने के लिये लक्षण मे 'अनेकप्रकारक' यह विशेषण दिया।

द्वितीय स्थिति मे उल्लेख का लक्षण इस प्रकार है—

यत्रासत्यपि ग्रहीत्रनेकत्वे विषयाश्रयसमानाधिकरणादीना सम्बन्धिनामन्यतमानेकत्वप्रयुक्तमेकस्य वस्तुनोऽनेकप्रकारत्वम्।[२१८]

अर्थात् अनेक ग्रहीताओ के न होने पर भी विषय के आश्रय के समानाधिकरण्य वाले सम्बन्धियो मे से किसी एक का अनेकत्वप्रयुक्त एक वस्तु का अनेक प्रकारत्व हो। अर्थात् जिस विषय के बारे मे नाना प्रकार का बोध होता हो, उस विषय के अधिकरण मे रहने वाले अन्य सम्बन्धियो मे से किसी एक सम्बन्धी के विषय मे जब नाना प्रकार का बोध हो तो उसके कारण होने वाला मुख्य विषय का नानाप्रकारक ग्रहण भी उल्लेखालङ्कार होता है। उसमे यह आवश्यक नही है कि ग्रहीता अनेक हो।

उल्लेख के इन दोनो प्रकारो मे वैशिष्ट्य यह है कि प्रथम प्रकार मे भिन्न-भिन्न ग्रहीताओ के, नानाप्रकार के ग्रहणो का समुदाय ही चमत्कार उत्पन्न करता है और द्वितीय प्रकार मे तत्तद्विषयभेद से भिन्न, प्रकार समुदायमात्र मे चमत्कार उत्पन्न करने की शक्ति होने से अलङ्कारत्व होता है। इसमे जो ज्ञान-प्रधान अश रहता है, उससे अलङ्कारता नही होती क्योकि वह चमत्कारी नही होता।

अप्पयदीक्षित का मत

अप्पयदीक्षित ने चित्र-मीमासा मे उल्लेख का लक्षण करने के पश्चात् तल्लक्षणगत प्रत्येक विशेषण की उपयोगिता सिद्ध कर उस लक्षण को अव्याप्ति तथा अतिव्याप्ति दोषो से रहित सिद्ध किया है। उस सबके पश्चात् भी यदि उसमे अतिव्याप्ति दोष की सम्भावना कोई करे तो उसका निवारण कैसे करना चाहिये—इसको इस प्रकार बताते है—

एवमपि यदि—

कान्त्या चन्द्रं विदुः केचित्सौरभेणाम्बुज परे।
वक्त्र तव वय ब्रूमस्तपसैक्य गत द्वयम्॥

---

२१८. रस पृ. २७४

इस अपह्नुति के उदाहरण मे अतिव्याप्ति की शङ्का हो तो अनेकधा उल्लेख मे निषेधास्पृष्टत्व विशेषण और जोड देना चाहिये। (तात्पर्य यह है कि उल्लेख अलङ्कार के लक्षण की सङ्गति उक्त अपह्नुति के उदाहरणादि मे न हो इसके लिये उसके लक्षण मे यह और कहना चाहिये कि अनेक प्रकार से होने वाला उल्लेख ऐसा हो जिसमे निषेध न किया गया हो। ऐसा कह देने से उपर्युक्तादि उदाहरणो मे उल्लेख का लक्षण नही जायेगा क्योकि उसमे निषेध विद्यमान है।) उससे प्रथमार्ध मे जिन दो मतो का उल्लेख हुआ है उनका उत्तरार्ध मे वर्णित तृतीय मत से निषेध व्यङ्ग्य होता है, अत अतिव्याप्ति नही होगी।[२१६]

पण्डितराजकृत खण्डन

उक्त पद्य मे अपह्नुति नही है अपितु सङ्कीर्ण उल्लेख है क्योकि–(१) उल्लेख दो प्रकार का होता है, शुद्ध और अलङ्कारान्तर से सङ्कीर्ण।[२२०] यह कहकर, 'यस्तपोवनमिति मुनिभि –'[२२१] इत्यादि हर्षचरित के श्रीकण्ठ के जनपद के वर्णन से शुद्ध और 'यम-नगरमिति शत्रुभि –'[२२२] इत्यादि मे भ्रान्तिमान् और रूपक आदि से सङ्कीर्ण उल्लेखालङ्कार है 'यह अप्पय ने स्वय ही कहा है। अत उनकी इसी उक्ति के आधार पर 'कान्त्या चन्द्र –' इत्यादि मे भी अपह्नुति से सङ्कीर्ण उल्लेख कहा ही जा सकता है, व्यर्थ उसमे 'निषेधास्पृष्ट' यह विशेषण क्यो जोडा जाय अर्थात् उक्त उदाहरण मे उल्लेख के लक्षण को अव्याप्त करने के लिये उसमे निषेधाभाव नही कहना चाहिये क्योकि उस निषेध के रहते हुए भी वहाँ सङ्कीर्ण उल्लेख हो ही सकता है।

---

२१६ 'एवमपि यदि—'कान्त्या चन्द्र'—इत्यपह्नवोदाहरणविशेषेऽतिव्याप्ति. शक्या, तदानीमनेकधोल्लेखन निषेधास्पृष्टत्वेन विशेषणीयम्। तत्राद्योल्लेखनद्वय परमत्वोपन्याससामर्थ्याद्गम्यमाननिषेधमिति नातिव्याप्ति।' (चि. मी. पृ. ७८)

२२० द्विविधश्चायमुल्लेख. शुद्धोऽलङ्कारान्तरसङ्कीर्णश्च।' (रस पृ. २७२)

२२१. 'यस्तपोवनमिति मुनिभि, कामायतनमिति वेश्याभि, सङ्गीतशालेति लासकै, यमनगरमिति शत्रुभि, चिन्तामणिरित्यर्थिभि., वीरक्षेत्रमिति शस्त्रोपजीविभि, गुरुकुलमिति विद्यार्थिभि गन्धर्वनगरमिति गायकै, विश्वकर्ममन्दिरमिति विज्ञानिभि, लाभभूमिरिति वैदेहकै, धूर्तस्थानमिति बन्दिभि, साधुसमागम इति सद्भि., वज्रपञ्जरमिति शरणागतै., विटगोष्ठीति विदग्धै, सुकृतपरिणाम इति पथिकै., असुरविवरमिति वाहिकै, शक्याश्रम इति शामिभि अप्सरपुरमिति कामिभि, महोत्सवसमाज इति चारणै. वसुधारेति विप्रैरगृह्यत।'
अत्र तपोवनादिभूयिष्ठत्वात्तपोवनाद्युल्लेखः शुद्ध।
(चि मी पृ. ७६)

२२२ (यमनगरमिति शत्रुभि –इत्यादि) अत्रैव यमनगरत्वाद्युल्लेख. सङ्कीर्ण।(चि मी. पृ. ७६)

(२) यदि दीक्षित जी निषेधास्पृष्टत्व रूप विशेषण जोडकर अपह्नुति के उदाहरण मे यह निवारण कर भी दे तो भी 'कपाले मार्जार –'[२२३] इत्यादि भ्रान्तिमान् के अपने ही दिये हुए उदाहरण मे कैसे उसकी निवृत्ति करेगे ? अर्थात् उक्त विशेषण के जोड देने पर भी अतिव्याप्ति दोष बना ही रहेगा। क्योकि भ्रान्तिमान् के इस उदाहरण मे भी मार्जारादि अनेक ग्रहीताओ के द्वारा अनेक प्रकार का उल्लेख वहाँ भी है ही। अतः सङ्कीर्ण उल्लेख के निवारण के लिये प्रयत्न करना व्यर्थ है।

उल्लेखालङ्कार के भेद

दोनो ही प्रकार के उल्लेखो के क्रमशः शुद्ध और सङ्कीर्ण रूप से दो-दो भेद होते है।
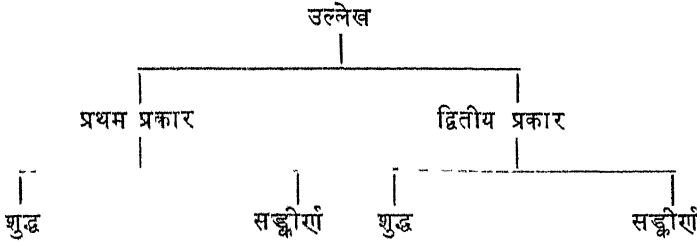
शुद्ध उल्लेख वहाँ होता है जहाँ उसके साथ किसी अन्य अलङ्कार का मिश्रण न हो। सङ्कीर्ण उल्लेख वहाँ होता है जहाँ उसके साथ किसी अन्य अलङ्कार का भी मिश्रण होता है। प्रथम प्रकार के शुद्ध उल्लेख का उदाहरण यह है—

नरैर्वरगतिप्रदेत्यथ सुरैः स्वकीयापगे-
त्युदारतरसिद्धिदेत्यखिलसिद्धसङ्घैरपि।
हरेस्तनुरिति श्रिता मुनिभिरस्तसङ्गैरिय
तनोतु मम श तनो. सपदि शन्तनोरङ्गना ॥[२२४]

यहा लिप्सा और रुचि रूप निमित्तो के कारण अनेक ग्रहीताओ के द्वारा 'वरगतिप्रदात्व' आदि अनेक प्रकार का ग्रहण समुदाय है जो गङ्गाविषयक रतिभाव का उपस्कारक है। अन्य किसी अलङ्कार से मिश्रित न होने से यह शुद्ध है।

---

२२३ 'कपाले मार्जार पय इति कराल्लेढि शशिन-
स्तरुच्छिद्रप्रोतान्बिसमिति करी सङ्कलयति।
रतान्ते तल्पस्थान्हरति वनिताप्यंशुकमिति
प्रभामत्तश्चन्द्रो जगदिदमहो विभ्रमयति ॥
(चि. मी. पृ. ७५)

२२४. रस पृ. २७१

सङ्कीर्ण उल्लेख जैसे—

आलोक्य सुन्दरि मुख तव मन्दहास
नन्दन्त्यमन्दमरविन्दधिया मिलिन्दा. ।
किं चालि पूर्णमृगलाञ्छनसम्भ्रमेण
चञ्चूपुट चटुलयन्ति चिर चकोरा ।[२२५]

यहाँ एक एक ही भ्रान्ति का ग्रहण किया गया है अत भ्रान्तियुक्त उल्लेखालङ्कार है। अनेक भ्रान्तियो का समुदाय होने के कारण ही उल्लेख अलङ्कार है।

इसी प्रकार अपह्नुति, सन्देहादि अलङ्कारो से सङ्कीर्ण भी यह होता है।

द्वितीय उल्लेख के शुद्ध प्रकार का उदाहरण यह है—

दीनव्राते दयार्द्रा निखिलरिपुकुले निर्दया कि च मृद्वी
काव्यालापेषु तर्कप्रतिवचनविधौ कर्कशत्व दधाना ।
लुब्धा धर्मेष्वलुब्धा वसुनि परविपद्दर्शने कान्दिशीका
राजन्नाजन्मरम्या स्फुरति बहुविधा तावकी चित्तवृत्तिः ।।[२२६]

इसमे दीनव्रात आदि विषयो का अनेकत्व होने से चित्तवृत्तियाँ भी अनेक है। राजा के सम्बन्ध मे होने वाले रतिभाव का उपस्कारक यह उल्लेख है। यद्यपि यहाँ चित्तवृत्तिविशेषो का ऐक्य नही है, अर्थात् अनेक चित्तवृत्तियाँ है, तथापि तदीयचित्तवृत्तित्व रूप से उनका एक होना ही अभिप्रेत है।

इसी प्रकार अन्य सम्बन्धियो का भेद होने पर भी समझ लेना चाहिये।

इसके सङ्कीर्ण प्रकार का उदाहरण यह है—

गगने चन्द्रिकायन्ते हिमायन्ते हिमाचले ।
पृथिव्या सागरायन्ते भूपाल तव कीर्तय' ।।[२२७]

इसमे चन्द्रिकायन्ते आदि पदो से आपाततः प्रतीत होने वाली उपमा से और पार्यन्तिक उत्प्रेक्षा से सङ्कीर्ण उल्लेख है।

इसी प्रकार अन्य अलङ्कारो से सङ्कीर्ण यह उल्लेख होता है।

फलोल्लेख

यही उल्लेख (नानाप्रकारक ग्रहण) जब फलो (प्रयोजनो) के विषय मे होता है तो फलोल्लेख होता है। उदाहरणार्थ—

अर्थिनो दातुमेवेति त्रातुमेवेति कातरा ।
जातोऽय हन्तुमेवेति वीरास्त्वा देव जानते ।।[२२८]

---

२२५ रस पृ २७२
२२६ रस, पृ, २०४
२२७ रस पृ २७५
२२८ रस पृ २७३

यहाँ राजारूप एक व्यक्ति का याचक आदि अनेक व्यक्तियो के द्वारा दाता आदि के रूप मे अनेक प्रकार से ग्रहण हुआ है अतः उल्लेख है। एव च इस उल्लेख मे विशेषण है दातृत्व आदि फल (प्रयोजन) अत. फलोल्लेख है।

हेतूल्लेख

जहाँ हेतुओ का उल्लेख हो वहाँ हेतूल्लेख होता है। जैसे—

हरिचरणनखरसङ्गादेके हरमूर्धस्थितेरन्ये।
त्वा प्राहु' पुण्यतमामपरे सुरतटिनि ! वस्तुमाहात्म्यात् ॥[२२६]

इसमे गङ्गा रूप एक वस्तु की परमपवित्रता के सम्बन्ध मे अनेक प्रकार के हेतुओ का वर्णन किया गया है अत हेतूल्लेख है।

उल्लेखालङ्कार की ध्वनि

उल्लेख की ध्वनि इस उदाहरण मे है—

'अनल्पतापा हृतकोटिपापा गदैकशीर्णा भवदुःखजीर्णा ।
विलोक्य गङ्गा विचलत्तरङ्गाममी समस्ता सुखिनो भवन्ति ॥'[२३०]

इसमे प्रथमार्ध के चार द्रष्टाओ का सुखीरूप से जो कथन हुआ है उसके द्वारा क्रमश ताप, पाप, रोग और ससार बन्धन के नाशक के रूप मे चार प्रकार के ग्रहणो की व्यञ्जना होती है। यह शुद्ध उल्लेख की ध्वनि है।

सङ्कीर्ण उल्लेख की ध्वनि जैसे—

'स्मयमानानना तत्र ता विलोक्य विलासिनीम् ।
चकोराश्चञ्चरीकाश्च मुद बरतरा ययु ॥'[२३१]

यहाँ ध्वनित होने वाले एक २ ग्रहणरूपा भ्रान्ति के द्वारा उन दोनो के समुदाय रूप उल्लेख होने से सङ्कीर्णता है। अर्थात् यह भ्रान्ति से सङ्कीर्ण उल्लेख है।

द्वितीय उल्लेख की ध्वनि जैसे—

'भासयति व्योमगता जगदखिल कुमुदिनीर्विकासयति ।
कीर्तिस्तव धरणिगता सगरसुतायासमफलता नयते ॥'[२३२]

इसमे अधिकरण के भेद के कारण एक ही कीर्ति का चन्द्रिका और सागर रूप से अनेक प्रकार का ग्रहण होने से रूपक से मिश्रित अलङ्कार है।

---

२२६. रस पृ. २७३
२३० रस. पृ. २७७
२३१. रस. पृ. २७७
२३२. रस पृ २७७

समवलोकन

इस अलङ्कार के विषय मे तो अन्य आलङ्कारिको की अपेक्षा कोई वैशिष्ट्य नही है परन्तु उस विषय के सूक्ष्म विवेचन और सर्वाङ्गीण व्याख्या एव प्रतिपादन मे अवश्य नवीनता है ।

अप्पयदीक्षित के द्वारा दिये गये उदाहरण का खण्डन करने मे एकमात्र अनुभव ही प्रमाण है । अपह्नुति मे मुख्य चमत्कार होता है अपह्नव का और उल्लेख मे मुख्य चमत्कार होता है अनेक प्रकार के ग्रहण (उल्लेख) का ।

'कान्त्या चन्द्र विदु–' इत्यादि पद्य मे उल्लेख की अपेक्षा अपह्नुति को ही मानना अधिक अनुभवानुकूल प्रतोत होता है क्योकि पूर्वार्ध मे दो प्रकार के ग्रहण तथा उत्तरार्ध मे एक प्रकार का ग्रहण अर्थात् कुल तीन प्रकार के ग्रहण (उल्लेख) से अधिक चमत्कार तृतीय मत के वर्णन से व्यङ्ग्य होने वाले निषेध मे ही है । अर्थात् इस पद्य का चमत्कार इस प्रतीति मे ही विश्रान्त होता है कि यह मुख केवल चन्द्रमा अथवा कमलमात्र नही है अपितु तप के द्वारा दोनो का ऐक्य है ।

सङ्कीर्ण उल्लेख वही मानना उचित है जब उल्लेखातिरिक्त अलङ्कार भी समान रूप से चमत्कारी हो । किसी एक का प्राधान्य होने पर सङ्कर नही कहा जा सकता ।

अपह्नुति

लक्षण

पण्डितराजकृत लक्षण —

'उपमेयतावच्छेदकनिषेधसामानाधिकरण्येनारोप्यमाणमुपमानतादात्म्यमपह्नुति ।'[२३३]

अर्थात् उपमेयता के अपने विशेषरूप का (अवच्छेदक का) जिस अधिकरण मे निषेध हो उसी अधिकरण मे आरोप्यमाण (उपमान) का तादात्म्य वर्णित करने पर अपह्नुति अलङ्कार होता है ।

रूपक मे भी उपमेय और उपमान का तादात्म्य रहता है अत वहाँ भी अपह्नुति न हो जाये इसी के लिये यह विशेषरूप से कहा है कि उपमेय का जहाँ निषेध हो वही पर उपमान का तादात्म्य हो । अपह्नुति मे उपमेय के विशेषरूप का (उपमेयतावच्छेदक का) निषेध होने के कारण उपमेयतावच्छेदक और उपमानतावच्छेदक मे विरोध प्रतीत होता है और रूपक मे उन दोनो का (बिना किसी निषेध के) समानाधिकरण्य होने से (एक ही स्थल मे रहने के कारण) वह विरोध नही प्रतीत होता ।

---

२३३ रस पृ २७८

इसका उदाहरण यह है—

स्मित नैतत्कि तु प्रकृतिरमणीय विकसित
मुख ब्रूते मूढ कुमुदमिदमुद्यत्परिमलम् ।
स्तनद्वन्द्व मिथ्या कनकनिभमेतत्फलयुग
लता रम्या सेय भ्रमरकुलनम्या न रमणी ॥[२३४]

इसमे क्रमश स्मिति, मुख, स्तनद्वय और रमणी रूप उपमेयो का निषेध करके, उसी अधिकरण मे, विकास, कुमुद, कनक फल और लता का तादात्म्य स्थापन किये जाने के कारण अपह्नुति है ।

अपह्नुति के भेद

अपह्नुति चार प्रकार की होती है । पहले सावयवा, निरवयवा यह दो भेद होते है । तत्पश्चात् वह वाक्यभेद और वाक्य के अभेद मे चार प्रकार की होती है ।
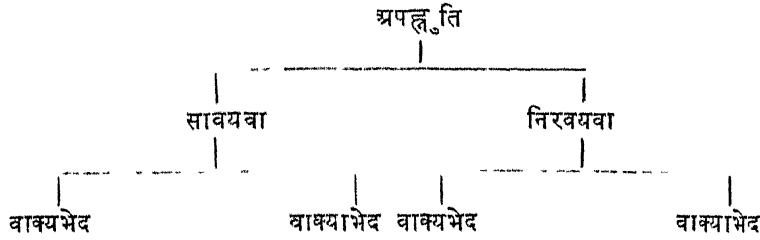
इसमे से सावयवा अपह्नुति का उदाहरण पूर्वोक्त 'स्मित नैतत्किन्तु—' इत्यादि पद्य ही है । इसमे अङ्गभूता स्मिति आदि की अपह्नुति (निषेध) के द्वारा अङ्गीभूता रमणी की अपह्नुति की सिद्धि होती है । अत प्रमुख अपह्नुति के अनेक अवयव होने से वह सावयवा है । अवयव अवयवी के प्रति अनुग्राहक है ।

निरवयवा का उदाहरण यह है—

श्याम सित च सुदृशो न दृशो स्वरूप
कि तु स्फुट गरलमेतदथामृत च ।
नो चेत्कथ निपतनादनयोस्तदैव
मोह मुद च नितरा दधते युवान ।[२३५]

इसमे विष और अमृत होने की जो प्रतिज्ञा की गयी है उसके कारण रूप मे बाधक हेतुओ का निबन्धन किया गया है । अतः हेत्वपह्नुति है । अर्थात् यदि गरल और अमृत न हो तो उनके कार्य भी—क्रमश मोह और मोद भी—नही हो सकते अत

---

२३४ रस. पृ. २७८

२३५. रस. पृ. २७८

गरल और अमृत को सिद्ध करने के लिये मोह और मोद रूप हेतुओ का वर्णन हुआ है। इसमे अङ्गभूना कोई अपह्नुति नही है अत. निरवयवा है।

वाक्यभेद

जहाँ एक वाक्य से उपमेय का निषेध हो और दूसरे वाक्य मे उपमान का आरोप वहाँ वाक्य भेद होता है। जहाँ 'नञ्' आदि के द्वारा साक्षात् अथवा 'परे एव वदन्ति' (नाहमेव वदामि) इस प्रकार के कथनो से अथवा किसी अलङ्कारान्तर के व्यवधान से उपमेय का निषेध किया जाता है तो प्राय वाक्यभेद होता है। जैसे सावयवापह्नुति के उदाहरण मे प्रथम चरण मे उपमेय का निषेध और उपमान का आरोप पृथक्-पृथक् वाक्यो से हुआ है। तथा दोनो का शब्दत कथन हुआ हे। अत वह शाब्द है।

वाक्यैक्य

जहाँ मिष, छल, छद्म, कपट, व्याज आदि शब्दो का प्रयोग होता है वहाँ वाक्य एक रहता है। जैसे—

वदने विनिवेशिता भुजङ्गी पिशुनाना रसनामिषेण धात्रा।
अनया कथमन्यथाऽवलीढा नहि जीवन्ति जना मनागमन्त्राः ॥[२३६]

इसमे 'मिषेण' पद का प्रयोग होने से वाक्य भेद नही है।

इसके अतिरिक्त अपह्नुति के अन्य भी अनेक प्रकार हो सकते है परन्तु वह विशेष चमत्कार न उत्पन्न करने के कारण गणनीय नही हे। जैसे - (१) जहाँ पहले निषेध हो फिर आरोप हो, (२) पहले आरोप हो फिर निषेध हो, (३) जहाँ विषय का निषेध आर्थ हो और विषयी का आरोप शाब्द हो (४) जहाँ आरोप आर्थ और निषेध शाब्द हो (५) जहाँ दोनो ही शाब्द या आर्थ हो। इसी प्रकार विधेयत्व अनुवाद्यत्व का भी भेद हो सकता है। इत्यादि इत्यादि।

सावयवा अपह्नुति के उदाहरण मे प्रथम अवयव मे निषेधपूर्वकत्व, दोनो का शाब्दत्व, विधेयत्व और वाक्यभेद है। द्वितीय अवयव मे निषेध आर्थ है, आरोप शाब्द है। चतुर्थ अवयव मे पहले आरोप है फिर निषेध है तथा दोनो शाब्द है।

अपह्नुति के भेद के सम्बन्ध मे अप्पयदीक्षित का मत

अप्पयदीक्षित ने कुवलयानन्द मे अपह्नुति अलङ्कार का पर्यस्तापह्नुति नामक एक पृथक् भेद माना है। जिसका लक्षण और उदाहरण इस प्रकार है —

अन्यत्र तस्यारोपार्थं पर्यस्तापह्नुतिस्तु सः।
नाय सुधाशु कि तर्हि सुधाशुः प्रेयसीमुखम् ॥[२३७]

---

२३६. रस पृ २७९

२३७ कुव पृ ३०

अर्थात् जब किसी धर्म का निषेध करके उस निषिद्ध धर्म का ही अन्यत्र आरोप किया जाता है तो वहाँ पर्यस्तापह्नुति होती है। जैसे 'नाय सुधाशु' इत्यादि मे सुधाशु मे सुधाशुत्व का निषेध किया गया है और प्रेयसी मुख रूप अन्य स्थान मे उस सुधाशुत्व का आरोप किया गया है।[२३८]

पण्डितराजकृत खण्डन

पण्डितराज अप्पयकृत इस भेद को समर्थित नही करते। उनके लिये तर्क इस प्रकार है—

(१) इस भेद मे अपह्नुति सामान्य का लक्षण नही व्याप्त होता। केवल चित्रमीमासागत अप्पयदीक्षित का लक्षण ही अव्याप्त होता हो ऐसा नही है अपितु मम्मट एव रुय्यक का लक्षण भी अव्याप्त है। मम्मट का लक्षण है—'प्रकृत यन्निषिध्यान्यत्साध्यते सा त्वपह्नुति'.[२३९] अर्थात् प्रकृत का निषेध करके जब उसमे अन्य वस्तु को सिद्ध किया जाता है तो अपह्नुति होती है। एव रुय्यकाभिमत लक्षण है—'विषयापह्नवे वस्त्वन्तरप्रतीतावपह्नुति'[२४०] अर्थात् प्रकृत विषय का अपह्नव होने पर जब उसमे अन्य वस्तु की प्रतीति होती है तब अपह्नुति होती है। और चित्र मीमासा मे दिया गया अपह्नुति का लक्षण यह है—

प्रकृतस्य निषेधेन यदन्यत्वप्रकल्पनम्।
साम्यादपह्नुतिर्वाक्यभेदाभेदवती द्विधा ॥[२४१]

अर्थात् सादृश्य के आधार पर, प्रकृत के निषेधपूर्वक जब अप्रकृत की कल्पना की जाती है तो अपह्नुति होती है। वाक्यभेद से युक्त और वाक्यभेद से अयुक्त होने के कारण वह दो प्रकार ही होती है।

इन सभी लक्षणो की इस अश मे समानता है कि निषेध और अन्यारोप मे समानाधिकरण्य होता है। पर्यस्तापह्नुति मे इसी का अभाव रहता है। वहाँ जिसमे जिसका निषेध किया जाता है उसमे अन्य वस्तु का आरोप नही होता अपितु जिसका निषेध होता है उसका अन्यत्र आरोप होता है। अत: तीनो लक्षणो की अव्याप्ति होने से यह भेद अपह्नुति के अन्तर्गत नही आता।

(२) पर्यस्तापह्नुति को यदि स्वीकार किया भी जाए तो 'नाय सुधाशु,—' इत्यादि उसका जो उदाहरण दिया गया है वह सङ्गत नही होता क्योकि उसमे

---

२३८ 'यत्र क्वचिद्वस्तुनि तदीयधर्मनिह्नव, अन्यत्र वर्णनीये वस्तुनि तस्य धर्मस्यारोपार्थं स पर्यस्तापह्नुति यथा चन्द्रे चन्द्रत्वनिह्नवो वर्णनीये मुखे तदारोपार्थं।'

२३९. का. प्र पृ. दशम–उल्लास ९६ कारिका

२४०. अ. स. पृ. ७६

२४१. चि. मी. पृ. ८२

चित्रमीमासा मे दिया गया दीक्षित का रूपक अलङ्कार का लक्षण सङ्गत हो जाता है। रूपक का लक्षण यह है -

बिम्बाविशिष्टे निर्दिष्टे विषये यद्यनिह्नुते।
उपरञ्जकतामेति विषयी रूपक तदा ॥[२४२]

अर्थात् बिम्बप्रतिबिम्ब भाव से रहित, अनिह्नुत किन्तु उक्त विषय मे जब विषयी का आरोप होता है (आहार्य ताद्रूप्य की निश्चयता का विषय जब होता है) तो रूपक होता है। पर्यस्तापह्नुति मे भी, निषिद्ध अश का जहाँ आरोप होता है वहाँ वह अनिह्नव पूर्वक ही होता है। उक्त उदाहरण मे विषयी का निह्नव होने पर भी विषय तो अनिह्नुत ही है।

पण्डितराजाभिमत अपह्नुति की ध्वनि

अपह्नुति की ध्वनि का उदाहरण यह है—

'दयिते रदनत्विषा मिषादयि तेऽमी विलसन्ति केसरा'।
अपि चालकवेषधारिणो मकरन्दस्पृहयालवोऽलय ॥'[२४३]

इसमे 'नैता रदनत्विष. किन्तु किञ्जल्कपरम्परा' (यह दाँतो की कान्ति नही है) किञ्जल्को का समूह है, तथा 'न चैते अलका अपि त्वलय.' इस प्रकार यह दो अपह्नुति प्रथमार्थ और द्वितीयार्ध मे स्पष्ट रूप से कही गयी है। उन दोनो अपह्नुतियो से 'तुम नारी नही हो अपितु कमलिनी हो' यह तीसरी अपह्नुति प्रधान रूप से व्यञ्जना वृत्ति के द्वारा प्रतिपादित होती है। तत्सम्बन्धी वस्तु मे निषेध और आरोप उसके निषेध और आरोप के निवेदक है। तुल्ययोगिता इसमे गौण है। (अर्थात् दन्तकान्ति और अलक इन अवयवो के निषेध, किञ्जल्क और भ्रमर का आरोप अवयवीभूत नारीत्व और कमलिनीत्व के क्रमश निषेध और आरोप के उपाय के कारण है—यही कहना उचित है। प्रकृत दन्तकान्ति और केश की तथा अप्रकृत कमलकेसर और अलिसमूह की एक ही क्रिया–विलसन्ति और एक ही स्पृहयालुत्व गुण होने से यहाँ जो तुल्ययोगिता प्रतीत होती है वह गौण है। तथा व्यङ्ग्य होने वाली अपह्नुति ही प्रधान है।)

अपह्नुति की ध्वनि के सम्बन्ध मे अप्पयदीक्षित का मत —

त्वदालेख्ये कौतूहलतरलतन्वीविरचिते
विधायैका चक्र रचयति सुपर्णीसुतमपि।
अपि स्विद्यत्पाणिस्त्वरितमपमृज्यैतदपरा
करे पौष्प चाप मकरमुपरिष्टाच्च लिखति ॥[२४४]

---

२४२ चि० मी० पृ ५६
२४३ रस पृ २८२
२४४ चि० मी० पृ ८६

इस पद्य मे अपह्नुति की ध्वनि है। क्योकि इसमे एक नायिका के द्वारा चक्रसुपर्णलेखन से 'यह साधारण पुरुष नही है अपितु पुण्डरीकाक्ष है' यह व्यङ्गच हो रहा है और पुन. किसी अन्य नायिका के द्वारा 'पुण्डरीकाक्ष भी इतने सुन्दर नही हो सकते'—इस आशय से बनाये गये पुष्पधनुष एव मकरध्वज के आलेखन से 'यह पुण्डरीकाक्ष भी नही है, अपितु साक्षात् कामदेव है'—यह व्यङ्गच हो रहा है।[२४५]

पण्डितराजकृत खण्डन

पण्डितराज की दृष्टि से यहाँ अपह्नुति की ध्वनि नही है। अप्पय दीक्षित की मान्यता का जिन युक्तियो से खण्डन किया गया है वह क्रमशः इस प्रकार है—

(१) चक्रसुपर्णलेखन से 'नाय साधारणपुरुष, किन्तु पुण्डरीकाक्ष' यह व्यङ्गच होता है यह कहना अनुचित है। क्योकि अपह्नुति मे दो भाग होते है—उपमेय का निषेध और उपमान का आरोप जिनमे से उपमान का आरोप रूप जो 'पुण्डरीकाक्षोऽयम्' यह अश है—केवल इसकी ही चक्रसुपर्णलेखन के द्वारा अभिव्यञ्जना हो सकती है क्योकि इन दोनो का पुण्डरीकाक्ष के साथ सम्बन्ध है, परन्तु उपमेय के निषेध की—'नाय साधारण. पुरुष' इस अश की—अभिव्यक्ति नही होती। चक्रसुपर्णलेखन रूप व्यञ्जक शब्द निषेध की व्यञ्जना करने मे समर्थ नही है।

(२) उक्त निषेधात्मक अर्थ की प्रतीति अनुभवसिद्ध भी नही है। अत उसके व्यञ्जक की गवेषणा भी व्यर्थ है।

(३) यह भी नही कहा जा सकता कि उपमेय के निषेध बिना उपमान का आरोप ही नही हो सकता क्योकि रूपक अलङ्कार मे सर्वत्र उपमेय का निषेध किये बिना ही उपमान का आरोप किया जाता है।

(२) यदि यह कहा जाय कि उक्त पद्य के द्वितीय अश मे चक्रसुपर्ण के दूरीकरण से 'नाय पुण्डरीकाक्ष' इस निषेध का और पुष्पचापादि के आलेखन से 'अपि तु मन्मथ' इस उपमान के आरोप की अभिव्यक्ति होती है अत. अपह्नुति है—तो भी यहाँ अपह्नुति नही हो सकती क्योकि अप्पय ने जो यह कहा है कि 'प्रकृत का निषेध कर अन्य की कल्पना करना अपह्नुति है' (प्रकृतस्य निषेधेन यदन्यत्वप्रकल्पनम्) वह यहाँ सङ्गत नही होता। वह असङ्गति इसलिये है कि जिसका निषेध किया गया है—भगवान् पुण्डरीकाक्ष—वह यहाँ प्रकृत विषय रूप नही है। जब वह प्रकृत विषय ही नही है तब उसका निषेध उपमेय का निषेध कैसे होगा?

---

२४५. 'इत्यादावपह्नुतिध्वनिरुदाहर्तव्य। अत्र हि चक्रसुपर्णलेखनेन 'नाय साधारण पुरुष, किं तु पुण्डरीकाक्ष' इति कयाचिद्व्यञ्जितम्। अन्यया तु तस्याप्येतादृश रूप न सम्भवतीत्याशयेन 'नाय पुण्डरीकाक्षोऽपि, किं तु मन्मथ' 'इति तदुभयमपमृज्य पुष्पसायकमकरध्वजलेखनेन व्यञ्जितम्' इति। (चि० मी० पृ ८६)

पहले आरोपित हो जाने मात्र से तो वह प्रकृत विषय हो नही जाता क्योकि उसका अर्थ है आरोप विषय—यह स्वय अप्पय ने स्पष्ट किया है। उन्होने चित्रमीमासा मे कहा है कि—" "निषिध्य विषयसाम्यादन्यारोप' इस प्रकार क्त्वा प्रत्यय युक्त लक्षण नही बनाना चाहिये क्योकि जिस स्थान मे पहले आरोप पश्चात् निषेध होता है वहाँ उसकी अव्याप्ति होगी।" इससे स्पष्ट है कि प्रकृत पद का तात्पर्य उपमेय मे ही है। मम्मटकृत लक्षण भी इसी भाव का पोषक है। उपर्युक्त उदाहरण मे उपमेय पुण्डरीकाक्ष नही है, नायक है।

(३) प्राचीन मत का अवलम्बन लेकर इस उदाहरण को अपह्नुति की ध्वनि का उदाहरण कहना भी व्यर्थ है क्योकि 'प्रकृतस्य निषेधेन' इस अश को अपने लक्षण मे कहकर अप्पय ने स्वय ही उसे अपह्नुति से बहिर्भूत कर दिया है।

(४) यदि अपह्नुति का लक्षण यह स्वीकार किया जाय कि यत्किञ्चित् वस्तु के निषेध के अधिकरण मे अन्य वस्तु का आरोप करना अपह्नुति है (प्रसक्तयत्किञ्चिद्वस्तुसामानाधिकरण्येन क्रियमाणवस्त्वन्तरारोपत्वम्) तब इस उदाहरण मे अपह्नुति अलङ्कार माना जा सकता है अन्यथा रूपक ही मानना चाहिये।

समवलोकन

इस अलङ्कार का विवेचन करते हुए पण्डितराज ने उपमेय-निषेध और उपमान आरोप को लेकर पर्याप्त विचार किया है तथा उन दोनो के समानाधिकरण्य पर विशेष रूप से बल दिया है।

अप्पयदीक्षित के मतो का खण्डन प्रमुख रूप से उक्त समानाधिकरण्य को दृष्टि मे रखते हुए ही किया गया है। अलङ्कार का विवेचन जितना है लगभग उतना अप्पयदीक्षित का खण्डन है। इससे यह निस्सन्दिग्ध हो जाता है कि विषय-परिष्कार करते समय परमतखण्डन (विशेष रूप से दीक्षित के मत का खण्डन) पर भी पर्याप्त ध्यान रहता था।

विषय प्रतिपादन मे ही मौलिकता है, उसके विषय मे कोई नवीनता नही है।

उत्प्रेक्षा

लक्षण

पण्डितराजकृत लक्षण

'तद्भिन्नत्वेन तदभाववत्त्वेन वा प्रमितस्य पदार्थस्य रमणीयतद्वृत्तितत्समानाधिकरणान्यतरतद्धर्मसम्बन्धनिमित्तक तत्वेन तद्वत्त्वेन वा सम्भावनमुत्प्रेक्षा।'[२४६]

---

२४६. रस पृ. २८५

इस लक्षण मे एक साथ धर्म्युत्प्रेक्षा और धर्मोत्प्रेक्षा दोनो को लक्षित किया गया है। सौविध्य के लिये उन दोनो को पृथक्-पृथक् रूप मे ग्रहण करना उचित होगा।

धर्म्युत्प्रेक्षा का लक्षण इस प्रकार होगा—

'तद्भिन्नत्वेन प्रमितस्य पदार्थस्य रमणीयतद्वृत्ति-
तद्धर्मसम्बन्धनिमित्तक तत्वेन सम्भावनमुत्प्रेक्षा।'

अर्थात् विषयी से भिन्न रूप मे ज्ञात पदार्थ की, विषय मे रहने वाला विषयिगत जो धर्म, उस धर्म के विषय के साथ सम्बन्ध के आधार पर, विषयित्वेन, विषय की सम्भावना करना ही उत्प्रेक्षा हे। (विषय-उपमेय, विषयी-उपमान)

उक्त लक्षण मे चार बार 'तत्' पद का प्रयोग हुआ है। उनमे से द्वितीय 'तत्' पद विषयपरक तथा शेष तीन 'तत्' पद विषयिपरक है।

धर्म्युत्प्रेक्षा का लक्षण विस्तृत रूप मे इस प्रकार समझना चाहिये कि विषय की विषयी के साथ अभिन्नता की सम्भावना करना ही उत्प्रेक्षा है। वह विषय ऐसा होना चाहिये जिसका ज्ञान विषयी से पृथक् रूप मे भी होता रहे। यदि पृथक् रूप से बोध नही होगा तो वह रूपक या अतिशयोक्ति का विषय बन जायेगा। अभेद का आधार होगा सादृश्य अर्थात् एक धर्मी का दूसरे धर्मी के साथ सादृश्य। विषय मे रहने वाला विषयिगत जो धर्म है, उस धर्म के आधार पर प्रतीत होने वाला सादृश्य ही अभेद का कारण होगा अर्थात् जहाँ ऐसा कोई धर्म, जो विषयी मे रहने वाला हो, विषय मे भी रहे, तब उस आधार पर विषय मे विषयी के अभेद की सम्भावना धर्म्युत्प्रेक्षा होती है।

धर्मोत्प्रेक्षा का लक्षण इस प्रकार होगा—

'तदभाववत्त्वेन प्रमितस्य पदार्थस्य रमणीयतत्समानाधिकरण-तद्धर्म सम्बन्ध-निमित्तक तद्वत्त्वेन सम्भावनमुत्प्रेक्षा।'

अर्थात् विषयिगत धर्माभाववान् के रूप मे ज्ञात पदार्थ की, विषयिगत धर्म का समानाधिकरण जो विषयगत धर्म, उस धर्म का विषय के साथ जो सम्बन्ध (समवाय सम्बन्ध), उस सम्बन्ध के आधार पर विषयिगत धर्मवान् के रूप मे सम्भावना करना ही धर्मोत्प्रेक्षा है।

धर्मोत्प्रेक्षा के इस लक्षण मे भी प्रथम लक्षण की भाँति चार 'तत्' पदो मे से तृतीय 'तत्' पद विषय का बोधक तथा अन्य तीन 'तत्' पद विषयिगत धर्म के बोधक है।

धर्मोत्प्रेक्षा को विस्तार से इस प्रकार समझना चाहिये कि—विषय—रूप पदार्थ मे (उपमेय मे), किसी अन्य विषयीभूत (उपमान) पदार्थ मे रहने वाले धर्म के साथ

रहने वाला धर्म देखकर, विषयीगत धर्म का भी अध्यास कर, विषय को तद्धर्मवान् कल्पित करना ही धर्मोत्प्रेक्षा है। जैसे—

निधि लावण्यानां तव खलु मुखं निर्मितवतो
महामोहं मन्ये सरसिरुपसूनोरुपार्चितम्।
उपेक्ष्य त्वां यस्माद्विधुमयमकस्मादिह कृती
कलाहीनं दीनं विकल इव राजानमतनोत्॥[२४७]

इस पद्य मे मोहरूप धर्म का (जिसका धर्मी है मोहित व्यक्ति) ब्रह्मा मे समवाय सम्बन्ध से सम्भावन होने से उत्प्रेक्षा है। इस सम्भावन का आधारभूत साधारणधर्म है अविचारकारित्व (बिना विचार के कार्य करना) वह अविचारकारित्व मोह का समानाधिकरण है। अर्थात् जिस व्यक्ति मे मोह रहता है उसी मे अविचारकारित्व भी रहता है। अतः यदि ब्रह्मा मे अविचारकारित्व रहता है तो उसमे मोह भी रहता है। इस मोहितव्यक्तिगतमोहरूपधर्म का समानाधिकरण धर्म–अविचारकारित्व के साथ विषय रूप ब्रह्मा का जो सम्बन्ध-समवाय सम्बन्ध है–उसके आधार पर ब्रह्मा मे मोहवत्त्व की कल्पना करना (ब्रह्मा को मोहवान् मानना) ही उत्प्रेक्षा है।

लक्षणगत विशेषणो का प्रयोजन

उक्त उत्प्रेक्षा के मूल लक्षण मे दिये गये प्रत्येक विशेषण का विशेष प्रयोजन है क्योकि 'तद्भिन्नत्वेन प्रमितस्य' कहने से 'लोकोत्तरप्रभावं त्वां मन्ये नारायणं परम्' इसमे अतिव्याप्ति नही होती। यहाँ उत्प्रेक्षा की सम्भावना इसलिये हो सकती थी क्योकि यहाँ यह प्राय नारायण ही है इस प्रकार की प्रतीति होती है। परन्तु राजा रूप विषय का पृथक् रूप मे प्रत्यायन न होने से यहाँ उत्प्रेक्षा नही होगी।

वदनकमलेन बाले स्मितसुषमालेशमातनुषि यदा।
जगदिह तदैव जाने दशार्धबाणेन विजितमिति॥[२४८]

इसमें जगज्जय की सम्भावना मे उत्प्रेक्षा न हो जाये इसके लिये 'रमणीयतद्धर्मनिमित्तकम्' यह विशेषण दिया। इस विशेषण का निवेश कर देने से वह सम्भावना जिसमे की जाय उसी मे रहने वाले धर्म के आधार पर हो-यह अभीष्ट हो जाता है। जगज्जय की सम्भावना का आधार जगत मे रहने वाला कोई धर्म न होने से यहाँ उत्प्रेक्षा नही है।

रूपक मे रहने वाले अभेद ज्ञान का वारण करने के लिये 'सम्भावनम्' विशेषण दिया है। रूपक मे अभेद का निश्चय रहता है जबकि उत्प्रेक्षा मे अभेद की सम्भावना रहती है।

उत्प्रेक्षा के भेद

उत्प्रेक्षा के भेद इस प्रकार है—

सर्वप्रथम उत्प्रेक्षा दो प्रकार की होती है- वाच्या और प्रतीयमाना (व्यङ्ग्या)।

वाच्या
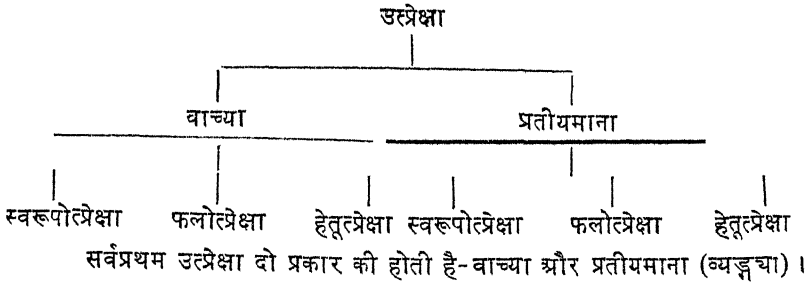
जहाँ इव, नूनम्, मन्ये, जाने, अवेमि, शङ्के, ऊहे, तर्कयामि, उत्प्रेक्षे इत्यादि पदो के द्वारा सम्भावना का कथन होता है वहाँ वह उत्प्रेक्षा वाच्य होती है।

प्रतीयमाना

उक्त पदो के अभाव मे जहाँ सम्भावना का प्रत्यायन होता है वहाँ वह उत्प्रेक्षा प्रतीयमाना अर्थात् व्यङ्ग्य होती है।

स्वरूपोत्प्रेक्षा

जब जाति, गुण, क्रिया और द्रव्यरूप पदार्थों का तादात्म्य सम्बन्ध से जाति, गुण, क्रिया और द्रव्यरूप पदार्थों के साथ अभेद सम्भावित किया जाय तो स्वरूपोत्प्रेक्षा होती है। इस अभेद का निमित्तभूत धर्म कही उपात्त रहता है कही अनुपात्त, कही निष्पन्न होता है कही निष्पाद्य। इसी प्रकार कही-कही जाति आदि चारो की एक साथ ही सम्भावना रहती है कही पृथक्-पृथक्। इस प्रकार स्वरूपोत्प्रेक्षा के अनेक भेद हो सकते है परन्तु यह भेद विशेष चमत्कारी न होने से नगण्य ही है। केवल स्वरूपोत्प्रेक्षा ही चमत्कारी होती है।

हेतुफलोत्प्रेक्षा

यही सम्भावना जब किसी हेतु या फल के रूप मे की जाती है तो वह हेतूत्प्रेक्षा या फलोत्प्रेक्षा कहलाती है। अर्थात् जाति आदिरूप पदार्थ जाति आदि पदार्थों के प्रति जब हेतु या फल के रूप मे सम्भावित किये जाये तो हेतुफलोत्प्रेक्षा होती है।

स्वरूपोत्प्रेक्षा के कतिपय उदाहरण—

(क) जातियुक्त स्वरूपोत्प्रेक्षा का उदाहरण—

'तनयमैनाकगवेषणलम्बीकृतजलधिजठरप्रविष्टहिमगिरिभुजायमानाया भगवत्या भागीरथ्या' सखी ॥'[२४९] यहाँ भागीरथी रूप द्रव्य अथवा जाति मे, हिमगिरि

२४९. रस पृ. २८७

सम्बन्धी भुजात्वरूप जाति से अवच्छिन्न जो भुजा, उसकी तादात्म्य सम्बन्ध से उत्प्रेक्षा की गयी है। अत धर्मिस्वरूपोत्प्रेक्षा है।

(ख) गुणस्वरूपोत्प्रेक्षा—

अम्भोजिनीबान्धवनन्दनाया कूजन्बकाना समजो विरेजे।
रूपान्तराक्रान्तगृह समन्तात्पुञ्जीभवञ्शुक्ल इवाश्रयार्थी ।।[२५०]

यहाँ, एकाधिकरण्य से युक्त कूजनविशिष्ट बकत्वजाति से अवच्छिन्न विषय मे (बक मे) पुञ्जीभवनविशिष्ट शुक्लगुण की अभेद सम्बन्ध मे सम्भावना की गयी है।

(ग) क्रियास्वरूपोत्प्रेक्षा—

कलिन्दजानीरभरेऽर्धमग्ना बका प्रकाम कृतभूरिशब्दा ।
ध्वान्तेन वैराग्यनिगीर्यमाणा क्रोशन्ति मन्ये शशिन किशोरा ।।[२५१]

यहाँ बको मे शशिकिशोरो की सम्भावना की गयी है। यह उत्प्रेक्षा शब्द करने के आधार पर (क्रिया के आधार पर) हुई है अत क्रियास्वरूपोत्प्रेक्षा है।

(इस पद्य का नैयायिक और वैयाकरण रीति से द्विधा शाब्दबोध होता है एव उस शाब्दबोध के आधार पर क्रमश उत्प्रेक्षाओ का स्वरूप भी भिन्न हो जाता है।)[२५२]

(घ) द्रव्यस्वरूपोत्प्रेक्षा जैसे—

कलिन्दशैलादियमा प्रयाग केनापि दीर्घा परिखा निखाता।
मन्ये तलस्पर्शविहीनमस्यामाकाशमानीलमिद विभाति ।।[२५३]

इसमे यमुना मे नीलत्व और दीर्घत्व रूप निमित्तो के आधार पर आकाश की, तादात्म्य सम्बन्ध से, सम्भावना की जा रही है। आकाश एक द्रव्य है तथा स्वरूपात्मक है अत द्रव्यस्वरूपोत्प्रेक्षा है।

इसी प्रकार जाति आदि के अभाव की भी उत्प्रेक्षा हो सकती है। उसके भी उदाहरण मूल ग्रन्थ मे दिये गये है। यहाँ उनको नही दिया जा रहा है, स्वय ऊहा कर लेनी चाहिये।

(ङ) मालारूपा स्वरूपोत्प्रेक्षा का उदाहरण—

द्विनेत्र इव वासव करयुगो विवस्वानिव
द्वितीय इव चन्द्रमा श्रितवपुर्मनोभूरिव ।
नराकृतिरिवाम्बुधिर्गुरुरिव क्षमामागतो
नुतो निखिलभूसुरैर्जयति कोऽपि भूमीपति ।।[२५४]

---

२५० रस पृ २८८
२५१. रस पृ २८६
२५२. रस पृ २८६
२५३. रस पृ २६०
२५४ रस पृ २६१-२६१

यहाँ राजनिष्ठ द्विनेत्रत्वादि धर्मों को इन्द्र पर आरोपित कर लिया जाता है जिससे वह धर्म साधारण धर्म हो जाते है तथा फिर इन्द्र और राजा मे अभेद सम्भावित हो जाता है।

उपर्युक्त सभी उदाहरणो का विस्तृत विवेचन भी किया गया है। परन्तु विचार-प्रधान मात्र होने से उन्हे यहाँ उल्लिखित नही किया गया है।

हेतूत्प्रेक्षा के कतिपय उदाहरण—

स्वरूपोत्प्रेक्षा के समान ही हेतूत्प्रेक्षा के भी जाति आदि के भेद से अनेक उदाहरण हो सकते हैं जैसे—

त्वत्प्रतापमहादीपशिखाविपुलकज्जलै ।
नून नभस्तले नित्य नीलिमा नूतनायते ।।[२५५]

यहाँ नीलिमा के समानाधिकरण्य से उत्प्रेक्षित कज्जल की हेतुरूप से सम्भावना की गयी है। यही पर यदि 'कज्जललेपनै' कर दिया जाय तो क्रिया-हेतूत्प्रेक्षा उदाहरण हो जायेगा अन्यथा जाति-हेतूत्प्रेक्षा का उदाहरण है।

गुण-हेतूत्प्रेक्षा का उदाहरण—

'परस्परासङ्गसुखान्नतभ्रुव पयोधरौ पीनतरौ बभूवतु ।
तयोरमृष्यन्नयमुन्नतिं परामवैमि मध्यस्तनिमानमञ्चति ।।'[२५६]

इसमे पूर्वार्ध मे सुखरूप गुण का हेतुरूप होना उसमे प्रयुक्त पञ्चमी विभक्ति से ही निर्दिष्ट हो गया है।

इसी प्रकार एक और उदाहरण भी दिया गया है जिसमे सज्जारूप गुण का हेतुत्वेन उत्प्रेक्षण है।

हेतूत्प्रेक्षा का उदाहरण—

वराका य राकारमण इति वल्गन्ति सहसा
सर स्वच्छ मन्ये मिलदमृतमेतन्मखभुजाम्
अमुष्मिन्या कापि द्युतिरतिघना भाति मिषता-
मिय नीलच्छायादुपरि निरपायाद्गगनत ।।[२५७]

इसमे अमृत के सरोवर के रूप मे सम्भावित चन्द्रमा मे नीलत्व से अध्यवसित (अभिन्न) कलङ्क मे ऊपर रहने वाला आकाश हेतुरूप मे उत्प्रेक्षित हुआ है। आकाश द्रव्य है अत द्रव्य-हेतूत्प्रेक्षा है।

---

२५५. रस. पृ २६२
२५६ रस पृ २६३
२५७ रस. पृ २६३

इनके अभाव की भी उत्प्रेक्षा हो सकती है। स्वरूपोत्प्रेक्षा मे प्रदर्शित उदाहरण के समान यहाँ भी उसको अविगत कर लेना चाहिये। रसगङ्गाधर मे उसके उदाहरण दिये गये है।

फलोत्प्रेक्षा के उदाहरण—

जातिफलोत्प्रेक्षा का उदाहरण—

> दिवानिश वारिणि कण्ठदघ्ने दिवाकराराधनमाचरन्ती।
> वक्षोजतायै किमु पक्ष्मलाक्ष्यास्तपश्चरत्यम्बुजपक्तिरेषा ।।[२५८]

इसमे वक्षोजता जाति की फल के रूप मे उत्प्रेक्षा की गयी है अत जातिगत फलोत्प्रेक्षा है।

क्रियाफलोत्प्रेक्षा—

> हालाहलकालानलकाकोदरसङ्गति करोति विधु ।
> अभ्यसितुमिव तदीया विद्यामद्यापि हरशिरसि ।।[२५९]

इसमे अभ्यसन क्रिया की फल के रूप मे उत्प्रेक्षा की गयी है।

गुणफलोत्प्रेक्षा का उदाहरण यह है—

> वियोगवह्निकुण्डेऽस्मिन् हृदये ते वियोगिनि।
> प्रियसङ्गसुखायेव मुक्ताहारस्तपस्यति ।।

यहाँ सुखरूप गुण की फल के रूप मे उत्प्रेक्षा की गयी है।

इन सभी उदाहरणो को विस्तार से लक्ष्य के अनुसार ग्रन्थकार ने सिद्ध करके दिखाया है। जैसा कि पहले कहा ही गया है, जाति-गुणादि कृत सभी भेद केवल प्राचीन आलङ्कारिको के अनुरोध से ही दिये गये है, वास्तव मे उनमे कोई विशेष चमत्कार नही है।

इन उदाहरणो मे यदि इवादि पदो का प्रयोग हो तो वह वाच्य और यदि उनका प्रयोग न हो तो वह प्रतीयमान उत्प्रेक्षा के उदाहरण होगे।

उपर्युक्त सभी उदाहरण धर्म्युत्प्रेक्षा के उदाहरण दिये गये है। धर्मोत्प्रेक्षा का उदाहरण 'निधि लावण्याना–' इत्यादि आरम्भ मे ही स्पष्ट किया गया पद्य है :

उत्प्रेक्षागत साधारण धर्म पर विशेष विचार

जहाँ इन उत्प्रेक्षाओ का साङ्कर्य हो वहाँ प्राधान्य के आधार पर उत्प्रेक्षा का निर्देश करना चाहिये।

उत्प्रेक्षा मे जब स्वरूप विषयी होता है अर्थात् स्वरूपोत्प्रेक्षा के स्थल मे उत्प्रेक्षा का आधारभूत धर्म उपमा के समान बिम्बप्रतिबिम्बाभावादि अनेक प्रकार का होता है तो वह कही उपात्त और कही अनुपात्त होता है।

२५८ रस पृ २६५
२५९. रस. पृ. २६५

जहाँ हेतु अथवा फल विषयी होते है अर्थात् हेतूत्प्रेक्षा और फलोत्प्रेक्षा मे वह धर्म कल्पित होने पर भी विषयनिष्ठ स्वाभाविक धर्म से अभिन्न रूप मे अध्यवसित होकर निमित्त बन जाता है तो वह धर्म सदा उपात्त ही रहता है ।

उत्प्रेक्षागत भेदो के अन्य आधार—

१—साधारण धर्म के प्रकार—

उत्प्रेक्षागत साधारण धर्म दो प्रकार का होता है—(क) जो स्वत ही साधारण हो (ख) साधारणीकरण के उपाय से साधारण किया गया हो । यह साधारणीकरण का उपाय कही रूपक, कही श्लेष, कही अपह्नुति, कही बिम्बप्रतिबिम्बभाव, कही आरोप और कही अतिशयोक्तिकृत अभेदाध्यवसाय होता है ।

स्वतः सिद्ध साधारण धर्म का उदाहरण तो उपर्युक्त पद्यो मे है ही, अन्य उपाय से साधारण किये गये धर्म का उदाहरण यह है—

नयनेन्दिन्दिरानन्दमन्दिर मिलदिन्दिरम् ।
इदमिन्दीवर मन्ये सुन्दराङ्गि तवाननम् ।।[२६०]

इसमे पूर्वार्धगत प्रथम धर्म रूपक से विषय और विषयी मे साधारणीकृत हुआ है । साधारण धर्म है—भ्रमरानन्दमन्दिरत्व । इसी प्रकार अन्य उपायो से साधारण बनाये हुए धर्म के भी अनेक उदाहरण दिये गये हैं ।

(ग) शब्दात्मक धर्म—

इसके अतिरिक्त यह साधारण धर्म केवल शब्दात्मक भी होता है । जैसे—

अङ्कितान्यक्षसङ्घातै सरोगाणि सदैव हि ।
शङ्के पङ्केरूहाणीति शरीराणि शरीरिणाम् ।।[२६१]

इसमे 'अक्षसङ्घाताङ्कित' और 'सरोग' यह दो साधारण धर्म हैं। परन्तु इनकी साधारणता केवल शब्द को लेकर ही है अर्थ को लेकर नही ।

यह धर्म सदा उपात्त ही होता है, अनुपात्त नही हो सकता । इसके अतिरिक्त जितने भी अर्थात्मक साधारण धर्म है वह सभी उपात्त अथवा अनुपात्त दोनो प्रकार के हो सकते है ।

इस प्रकार हेतूत्प्रेक्षा और फलोत्प्रेक्षा मे सर्वत्र जिसके हेतु अथवा फल के रूप मे उत्प्रेक्षा होती है वह इसी प्रकार से साधारण बनाया जाकर ही साधारण धर्म होता है । तात्पर्य यह है कि हेतूत्प्रेक्षा व फलोत्प्रेक्षा का साधारण धर्म सदा साधारणीकरण के उपाय से ही साधारण बनाया जाता है ।

---

२६०. रस. पु ३०४
२६१. रस. पृ. ३०५

साधारण धर्म के पुन दो भेद हो सकते है—

(क) जब वह धर्म साक्षात् उत्प्रेक्षा को उत्थापित करे,

(ख) जब वह धर्म उत्प्रेक्षा के उत्थापक अन्य साधारणधर्म को सम्पादित कर परम्पया उत्प्रेक्षा के अनुकूल हो।

(२) उत्प्रेक्षागत विषय के भेद

उपर्युक्त सभी उदाहरणो मे विषय (उपमेय) उपात्त ही है। कही-कही यह अनुपात्त भी होता है। जैसे—

> जगदन्तरममृतमयैरंशुभिरापूरयन्नय नितराम्।
> उदयति वदनव्याजात्किमु राजा हरिणशावनयनाया।[२६२]

इसमे वदन रूप विषय का व्याज पद से अपह्नव किया गया है।

इस प्रकार साधारण धर्म और विषय के आधार पर भी उत्प्रेक्षा के अनेक भेद सम्भव हो जाते है।

समवलोकन

उपमा और रूपक के पश्चात् उत्प्रेक्षा का स्थान आता है जिसका अत्यन्त दीर्घ विवेचन किया गया है।

प्राय सभी प्राचीन आलङ्कारिको ने उत्प्रेक्षा के दोनो ही भेद माने है—धर्मोत्प्रेक्षा और धर्म्युत्प्रेक्षा। पण्डितराज ने भी इन दोनो को स्वीकार किया है किन्तु धर्मोत्प्रेक्षा के लक्षण मे प्राचीन मत से विलक्षणता है।

प्राचीनमत मे धर्मोत्प्रेक्षा वहाँ होती थी जहाँ एक धर्म के साथ दूसरे धर्म का अभेद सम्भावित किया जाता हो। पण्डितराज के मतानुसार धर्मोत्प्रेक्षा वहाँ होती है जहाँ एक धर्मी (धर्मवान्) मे अन्यधर्मिगत किसी धर्म की सम्भावना उसके साथ रहने वाले अन्य धर्म के रहने के कारण की जाती है। इसका स्पष्टीकरण और पोषण उन्होने सुसङ्गत उदाहरणो के द्वारा किया है।

फलत प्राचीनमत मे दोनो उत्प्रेक्षाओ मे सम्बन्ध एक ही रहता था–अभेद और पण्डितराज के मत मे वह सम्बन्ध पृथक्-पृथक् हो जाते है–अभेद और भेद। धर्मोत्प्रेक्षा मे समवाय सम्बन्ध से उत्प्रेक्षा होती है जो भेद सम्बन्ध है।

पण्डितराज ने उक्त दोनो उत्प्रेक्षाओ का लक्षण एक ही वाक्य मे किया है जो अलङ्कारशास्त्र की दृष्टि से अत्यन्त दुरुह हो गया है। अलङ्कार जैसे विषय मे न्याय का आश्रय लेकर इस प्रकार का विकट लक्षण बनाना अनुचित है।

उत्प्रेक्षा के विभिन्न प्रकारो का निर्देशन अत्यन्त विस्तार से किया गया है। वाच्या, प्रतीयमाना इन दोनो प्रमुख भेदो का सोदाहरण इस प्रकार का विवेचन

---

२६२. रस पृ ३०७

प्रथम बार पण्डितराज ने ही किया है। पूर्वाचार्यों ने इसे स्वीकार अवश्य किया किन्तु इतना स्वच्छ नही बनाया।

प्राचीनो के द्वारा स्वीकृत स्वरूपोत्प्रेक्षा, हेतूत्प्रेक्षा और फलोत्प्रेक्षा को पण्डितराज ने विस्तार से उदाहृत किया है परन्तु अन्त मे हेतु और फल पर आधारित दोनो भेदो को स्वरूपोत्प्रेक्षा मे ही गतार्थ कर दिया है। इतना ही नही उत्प्रेक्षा के जात्यादिकृत विभिन्न भेदो के सम्बन्ध मे यह स्पष्ट रूप से कह दिया है कि वास्तव मे उनमे कोई चमत्कार नही है, केवल प्राचीन परम्परा का निर्वाह करने के लिये ही उन्हे उदाहृत किया है।

इसके अतिरिक्त अपने मतानुसार उत्प्रेक्षा के अनेक भेदो का निरूपण किया है — साधारण धर्म के भेदो के आधार पर, उपमेय के आधार पर इत्यादि।

यहाँ अलङ्कार सर्वस्वकार के मत को खण्डित करते हुए उत्प्रेक्षा और उत्प्रेक्षा के निमित्त का पृथक्करण दुग्ध-जलवत् किया है।

उत्प्रेक्षास्थलीय शाब्दबोध-विचार[२६३] और आख्यातादि सम्बन्धी व्याकरण-शास्त्रीय विवाद भी इनके नैयायिक और वैयाकरणिक चिन्तन के द्योतक है।[२६४]

अतिशयोक्ति

लक्षण

पण्डितराजकृत लक्षण

'विषयिणा विषयस्य निगरणमतिशय तस्योक्ति।'[२६५] अतिशयोक्ति पद मे दो पद हैं–अतिशय और उक्ति। अतिशय का अर्थ है विषयी के द्वारा विषय का निगरण (निगलन) और उक्ति का अर्थ है उस प्रकार के निगरण का वर्णन करना। अत अतिशयोक्ति अलङ्कार का लक्षण हुआ विषयी के द्वारा विषय के निगरण का वर्णन।

निगरण

विषयी के वाचक पद द्वारा (जैसे 'चन्द्रराजी विराजते' मे चन्द्र पद के द्वारा) विषयी के रूप मे ही (शक्यतावच्छेदकरूप से ही) विषय का बोध होना (मुख का ज्ञान) निगरण है। अर्थात् चन्द्र पद से चन्द्र करके ही (चन्द्रत्वेन) मुख का बोध होना निगरण या अतिशय है।

शाब्द-बोध मे पद-ज्ञान कारण होता है अत यहाँ भी विषयिवाचक पद की विषय मे लक्षणा होती है। जिसके कारण चन्द्रादि पदों से मुखादि का बोध होता

---

२६३. दे० परि० क–१-२

२६४ दे० परि० ख–१३

२६५, रस पृ. ४१०, ३०७

है चन्द्र पद (विषयिवाचक पद) कारण है और उसका कार्य है चन्द्र करके ही मुख का बोध (शक्यतावच्छेदकमात्रप्रकारक लक्ष्यविशेष्यक बोध) । इस कार्यरूप बोध की कार्यता तादृशबोधत्व के कारण ही है । इस प्रकार के ज्ञान मे विशेषण है चन्द्रत्व और विशेष्य है मुख । एक ही विशेष्य के होने के कारण अतिशयोक्ति मे मुख का मुख रूप मे ज्ञान न होना और चन्द्ररूप मे ज्ञान होना विरोधी नही होते । जिस प्रकार शुक्ति मे रजत का भान तभी होता है जब उस शुक्ति को शुक्तिरूप मे न जाना गया हो और रजत रूप मे ज्ञान हो । अत शुक्ति को ही रजत रूप से जानने मे कोई विरोध नही है । इसी प्रकार अतिशयोक्ति मे भी विषय को विषय के रूप मे नही जानते हुए विषयी के रूप मे ही जानना भी विरोधी नही है ।

कुछ लोग यह भी मानते है कि अतिशयोक्ति मे विषय का ज्ञान विपयी के ही रूप मे होता है विषय के रूप मे नही—ऐसा नही है अपितु विषय के रूप मे भी विषय का ज्ञान रहता है । अर्थात् मुखादि का मुख करके (मुखत्वेन) भी ज्ञान रहता है और चन्द्र करके (चन्द्रत्वेन) भी उसी मुख का बोध रहता है ।

अन्य लोग ऐसा भी कहते है कि इसमे विषयिवाचक पद से लक्षणा के द्वारा पहले विषय के रूप मे ही (लक्ष्यासाधारणधर्मप्रकारेणैव) विषय का भान होता है (क्योकि मुख्यार्थ बाधित रहता है ।) तत्पश्चात् व्यञ्जना के द्वारा विषयी के रूप मे विषय का बोध होना है (शक्यतावच्छेदकप्रकारकलक्ष्यबोध होता है ।) अर्थात् अति-शयोक्ति के लिये अभीष्ट अर्थ व्यञ्जना से ही होता है, व्यञ्जना से हुआ बोध भी अन्तत. शब्द से ही होता है अत शाब्द बोध ही है । विषय के प्रति विषय के रूप बोध न होना और विषयी के रूप मे बोध होना—विरोधी नही है यह लक्षणा के प्रसङ्ग मे कहा जा चुका है ।

व्यञ्जना से अतिरिक्त अथवा शाब्द बोध से अतिरिक्त जो बोध है उनमे ही बाध ज्ञान प्रतिबन्धक होता है, वैयञ्जनिक या शाब्द बोध (अभिधा-लक्षणा से होने वाले बोध) मे नही । आहार्यज्ञान (काल्पनिक ज्ञान) मे बाधनिश्चय बाधक नही होता ।

अतिशयोक्ति की दूसरी विशेषता यह है कि उसमे अभेद नही रहता । अभेद होने के लिये आवश्यक है दो वस्तुओ की सत्ता क्योकि तभी एक का दूसरे के साथ अभेद होगा । जैसे रूपक मे विषय और विषयी (उपमेय व उपमान) दोनो उपस्थित (शब्दतः उपात्त) रहते हैं इसलिये दोनो मे अभेद रहता है । परन्तु अतिशयोक्ति मे द्वित्व की स्थिति ही नही होती केवल विषयी ही रहता है विषय रहता ही नही । अत वहाँ अभेद नही होता । जैसे शुक्ति मे रजत का ज्ञान जब होता है तो शुक्ति और रजत का पृथक्-पृथक् अस्तित्व नहीं होता अपितु रजत के ही रूप में शुक्ति का

भान होता है और वह 'एक' वस्तु का ही भान होता है ठीक उसी प्रकार अतिशयोक्ति मे भी विषयी के ही रूप मे विषय का भान होता है ।

'अतिशयोक्ति अभेद प्रधान अलङ्कार है' इस कथन का वास्तव मे अभिप्राय यह है कि अतिशयोक्ति मे भेद का अभाव रहता है । अर्थात् अतिशयोक्ति मे रहने वाले अभेद का अर्थ दो पदार्थो मे तादात्म्य होना नही है अपितु विषयीतर पदार्थ का ही अभाव होना है । एतेन, इसमे विशेष्य–विशेषण भाव भी नही होता ।

रूपक और अतिशयोक्ति मे भी इसी भेद व अभेद के कारण अन्तर है । रूपक मे दो पदार्थों का परस्पर अभेद रहता है और अतिशयोक्ति मे दो पदार्थ ही नही रहते अत वहाँ अभेद का प्रश्न ही नही रहता । अभेद के रूप मे भेद का अभाव ही रहता है ।

रूपक व अतिशयोक्ति मे भेद होने के कारण यह स्वत ही सिद्ध हो जाता है कि रूपक के प्रकार अतिशयोक्ति मे सम्भव नही है ।

अतिशयोक्ति का उदाहरण यह है—

कलिन्दगिरिनन्दिनीतटवनान्तर भासय-
न्सदा पथि गतागतक्लमभर हरन्प्राणिनाम् ।
स्फुरत्कनककान्तिभिर्नवलताभिरावेल्लितो
ममाशु हरतु श्रमानतितमा तमालद्रुम ॥[२६६]

इसमे तमाल के द्वारा भगवान् का निगरण कर लिया गया है । प्रथम तीन चरणो मे इसी मुख्य निगरण के विशेषणो के रूप मे भगवान् व तमाल मे रहने वाले साधारण धर्मों का वर्णन हुआ है ।

अतिशयोक्ति के भेद

सर्वप्रथम अतिशयोक्ति के दो प्रकार होते है—सावयवा, निरवयवा ।

जहाँ प्रधान निगरण के पोषक अन्य कुछ निगरण हो वहाँ अतिशयोक्ति सावयवा होती है । जैसे पूर्वोक्त 'कलिन्दगिरिनन्दिनी–' इत्यादि पद्य मे । उसमे प्रधान निगरण है भगवान का तमाल के द्वारा परन्तु इसके पोषक द्वितीय और तृतीय चरण मे आये ऊँची-नीची योनियो के सञ्चरण का मार्ग के द्वारा, गोपियो का लताओ के द्वारा आदि निगरण है । इन्ही निगरणो के आधार पर तमाल रूप मे निगीर्ण विषय की सार्थकता सम्भव है ।

जहाँ प्रधान निगरण के पोषक के लिये अन्य निगरणो की अपेक्षा न हो, केवल शुद्ध साधारण धर्म पर ही निगरण आधारित हो वहाँ निरवयवा अतिशयोक्ति होती है । जैसे—

---

२६६. रस गं. ३०८

नयनानन्दसन्दोहतुन्दिलीकरणक्षमा ।
तिरयत्वाशु सन्ताप कापि कादम्बिनी मम ।।[२६७]

इसमे उपमान है कादम्बिनी अर्थात् मेघमाला और उपमेय है भगवान् की मूर्ति परन्तु भगवन्मूर्ति को मेघमाला ने निगीर्ण कर लिया है ।

साधारणधर्म के आधार पर

अतिशयोक्तिगत निगरण का आधारभूत तत्त्व एक या अनेक साधारण धर्म कही स्वत उपमानोपमेय दोनो मे सिद्ध होते है कही कवि द्वारा कल्पित । उदाहरण के लिये 'कलिन्दगिरि–' इत्यादि मे यमुना तट मे व वन मे रहना और क्लेश को हरना आदि साधारण धर्म स्वत ही तमाल और भगवान् मे रहते है । अत स्वत· सिद्ध है ।

कल्पित साधारण धर्मों वाला उदाहरण यह है—

जगज्जाल ज्योत्स्नामयनवसुधाभिर्जटिलय-
ञ्जनाना सन्ताप त्रिविधमपि सद्य प्रशमयन् ।
श्रितो वृन्दारण्य नतनिखिलवृन्दारकनुतो
मम स्वान्तध्वान्त तिरयतु नवीनो जलधर ।।[२६८]

इसमे जलधर मे लोकोत्तरता को सिद्ध करने के लिये 'ज्योत्स्नामय नवीन सुधाओ से ससार को व्याप्त करने वाला' यह साधारण धर्म जलधर रूप उपमान मे नही रहता तथापि उसकी कल्पना उसमे की गयी है ।

भेदाभेद के आधार पर

विषयी और विषय मे जहाँ भेद होने पर भी अभेद हो वहाँ अतिशयोक्ति का एक प्रकार और जहॉ उनमे अभेद होने पर भी भेद होता है वहाँ दूसरा प्रकार होता है ।

प्रथम भेद के उदाहरण के लिये उपर्युक्त दोनो पद्य लिये जा सकते है क्योकि वहाँ भगवान् और तमाल आदि मे भेद होते हुए भी अभेद है ।

द्वितीय भेद का उदाहरण यह है—

अन्या जगद्धितमयी मनस प्रवृत्ति-
रन्यैव कापि रचना वचनावलीनाम् ।
लोकोत्तरा च कृतिराकृतिरार्यहृद्या
विद्यावता सकलमेव चरित्रमन्यत् ।।[२६९]

---

२६७. रस पृ ३०९
२६८ रस. पृ. ३१०
२६९. रस, पृ ३११

इसमे विद्वानो की मनोवृत्ति और जनसाधारण की मनोवृत्ति समान होते हुए भी असमान वर्णित की गयी है। इस असमानता का प्रयोजन है लोकोत्तरता की प्रतीति कराना।

सम्बन्धासम्बन्ध के आधार पर

इसी प्रकार जहाँ सम्बन्ध न होने पर भी सम्बन्ध का वर्णन हो वहाँ भी एक अन्य प्रकार की अतिशयोक्ति होती है। इस प्रकार के वर्णन का प्रयोजन होता है वर्ण्य विषय की उत्कृष्टता को सिद्ध करना। उदाहरण के लिये—

धीरध्वनिभिरल ते नीरद मे मासिको गर्भ ।
उन्मदवारणबुद्ध्या मध्येजठर समुच्छलति ।।[२७०]

इसमे सिंही के वचन मे उदरस्थ मासिक बालक का उच्छलन क्रिया के साथ कोई सम्बन्ध वास्तव मे नही है परन्तु फिर भी सम्बन्ध दिखाया गया है।

इसके विपरीत जहाँ सम्बन्ध होने पर भी सम्बन्ध का अभाव दिखाया जाय वहाँ दूसरे प्रकार की अतिशयोक्ति होती है। जैसे—

पीयूषयूषकल्पामल्पामपि ते गिर निपीतवताम् ।
तोषाय कल्पते नो योषाधरबिम्बमधुरिमोद्रेक ।।[२७१]

इसमे मधुर वचनो के सुनने से सन्तोष होता है अर्थात् दोनो मे सम्बन्ध है परन्तु फिर भी असन्तोष का निरूपण कर वहाँ असम्बन्ध दिखाया है।

कार्यकारण के विपर्यय के आधार पर

जहाँ कारण कार्य का विपर्यय होता है, अर्थात् कारण का पहले और कार्य का बाद मे वर्णन न हो, वहाँ भी अतिशयोक्ति का एक प्रकार होता है। इसके पुन दो उपभेद हो सकते हैं—(१) जहाँ कारण और कार्य एक साथ हो और (२) जहाँ कारण बाद मे और कार्य उसके पहले ही हो जाये।

प्रथम का उदाहरण यह है—

'प्रतिखुरनिकरशिलातलसङ्घट्टसमुच्छलद्विद्युद्वल्लीकृतविस्फुलिङ्गच्छटापटलाना वाजिनाम्।'[२७२]

इसमे अश्व वर्णन के प्रसङ्ग मे उच्छलन रूप कारण और विद्युल्लहर की उत्पत्ति रूप कार्य का एक साथ वर्णन है।

द्वितीय भेद का उदाहरण यह है—

---

२७० रस पृ ३१२
२७१. रस. पृ. ३१२
२७२. रस. पृ. ३१२

पुर पुरस्तादरिभूपतीना भवन्ति भूवल्लभ भस्मशेषा ।
अनन्तर ते भृकुटीविटङ्कात्स्फुरन्ति रोषानलविस्फुलिङ्गा ।।[२७३]

इसमे कार्य है शत्रुओ के नगरो का नाश और कारण है कोप । कारण से पूर्व कार्य का वर्णन हुआ है ।

इन दोनो ही भेदो मे कारण की ऐसी विशेषता व्यङ्ग्य रहती है जिससे कारण कार्य अन्यन्त शीघ्रता से सम्पन्न हो जाता है ।

वेद और स्मृति मे भी अतिशयोक्ति प्राप्त होती है । उदाहरण के लिये क्रमश 'द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया--इत्यादि तथा 'या निशा सर्वभूताना तस्या--' इत्यादि पद्य दिये गये है ।

उक्त भेद सम्बन्धी प्राचीन मत

प्राचीन आलङ्कारिको का एक मत यह है कि उक्त पाँचो भेदो मे से किसी भी एक का होना ही अतिशयोक्ति का सामान्य लक्षण है । 'एतद्भेदपञ्चकान्यतमत्व-मतिशयोक्तिसामान्यलक्षणम् ।'[२७४]

मम्मट मत

सम्बन्ध होने पर असम्ब्रन्ध का वर्णन और असम्बन्ध होने पर सम्बन्ध का वर्णन करना-यह दोनो भेद अतिशयोक्ति नही है । क्योकि इस प्रकार का वर्णन स्वभावोक्ति अलङ्कार से अतिरिक्त रूपक, दीपक, अपह्नुति आदि प्राय सभी अलङ्कारो मे रहता है । यथावस्थित वस्तुओ का वर्णन कर देने मे कोई चमत्कार नही ।

दूसरा कारण यह है कि यदि सम्बन्धासम्बन्ध वाले दो भेदो को अतिशयोक्ति मान लिया जाये तो कार्यकारणविपर्यय वाले दोनो भेद भी इसी मे अन्तर्भूत हो जायेगे क्योकि वहाँ भी वास्तव मे कार्यकारण के विपर्यय का सम्बन्ध न रहने पर भी सम्बन्ध का वर्णन रहता है ।

अतः विषय का विषयी के द्वारा निगरण, विषय का ही अन्यत्व (अर्थात् भेद), (भेदाभेद वाले दो भेद) यदि इत्यादि पदो के द्वारा किसी असम्भव अर्थ की कल्पना और कार्यकारण भाव का विपर्यय-इनमे से अन्यतम का होना ही अतिशयोक्ति है ।[२७५]

नव्यमत

निगीर्याध्यवसान ही अतिशयोक्ति है । अन्य कोई भी भेद प्रमाण के अभाव मे अन्य अलङ्कार ही हो सकता है, अतिशयोक्ति के भेद नही ।

---

२७३ रस पृ ३१३
२७४ रस पृ ३१३
२७५. रस. पृ ३१३

यहाँ, प्रस्तुतान्यत्व मे भेद से–अभेद का, असम्बन्ध होने पर भी सम्बन्ध के वर्णन मे सम्बन्ध से–असम्बन्ध का, असम्बन्ध होने पर भी सम्बन्ध के वर्णन मे असम्बन्ध के द्वारा सम्बन्ध का, कार्य कारण के पौर्वापर्य मे उसी आनुपूर्वी के द्वारा–उचित क्रम का निगरण होता है–ऐसा विमर्शिनीकार आदि ने कहा है अतः निगीर्याध्यवसान रूप समान धर्म सभी मे व्याप्त होने से इनको अतिशयोक्ति का भेद कहा जा सकता है। ऐसा यदि कहे तो ठीक नही है क्योकि भेद का वर्णन होने से अभेद की प्रतीति ही चमत्कारी होती है न कि अभिन्न वस्तु के द्वारा भिन्न वस्तु की प्रतीति। अर्थात् अनन्य वस्तु अन्यत्वेन यदि वर्णित की जाय अपितु अनन्यत्वेन ही वर्णित की जाय तो कोई चमत्कार ही नही होगा। यह सत्य अनुभूत सत्य है।

अन्यतमत्व को भी इन भेदो मे व्याप्त रहने वाला अनुगत धर्म नही माना जा सकता क्योकि जब सभी भेदो से भिन्न-भिन्न प्रकार का चमत्कार उत्पन्न होता है तो अन्यतमत्व' को भेदान्तर का कारण नही माना जा सकता।

यदि अन्यतमत्व ही भेद का प्रयोजक हो जाये तब 'रूपक-उपमादि मे से अन्यतम' अथवा 'सकलालङ्कारो मे से अन्यतम' भी अतिशयोक्ति का लक्षण हो जाय और उपमा आदि उसके भेद हो जाये।

इन भेदो को पृथक्-पृथक् अलङ्कार मानने मे गौरव होगा—यह कहना भी ठीक नही है क्योकि अलङ्कारो की सख्या कोई निश्चित सख्या नही है। जो भी प्रधान रूप से उत्कर्षक हो वही अलङ्कार का प्रयोजक होगा यह सभी ने स्वीकार किया है। एव अलङ्कार का विभाजन करने वाली उपाधियो की गणना मनुष्य के ही आधीन है। अर्थात् चाहे जितने अलङ्कार माने जा सकते है।

भेद सम्बन्धी अप्पयदीक्षित के मत

प्रथम—

यद्यपह्नुति-गर्भत्व सैव सापह्नवा मता।
त्वत्सूक्तिषु सुधा राजन्भ्रान्ता पश्यन्ति ता विधौ॥[२७६]

अर्थात् यदि अतिशयोक्ति अपह्नुतिगर्भिता हो तो वह सापह्नवा अतिशयोक्ति कहलाती है। जैसे 'त्वसूक्तिषु–' इत्यादि के उत्तरार्ध मे चन्द्रमण्डल मे स्थित अमृत का निषेध है उसी पर अतिशयोक्ति आधारित है।

द्वितीय—

सम्बन्धातिशयोक्ति स्यादयोगे योगकल्पनम्।
सौधाग्राणि पुरस्यास्य स्पृशन्ति विधुमण्डलम्॥[२७७]

---

१७६ कुव० पृ. ४७
१७७. कुव० पृ ४६

अर्थात् सम्बन्ध न होने पर भी सम्बन्ध की कल्पना करने पर सम्बन्धातिशयोक्ति होती है। जैसे 'सौधाग्राणि–' इत्यादि उत्तरार्ध मे सौधाग्र (प्रासादशिखर) और चन्द्र मण्डल मे सम्बन्ध न होने पर भी सम्बन्ध का वर्णन है।

अप्पय के मतो का पण्डितराजकृत खण्डन

प्रथम—

सापह्नवा भेद मानना निराधार है क्योकि पर्यस्तापह्नुति ही अपह्नुति नही है यह अपह्नुति के प्रकरण मे सिद्ध किया जा चुका है फिर उस पर आधारित कोई भेद कैसे कहा जा सकता है ?

द्वितीय—

द्वितीय मत मे दिया गया उदाहरण भी उचित नही है। उसमे अतिशयोक्ति नही है अपितु उत्प्रेक्षा है। क्योकि यदि इसीमे 'स्पृशन्तीवेन्दुमण्डलम्' कर दिया जाय तब तो निश्चय ही यहाँ उत्प्रेक्षालङ्कार होगा।

तदनुसार 'स्पृशन्ति विधुमण्डलम्' इस पूर्व उदाहरण मे व्यङ्ग्य उत्प्रेक्षा माननी ही उचित है क्योकि इवादि पदो के रहने पर जो उत्प्रेक्षा वाच्य होती है वही उनके अभाव मे व्यङ्ग्य होती है–यह सर्वसम्मत नियम है। दूसरे, 'त्वत्कीर्तिर्भ्रमणश्रान्ता विवेश स्वर्गनिम्नगाम्' यह जो अप्पय के द्वारा व्यङ्ग्योत्प्रेक्षा का उदाहरण दिया गया है, उससे इस अतिशयोक्ति के उदाहरण मे कोई वैलक्षण्य नही है क्योकि 'त्वत्कीर्ति–' इत्यादि मे यदि अतिदूरगमन अथवा स्वग-गमन रूप विषय मे स्वर्गगङ्गा प्रवेश रूप विषयी के तादात्म्य की उत्प्रेक्षा मानी जाये तो उसका निमित्त होगा 'स्वर्ग के साथ उस कीर्ति का सम्बन्ध' जो यहाँ उक्त नही है। और यदि कीर्ति मे स्वर्गङ्गाकर्मक प्रवेश-कर्तृत्व की उत्प्रेक्षा मानी जाय तो उसका निमित्त होगा तादृशगमन, वह भी यहाँ उक्त नही है। अर्थात् दोनो ही पक्षो मे यहाँ अनुक्तनिमित्ता उत्प्रेक्षा है। इसी प्रकार 'सौधाग्राणि–' इत्यादि मे भी सर्वोच्च प्रदेश के सयोग मे चन्द्रमण्डलस्पर्श का तादात्म्य सम्भावित कर उत्प्रेक्षा मानी जाय तो परमोर्ध्वदेशवृत्तित्वरूप अनुपात्तधर्मनिमित्ता उत्प्रेक्षा होगी। अर्थात् यह भी अनुक्तनिमित्ता व्यङ्ग्योत्प्रेक्षा ही है।

अत जिस उदाहरण मे उत्प्रेक्षा की सिद्धि न हो उसी उदाहरण को इसके अन्तर्गत देना चाहिये। जैमे हमारे द्वारा दिया गया 'धीरध्वनिभिः–'[२७८] इत्यादि पद्य।

सम्बन्धातिशयोक्ति मे भी चमत्कारिता, और उपस्कारकता रूप विशेषणो को ध्यान मे रखना ही चाहिये।

---

२७८. पृ २९५

अतिशयोक्ति की ध्वनि

अतिशयोक्ति की ध्वनि का उदाहरण यह है—

देव त्वद्दर्शनादेव लीयन्ते पुण्यराशयः ।।
किं चादर्शनत पापमशेषमपि नश्यति ।।[२७९]

पाप और पुण्य का नाश उनके द्वारा प्राप्त होने वाले फल का उपभोग कर लेने पर हो जाता है–यह नियम है । तदनुसार इस पद्य मे राजा का दर्शन और अदर्शन क्रमश पुण्य और पाप के नाशक है अत उस दर्शन और अदर्शन से क्रमश सुख और दु ख का आक्षेप होता है । इसी प्रकार राशि और अशेष पदो से 'शतजन्मो मे उपभोग्य वह (पुण्य और पाप)' यह आक्षेप होता है । अत क्रमश जन्मशतोपभोग्यसुखदु ख का दर्शनादर्शन जन्य सुख-दु ख से निगरण यहाँ ध्वनित (प्रधान रूप से व्यङ्ग्य) होता है ।

रूपक और उत्प्रेक्षा से अतिशयोक्ति का वैभिन्न्य

प्राचीन मत

अतिशयोक्ति मे रूपक के समान ही विषयी का विषय मे अभेद प्रतीत होता है । किन्तु अन्तर यह है कि रूपक मे विषय का भी शब्द से कथन होता है और अतिशयोक्ति मे विषय विषयी का उदरसात् हो जाता है । इसी से रूपक और अतिशयोक्ति मे अन्तर है ।

उत्प्रेक्षा से अतिशयोक्ति का यह वैभिन्न्य है कि उत्प्रेक्षा मे अभेद (निगरण) साध्य होता है अर्थात् सम्भाव्य रहता है और अतिशयोक्ति मे वह सिद्ध होता है अर्थात् उत्प्रेक्षा मे वह सम्भावना का विषय होता है जबकि अतिशयोक्ति मे वह निश्चित होता है । अत अतिशयोक्ति रूपक और उत्प्रेक्षा दोनो से भिन्न है ।

पण्डितराजकृत आलोचना

विषय के अनुपात्त रहने पर ही निगरण होता है इस सिद्धान्त से 'कमलमिदमनम्बुजात जयतितमा कनकलतिकायाम्' इत्यादि मे 'इद' पद के द्वारा विषय का उल्लेख हो जाने से निगरण नही होगा–यह नही कहना चाहिये क्योकि यहाँ 'इदम्' पद का अर्थ यदि कमलत्वविशिष्ट इस रूप मे विधेय के विशेषणो के समान लिया जाय तभी अतिशयोक्ति होगी और यदि उद्देश्य-मुख के विशेषण के समान समझा जाय तो रूपक होगा । (इदन्त्व को यदि कमलत्वविशिष्ट कमल का विशेषण माने तो अतिशयोक्ति और यदि उद्देश्यतावच्छेदक माने तो रूपक है ।)

इसी प्रकार 'गौरयम्' 'आयुरेवेदम्' इत्यादि मे भी रूपक और अतिशयोक्ति

---

२७९. रस. पृ. ३१६

मानी जा सकती है । अत अतिशयोक्ति मे अभेद अनुवाद्य रहता है और रूपक मे विधेय—यही दोनो का भेद है । अत प्राचीनो का कथन उचित है ।

समवलोकन

इस प्रकार यह स्पष्ट रूप से कहा जा सकता है कि पण्डितराज ने अतिशयोक्ति अलङ्कार के लक्षरण, भेद और ध्वनि आदि पर प्राचीन और नवीन दोनो दृष्टियो से पर्याप्त विचार किया है ।

लक्षरण के अन्तर्गत अतिशय और अतिशयोक्ति इन दोनो का भेद अत्यन्त सूक्ष्म दृष्टि ने स्पष्ट किया गया है । निगरण का क्या तात्पर्य है तथा शाब्दबोध मे उसका भान किस प्रकार होता है–इसका जितना विवेकपूर्ण व्याख्यान पण्डितराज ने किया है उतना अन्य किसी ने नही किया है ।

पूर्वाचार्यो ने भी विषयी के द्वारा विषय का निगरण तो अवश्य स्वीकार किया था परन्तु उसी निगरण को ही उन्होने अतिशयोक्ति कहा था । परन्तु पण्डितराज ने निगरण को अलङ्कार नही माना अपितु उस निगरण के कथन को अलङ्कार माना–यह पण्डितराज की ही देन है । सहोक्ति अलङ्कार के प्रसङ्ग मे उन्होने यह स्पष्ट रूप से कहा है कि अतिशय मात्र (विषयी विषय का अभेदाध्यवसान) तो प्राय अनेक अलङ्कारो मे रहता है परन्तु वहाँ अतिशयोक्ति अलङ्कार नही होता । अतिशयोक्ति अलङ्कार वही होता है जहाँ उसका कथन हो ।

प्राचीनो के द्वारा माने गये भेदो का जो 'नव्या·' कह कर खण्डन किया गया है वह भी पण्डितराज का अपना ही मत प्रतीत होता है । इतनी प्रामाणिकता और समर्थिका बुद्धि के साथ उसका विवरण देने से ही यह कल्पना आरूढ होती है । अर्थात् पण्डितराज को सम्बन्धासम्बन्ध आदि के आधार पर निरूपित भेदो मे अधिक आस्था नही है तथापि प्राचीनो के अनुरोध से उनको निरूपित अवश्य कर दिया है ।

प्रतिवस्तूपमा

अभी तक सादृश्यमूलक चमत्कार पर आधारित अलङ्कारो के विवेचन के अन्तर्गत साधारण धर्म के प्राय सभी प्रकारो का निरूपण हो चुका है ।

सम्प्रति वस्तुप्रतिवस्तुभाव से युक्त साधारण धर्म से उत्थापित वाक्यार्थ मे रहने वाले सादृश्य का निरूपण किया जाता है ।

लक्षरण

पण्डितराजकृत लक्षरण

पण्डितराजकृत प्रतिवस्तूपमा का लक्षरण इस प्रकार है—

'वस्तुप्रतिवस्तुभावापन्नसाधारणधर्मकवाक्यार्थयोरार्थमौपम्य प्रतिवस्तूपमा ।'[२८०]

अर्थात् वस्तुप्रतिवस्तुभाव से युक्त साधारण धर्मवाला, दो वाक्यार्थो का आर्थ औपम्य प्रतिवस्तूपमा है । दो वाक्यार्थो का औपम्य ही प्रतिवस्तूपमा है । परन्तु उस औपम्य को आर्थ होना चाहिये और वस्तुप्रतिवस्तुभाव से युक्त साधारण धर्म पर आधारित होना चाहिये ।

इस लक्षण के अन्तर्गत प्रत्येक विशेषण का एक विशेष प्रयोजन है । सर्वप्रथम विशेषण है 'वस्तुप्रतिवस्तुभावापन्नसाधारणधर्मक' । इस विशेषण को देने से दृष्टान्त के (सत्पूरुष खलु हिताचरणैरमन्दम्–इत्यादि)[२८१] उदाहरण मे अतिव्याप्ति नही होने पाती । दृष्टान्त मे भी दो वाक्यार्थों मे आर्थ औपम्य रहता है परन्तु उसमे वस्तु-प्रतिवस्तुभाव से युक्त साधारणधर्म का अभाव रहता है ।

'आर्थ' विशेषण देने से वाक्यगा उपमा का निवारण हो जाता है । वाक्यार्थ मे रहने वाली उपमा 'यथा-तथा' पदो के प्रयोग से शाब्दी होती है आर्थी नही होती।

'वाक्यार्थ' विशेषण देने से अप्रस्तुतप्रशसा और स्मरण अलङ्कार का निवारण हो जाता है । अप्रस्तुतप्रशसा मे वस्तुप्रतिवस्तुभाव नही हो सकता क्योकि यह वही होता है जहाँ एक ही धर्म दो भिन्न शब्दो द्वारा पृथक्-पृथक् उपात्त हो और अप्रस्तुत-प्रशसा मे केवल प्रस्तुत धर्म का ही कथन होता है अप्रस्तुत का व्यञ्जना से बोध होता है । उदाहरण के लिये—

आपद्गत' खलु महाशयचक्रवर्ती
विस्तारयत्यकृतपूर्वमुदारभावम् ।
कालागुरुर्दहनमध्यगत समन्ता-
ल्लोकोत्तर परिमल प्रकटीकरोति ।।[२८२]

यहाँ विस्तारण और प्रकटन वास्तव मे एक रूप से ही वक्ता को अभिमत है । समानधर्म होने से (दोनो वाक्यार्थों के भावात्मक होने से) यह साधर्म्य पर आधारित प्रतिवस्तूपमा है । जब एक वाक्य भावात्मक और दूसरा अभावात्मक हो तो भी प्रतिवस्तूपमा हो सकती है । वह वैधर्म्याधारित होती है । जैसे—

वशभवो गुणवानपि सङ्गविशेषेण पूज्यते पुरुष
नहि तुम्बीफलविकलो वीणादण्ड प्रयाति महिमानम् ।।[२८३]

---

२८०. रस पृ. ३३०
२८१. पृ. ३०८
२८२. रस पृ ३३१
२८३. रस. पृ. ३३२

इसमे प्रथमार्ध भावात्मक और द्वितीयार्ध अभावात्मक है अत आक्षेप से दोनो का साम्य बोधित होता है ।

अप्पयदीक्षित का अभिमत वैधर्म्य का उदाहरण

अप्पयदीक्षित ने कुवलयानन्द मे वैधर्म्याधारित प्रतिवस्तूपमा को इस प्रकार उदाहृत किया है ।

> 'विद्वानेव हि जानाति विद्वज्जनपरिश्रमम् ।
> न हि वन्ध्या विजानाति गुर्वीं प्रसववेदनाम् ।।'

तथा

> यदि सन्ति गुणा. पुसा विकसन्त्येव ते स्वयम् ।
> न हि कस्तूरिकामोद शपथेन विभाव्यते ।।

इन उदाहरणो मे पूर्वार्ध उपमेय वाक्य और उत्तरार्ध उपमान वाक्य है । प्रथम पद्य मे 'जानाति' रूप क्रिया का दोनो मे समान रूप से अन्वय हो रहा है । परन्तु कर्म की भिन्नता होने से उस धर्म मे अन्तर है । अतएव वैधर्म्यपूर्वक प्रतिवस्तूपमा का उदाहरण है । तात्पर्य यह है कि एक ही धर्म का भिन्न-भिन्न रूप मे निर्देश हुआ हो ऐसा नही है अपितु पृथक्-पृथक् धर्मो का ही निर्देश हुआ हे। इसलिये यह वैधर्म्यमूलक प्रतिवस्तूपमा है ।[२८४]

पण्डितराजकृत खण्डन

पण्डितराज की दृष्टि मे उक्त दो उदाहरणो मे से प्रथम उदाहरण को तो जैसे तैसे वैधर्म्य का उदाहरण कहा जा सकता है परन्तु द्वितीय पद्य तो किसी भी प्रकार वैधर्म्य का उदाहरण सिद्ध नही होता । ऐसा प्रतीत होता है कि दीक्षित जी ने केवल नञ् के आधार पर उसे वैधर्म्य का उदाहरण कह दिया है क्योकि—

वैधर्म्य के उदाहरण का तात्पर्य है–प्रस्तुत धर्मिविशेष से उपारूढ अर्थ की दृढता के लिये अपने से (प्रकृत वाक्य से) आक्षिप्त स्वव्यतिरेकसमानजातीय (प्रकृतार्थ-प्रतिद्वन्द्वी), दूसरे धर्मी मे आरूढ, अप्रकृतार्थ का कथन । उदाहरण के लिये—

> 'तत्त्व किमपि काव्याना जानाति विरलो भुवि ।
> मार्मिक को मरन्दानामन्तरेण मधुव्रतम् ।।'[२८५]

इस पद्य मे विरल रूप धर्मी से युक्त जो प्रकृत अर्थ है—विरल लोग ही काव्य के तत्त्व को जानते हैं—उसको दृढ करने के लिये 'मार्मिक' को' इत्यादि प्रकृत वाक्यार्थ से आक्षिप्त होने वाले अपने प्रतिद्वन्द्वी 'मधुव्रत के बिना अन्य कोई मार्मिक

---

२८४. कुव० पृ ६१ (अप्पयदीक्षित का सम्पूर्ण मत)

२८५. रस. पृ ३३२

नही है–' इस वाक्यार्थ का कथन हुआ है । अर्थात् अन्वय मे जिसका सम्बन्ध हो तथा धर्मी विशेष जिसका विषय हो ऐसे प्रकृतार्थ को दृढ करने के लिये उसके अभाव से सम्बन्धित अन्य अर्थ को कहना ही वैधर्म्य है ।

'यदि सन्ति–' इत्यादि उपर्युक्त पद्य मे 'यदि होते हे तो स्वय प्रकाशित होते है–' इस प्रकृत अर्थ का अभावात्मक अर्थ होगा 'यदि नही होते तो उपायान्तर मे भी प्रकाशित नही होते ।' यहाँ द्वितीयार्थ से अपने सजातीय अर्थ का निबन्धन नही होता । अपितु 'स्वय प्रकाशित है, दूसरे उपाय से नही'–इस प्रकार का अप्रकृत का सजातीय अर्थ ही आक्षिप्त होता है । 'शपथेन न विभाव्यते किन्तु स्वयमेव'–इस प्रकार यह प्रकृतार्थ के अनुरूप अर्थ मे ही पर्यवसित होता है । और वैधर्म्य होने पर प्रकृतार्थ के अनुरूप अर्थ आता ही नही है अत यह साधर्म्य का ही उदाहरण है वैधर्म्य का नही ।

सार यह है कि यदि प्रकृत अर्थ के वैपरीत्य का समजातीय कोई अन्य अप्रकृत अर्थ हो तो ही प्रतिवस्तूपमा वैधर्म्यपूर्वक होती है अन्यथा नही ।

'उपायान्तर की निवृत्ति' कथन से रहित प्रस्तुत वाक्यार्थ के साथ 'उपायान्तर की निवृत्ति' के कथन से युक्त अपर वाक्यार्थ का साधर्म्य नही है अत यह साधर्म्य का उदाहरण भी नही हो सकता–यह भी नही कहना चाहिये क्योकि प्रथम वाक्यार्थ मे 'स्वयम्' पद के साथ प्रयुक्त 'एव' पद से ही उपायान्तर की निवृत्ति का निवेश कर दिया गया है ।

इस एव पद को क्रियान्वयी कहकर अत्यन्तायोगव्यवच्छेदक भी नही माना जा सकता क्योकि उस स्थिति मे प्रकृत अर्थ का आकार होगा– 'विकसित होते ही हैं' और इस आकार के साथ उत्तर वाक्यार्थ को दृष्टान्तरूप मे सङ्गत नही किया जा सकेगा क्योकि उसका आकार है 'शपथ से नही जाना जाता' । प्रकृत वाक्यार्थ के साथ उत्तर वाक्यार्थ का दृष्टान्त-दार्ष्टान्तिक भाव बनाने के लिये 'कस्तूरी का सौरभ छिपाया नही जा सकता' इस प्रकार के उत्तर वाक्य की अपेक्षा होगी । अतएव असङ्गति हो जायेगी ।

यदि इस पद्य को वैधर्म्य का उदाहरण बनाना ही है तो 'नहि कस्तूरिका–' इत्यादि उत्तरार्ध को 'वाचा वाचस्पतेर्व्योम्नि विलसन्ति न वल्लय.' इस प्रकार कर देना चाहिये ।

इसके अतिरिक्त इसी प्रसङ्ग मे अप्पय दीक्षित के एक और पद्य को भी पण्डितराज ने असष्ठुलता रूप दोष से दूषित सिद्ध किया है ।

मालारूपा प्रतिवस्तूपमा भी होती है । जैसे—

वहति विषधरान्पटीरजन्मा शिरसि मषीपटल दधाति दीप ।।
विधुरपि भजतेतरा कलङ्क पिशुनजन खलु बिभ्रति क्षितीन्द्रा ।[२८६]

इसमे वहन, आधान, भजन, भरण की वास्तव मे एकरूपता होने से यहाँ मालारूप प्रतिवस्तूपमा है ।

समवलोकन

प्रस्तुत प्रबन्ध मे प्रतिवस्तूपमा का निरूपण भी अन्य अलङ्कारो की निरूपण प्रणाली से ही कर दिया गया है परन्तु मूलग्रन्थ मे इसका प्रतिपादन नैयायिक रीति से हुआ है । जिस प्रकार व्याप्ति पञ्चक आदि ग्रन्थो मे व्याप्ति के नाना सम्भव लक्षण बनाकर क्रमश उनका निष्कृष्ट लक्षण किया गया है उसी प्रकार प्रतिवस्तूपमा मे भी क्रमश उसमे अनेक सम्भावित लक्षणो का प्रतिपादन कर उनमे दोषदर्शन कर खण्डन किया गया है । अन्त मे सिद्धान्तभूत लक्षण दिया गया है । यह शैली अन्य किसी आलङ्कारिक ने नही अपनायी है—पण्डितराज की विशिष्ट शैली है ।

प्रतिवस्तूपमा के विषय का परिष्कार जैसा रसगङ्गाधर मे हुआ है वैसा अन्य किसी ग्रन्थ मे उपलब्ध नही । पदकृत्य के द्वारा दृष्टान्त, वाक्यगा उपमा, अप्रस्तुत-प्रशसा आदि मे अतिव्याप्ति का निवारण कर उसके लक्षण को निर्दुष्ट तो सिद्ध किया ही गया है साथ ही उसका स्वतन्त्र अस्तित्व भी अत्यन्त दृढ हो गया है ।

अप्पयदीक्षित के वैधर्म्यमूला प्रतिवस्तूपमा के उदाहरण को खण्डित करने मे पण्डितराज का आग्रह ही प्रधान प्रतीत होता है । अप्पयदीक्षित ने अपने ग्रन्थ मे वैधर्म्य की कोई व्याख्या न करके केवल उदाहरण मात्र दिया है । जिसका अभिप्राय यही प्रतीत होता है कि वैधर्म्य का तात्पर्य है किसी अभावात्मक (Negative) अर्थ से । अर्थात् जहाँ कि भावात्मक (Positive) प्रकृत अर्थ का अभावात्मक (Negative) अप्रकृत अर्थ से पोषण होता है तो वैधर्म्यमूला प्रतिवस्तूपमा होती है । परन्तु पण्डित-राज ने स्वार्थसिद्धि के अनुकूल इसकी जो व्याख्या की है वह उनके चातुर्य को प्रदर्शित करने मे सुसमर्थ है । अप्पय के मत को वक्ररूप मे उपस्थित कर खण्डित किया है ।

दृष्टान्त

लक्षण

पण्डितराजकृत लक्षण

दृष्टान्त अलङ्कार का लक्षण पण्डितराज ने इस प्रकार किया है—

२८६. रस.पृ. ३३७

'प्रकृतवाक्यार्थघटकानामुपमानादीना साधारणधर्मस्य च बिम्बप्रतिबिम्बभावे दृष्टान्तः ।[२८७]

अर्थात् उक्त (प्रकृत) वाक्यो मे उपमेय उपमान और साधारणधर्म इन सभी का बिम्बप्रतिबिम्बभाव हो तो दृष्टान्त अलङ्कार होता है ।

अपने लक्षण के समर्थन मे मम्मट के द्वारा निर्मित दृष्टान्त का लक्षण भी दिया है, जो इस प्रकार है—'दृष्टान्त पुनरेतेषा सर्वेषा प्रतिबिम्बनम् ।' अर्थात् उपमेय उपमान और साधारणधर्म– इन सबका जहाँ बिम्बप्रतिबिम्बभाव हो वहाँ दृष्टान्तालङ्कार होता है ।[२८८]

पण्डितराजकृत दृष्टान्त के भेद

पण्डितराज ने इसके दो प्रकार बनाये है—साधर्म्यमूलक और वैधर्म्यमूलक । अर्थात् जहाँ प्रकृत और अप्रकृत वाक्यो मे एक ही स्थिति हो वहाँ साधर्म्यमूलक दृष्टान्त और जहाँ उन दोनो मे परिस्थिति भिन्न हो, एव आक्षेप से उनमे दृष्टान्त–दार्ष्टान्तिक भाव का बोध हो वहाँ वैधर्म्यमूलक होता है उदाहरण के लिये–

सत्पूरूष खलु हिताचरणैरमन्द-
मानन्दयत्यखिललोकमनुक्त एव ।
आराधित कथय केन करैरुदारै-
रिन्दुर्विकासयति कैरविणीकुलानि ।।[२८९]

इसमे इन्दु और सत्पुरुष, किरण और आचरण के साथ-साथ आनन्द और विकास का भी बिम्बप्रतिबिम्ब भाव है । यह साधर्म्याधारित दृष्टान्त है ।

वैधर्म्याधारित दृष्टान्त का उदाहरण यह है—

जनयन्ति परप्रीतिं नरा सत्कुलसम्भवा ।
न हि कारस्कर क्वापि तापनिर्वापणक्षम ।।[२९०]

यहाँ प्रीति उत्पन्न करना और ताप दूर न करना इनमे परस्पर समानधर्मता नही है अतः भिन्न-भिन्न धर्मों पर आधारित होने से दृष्टान्त की स्थिति है। उसी वैधर्म्य मे बिम्बप्रतिबिम्बभाव है ।

प्रतिवस्तूपमा से दृष्टान्त का भेद

प्रतिवस्तूपमा और दृष्टान्त मे मुख्य भेद यही है कि प्रतिवस्तूपमा मे साधारण धर्म पृथक्-पृथक् रहता है, उसमे बिम्बप्रतिबिम्बभाव नही रहता और दृष्टान्त मे समानधर्म भी प्रतिबिम्बित रहता है ।

---

२८७. रस. पृ. ३३७
२८८. का० प्र० पृ ३७८
२८९. रस. पृ ३३७
२९०. रस. पृ. ३३९

जयरथ का मत

विमर्शिनी के टीकाकार जयरथ के अनुसार सादृश्य की प्रतीति होना और सादृश्य की प्रतीति न होना ही प्रतिवस्तूपमा और दृष्टान्त का भेद है। क्योकि प्रतिवस्तूपमा मे अप्रकृतार्थ का उपादान (ग्रहण) इसलिये किया जाता है कि प्रकृतार्थ के साथ उसका सादृश्य बोध हो जाय। अथ च दृष्टात मे उसका उपादान इसलिये किया जाता है कि 'इस प्रकार का अर्थ अन्यत्र भी दिखाई पडता है' इस प्रकार से प्रकृत अर्थ की प्रतीति अधिक दृढता से हो जाये। दृष्टान्त मे प्रकृत और अप्रकृत अर्थ मे सादृश्य का बोध कराना उद्देश्य नही होता। अत सादृश्य की प्रतीति और अप्रतीति को लेते हुए ही दोनो अलङ्कार पृथक्-पृथक् है।[२६१]

पण्डितराजकृत खण्डन

पण्डितराज ने उक्त जयरथ के मत का खण्डन किया हे। इनका मत यह है कि जब दृष्टान्त और प्रतिवस्तूपमा दोनो मे समान रूप से प्रकृतार्थ और अप्रकृतार्थ का ग्रहण रहता है तो यह कहना अनुचित है कि एक मे सादृश्य की प्रतीति होती है और एक मे सादृश्य की प्रतीति नही होती। दूसरे 'ऐसा ही अर्थ दूसरी जगह भी देखा जाता है' यह भी सादृश्य का ही दूसरा रूप है अन्य कुछ नही। अत दृष्टान्त मे सादृश्य की प्रतीति नही होती–यह कहना विरुद्ध ही है। इसी दृष्टान्तगत सादृश्य प्रतीति के कारण ही प्राय सत्कविगण जिन प्रकृतिप्रत्ययो का प्रयोग प्रकृत वाक्यार्थ मे करते है उसी के अनुरूप प्रकृतिप्रत्ययो का प्रयोग अप्रकृतवाक्यार्थ मे भी करते है।

दोनो अलङ्कारो मे औपम्य के समान रूप से रहने के कारण इन दोनो को एक ही अलङ्कार के दो भेद कह देना भी उचित नही होगा क्योकि इस प्रकार जितने भी सादृश्यमूलक अलङ्कार होगे उन सबको उपमा का ही अवान्तर भेद मान लेना पडेगा।

अलङ्कारसर्वस्व जो कि विमर्शिनी का मूलग्रन्थ है उसके साथ भी जयरथ के मत का विरोध होता है क्योकि मूलग्रन्थ मे 'देवीं वाचमुपासते—'[२६२] इत्यादि पद्य मे रुय्यक ने सादृश्य की प्रतीति को स्वीकार किया है। अतः मूल ग्रन्थकार दृष्टान्त मे सादृश्य प्रतीति को स्वीकार करते है और टीकाकार नही मानते अत विरोध है।

अत जयरथकृत सादृश्य प्रतीति और अप्रतीति घटक भेद मानना अनुचित है।

---

२६१. रस. पृ ३३७

२६२. देवीं वाचमुपासते हि बहव सार तु सारस्वतम्
जानीते नितरामसौ गुरुकुलक्लिष्टो मुरारि कवि ॥
अब्धिर्लङ्घित एव वानरभटै किन्त्वस्य गभीरता-
मापातालनिमग्नपीवरतनुर्जानाति मन्थाचल । (अ० स० पृ. १२१)

समवलोकन

दृष्टान्त अलङ्कार के इस विवेचन मे कोई वैशिष्ट्य नही है। दृष्टान्त का लक्षण मम्मट के लक्षण के ही अनुकूल है—पण्डितराज ने स्वय इसे कहा है।

दृष्टान्त और प्रतिवस्तूपमा का सूक्ष्म भेद दिखला कर ग्रन्थकार ने विशेष योग दिया है। तथापि उस सम्पूर्ण भेद विचार के उपरान्त प्राप्त 'तस्मादस्मदुक्तेनैव पथा प्राचीनैर्विहितोऽलङ्कारयोरनयोर्विभाग सङ्गमनीय'[३६३] इस वचन से ऐसा प्रतीत होता है कि पण्डितराज को भी स्वय दृष्टान्त और प्रतिवस्तूपमा को पृथक्-पृथक् अलङ्कारत्व मान्य नही है परन्तु प्राचीन पूज्य आलङ्कारिक मम्मट के प्रति श्रद्धा के कारण उसे यथाकथञ्चित् सिद्ध किया है।

---

२६३. रस. पृ. ३३६

६

अस्फुटसादृश्यमूलक अलंकार

तुल्ययोगिता

लक्षण

पण्डितराजकृत लक्षण

पण्डितराज ने तुल्ययोगिता का लक्षण इस प्रकार किया है—

'प्रकृतानामेवाप्रकृतानामेव वा गुणक्रियादिरूपैकधर्मान्वियस्तुल्ययोगिता ।'[1]

अर्थात् केवल प्रकृत अथवा केवल अप्रकृत धर्मियो के साथ गुण अथवा क्रिया आदि रूप एक ही धर्म का अन्वय होने पर तुल्ययोगिता अलङ्कार होता है ।

एक ही धर्म का अन्वय होने से समान धर्म की स्थिति रहती है अत वहाँ उपमानोपमेयभाव भी बन जाता है । परन्तु वह औपम्य व्यङ्ग्य ही रहता है क्योकि उसका वाचक इव आदि पदो मे से कोई नही रहता ।

उदाहरण के लिये—

प्रिये विषाद जहिहीति वाच प्रिये सराग वदति प्रियाया ।
वारामुदारा विजगाल धारा विलोचनाभ्या मनसश्च मानः ।।[2]

इस पद्य मे विगलनरूप क्रिया नयन और मान दोनो प्रकृत धर्मियो के साथ समान रूप से अन्वित हो रही है अतः तुल्ययोगिता है । एव अश्रु और मान का तथा नयन और मन का औपम्य भी व्यङ्ग्य हो रहा है ।

इसी प्रकार गुण रूप समान धर्म के अन्वय का उदाहरण यह है—

न्यञ्चति वयसि प्रथमे समुदञ्चति किञ्च तरुणिमनि सुदृशः ।
उल्लसति कापि शोभा वचसा च दृशा च विभ्रमाणाञ्च ।।[3]

इसमे शोभा रूप गुण समान रूप से अन्वित हो रहा है । यहाँ केवल अप्रकृत धर्मियों के साथ ही अन्वय है ।

---

१. रस पृ. ३१७

२. रस. पृ. ३१७

३. रस. पृ. ३१८

रुय्यक तथा अप्पयदीक्षित का मत

रुय्यक ने तुल्ययोगिता का यह लक्षण बनाया है—'औपम्यस्य गम्यत्वे पदार्थगतत्वेन प्रस्तुताप्रस्तुताना वा समानधर्माभिसम्बन्धे तुल्ययोगिता ।[४] अर्थात् औपम्य के व्यङ्ग्य रहते, जब प्रस्तुत और अप्रस्तुतो का एक ही धर्म से सम्बन्ध हो (गुण अथवा क्रिया रूप समान धर्म से) तो तुल्ययोगिता होती है ।

अप्पयकृत लक्षण इस प्रकार है—

'प्रस्तुतानामप्रस्तुताना वा गुणक्रियारूपैकधर्मान्वियस्तुल्ययोगिता ।'[५]

अर्थात् प्रस्तुत अथवा अप्रस्तुत का गुण अथवा क्रियारूप एकही समान धर्म से अन्वय हो तो तुल्ययोगिता होती है ।

पण्डितराजकृत खण्डन

पण्डितराज ने उक्त दोनो ही लक्षणो मे अव्याप्ति दोष बताया है क्योकि 'क्रिया अथवा गुण रूप समान धर्म का अन्वय हो' यह कह देने से जहाँ इनके अतिरिक्त किसी धर्म का अन्वय होता है वहाँ तुल्ययोगिता का यह लक्षण सङ्गत नही हो पाता । जैसे—

शासति त्वयि हे राजन्नखण्डावनिमण्डलम् ।
न मनागपि निश्चिन्ते मण्डले शत्रुमित्रयो ।।[६]

इसमे गुण अथवा क्रिया का सम्बन्ध नही है अपितु निश्चिन्तता का अभाव ही यहाँ शत्रु और सूर्य के साथ अन्वित हो रहा है ।

अर्थात् उक्त लक्षणो मे गुण और क्रिया रूप से समानधर्म को सीमित कर देने से अव्याप्ति होती है । गुण एव क्रिया को यदि धर्ममात्र का उपलक्षण माना जाय तब इन लक्षणो का समन्वय हो सकता है ।

तुल्ययोगितालङ्कार के भेद

तुल्ययोगिता के प्रकृताप्रकृत धर्मियों के आधार पर भेद

जैसाकि लक्षण मे कहा गया है, तुल्ययोगिता के सर्वप्रथम दो भेद होते हैं—(१) जहाँ केवल प्रकृत धर्मियो का निबन्ध हो और (२) जहाँ केवल अप्रकृत धर्मियो के साथ अन्वय होता हो । इनके उदाहरण क्रमश 'प्रिये विषादम्–' इत्यादि और 'न्यञ्चति वयसि–' इत्यादि पूर्वोक्त पद्य है ।

यह दोनो प्रकार की तुल्ययोगिता पुन समानधर्म के भेद से आठ प्रकार की होती है–

---

४ अ स पृ १११

५. कुव पृ. ५६

६ रस. पृ ३१६
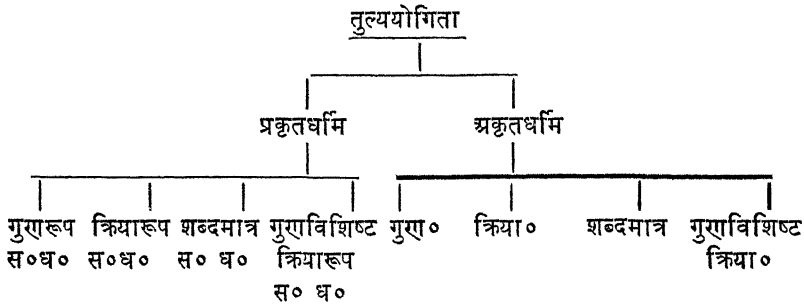
अर्थात् जहाँ कोई गुण समानधर्म हो, कोई क्रिया समान धर्म हो, केवल शब्दात्मक धर्म ही समान धर्म हो, अथवा गुणविशिष्ट क्रिया समान धर्म हो वहाँ क्रमश उक्त दोनो प्रकार की तुल्ययोगिताओ के चार-चार भेद होते है ।

प्रथम दो भेदो के उदाहरण ऊपर दिये जा चुके है । अप्रकृत धर्मियो के गुण रूप समान धर्म का ही एक अन्य उदाहरण है—

> न्यञ्चति बाल्ये सुदृश समुदञ्चति गण्डसीम्नि पाण्डिमनि ।।
> मालिन्यमाविरासीद्राकाधिपलवलिकनकानाम् ।।[७]

इसमे मालिन्य गुण का अन्वय हो रहा है ।

इसी पद्य को यदि 'न्यञ्चति राकाधिपतिर्लवलीपुरट च पुण्डरीक च' इस प्रकार कर दिया जाय तो क्रिया समान धर्म हो जायेगी तथा यदि 'धवलीभवत्यनुदिन लवली कनक कलानिधिश्चायम्' इस प्रकार दिया जाय तो गुणविशिष्टक्रिया का उदाहरण बन जायेगा ।

केवल शब्दमात्र जहाँ समानधर्म हो, इस प्रकार का उदाहरण—

> त्वयि पाकशासनसमे शासति सकल वसुन्धरावलयम् ।
> विपिने वैरिवधूना वर्षन्ति विलोचनानि च दिनानि ।।[८]

इसमे नेत्र और दिवस के साथ समान रूप से अन्वय न तो किसी क्रिया का है न गुण का अपितु केवल 'वर्षन्ति' यह शब्द ही समानधर्म है । अथवा यह कहा जा सकता है कि श्लेष के कारण पिण्डीकृत अर्थ ही समान धर्म है ।

उक्त धर्मों के पुन. तीन-तीन प्रकार हो सकते है—(१) जहाँ यह धर्म आरम्भ मे कहा गया हो, (२) जहाँ मध्य मे कहा गया हो और (३) जहाँ अन्त मे कहा गया हो । परन्तु यह भेद किसी प्रकार का चमत्कार वैचित्र्य नही उत्पन्न करते अत

---

७ रस. पृ ३१८
८ रस पृ ३१८

अकिञ्चित्कर है। इसके अतिरिक्त, इस प्रकार स्थान की दृष्टि से भेद मानने पर तो आदि के निकट, मध्य के निकट—इत्यादि अन्य भी अनेक भेद हो सकते हैं।

उदाहरण के लिये 'त्वयि पाकशासनसमे–' इत्यादि पद्य मे समानधर्म का कथन मध्य मे हुआ है।

रशनारूपा तुल्ययोगिता

इसके अतिरिक्त रशनारूपा तुल्ययोगिता और कारक तुल्ययोगिता भी होती है। अर्थात् जहाँ अनेक तुल्ययोगिताओ का परस्पर उपस्कारक के रूप मे निबन्धन होता है वहाँ पर रशना तुल्ययोगिता होती है।

रशनारूपा तुल्ययोगिता का उदाहरण है—

दृष्ट सदसि चेदुग्राश्चन्द्रचन्दनचन्द्रिका ।
अथ त्व सङ्गरे सौम्याः शेषकालानलाब्धय ॥[९] इत्यादि ।

इसमे दो रूप से (शान्त और उग्र रूप से) राजविषयक रतिभाव के भूषण के रूप मे तुल्ययोगिता है।

और—

दधीचिबलिकर्णेषु हिमहेमाचलाब्धिषु ।
अदातृत्वमधैर्यं च दृष्टे भवति भासते ॥[१०]

इसमे रशनारूपा तुल्ययोगिता यथासख्य समझनी चाहिये। अर्थात् (बाल्यादि मे अदातृत्व और हिमालयादि मे अधैर्य इत्यादि)।

कारक तुल्ययोगिता

जहाँ प्रकृत ही अथवा अप्रकृत ही क्रियाओ का एक कारक के साथ अन्वय होता है वहाँ कारक तुल्ययोगिता होती है। जैसे—

वसु दातु यशो धातु विधातुमरिमर्दनम् ।
त्रातु च सकला पृथ्वीमतीव निपुणो भवान् ॥[११]

इसमे राजा के स्तुतिवाक्य मे प्रकृत क्रियाओ का एक कर्त्ता के साथ अन्वय होता है। अर्थात् वह कर्त्ता ही उन क्रियाओ के प्रति साधारण धर्मरूप है। उसीके कारण औपम्य है—

इसी प्रकार—

---

९. रस पृ. २३१
१०. रस पृ ३२१
११. रस पृ ३२१

केऽपि स्मरन्त्यनुसरन्ति च केचिदन्ये
पश्यन्ति पुण्यपुरुषा कति च स्पृशन्ति ।
मातर्मुरारिचरणाम्बुजमाध्वि गङ्गे
भाग्याधिका कतिपये भवती पिबन्ति ॥[१२]

व्यङ्गय तुल्ययोगिता

व्यङ्गय तुल्ययोगिता जैसे—

अये लीलाभग्नत्रिपुरहरकोदण्डमहिम-
न्कथा यत्रोदञ्चत्यतुलबलधैर्यस्य भवत. ।
अय को वा तत्र प्रसृमरफणाकोणनिहित-
क्षिति शेष श्रीमान् कमठकुलचूडामणिरपि ॥[१३]

इसमे को वा इससे वाच्य लक्ष्य से अतिरिक्त अगणनीयत्व का शेष और कमठ रूप अप्रकृतो के साथ अन्वय प्रतीत होता है। अर्थात् 'को वा' इस पद से व्यङ्गय होने वाले अगणनीयत्वरूप धर्म का अप्रकृत शेष और कमठ के साथ अन्वय होता है इस प्रकार साधारणधर्म के व्यङ्गय होने के कारण यह व्यङ्गय तुल्ययोगिता है।

अप्पयदीक्षित का मत

अप्पयदीक्षित ने दूसरी तुल्ययोगिता का लक्षण किया है—

'हिताहिते वृत्तितौल्यमपरा तुल्ययोगिता ।'
प्रदीयते पराभूतिर्मित्रशात्रवयोस्त्वया ॥[१४]

इसमे उत्तरार्ध उसका उदाहरण है। जहाँ हित और अहित में अर्थात् मित्र और शत्रु मे समानभाव हो वहाँ द्वितीय तुल्ययोगिता होती है। जैसे उक्त पक्ति मे है—मित्र और शत्रु को समान रूप से पराजित करना। इसी का द्वितीय उदाहरण यह है—

यश्च निम्ब परशुना यश्चैन मधुसर्पिषा ।
यश्चैन गन्धमाल्याद्यैः सर्वस्य कटुरेव स ॥[१५]

इसमे निम्बवृक्ष के छेदक, सेचक, पूजक आदि सबके प्रति समान व्यवहार

१२. रस. पृ. ३२२
१३ रस पृ ३२२
१४. कुव० पृ ५७
१५. कुव० पृ. ५७

होने से तुल्ययोगिता का दूसरा प्रकार है। इसमे वृत्तिनियामक सम्बन्ध[१६] से धर्म का धर्मी मे रहना विवक्षित नही है क्योकि तब कारकदीपक मे अव्याप्ति होगी।[१७]

पण्डितराजकृत खण्डन

पण्डितराज ने अप्पयदीक्षित के द्वारा निरूपित उक्त भेद को अस्वीकार कर दिया है क्योकि तुल्ययोगिता का पहले जो लक्षण किया है 'वर्ण्यानामितरेषा वा धर्मैक्य तुल्ययोगिता'[१८] वही व्याप्त हो जाता है। अर्थात् तुल्ययोगिता के प्रथम प्रकार में ही द्वितीय प्रकार का सङ्ग्रह हो जाता है इसलिये उसे पृथक् भेद नही कहा जा सकता।

'यश्च निम्ब परशुना–' इत्यादि पद्य मे भी कटुत्वगुण रूप धर्म का छेदक सेचक पूजक के साथ समानरूप से अन्वय होने के कारण तुल्ययोगिता का प्रथम लक्षण ही यहाँ सङ्गत हो जाता है। अत द्वितीय प्रकार के भेद को मानना व्यर्थ है।

उपमा-रूपक तथा दीपक-तुल्ययोगिता का भेद

जहाँ प्रकृत-अप्रकृत धर्मियो का गुणादि क्रिया के साथ अन्वय वर्णित हो और वही चमत्कारी हो वहाँ तुल्ययोगिता या दीपक होता है और जहाँ तादृश धर्म के अन्वय के कारण होने वाला सादृश्य या अभेद चमत्कारी हो वहाँ उपमा या रूपक होता है। सभी अलङ्कारो मे सुन्दरता (चमत्कारिता) और उपस्कारकता होना आवश्यक है।

तुल्ययोगिता अथवा दीपक में प्रस्तुत अथवा अप्रस्तुत का अथवा दोनो का एक ही धर्म के साथ अन्वय चमत्कारी होता है और उपमा तथा रूपक मे प्रस्तुत, अप्रस्तुत या उभय के अन्वय से होने वाले सादृश्य या अभेद का चमत्कार होता है।

समवलोकन

तुल्ययोगिता का निरूपण बिल्कुल परम्परा के अनुकूल ही किया गया है, उसमे किसी प्रकार का नावीन्य नही है–अतएव प्राचीन मत पर कही भी आक्षेप नही किया गया है।

---

१६ सम्बन्ध दो प्रकार का होता है—(१) वृत्तिनियामक (२) वृत्त्यनियामक। जिस सम्बन्ध के बल पर किसी की कही पर स्थिति सिद्ध हो वह वृत्तिनियामक सम्बन्ध होता है जैसे सयोगादि। जहाँ इस प्रकार की सिद्धि न हो वहाँ वृत्त्यनियामक सम्बन्ध होता है जैसे कालिक सम्बन्ध।

१७ न चात्र वृत्तिनियामकसम्बन्धेन धर्मिवृत्तित्व विवक्षित धर्मस्य, वक्ष्यमाणकारकदीपकादाव-व्याप्त्यापत्ते। (रस पृ ३२०)

१८. कुव० पृ. ५५

आगे निरूपित किये गये दीपक का अन्तर्भाव इसी मे कर देने मे इसके दो प्रकार और बढ जाते है।

अलङ्कारसर्वस्वकार और अप्पय के दिये हुए लक्षणो का खण्डन करने से यह स्पष्ट ही हो गया है कि पण्डितराज को गुण–क्रियारूप से अतिरिक्त भी समानधर्म स्वीकार है। इसका विशेष रूप से इङ्गित देने के लिये ही अपने लक्षण मे 'आदि' पद का प्रयोग किया है।

उपमालङ्कार के समान ही इसमे भी सादृश्य को लेकर कुछ विचार प्राप्त है।[१९]

दीपक

लक्षण

पण्डितराजकृत लक्षण

पण्डितराज ने दीपक अलङ्कार का लक्षण इस प्रकार किया है—'प्रकृतानामप्रकृताना चैकसाधारणधर्मान्वियो दीपकम्।'[२०] अर्थात् जहाँ प्रकृत और अप्रकृत पदार्थों का एक ही साधारण धर्म के साथ अन्वय हो वहाँ दीपक होता है।

व्युत्पत्ति की दृष्टि से देखा जाय तो भी प्रकृत अर्थ मे जिस साधारण धर्म को लिया जाय वही प्रसङ्गवश अप्रकृत अर्थ को भी प्रकाशित करता है, सुन्दर बनाता है, इसीलिये इसे दीपक कहते है। 'दीप' मे 'कन्' प्रत्यय लगा है जिससे दीपक का अर्थ है 'दीप के समान' दीपक के समान जो अन्दर-बाहर दोनो को प्रकाशित करे वह दीपक अलङ्कार है।[२१]

इसमे भी तुल्ययोगिता के समान औपम्य व्यङ्ग्य रहता है। उदाहरण के लिये—

अमृतस्य चन्द्रिकाया ललितायाश्चापि कवितायाः।
सुजनस्य च निर्माण जनयति नहि कस्य सन्तोषम्॥[२२]

इसमे सन्तोषजनकता रूप धर्म ही सबके साथ अन्वित हो रहा है। अत दीपक अलङ्कार है। इसी प्रकार अन्य अनेक उदाहरण दिये गये है।

कारक दीपक

---

१९. दे, परि क–४

२० रस पृ ३२२

२१. प्रकृतार्थमुपात्तो धर्मं प्रसङ्गादप्रकृतमपि दीपयति प्रकाशयति सुन्दरीकरोतीति दीपकम्। यद्वा दीप इव दीपकम्, सज्ञाया कन्। दीपसादृश्य च प्रकृताप्रकृतप्रकाशकत्वेन बोध्यम्। (रस. पृ ३२२)

२२. रस पृ. ३२३

इसी प्रकार जहाँ अनेक क्रियाओ का एक ही कारक से अन्वय हो वहाँ कारक-दीपक कहलाता है। जैसे--

वसु दातु यशो धातु विधातुमरिमर्दनम् ।
त्रातु च मादृशान् राजन्नतीव निपुणो भवान् ।।[२३]

इसमे धन-दान, आदि अनेक क्रियाओ का 'भवान्' रूप एक ही कर्त्ता (कर्तृ-कारक) से अन्वय हुआ है इसलिये इसमे कारक दीपक है। इसीका एक दूसरा उदाहरण और दिया गया है।

मम्मट का मत

मम्मट ने काव्य-प्रकाश मे दीपक का निरूपण करते हुए कहा है--

सकृद्वृत्तिस्तु धर्मस्य प्रकृताप्रकृतात्मनाम् ।
सैव क्रियासु बह्वीषु कारकस्येति दीपकम् ।।

अर्थात् प्रकृत और अप्रकृत अर्थों के बीच जब एक बार धर्म का ग्रहण किया जाय तो दीपक अलङ्कार होता है और जब वही बहुत सी क्रियाओ के साथ एक कारक का अन्वय रूप होता है तो वह कारक दीपक होता है। इस प्रकार दो प्रकार का दीपक होता है। कारक दीपक का उदाहरण यह है--

स्विद्यति कूणति वेल्लति विवलति निमिषति विलोकयति तिर्यक् ।
अन्तर्नन्दति चुम्बितुमिच्छति नवपरिणया वधू शयने ।।

इसमे वधू के साथ स्विद्यति आदि अनेक क्रियाओ का अन्वय समान रूप से हो रहा है।[२४]

पण्डितराजकृत खण्डन

पण्डितराज ने मम्मट के लक्षण का खण्डन किया है। तत्पश्चात् उसके उदाहरण को भी खण्डित किया है।

(१) उस दीपक के लक्षण मे प्रथमार्ध से ही द्वितीय दीपक (कारक दीपक) का भी सङ्ग्रह हो ही जाता है इसलिये द्वितीय लक्षण व्यर्थ है। क्योकि जैसे अनेक गुणियो का एक रूपधर्म से, अनेक कारको का एक क्रियारूप धर्म से अन्वय होता है वैसे ही अनेक क्रियाओ का एक कारक से भी अन्वय हो ही सकता है।

(२) यह भी नही कहना चाहिये कि यदि क्रियायें केवल प्रकृत ही अथवा केवल अप्रकृत ही हो तब भी एक ही कारक के साथ उनका अन्वय होने पर कारक दीपक होता है और क्रिया से भिन्न गुणी अथवा कारको के गुण अथवा क्रियारूप धर्म

---

२३. रस पृ ३२३

२४. का० प्र० पृ ३८०–८१ (मम्मट का उक्त सम्पूर्ण मत)

का उपादान होने पर दीपक तब होगा जब वह गुणी और कारक प्रस्तुत और अप्रस्तुत दोनो हो। अर्थात् कारक दीपक मे क्रियाओ का प्रस्तुताप्रस्तुतोभय होना आवश्यक नही है और दीपक मे वह आवश्यक है इस प्रकार दोनो लक्षणो का समन्वय हो जाता है, क्योकि ऐसा कहने से कारक तुल्ययोगिता का कोई स्थान नही रह जायेगा और साथ ही सब आलङ्कारिको के सिद्धान्त के भी विरुद्ध हो जायेगा।

(३) दोनो लक्षणो को सिद्ध करने के लिये कोई युक्ति भी नही है।

(४) 'अन्यतर' को सामान्य लक्षण कहने मे गौरव होगा।

उदाहरण का खण्डन इस प्रकार किया है--

(१) 'स्विद्यति कूणति-' इत्यादि उदाहरण मे सभी क्रियाएँ प्रकृत ही हैं अतः यहाँ कारक दीपक नही हो सकता।

(२) दूसरे, दीपक और तुल्ययोगिता मे औपम्य गम्य रहता है--यह सभी ने स्वीकार किया है। इस उदाहरण मे उस प्रकार का औपम्य प्रतीत नही होता। अतः इस उदाहरण मे समुच्चय अलङ्कार की छाया माननी चाहिये।

मम्मटकृत लक्षण और उसके उदाहरण का खण्डन करने के पश्चात् पण्डितराज ने जयरथ के भी एक उदाहरण का खण्डन किया है।[२५]

दीपकालङ्कार के भेद

साधारण धर्म के आधार पर

दीपक अलङ्कार दो प्रकार का होता है—(क) केवलानुगामी साधारण धर्म से युक्त और (ख) बिम्बप्रतिबिम्बभावापन्न साधारण धर्म से युक्त। इसमे से प्रथम प्रकार के उदाहरण के रूप मे यह पद्य लिया जा सकता है—

सुजना परोपकार शूरा शस्त्र धन कृपणा.।
कुलवत्यो मन्दाक्ष प्राणात्यय एव मुञ्चन्ति ।।[२६]

द्वितीय प्रकार का उदाहरण यह है—

'शीलभारवती कान्ता पुष्पभारवती लता।
अर्थभारवती वाणी भजते कामपि श्रियम् ।।'[२७]

अथवा—

'लता कुसुमभारेण शीलभारेण सुन्दरी।
कविता चार्थभारेण श्रयते कामपि श्रियम् ।।'[२८]

---

२५ रस पृ. ३२५
२६ रस पृ. ३२३
२७. रस पृ ३२७
२८. रस. पृ ३२७

इन उदाहरणो मे यदि लतादि मे से कुछ प्रकृत और कुछ अप्रकृत हो तो दीपक अलङ्कार और यदि सब केवल प्रकृत या केवल अप्रकृत हो तो तुल्ययोगितालङ्कार होगा ।

साधारण धर्म के स्थान के आधार पर

दीपक अलङ्कार के पुन तीन भेद हो सकते है—(१) जहाँ गुण क्रिया आदि साधारण धर्म का कथन आरम्भ मे हो, (२) जहाँ गुण क्रिया आदि साधारण धर्म का कथन मध्य मे हो और (३) जहाँ गुण क्रिया आदि साधारण धर्म का कथन अन्त मे हो । तीनो के उदाहरण क्रमश इस प्रकार है—

(१) न भाति रमणीयोऽपि वैराग्येण विना यति ।
वैदुष्येण विना विप्रो नरलोकस्त्वया विना ॥[२९]

(२) लावण्येन प्रमदा मदातिरेकेण वारणाधिपति ।
भाति विभवेन भवकान् राजन्भवता च वसुमतीवलयम् ॥[३०]

(३) आखण्डेलन नाक कुण्डलिकुलकुण्डलेन पातालम् ।
नरमण्डन रिपुखण्डन भवता भूमण्डल विभातितमाम् ॥[३१]

तीनो पद्यो मे क्रमशः 'भाति' धर्म का आरम्भ, मध्य और अन्त मे उपादान हुआ है ।

माला-दीपक

जहाँ उत्तरोत्तर दीपक पूर्व-पूर्व दीपक का उपस्कारक हो वहाँ माला दीपक होता है । इसमे अनेक दीपक होते हैं तथा बाद-बाद मे आने वाला दीपक क्रमश पहले पहले आने वाले दीपक का उपस्कार करता है । जैसे—

आस्वादेन रसो रसेन कविता काव्येन वाणी तया
लोकान्तःकरणानुरागरसिक सभ्य सभा चामुना ।
दारिद्र्यानलदह्यमानजगतीपीयूषधाराधर !
क्षोणीनाथ ! तया भवाश्च भवता भूमण्डल भासते ॥[३२]

मालादीपक को पण्डितराज ने प्राचीन परम्परा के अनुरोध मात्र से उदाहृत कर दिया है । वास्तव मे, उनके मत से मालादीपक सम्भव ही नही है क्योकि इसमे कही सादृश्य का लेश भी नही है । अत मालादीपक तो दीपक ही नही है । उक्त उदाहरण भी एकावली का ही प्रभेद है ।

इसी प्रकार ऊपर साधारण धर्म के स्थान के आधार पर जो भेद दिखाये गये हैं वह भी पण्डितराज को स्वीकार्य नही है क्योकि उस स्थान भेद से किसी

२९, ३०, ३१. रस. पृ. ३२७
३२. रस. पृ ३२८

प्रकार चमत्कार मे कोई अन्तर नही आता। यदि इस प्रकार के भेदो को स्वीकार किया जाय तब तो यह तीन ही नही अपितु आरम्भ के निकट, मध्य के निकट, अन्त के निकट इत्यादि रूप से और भी अनेक भेद हो सकते है।

तुल्ययोगिता और दीपक मे अभेद

पण्डितराज का कहना है कि दीपक और तुल्ययोगिता को वास्तव मे पृथक्-पृथक् अलङ्कार मानना अनुचित है। क्योकि उन दोनो मे एक ही साधारण धर्म का अन्वय होना समान रूप से विद्यमान रहता है और वही उनके चमत्कार का कारण भी है। जब हेतु एक है तो उसका कार्य चमत्कार भी समान ही होगा। और जब चमत्कार मे कोई वैलक्षण्य नही है तो अलङ्कारो को भी पृथक् मानना अनुचित है। विच्छित्ति भेद से ही अलङ्कार भेद होता है।

यद्यपि धर्मियो का प्रकृताप्रकृतोभयत्व और केवल प्रकृतत्व अथवा अप्रकृतत्व दीपक और तुल्ययोगिता के भेदक बताये गये है परन्तु वह इतने अधिक महत्त्वशाली नही है कि उन्हे स्वतन्त्रता प्रदान कर सके। दूसरे, यदि इस अन्तर को स्वीकार कर लिया जाय तो तुल्ययोगिता मे भी दो अलङ्कारो को मानना पडेगा। (१) जहाँ सब धर्मी प्रकृत हो और (२) जहाँ सबधर्मी अप्रकृत हो।

तुल्ययोगिता मे विवक्षितरूप से औपम्य की प्रतीति होती है और दीपक मे वास्तविक औपम्य की प्रतीति होती है। अर्थात् दीपक मे उपमान और उपमेय प्रकृत और अप्रकृत रूप होते हैं (उपमान के अप्रकृत और उपमेय के प्रकृत होने पर औपम्य होता है—यह प्रसिद्ध नियम है।) अतः औपम्य वास्तविक होता है और तुल्ययोगिता मे उसका अभाव होने से वह विवक्षित होता है।—यह कह कर भी दोनो अलङ्कारो को पृथक्-पृथक् स्थिर नही किया जा सकता क्योकि उपमान और उपमेय क्रमश. अप्रकृत और प्रकृत ही होते हैं इसमे कोई प्रमाण नही है। एव च, यह नियम मान भी लिया जाय तो 'खमिव जल जलमिव खम्' इत्यादि उपमेयोपमा मे तथा 'मुखमिव चन्द्र' इत्यादि प्रतीप मे औपम्य की प्रतीति दुष्कर होगी। प्रतीप मे तो प्रकृत उपमान और अप्रकृत ही उपमेय होता है।

अतएव दीपक को पृथक् अलङ्कार न मानकर तुल्ययोगिता को ही तीन प्रकार का मानना चाहिये—(१) प्रकृत धर्मियो के साथ एक धर्म का अन्वय होने पर, (२) अप्रकृतधर्मियो के साथ एक धर्म का अन्वय होने पर और (३) प्रकृताप्रकृतोभय धर्मियो के साथ एक धर्म का अन्वय होने पर।

दीपक मे तुल्ययोगिता का अन्तर्भाव इसलिये करना उचित नही होगा क्योकि तुल्ययोगिता के प्रकारो मे दीपक की व्युत्पत्ति– 'दीप इव दीपक' (सज्ञाया कन्)

सङ्गत नही होगी। इसलिये दीपक को तुल्ययोगिता मे अन्तर्भूत करना ही उचित है।

इसी आधार पर नवीन आलङ्कारिक भी यह कहते हैं कि इन दोनो को पृथक्-पृथक् अलङ्कार मानना प्राचीन आलङ्कारिको का दुराग्रह मात्र ही है।

दीपक व तुल्ययोगिता के दोष

दीपक और तुल्ययोगिता के कुछ दोष बताते हैं—जब इन दोनो अलङ्कारो मे क्रियादिरूप धर्म का एक ही रूप से धर्मियो के साथ अन्वय नही होता तो वह दोष होता है। अर्थात् धर्मियो मे (गुणी अथवा कारको मे) धर्म का (गुण अथवा क्रियादि का) एक रूप से (समान रूप से) जो अन्वय नही होता है, अर्थात् एकवचन, द्विवचन, लिङ्ग आदि का भेद होने से सभी धर्मियो मे एक रूप से अन्वय यदि नही हो तो दोष होता है।) जैसे पूर्वोक्त पद्य मे ('आस्वादेन रसो–'[33] इत्यादि पद्य मे) 'रसिका सामाजिकास्तै सभा' ऐसा कर दिया जाय तो एकवचनान्त धर्मियो के साथ एक ही रूप से अन्वय होने पर भी सामाजिको के साथ अन्वय नही होता। (अर्थात् बहुवचनान्त कारक के साथ 'भासते' इस एकवचनान्त क्रिया की सङ्गति नही होती।)

इसी प्रकार जहल्लिङ्गनामार्थ (ऐसा शब्द जिसका लिङ्ग निश्चित न हो) रूप धर्म की सकृद्वृत्ति होने पर (धर्मियो मे) लिङ्गभेद भी दोष होता है। जैसे—

जगति नरजन्म तस्मिन् वैदुष्य तत्र सत्कविता।
कविताया परिणामो दुष्प्राप पुण्यहीनेन॥[34]

इसमे यदि 'तपसा नाल्पेन शक्यते लब्धुम्' इस प्रकार आख्यातान्त कर दे तब लिङ्गभेद दोष नही होगा। इसी प्रकार जहल्लिङ्गनामार्थ की एक बार वृत्ति होने पर भी दोष नही होगा। जैसे 'फलमतिशयित तपस्याया.' इस प्रकार चतुर्थचरण का निर्माण कर देने पर।

इसी प्रकार पुरुष का एक न होना भी दोष होता है। जैसे

दिवि सूर्यो भुवि त्व च पाताले पन्नगाग्रणी।
दिक्षु दिक्पालवर्गश्च राजपुङ्गव राजते।[35]

इसी मे यदि त्व के स्थान पर भवान् कर दिया जाय तो दोष नही रहेगा। (त्व— मध्यम पुरुष का राजते—अन्य पुरुष के साथ अन्वय न होने से दोष है।)

इसी प्रकार काल भेद होने पर भी दोष होता है।

---

३३ रस पृ २२१
३४. रस. पृ ३२८
३५. रस पृ ३२९

समवलोकन

अलङ्कार के आद्योपान्त विशद विवेचन के परिशीलन से यह निस्सन्दिग्ध हो जाता है कि, पण्डितराज को दीपक अलङ्कार की स्वतन्त्र सत्ता मान्य नही है अपितु तुल्ययोगिता के एक भेद के रूप मे ही उसे स्वीकार किया है।

स्वीकृत न होने से, दीपक के विषय मे जो भी विचार किया गया है वह परम्परानुरूप ही है। प्राचीनानुरोध से इसका विवेचन होने पर भी उसमे दोष दर्शन से जगन्नाथ विरत नही हुए है। अपने ही पूज्य मम्मट के मत का खण्डन किया है। इससे यही प्रतीत होता है कि पूर्वाचार्यों के द्वारा स्वीकृत होने के कारण यदि किसी अलङ्कार को पण्डितराज ने स्वीकार किया भी है तो अपनी प्राञ्जल बुद्धि से उसे परिमार्जित करके ही।

निदर्शना

लक्षण

पण्डितराजकृत लक्षण --

निदर्शना का लक्षण इस प्रकार है---

'उपात्तयोरर्थयोरार्थभेद औपम्यपर्यवसायी निदर्शना।[३६]

अर्थात् शब्दत उपात्त दो अर्थों मे अन्तत औपम्य मे पर्यवसित होने वाला आर्थ अभेद ही निदर्शना है।

अतिशयोक्ति मे रहने वाले और व्यङ्ग्य रूपक मे रहने वाले अभेद मे निदर्शना की असङ्गति के लिये 'उपात्तयो' विशेषण दिया है। अतिशयोक्ति आदि मे आर्थ अभेद तो अवश्य रहता है परन्तु उपमेय का शब्दत कथन नही रहता।

वाच्य रूपक का वारण 'आर्थ' पद से हो जाता है। अर्थात् रूपक मे भी दो पदार्थों का औपम्यपर्यवसायी अभेद रहता है किन्तु वह आर्थ नही होता वाच्य होता है। 'आर्थ' का तात्पर्य है प्रथम बोध का विषय न होना।

विशिष्टोपमा मे इसको अव्याप्त करने के लिये 'बिम्बप्रतिबिम्बभाव से युक्त' विशेषण दे देना चाहिये। अर्थात् विशिष्टोपमा मे दो अर्थों मे बिम्बप्रतिबिम्ब भाव नही रहता निदर्शना घटक पदार्थों मे वह बिम्बप्रतिबिम्ब भाव होना आवश्यक है।

यह लक्षण श्रौती अर्थात् शाब्दी निदर्शना का लक्षण है। यही निदर्शना तब आर्थी होती है जब दो व्यवहारो से युक्त दो धर्मियो की अभेद प्रतिपत्ति से दो व्यवहारो का अभेद आक्षिप्त हो।

---

३६. रस पृ ३३६

शाब्दी निदर्शना के उदाहरण के लिये—

त्वामन्तरात्मनि लसन्तमनन्तमज्ञा-
स्तीर्थेषु हन्त मदनान्तक शोधयन्त ।
विस्मृत्य कण्ठतटमध्यपरिस्फुरन्त
चिन्तामणि क्षितिरज सु गवेषयन्ति ।।[३७]

यहाँ 'तुमको अन्यत्र खोजना' और 'कण्ठ' मे स्थित चिन्तामणि को धूलि-कणो मे खोजना वास्तव मे अभिन्न है—इस प्रकार का आर्थ अभेद का बोध होता है। इस अभेद का पर्यवसान इसी मे होता है कि दोनो गवेषणो मे सादृश्य है। अत. यहाँ निदर्शना है।

इसी प्रकार एक दूसरा उदाहरण भी दिया है। शाब्दी और आर्थी के समान ही निदर्शना वाक्यार्थगता और पदार्थगता भी होती है। एक या अनेक वाक्यो मे रहने वाला तादृश अभेद वाक्यार्थ निदर्शना का विषय होता है और पदार्थो मे रहने वाला तादृश अभेद पदार्थ निदर्शना का।

वाक्यगा निदर्शना का उदाहरण उपर्युक्त पद्य ही है क्योकि उसमे सम्पूर्ण वाक्य का दूसरे वाक्य के साथ आर्थ अभेद है।

पदार्थगा निदर्शना का उदाहरण यह है--

अगण्यैरिन्द्राद्यैरिह परमपुण्यै. परिचितो
जगज्जन्मस्थानप्रलयरचनाशिल्पनिपुण ।
प्रसर्पत्पीयूषाम्बुधिलहरिलीलाविलसितो
दृगन्तस्ते मन्द मम कलुषवृन्द दलयतु ।।[३८]

इसमे दृगन्तलीला और अम्बुधि लहरिलीला मे आश्रय भेद के कारण भिन्नता होने पर भी सादृश्य पर आधारित अभेद है। अथवा यह कह सकते हैं कि दृगन्त मे लहरिलीला का आरोप किया गया है। इसी प्रकार अन्य उदाहरण भी दिये गये हैं।

पदार्थ निदर्शना मे केवल उपमान और उपमेय मे साधारण धर्मकृत आर्थ अभेद की प्रतीति होती है सम्पूर्ण वाक्य मे नही।

यह दोनो ही उदाहरण प्रकृत और अप्रकृत अर्थों मे कोई सम्बन्ध न होने पर भी कवि के द्वारा सम्बन्ध की कल्पना से युक्त हैं।

ऐसी भी निदर्शना होती है जहाँ अप्रकृत और प्रकृत अर्थों मे वास्तविक सम्बन्ध होता है जैसे—

चूडामणिपदे धत्ते योऽम्बरे रविमागतम् ।
सता कार्यातिथेयीति बोधयन्गृहमेधिन. ।।[३९]

---

३७ रस पृ ३४०
३८ रस पृ ३४१
३९. रस पृ ३४५

इसमे 'बोधयत् धत्ते' इससे कर्त्ताओ का अभेद शब्दत उक्त हो गया है तथापि 'शिरसा रविधारण गृहमेधिकर्मकबोधनाभिन्नम्' इस प्रकार से क्रियाओ का अभेद आर्थ ही है। तथा औपम्य मे पर्यवसान भी होता है अतः निदर्शना है।

इस उदाहरण मे निदर्शना ही है अन्य अलङ्कार नही इसका विस्तार से विचार किया है। विचार व्याकरण प्रधान है।[४०] एव उसी के अनुसार मम्मट के द्वारा मानी गयी निदर्शना के दूसरे प्रकार का लक्षण और उदाहरण भी समर्थन मे दे दिया गया है।[४१]

वाक्यार्थ व पदार्थ निदर्शना पर विचार

वाक्यार्थ निदर्शना मे कर्तृवाचक पदो का अभेद शब्दत उपात्त रहता है। जैसे 'शोधयन्त गवेषयन्त' इत्यादि पूर्वोक्त स्थल मे शोधनक्रियाविशिष्ट और गवेषण-क्रियाविशिष्ट का भी शब्द से निर्देश है। विशिष्ट का ग्रहण होने से विशेषण का भी ग्रहण हो जाता है अत शोधन क्रिया के साथ गवेषण क्रिया का भी अभेद होता है –यह समझा जा सकता है। परन्तु पदार्थनिदर्शना मे तो उपमानोपमेय मे से एक का ही उपादान होता है। जैसे––'अगण्यैरिन्द्राद्यैरिह–' इत्यादि मे दृगन्त लीला अम्बधिलीला मे से केवल एक लीला का ही उपादान हुआ है। अत. पदार्थनिदर्शना मे दोनो का उपादान न होने से उक्त निदर्शना के लक्षण का अन्वय नही होता।–ऐसा यदि कहे तो उचित नही है। क्योकि पदार्थनिदर्शना मे भी लीलात्वेन दोनो का उपादान समझना चाहिए।

उपात्त होने का तात्पर्य यह तो है नही कि उपमान या उपमेय के विशेष विशेष रूपो के साथ ही कथन हो। अत उस दृष्टि से भी यहाँ उपादान का अभाव नही समझना चाहिए।

अथवा यह भी किया जा सकता है कि निदर्शना का जो लक्षण कहा गया है वह वाक्यार्थ निदर्शना का ही लक्षण माना जाय और पदार्थ निदर्शना का लक्षण यह हो–'उपमान और उपमेय मे से किसी एक के धर्म का दूसरे के ऊपर आरोप हो तो पदार्थ निदर्शना होगी।[४२]

इस प्रकार की व्यवस्था से भी वाक्यार्थनिदर्शना का रूपक की ध्वनि मे और पदार्थनिदर्शना का अतिशयोक्ति मे अन्तर्भाव हो जायेगा—ऐसा नही कहना चाहिये। क्योकि वाक्यार्थ निदर्शना मे अभेद यद्यपि होता है तथापि वह गौण होता है और रूपक की ध्वनि मे अभेद प्रधान होता है अत दोनो मे विलक्षणता है। यदि इस

४० दे० परि. ख-१६

४१ रस पृ ३४५ का० प्र० पृ ३६८

४२. यद्वा प्रागुक्तलक्षण वाक्यार्थनिदर्शनाया एव, न पदार्थनिदर्शनाया अस्यास्तु उपमानोपमेय-योरन्यतरधर्मस्यान्यतरस्मिन्नारोपो लक्षणमस्तु। (रस पृ ३४१–३४२)

प्राधान्य अप्राधान्य के भेद को स्वीकार नही किया जायेगा तो रूपक मे अप्रधान रूप से रहने वाली उपमा के द्वारा भी रूपक का अन्तर्भाव हो जायेगा।

रूपक ध्वनि और निदर्शना का दूसरा भेद यह है कि निदर्शना मे दोनो पदार्थों का परस्पर अभेद रहता है (दोनो का एक दूसरे पर आरोप होता है) और रूपक मे उपमेय मे उपमान का ही आरोप रहता है।

इसी प्रकार पदार्थनिदर्शना और अतिशयोक्ति मे भी विलक्षणता है क्योकि पदार्थनिदर्शना मे निगरण नही रहता और अतिशयोक्ति मे निगरण रहता है।

इत्थप्रकारेण रूपक और अतिशयोक्ति से निदर्शना का पार्थक्य स्पष्ट है।

अलङ्कार-सर्वस्वकार का मत

निदर्शना का लक्षण इस प्रकार है—'सम्भवता, असम्भवता वा वस्तुसम्बन्धेन गम्यमानमौपम्य निदर्शना'[४३] अर्थात् दो वस्तुओ के सम्भव और असम्भव सम्बन्ध के द्वारा जब औपम्य की प्रतीति हो तो निदर्शना होती है।

तथा वाक्यार्थ निदर्शना का उदाहरण यह है—

त्वत्पादनखरत्नाना यदलक्तकमार्जनम्।
इद श्रीखण्डलेपेन पाण्डुरीकरण विधो ॥[४४]

यहाँ दृष्टान्त अलङ्कार नही मानना चाहिये क्योकि जहाँ प्रकृत वाक्यार्थ मे अप्रकृत वाक्यार्थ का समानाधिकरण्य से आरोप होता है वहाँ सम्बन्धानुपपत्तिमूला निदर्शना कहना ही उचित है (दृष्टान्त नही)।

अर्थात् उक्त पद्य मे वास्तव मे वाक्यार्थ निदर्शना ही है परन्तु कुछ लोग इसमे दृष्टान्त मानते है। दृष्टान्त मानना अनुचित इसलिये है कि उसमे निरपेक्ष वाक्यार्थों का ही बिम्बप्रतिबिम्ब भाव रहता है सापेक्ष रूप से (समानाधिकरण से) नही।[४५]

पण्डितराजकृत खण्डन

(१) रूपक और अतिशयोक्ति मे इस लक्षण की अतिव्याप्ति होती है इसलिये यह लक्षण दूषित है।

(२) उक्त उदाहरण भी उचित नही है क्योकि इस प्रकार वाक्यार्थरूपक का कोई स्थान नही रह जायेगा। क्योकि एक वाक्यार्थ का दूसरे वाक्यार्थ पर आरोप ही उस रूपक का लक्षण है।

---

४३. अ० स० पृ. १२२

४४. रस पृ. ३४२

४५. केचित्तु दृष्टान्तालङ्कारोऽयमाहु। तदसत्। निरपेक्षयोर्वाक्यार्थयोर्हि बिम्बप्रतिबिम्बभावे दृष्टान्त। यत्र तु प्रकृते वाक्यार्थे वाक्यार्थान्तरमारोप्यते सामानाधिकरण्येन तत्र सम्बन्धानुपपत्तिमूला निदर्शनेव युक्ता, न दृष्टान्त। (अ० स० पृ १२५)

(३) इष्टापत्ति भी नही की जा सकती क्योकि उसके विपरीत यह भी कहा जा सकता है कि केवल वाक्यार्थ रूपक को ही मान लिया जाय वाक्यार्थ निदर्शना को उसमे गतार्थ कर दिया जाये।

(४) पदार्थ रूपक मे—'मुख चन्द्र' इत्यादि मे श्रौत अभेदारोप मानना अनिवार्य ही है, अत वही अभेदारोप रूपक का प्राण है—यह मानना ही युक्ति सङ्गत है और पदार्थ निदर्शना मे—'इन्दुशोभा वहत्यास्यम्' इत्यादि–उस अभेदारोप का अभाव है। अत· जहाँ रूपक का प्राण ही नही है वहाँ रूपक मानना उचित नही है।

यदि यह कहे कि रूपक मे बिम्बप्रतिबिम्ब भाव नही होता अत. रूपक और निदर्शना मे विलक्षणता है—तो यह भी केवल शपथ मात्र है अर्थात् कथन मात्र ही है, वास्तविकता नही क्योकि उसमे कोई प्रमाण नही है और दूसरे वाक्यार्थनिदर्शना का स्वतन्त्र स्थल भी हमारे द्वारा उदाहृत कर दिया गया है।

(५) जिनकी दृष्टि मे 'त्वत्पादनख०–' इत्यादि मे दृष्टान्त अलङ्कार है उनका मत भी अनुचित है क्योकि बिम्बप्रतिबिम्बभाव से युक्त पदार्थों से बने हुए दो वाक्यार्थों के निरपेक्ष होने पर ही दृष्टान्त होता है।

अत सिद्धान्त यह स्थिर होता है कि 'त्वत्पादनख–' इत्यादि मे वाक्यार्थ निदर्शना भी नही है और दृष्टान्त भी नही है अपितु वाक्यार्थ रूपक ही है।

यदि इसी पद्य को इस प्रकार कर दिया जाय—

त्वत्पादनखरत्नानि यो रञ्जयति यावकै.।
इन्दु चन्दनलेपेन पाण्डुरीकुरुते हि स ॥[४६]

तब निदर्शना का उदाहरण बन जायेगा।

अप्पयदीक्षित का मत

निदर्शना का लक्षण और उदाहरण यह है—

वाक्यार्थयो सदृशयोरैक्यारोपो निदर्शना।
यद्दातुः सौम्यता सेय पूर्णेन्दोरकलङ्कता॥

अर्थात् दो समान वाक्यो का ऐक्यारोप (दोनो मे अभेद) ही निदर्शना है जैसे उक्त उत्तरार्द्ध मे।[४७]

पण्डितराजकृत खण्डन—

अप्पय दीक्षित का दिया हुआ लक्षण भी अनुचित है क्योकि वह वाक्यार्थ रूपक मे ही गतार्थ हो जाता है। इसके लिये विस्तृत युक्तियाँ वही है जो रुय्यक के मत के खण्डन मे कही गयी है।[४८]

---

४६ रस पृ ३४४

४७ कु० पृ. ६६

४८ तन्मतदूषणेनैव निवेदितरहस्यमिति न पुनराकुलीक्रियते। (रस पृ ३४३)

समवलोकन

निदर्शना के लक्षण मे यह स्पष्ट ही दिखाई देता है कि पण्डितराज ने मम्मट का ही अनुसरण किया है। दोनो के लक्षणो मे शब्दो का ही भेद है, तात्पर्य का भेद नही है।

मम्मट का लक्षण है—'अभवन्वस्तुसम्बन्ध उपमापरिकल्पक ।'[४९] अर्थात् वस्तुओ का ऐसा सम्बन्ध जो आपाततः अनुपपन्न हो किन्तु अन्त मे उपमा मे पर्यवसित हो जाये, निदर्शना कहलाता है।

पण्डितराज के लक्षण मे 'आर्थ अभेद' और 'औपम्यपर्यवसायी' यह दो विशेषण मम्मट के ही 'अभवन्' और 'उपमापरिकल्पक' का अनुमोदन करते हैं।

इस अलङ्कार मे वाक्यार्थ-निदर्शना और पदार्थ-निदर्शना का जो सूक्ष्म विश्लेषण किया गया है वह पण्डितराज की ही सूक्ष्मतत्त्वालोचनदक्ष दृष्टि की देन है मम्मटादि पूर्वाचार्यों का इसकी ओर ध्यान नही गया था।

प्रकृत अलङ्कार के निरूपण मे एक बडा दोष यह है कि इसका निरूपण अपने मे पूर्ण नही है। उसकी पूर्णता के लिये ललितालङ्कार को भी देखना अनिवार्य हो जाता है।

अप्पयदीक्षित के लक्षण को अनुचित कहना कहाँ तक युक्तिपूर्ण है—यह विचारणीय है क्योकि यद्यपि दीक्षितजी ने अभेद का विशेषण 'आर्थ' दिया नही है परन्तु इसका अर्थ यह लेना कि वह शाब्द है—ठीक नही है। अप्पय दीक्षित ने कुवलयानन्द मे जितने भी उदाहरण दिये हैं उन सभी मे वह आर्थ है। अत ऐसा प्रतीत होता है कि उनके आर्थ या शाब्द कुछ न कहने से पण्डितराज को इस बात का अवसर मिल गया कि वह अपने मनोरथ के अनुसार दीक्षित का यथेच्छ खण्डन करे। अस्तु—वह खण्डन यथावत् स्वीकार्य नही है। अपितु विचारणीय है।

व्यतिरेक

लक्षण

पण्डितराजकृत लक्षण

उपमानादुपमेयस्य गुणविशेषवत्त्वेनोत्कर्षो व्यतिरेक ।[५०]

अर्थात् किसी गुणविशेष से युक्त होने के कारण उपमेय का उपमान से उत्कर्ष व्यतिरेक है। अर्थात् उपमेय मे जब कोई ऐसा गुण हो जिसका उपमान मे अभाव हो और उपमेय उपमान से उत्कृष्ट सिद्ध होता हो तो व्यतिरेक अलङ्कार होता है। उपमेय मे विद्यमान गुण का उपमेय मे अभाव रहने से जो उपमेयोपमान मे अन्तर (भेद) रहता है वही व्यतिरेक का सार है। इसी से यह अलङ्कार उपमेयोपमान के

४९. का० प्र० पृ ३६८
५०. रस. पृ ३४६

भेद का ही प्रधान रूप से वर्णन करता है, अभेद का या सादृश्य का नही। और यह भेद वैधर्म्यपरक ही है।

इस लक्षण मे दिये गये विशेषणो का विशेष प्रयोजन इस प्रकार है—

'गुणविशेषवत्त्वेन' पद से प्रतीप आदि अलङ्कारो का निवारण हो जाता है। 'गुणविशेषवान्' कहने से विवक्षा यह है कि उपमेय मे कोई गुण ऐसा हो जो उपमान मे न हो। उसके कारण ही दोनो का भेद जो वास्तव मे वैधर्म्यपरक है, व्यतिरेक का प्रयोजक है। प्रतीप अलङ्कार मे उपमेय मे उपमानतामात्र होना ही वैधर्म्य का कारण होता है वैधर्म्ययुक्तता नही। प्रतीप मे उपमानोपमेय मे साधर्म्य ही रहता है जिससे वहाँ सादृश्य की स्थिति रहती है। परन्तु व्यतिरेक मे उस प्रकार सादृश्य रहता ही नही क्योकि उपमानोपमेय मे वैधर्म्य रहता है साधर्म्य नही। इसमे उपमानोपमेय एक तुला पर आरूढ नही हो सकते।

उपमान से उपमेय का उत्कृष्टतर होना मात्र अथवा उपमान का अपकर्ष मात्र ही व्यतिरेक का स्वरूप नही है क्योकि जब तक उपमान के अपकर्ष और उपमेय के अधिकगुणवत्त्व से यह आक्षिप्त न हो कि उपमेय उपमान से उत्कृष्टतर है तब तक उसमे कोई सौन्दर्य अर्थात् चमत्कार नही होता। अर्थात् उपर्युक्त वैधर्म्य से जिस अतुलनीयता की प्रतीति होती है उतने मात्र मे इस अलङ्कार की चमत्कृति विश्रान्त नही होती। उस अतुलनीयता से जब यह आक्षिप्त होता है कि उपमेय उपमान से अधिक ऊँचा है तब ही उससे चमत्कार होता है।

केवल सादृश्याभाव को व्यतिरेक मानने पर उपमान के उपमेय से उत्कृष्टतर होने पर भी व्यतिरेक हो जायेगा। परन्तु इस प्रकार का सादृश्याभाव अनुभवतः चमत्कारी नही होता। इसलिये इसे व्यतिरेक नही कहते। इसी आशय से मूल लक्षण मे 'उपमानादुपमेयस्योत्कर्ष' पद दिया गया है।

इसका उदाहरण इस प्रकार है--

अनिश नयनाभिरामया रमया सम्मदिनो मुखस्य ते।
निशि निस्सरदिन्दिर कथं तुलयाम' कलयापि पङ्कजम्॥ ५१

इसका अर्थ इस प्रकार है कि नेत्रो मे रमणीय शोभा रहने के कारण, जो तुम्हारा मुख सदा हर्षयुक्त रहता है, उसकी, रात्रि मे शोभाहीन हो जाने वाले कमल के साथ अशमात्र भी कैसे तुलना करे? यहाँ मुख और कमल मे मुख रूप उपमेय का उपमान से अधिक उत्कर्ष है। उस उत्कर्ष का कारण है कमल मे सदा शोभा का न रहना। अतएव उपमेय के उत्कर्ष से विशिष्ट सादृश्याभाव यहाँ वर्णित है जिससे यहाँ व्यतिरेक अलङ्कार है।

---

५१ रस पृ ३४७

व्यतिरेक के भेद

पण्डितराजकृत व्यतिरेक के भेद

व्यतिरेक तीन प्रकार का होता है---

(१) जहाँ सादृश्य का निषेध शाब्द हो और उपमेय का उत्कर्ष तथा उपमान का अपकर्ष आक्षिप्त हो ।

(२) जहाँ उपमेय का उत्कर्ष शाब्द हो और उपमान का अपकर्ष तथा सादृश्य का निषेध आक्षिप्त होता हो ।

(३) जहाँ उपमान का अपकर्ष शाब्द हो और उपमेय का उत्कर्ष और सादृश्य का निषेध आक्षिप्त हो ।

इसके अतिरिक्त कही-कही तीनो ही आक्षिप्त भी होते है । और कही तीनो शाब्द भी होते हैं---

उदाहरण के लिये---

निशाकरादालि कलङ्कपङ्किलाद्गुणाधिक निर्मलमानन ते ।
अनल्पमाधुर्यकिरोऽधरादिमा गिरोऽधरा गुप्तरसाः कवीनाम् ।।[५२]

इसके प्रथमार्ध मे उपमेयोत्कर्ष शाब्द है और उपमानापकर्ष और सादृश्याभाव आक्षिप्त है । तथा द्वितीयार्थ मे उपमानापकर्ष शाब्द है उपमेयोत्कर्ष और सादृश्याभाव आक्षिप्त है ।

जहाँ तीनो ही आक्षिप्त होते हैं उसका उदाहरण यह है---

अपारे किल ससारे विधिनैकोऽर्जुन कृत ।
कीर्त्या निर्मलया भूप त्वया सर्वेऽर्जुना कृता ।। [५३]

इसमे उपमान विधि के अर्जुनीकरण आदि विशेषणो से ही उपमेयोत्कर्ष, उपमानापकर्ष और सादृश्याभाव का आक्षेपण ज्ञान होता है । इसमे व्यतिरेक को व्यङ्ग्य इसलिये नही कह सकते क्योकि जब तक व्यतिरेक का अर्थात् उपमेय के उत्कर्ष का ज्ञान नही हो जाता तब तक उपमानादि के विशेषणो का समन्वय ही नही होता । एव च अनुपपत्ति के कारण जिस अर्थ का ज्ञान होता है वह व्यङ्ग्यार्थ नही होता अपितु आक्षिप्त अर्थ होता है । कवि को राजा की स्तुति मात्र ही विवक्षित होती तो विधि के विभिन्न विशेषणो को दिये बिना ही वह उस अर्थ को कह सकता था । अतः उन विशेषणो की सिद्धि तभी होती है जब व्यतिरेक का ज्ञान हो । तीनो शाब्द होने पर विशेष चमत्कार नही होता अतः उसका उदाहरण नही दिया गया है ।

---

५२. रस पृ. ३५१
५३. रस पृ ३५१

सादृश्यगर्भित होने से साधारण धर्म के त्रिविध प्रकारो के आधार पर भी व्यतिरेक के तीन भेद हो सकते हैं । वह है–(१) अनुगामी धर्म से युक्त, (२) विम्ब-प्रतिबिम्बभाव से युक्त धर्म वाला और (३) वस्तुप्रतिवस्तुभाव से युक्त धर्म वाला । प्रथम प्रकार-का उदाहरण यह है —

अरुणमपि विद्रुमद्रु मृदुलतर चापि किसलय बाले ।
अधरीकरोति नितरा तवाधरो मधुरिमातिशयात् ।। [५४]

इसमे आरुण्य और मृदुता यह दोनो धर्म अनुगामी है ।

द्वितीय प्रकार का उदाहरण यह है—

'जलज ललितविकास सुन्दरहास तवानन हसति ।।' [५५]

इसमे हास और विकास का बिम्बप्रतिबिम्ब भाव है ।

इसी प्रकार तृतीय भेद को भी समझ लेना चाहिये । अन्य अलङ्कारो से उत्थापित भी यह सम्भव है । उसके भी उदाहरण दिये गये है ।

जहा उपमान के विशेषणो को कहे बिना ही उपमेय की विशेषताओ से ही किसी विशेष गुण के कारण उपमान से उपमेय की उत्कृष्टता का बोध हो जाय वहाँ वह व्यतिरेक व्यङ्ग्य होता है । जैसे:—

न मनागपि राहुरोषशङ्का न कलङ्कानुगमो न पाण्डुभाव·।
उपचीयत एव कापि शोभा परितो भामिनि ते मुखस्य नित्यम् ।।[५६]

इस पद्य के अर्थ से ही उपमेय–मुख के उत्कर्ष की अभिव्यञ्जना हो रही है । अतः अर्थशक्तिमूलध्वनि का स्थल है ।

५४. रस पृ. ३५७

५५. रस. पृ. ३५७

मम्मटकृत भेद—

मम्मट ने व्यतिरेक के भेद इस प्रकार किये हैं —
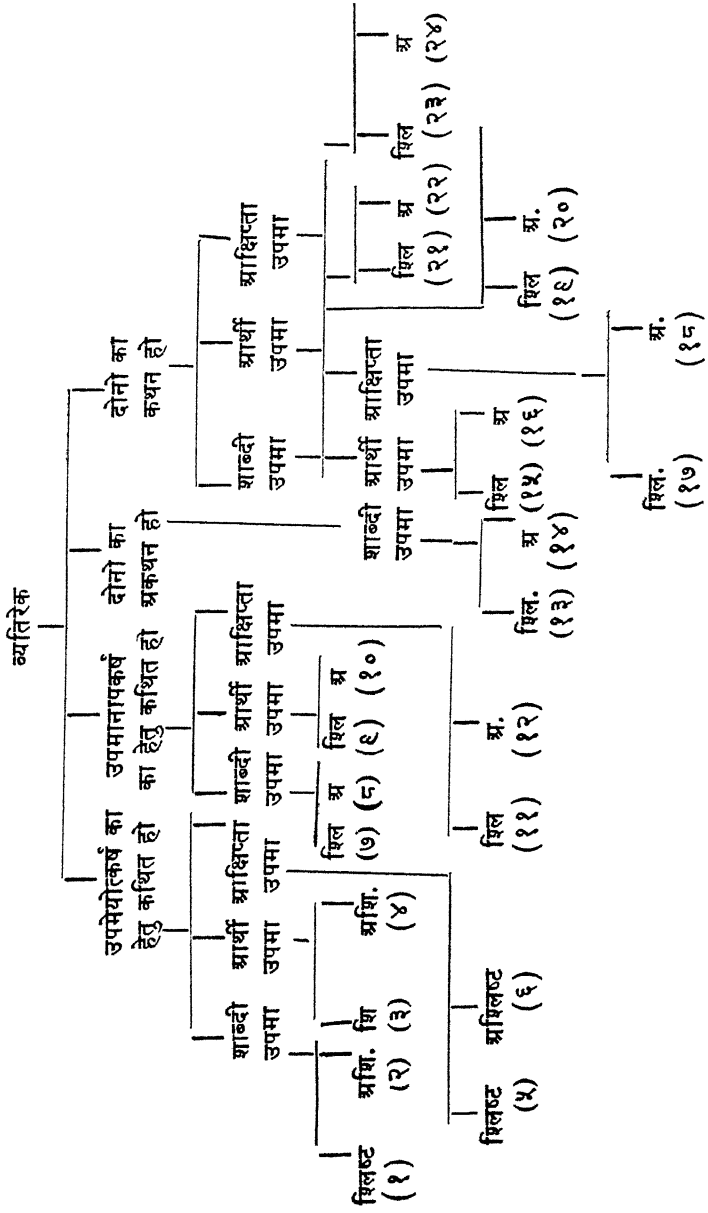
सर्वप्रथम व्यतिरेक चार प्रकार का होता है —

१ जहा उपमेय के उत्कर्ष के कारण को शब्दत कह दिया जाय किन्तु उपमान के अपकर्ष हेतु को न कहा जाय ।

२ जहाँ उपमान के अपकर्ष के हेतु को शब्दत कह दिया जाय किन्तु उपमेय के उत्कर्ष के हेतु को न कहा जाय ।

३ जहाँ न उपमेय के उत्कर्ष के हेतु का कथन हो और न उपमान के अपकर्ष के हेतु का और

४. जहाँ दोनो हेतुओ को शब्दत कह दिया जाय ।

इन चारो भेदो के पुन तीन-तीन भेद हो सकते है क्योकि व्यतिरेक मे गम्यत्वेन स्थित उपमा कही शाब्दी होती है कही आर्थी और कही आक्षिप्त । इस प्रकार चारो भेद अनुगुणतया बारह हो जाते हैं । यह बारह भेद भी पुन चौबीस हो जाते है—कही श्लिष्ट और कही अश्लिष्ट होने से । इस प्रकार कुल २४ भेद है ।

उदाहरण के लिये—

> कटु जल्पति कश्चिदल्पवेदी यदि चेदीदृशमत्र किं विदध्म ।
> कथमिन्दुरिवानन त्वदीय सकलङ्क स कलङ्कहीनमेतत् ।।[४७]

इसमे उपमेय मुख है तथा उपमान चन्द्र है । तथा उपमेय के उत्कर्ष का कारण कलङ्करहितता और उपमान के अपकर्ष का कारण—कलङ्कयुक्तता–दोनो का शब्दत कथन हुआ है । इस पद का प्रयोग होने से उपमा भी वाच्य है ।

इसी पद्य मे यदि 'कथमिन्दुरिवानन तवेद द्युतिभेद न दधाति यत्कदापि' इस प्रकार द्वितीय चरण का निर्माण कर दिया जाय तो केवल उपमेयोत्कर्ष के हेतु का ही कथन होगा और यदि 'द्युतिभेद खलु यो दधाति नित्यम्' यह कर दिया जाय तो उपमान अपकर्षहेतु मात्र का उपादान होगा । एवच यही पर 'कथमिन्दुरिवानन मृगाक्ष्या भवितु युक्तमिद विदन्तु सन्त:' इस प्रकार पाठ हो जाने पर दोनो हेतुओ का अकथन हो जायेगा ।

इसमे जिस भी हेतु का शब्दत कथन नही होता उसका आक्षेप से ज्ञान हो जाता है, दोनो का कथन न होने पर दोनो की आक्षेप से अवगति हो जाती है । ऐसा नही है कि कथन न होने पर उसका बोध ही न होता हो ।

इस प्रकार उक्त पद्य ही भिन्न-भिन्न पाठ होने पर क्रमश' व्यतिरेक के दूसरे, आठवें, चौदहवें और बीसवे भेद का उदाहरण हो जाता है ।

---

४७ रस पृ ३४७

दूसरा उदाहरण यह है—

नयनानि वहन्तु खञ्जनानामिह नानाविधमङ्गभङ्गभाग्यम् ।
सदृश कथमानन सुशोभ सुदृशो भङ्ग रसम्पदाम्बुजेन ।[५८]

इसमे उपमेयोत्कर्षहेतु और उपमानापकर्षहेतु–दोनो का कथन हुआ है। इवादि पदो का प्रयोग न होने से उपमा आर्थी है। इसमे भी 'वदन तु कथ समान-शोभ सुदृशो भङ्गुरसम्पदाम्बुजेन' यह पाठ कर देने से उपमानापकर्ष के हेतु का कथन 'शाश्वतसम्पदाम्बुजेन' करने से उपमेयोत्कर्ष के हेतु का कथन और 'सदृश कथमानन मृगाक्ष्या भविता हन्त निशाधिनायकेन' ऐसा करने पर दोनो हेतुओ का अनुपादान हो जाता है। इस पद्य के पूर्वार्द्ध मे निदर्शना ही है।

तीसरा उदाहरण यह है—

कतिपयदिवसविलास नित्यसुखासङ्गभङ्गलसवित्री ।
खर्वयति स्वर्वास गीर्वाणधुनीतटस्थितिर्नितराम् ।।[५९]

इसमे उपमा आक्षिप्ता है क्योकि न तो इवादि पदो का ही उपादान है और न सदृश आदि का। इवादि पदो की शक्ति सादृश्य मे होने से उपमा शाब्दी होती है और सदृश आदि पदो की सादृश्यविशिष्ट मे शक्ति है अत अर्थत उपमा का बोध होता है। यहाँ उन दोनो का अभाव है अतएव आक्षिप्तोपमा है। इसका बोध खर्वी-करण (खर्वयति) से होता है। इसमे भी उक्त पद्यो के समान विभिन्न पाठ कर देने से किसी एक हेतु का उपादान अथवा दोनो का अनुपादान हो जाता है।

उक्त तीनो उदाहरण प्रत्येक रूप मे श्लेष रहित ही हैं। श्लिष्ट व्यतिरेक का उदाहरण यह है।

क्रूरसत्त्वाकुलो दोषाकरभूस्तोयधिर्यथा ।
न तथा त्व यतो भूप स्थिरधीरसि निर्मल ।।[६०]

इस पद्य मे 'क्रूरसत्वाकुल' और 'दोषाकरभू' पद के दो-दो अर्थ हैं। प्रथम पद के दो अर्थ हैं—'क्रूर जल–जन्तुओ से युक्त' और 'कठोर हृदय से युक्त' तथा द्वितीय पद के दो अर्थ हैं–'चन्द्र का उत्पत्ति स्थल' और 'दोषो का भण्डार'। इनमे से द्वितीय द्वितीय अर्थों को लेकर समुद्र रूप उपमान का अपकर्ष और उनके अभाव के कारण नृप रूप उपमेय के उत्कर्ष का वर्णन है अत श्लेषाधारित व्यतिरेक है। 'यथा' पद का प्रयोग हो जाने से उपमा शाब्दी है। उत्कर्ष हेतु और अपकर्ष हेतु–दोनो का यहा शब्दत उल्लेख किया गया है। पाठान्तरो से उसमे एक का कथन एक का अकथन हो सकता है।

---

५८. रस. पृ. ३४८
५९ रस. पृ. ३४८
६० रस पृ. ३४९

इसी प्रकार श्लेषयुक्त आर्थी उपमा सवलित व्यतिरेक का भी उदाहरण दिया गया है।[६१]

पण्डितराजकृत खण्डन :—

मम्मटकृत उक्त चौबीस भेदो मे से तीन भेद पण्डितराज को स्वीकार नहीं हैं। वह हैं—(१) श्रौती अथवा शाब्दी उपमा और श्लेष युक्त व्यतिरेक, (२) आर्थी उपमा से युक्त श्लिष्ट व्यतिरेक और (३) आक्षिप्ता उपमा से युक्त श्लिष्ट व्यतिरेक। (क्रमश १३ वाँ, १५ वाँ और सत्तरहवाँ भेद।) इसकी अस्वीकृति मे जो युक्तियाँ दी है वह इस प्रकार हैं—

(१) जिस व्यतिरेक मे श्लेष होता है उसमे वह श्लेष या तो उपमान के अपकर्ष के कारण मे अथवा उपमेय के उत्कर्ष के कारण मे ही होता है। अत. जहा न उपमेयोत्कर्ष के हेतु का कथन हो और न उपमानापकर्ष के हेतु का ही कथन हो वहा श्लेष रहेगा किस पर आश्रित होकर ? अर्थात् किस अश मे श्लेष होगा ?

(२) जहा द्विज, सुरालय, मातरिश्वा आदि इस प्रकार के शब्दो का प्रयोग हो जिनसे उपमान और उपमेय दोनो का बोध होता हो वहा इन्ही शब्दो से दोनो मे भेद भी प्रतिपादित हो जाने से श्लेष ही व्यतिरेक का उत्थापक है। अतः उस प्रकार के स्थलो मे उक्त तीनो भेद सिद्ध हो जायेगे—ऐसा भी नही कह सकते। क्योकि जहा इस प्रकार उपमानोपमेयोभयवाचक श्लिष्ट पदो का प्रयोग होगा वहा श्लेष से ही उपमानोपमेय के वैधर्म्य का भी प्रतिपादन हो ही जायेगा। इस प्रकार वैधर्म्य भी द्विज आदि शब्दो से उपात्त हो जायेगा। और तब यह कहना असङ्गत होगा कि यह भेद उभयानुपादान का भेद है।

अत सिद्धान्त यह हुआ कि मम्मटकृत भेदो मे से श्लिष्ट व्यतिरेक के उभयानुपादान वाले तीन भेद असम्भव हैं।

इसके अतिरिक्त इतने ही भेद होते हैं यह कहना इसलिये भी अनुचित है क्योकि उपमागर्भित होने से व्यतिरेक मे उपमा के भी सभी भेद सम्भव हैं। अतः २४ भेद मानना अनुचित है।

रुय्यक तथा जयरथ का मत:—

अलङ्कारसर्वस्वकार उपमेय के उपमान से अपकृष्ट होने पर भी व्यतिरेक मानते हैं क्योकि उनके अनुसार उपमेय और उपमान मे विलक्षणता मात्र ही व्यतिरेक का प्रयोजक है। उसका उदाहरण इस प्रकार दिया है —

क्षीणः क्षीणोऽपि शशी भूयो भूयोऽभिवर्धते सत्यम्।
विरम प्रसीद सुन्दरि यौवनमनिवर्ति यात तु ॥[६२]

---

६१. 'महेन्द्रतुल्य कवयो भवन्त वदन्तु किं तानिह वारयाम। भवान्सहस्रै समुपास्यमान कथ समानस्त्रिदशाधिपेन ॥ अत्रार्थी।········ ··· इत्यादि। (रस. पृ. ३४६)

६२. रस. पृ. ३५२

यहाँ चन्द्र का पुनरागमन उसके उत्कर्ष का कारण है और यौवन का अपुनरागमन उसके अपकर्ष का। अत. व्यतिरेक का उदाहरण है।

इसी की पुष्टि विमर्शिनीकार ने इन शब्दो मे की है। .—

रुय्यक के विरुद्ध यदि कोई यह कहे कि– 'उपमान से उपमेय के अपकृष्ट होने पर भी व्यतिरेक है। यह कहना तो ठीक नही है क्योकि उसमे कोई सौन्दर्य नही। उपमान से उपमेय का अपकृष्ट होना तो स्वाभाविक है, सत्य ही है। उसमे कवि कल्पना की तो कोई अपेक्षा नही अत वह चमत्कारी भी नही है। अथ च इस पद्य मे यौवन की अस्थिरता का वर्णन करके चन्द्र की अपेक्षा उसे अधिक महत्त्वपूर्ण बनाना ही अभिप्रेत है। यौवन उस प्रकार वापिस नही आता जिस प्रकार चन्द्र एक बार जाकर पुन आजाता है। अत यहाँ भी उपमेय के उत्कर्ष को लेकर ही व्यतिरेक है उसके अपकर्ष को लेकर नही'। —तो उचित नही है क्योकि इस पद्य की विवक्षा ऐसी नही है जैसी कि ऊपर कही गयी है अपितु भिन्न प्रकार की है। यह पद्य एक सखी की नायिका के प्रति उपदेशात्मिका उक्ति है। उपदेश का आकार इस प्रकार है—'यदि एक यौवन भी चन्द्र के समान पुन पुन आने वाला हो तभी प्रिय के प्रति यह ईर्ष्या उचित है। परन्तु यह यौवन यदि एक बार चला जाता है तो पुन लौटकर नही आता अत ईर्ष्या आदि भावो को छोडकर प्रिय के साथ निरन्तर रहकर अपने जन्म को सफल बनाओ। ईर्ष्या को छोड दो। प्रिय के प्रति क्रोध मत करो। प्रसन्न हो जाओ। इत्यादि।' इस प्रकार मित्र के द्वारा दिये गये उपदेश मे प्रिय के प्रति क्रोध को शान्त करने के लिये यौवन का अपुनरागमन न्यूनगुणत्वेन ही विवक्षित है अत उपमेय का न्यूनत्व अपकृष्ट होना–भी व्यतिरेक है। और रस को पुष्ट करने के कारण इसमे सौन्दर्य भी है।[६३]

पडितराजकृत खण्डन

पण्डितराज ने रुय्यक और जयरथ दोनो के मतो को अनुचित कहा है। इनके मतानुसार उपमान की अपेक्षा उपमेय का अपकर्ष होने पर व्यतिरेक नही होता।

अलङ्कारसर्वस्वकार ने जो उदाहरण दिया है और जयरथ ने उसको जिस सरणि से पुष्ट किया है वह दोनो ही अमान्य है क्योकि इस पद्य मे नायिका के लिये हितकारी वचन होने से तात्पर्य यह है कि चन्द्र तो बार-बार आने से सबके लिये सुलभ है परन्तु यौवन तो एक ही बार आने के कारण दुर्लभ है अत चन्द्र की अपेक्षा यौवन अधिक महत्त्वशाली है। इस प्रकार यौवन चन्द्र की अपेक्षा उत्कृष्टतर ही सिद्ध हो रहा है अपकृष्टतर नही।

---

६३. रस पृ ३५२

दूसरे अनेक सुखो का कारण आदि यौवन के गुण भी, जो शब्दत उपात्त नही हुए हैं, यौवन को उत्कृष्ट ही सिद्ध करते है। उसी से शृङ्गार रस का परिपोषण भी होता है। यदि यौवन उत्कृष्ट न हो तो यह कहना भी व्यर्थ है कि यौवन के लिये क्रोधादि को त्याग दो। प्रत्युत यदि यौवन जाता है तो जाय– यही कहना उचित होता। अतएव वाक्यार्थ की सङ्गति के लिये और पद्य की वास्तविक विवक्षा की दृष्टि से यौवन ही चन्द्र की अपेक्षा उत्कृष्टतर सिद्ध होता है। इसलिये यह पद्य व्यतिरेक का उदाहरण है उपमेय के उत्कर्ष के ही कारण।

ऐसा अन्यत्र भी होता है कि शब्दत भले ही उपमेय का अपकर्ष वर्णित हो परन्तु वाक्यार्थ मे पर्यवसित होने पर वह उत्कर्ष रूप मे ही परिणत हो जाता है। जैसे—

द्रोहो निरागसा लोके हीनो हालाहलादपि।
अय हन्ति कुल साग्र भोक्तार केवल तु स ॥ [६४]

इसमे हीन पद से ज्ञात होने वाला अपकर्ष दारुणता के आधिक्यरूप मे उत्कर्ष के रूप मे परिणत हो जाता है।

व्यतिरेक के तीन प्रकार है—

(१) उपमेयोत्कर्षपर्यवसायी,

(२) उपमेयापकर्षपर्यवसायी और

(३) अनुभयपर्यवसायी

अप्पयदीक्षित का मत —

इनमे से उपमेय की न्यूनता मे होने वाले व्यतिरेक का यह उदाहरण है—

रक्तस्त्व नवपल्लवैरहमपि श्लाघ्यैः प्रियाया गुणै
स्त्वामायान्ति शिलीमुखाः स्मरधनुर्मुक्ता सखे मामपि।
कान्तापादतलाहतिस्तव मुदे तद्वन्ममाप्यावयो·
सर्वं तुल्यमशोक केवलमह धात्रा सशोकः कृत ॥ [६५]

इसमे सशोक होने के कारण उपमेय की अशोक होने के कारण उपमेय से निम्नता है।

अनुभयपर्यवसायी (उपमान के उत्कर्ष अथवा उपमेय के उत्कर्ष मे पर्यवसित न होकर केवल उपमेय और उपमान के सादृश्याभाव मे ही अध्यवसित होने वाले) व्यतिरेक का उदाहरण यह है —

दृढतरनिबद्धमुष्टेः कोषनिषण्णस्य सहजमलिनस्य।
कृपणस्य कृपाणस्य च केवलमाकारतो भेदः ॥ [६६]

---

६४ रस. पृ. ३५३
६५ रस, पृ ३५४
६६ रस पृ ३५५

इसमे कृपण और कृपाण मे किसी का उत्कर्ष या अपकर्ष प्रमुख नही है अपितु केवल सादृश्य का अभावमात्र ही अपेक्षित है।[६७]

पण्डितराजकृत खण्डन —

पण्डितराज जगन्नाथ ने दोनो उदाहरणो का खडन किया है। क्रमश वह खण्डन इस प्रकार है—

प्रथम उदाहरण का खण्डन—इसमे उन्होने जो युक्तियाँ दी है वह इस प्रकार हैं .—

(१) इस पद्य मे व्यतिरेक अलङ्कार नही है अपितु उपमा अलङ्कार का अभाव मात्र है। जिस प्रकार कभी-कभी आभूषणो का अपसारण रति आदि के अनुकूल होने के कारण शोभाकारक होता है उसी प्रकार इस उदाहरण मे उपमा का अभाव ही चमत्कारी है।

(२) आनन्दवर्धनाचार्य ने भी कहा है कि श्रेष्ठ कवि को रस के अनुकूल ही कही अलङ्कार का विधान और कही उसका वियोग (राहित्य) करना चाहिये।[६८]

(३) इसी आशय से मम्मट भट्ट ने यह कहा है कि आधिक्यमात्र मे ही व्यतिरेक होता है। अत न्यूनता के होने पर भी व्यतिरेक होता है यह कहना अनुचित है। सिद्धान्त यह स्थिर हुआ कि उपमेय का उत्कर्ष ही यह अलङ्कार व्यपदिष्ट होता है अपकर्ष होने पर नही।

(४) यदि न्यूनता के होने पर भी व्यतिरेक होता ही है ऐसा आग्रह ही हो तो यह उदाहरण लिया जा सकता है—

जगत्त्रयत्राणधृतव्रतस्य क्षमातल केवलमेव रक्षन्।
कथ समारोहसि हन्त राजन्सहस्रनेत्रस्य तुला द्विनेत्र ॥[६९]

इसमे हे राजन्! तुम केवल दो धर्मों मे ही तुम इन्द्र की अपेक्षा न्यून हो शेष धर्मों मे समान ही हो- इस प्रकार की प्रतीति होने से चमत्कार है। इसी प्रकार का अपकर्ष चमत्कारी हो सकता है प्रत्येक अपकर्ष नही।

द्वितीय उदाहरण का खण्डन —

(१) व्यतिरेक तीन प्रकार का हो सकता है- (क) जहाँ उपमेय का उत्कर्ष वर्णित हो, (ख) जहाँ उपमेयोत्कर्ष या उपमानोत्कर्ष में से किसी का वर्णन न हो, अनुभय पर्यवसायी हो, (ग) उपमेय का अपकर्ष वर्णित हो।

---

६७ कुव पृ ८०-८१

६८ "सुकविस्तु रसानुसारेण क्वचिदलङ्कारसयोग क्वचिदलङ्कारवियोग च कुर्यात्। (रस पृ ३५४)

६९ रस पृ ३५५

इन तीनो भेदो मे से 'दृढतरनिबद्धमुष्टे –' इत्यादि पद्य को प्रथम भेद मे नही रखा जा सकता क्योकि उपमेय के उत्कर्ष का प्रयोजक धर्म यहाँ कोई नही है ।

श्लेष से 'आकारत' पद से आकार (दीर्घ अकार) को उपस्थित मानकर उसे उत्कर्ष का प्रयोजक नही कहा जा सकता क्योकि वह तो उपमान (कृपाण) मे रहने वाला धर्म है । जिसके उपमेयका कोई उत्कर्ष सिद्ध नही होता । दूसरे उसका जो आकृति रूप दूसरा अर्थ है उसके साथ आकार (अ और आ स्वर) रूप अर्थ का श्लेष से अभेदाध्यवसान हो जाता है । जिससे वह धर्म उपमानोपमेयोभयवृत्ति बन जाता है । व्यतिरेक के लिये धर्म का एकवृत्ति होना आवश्यक है ।

(२) इस अभेदाध्यवसान को यदि अस्वीकार किया जाय तो श्लेषमूलक उपमा का उच्छेद हो जायेगा । जैसे—'चन्द्रबिम्बमिव नगर सकलकलम्' यहाँ 'सकलकलम्' पद मे श्लेष है जिस पर उपमा आधारित है ।

(३) यदि कृपण और कृपाण मे वैधर्म्य मात्र की ही विवक्षा थी तो 'कृपण की कृपाण से दीर्घाक्षर के कारण भिन्नता है' यही कह देना चाहिये था, 'आकारत ' कहने मे क्या प्रयोजन है ? इस दृष्टि से इस व्यतिरेक के उदाहरण मे श्लेष प्रतिकूल ही है । अनुकूल नही है । क्योकि दीर्घाक्षररूपवैधर्म्य और आकृतिभेद यह दोनो श्लेष के बल से उपमान और उपमेय दोनो मे ही सिद्ध हो जाते है ।

अतः कृपाण और कृपण की तुल्यता में ही कवि का आशय है क्योकि दृढतरनिबद्धमुष्टि आदि की दोनो मे समानता है । अक्षरभेद भी आकृतिभेद के साथ अभेदाध्यवसित होकर विरुद्ध नही होता ।

निष्कर्ष यह है कि इस उदाहरण मे ऐसा कोई धर्म नही है जो उपमेय मे उपमान से उत्कृष्टता को सिद्ध कर सके ।

(४) उपमेयापकर्षपर्यवसायि व्यतिरेक की भी सिद्धि यहाँ नही हो सकती क्योकि वाच्यार्थ मे ही उसकी सङ्गति नही होती । उपमान आकार से युक्त और उपमेय अकार से हीन प्रतिपादित किया है जिससे उपमान का ही उत्कर्ष सिद्ध हो सकता है ।

दूसरे इस भेद मे कोई सौन्दर्य अथवा चमत्कार भी नही है—यह रुय्यक के मत का खण्डन करते समय कहा ही जा चुका है ।

इसलिये इस पद्य मे व्यङ्ग्य उपमा ही माननी उचित है व्यतिरेक नही ।

व्यतिरेक सम्बन्धी विशेष विचार —

इस अलङ्कार के निरूपण मे यह कहा गया है कि इसमे सादृश्य भी अनुस्यूत रहता है । किन्तु व्यतिरेक है वैधर्म्यमूलक अलङ्कार और उपमा है (सादृश्य) साधर्म्य-मूलक अलङ्कार, साधर्म्य और वैधर्म्य परस्पर विपरीत है, अत उपमालङ्कार व्यतिरेक अलङ्कार के प्रतिकूल होना चाहिये, उसके अनुकूल कैसे है ?

समस्या को समाप्त करने के लिये यह भी नही कहा जा सकता कि उपमा व्यतिरेक के प्रतिकूल ही है, अनुकूल है ही नही, क्योकि ऐसा कहने से प्राचीन सिद्धान्त टूट जायेगा। मम्मटादि आलङ्कारिको का यह सिद्धान्त है कि व्यतिरेक मे उपमा भी अन्तर्गभित रहती है।

अत उसका उचित विश्लेषण यह है कि जिस गुण को लेते हुए उपमेय का उपमान के साथ सादृश्य का निषेध किया जाता है, उस गुण के अतिरिक्त अन्य गुणो के आधार पर उपमेय का उपमान के साथ सादृश्य रहता है। अत व्यतिरेक मे सादृश्य और सादृश्याभाव दोनो रह सकते है। जैसे मुख और चन्द्र का कलङ्कहीनता रूपगुण के आधार पर वैधर्म्य और आह्लादजनकता आदि गुणो के आधार पर सादृश्य वर्णित रहता है। वैधर्म्य का पर्यवसान उपमेय के उत्कर्ष मे ही होता है।

उपमान और उपमेय के सादृश्य का जो निषेध होता है वह सादृश्य सामान्य का निषेध होता है अर्थात् उस निषेध का यह तात्पर्य होता है कि उपमानोपमेय परस्पर पूर्णत भिन्न-भिन्न है, उनमे कोई समानता है ही नही—ऐसा नही कहा जा सकता। क्योकि तब किसी गुणविशेष को आधार बनाना अनुचित हो जायेगा। जैसे पुरुष और वृक्ष मे सादृश्यसामान्याभाव है फिर यह कहना कि 'आकार के कारण दोनो मे भेद है' व्यर्थ है। साधारण व्यवहार मे भी जब 'धन के कारण यह व्यक्ति उस व्यक्ति से भिन्न है' इस प्रकार के वाक्यो का प्रयोग होता है तो यही अर्थ समझा जाता है कि धन से अतिरिक्त कुल, रूप, विद्या आदि से वह दोनो समान हैं। अत निष्कर्ष यह निकला कि, व्यवहारत जब किसी विशेष गुण को लेते हुए दो वस्तुओ मे सादृश्य दिखाया जाता है तो उसका तात्पर्य तदतिरिक्त अन्य गुणो के आधार पर रहने वाले सादृश्य मे ही होता है।

परन्तु व्यतिरेक के स्थल मे उक्त रीति से जिस सादृश्य की प्रतीति होती है वह सादृश्य वैधर्म्य की अपेक्षा इतना दुर्बल होता है कि उससे किसी प्रकार की चमत्कृति नही हो पाती। एक बन्दी के समान अथवा हतप्रभ व्यक्ति की भाँति वह लेशमात्र भी आह्लादजनक या चमत्कारी नही हो पाता। चमत्कार का कारण होता है वैधर्म्य ही अत: वही प्रधान रहता है।

समवलोकन:—

इस अलङ्कार के लक्षणादि मे प्राचीन आलङ्कारिको के लक्षणो की अपेक्षा कोई वैशिष्ट्य नही है। मम्मट ने व्यतिरेक के जो भेद गिनाये है उनका रसगङ्गाधर-कार ने अवश्य खण्डन किया है। खण्डन मे उन्होने विशेष रूप से तीन भेदो का खण्डन किया है। इसके पश्चात् उसके केवल चौबीस ही भेद मानना अनुचित कहा है क्योकि उपमा मे रहने वाले अनेक भेदो की सम्भावना भी यहाँ है। इससे पण्डितराज

का आशय यही प्रतीत होता है कि उन्हे केवल व्यतिरेक के मुख्य रूप से किये गये तीन ही भेद स्वीकार हैं—जो उनके मत के अनुसार आरम्भ मे दिये गये है। इसका पोषण इसलिये और होता है कि वास्तव मे पण्डितराज ने अपने मतानुसार व्यतिरेक के प्रकारो का कोई उल्लेख नही किया है अपितु मम्मटादि के द्वारा भेदो का उल्लेख करके उसके अतिरिक्त अन्य सम्भव भेद (उपमा पर आधारित) दिखा दिये है तथा मम्मट के विभाजन के प्रति इङ्गित रूप मे अपनी सम्मति-विमति प्रकट की है।

अलङ्कारसर्वस्वकार और विमर्शिनीकार के मतो का जो खण्डन किया है वह प्रकृत विषय के परिष्कार मे लेश मात्र भी उपयोगी नही है। तत्त्वविचार से शून्य यह खण्डन केवल ग्रन्थकार की खण्डनप्रियता को ही प्रदर्शित करता है तत्त्वपरिष्कारैषणा को नही।

यह दशा अप्पयाभिमत उदाहरणो के खण्डन मे भी है। उस प्रसङ्ग मे कहा गया यह वचन कि 'रक्तस्त्व—' इत्यादि पद्य मे अलङ्कार (उपमा) का अभाव ही चमत्कारी हैं हास्यास्पद-सा लगता है। यह एक ऐसी कल्पना है जो पण्डितराज ने ही पहली बार की है तथा जिसका प्रयोजन केवल दीक्षित-खण्डन मात्र ही है। आनन्दवर्धनाचार्य की जिस उक्ति को प्रमाणरूप मे उद्धृत किया है वह भी ध्वन्यालोक मे कही प्राप्त नही होती।[७०]

दूसरे उदाहरण 'दृढतर निबद्धमुष्टे —' इत्यादि का खण्डन भी तत्त्वहीन है। इस पद्य मे किस प्रकार अनुभयपर्यवसायित्व है इस विषय मे अप्पयदीक्षित ने स्वय कोई व्याख्या नही दी है अत पण्डितराज ने इसकी जो व्याख्या मानकर खण्डित की है वह उनकी अपनी ही इष्टसिद्धि के अनुकूल स्वरचित व्याख्या है। वास्तव मे अप्पयदीक्षित का क्या मत था यह विचारणीय है।

इस सबके अतिरिक्त पण्डितराज ने एक अत्यन्त सूक्ष्म विषय की ओर ध्यान आकर्षित किया है, वह है वैधर्म्यमूलक व्यतिरेक मे साधर्म्यमूलक उपमा की अनुकूलता। प्राचीन आचार्यों ने इसको स्पष्ट करने की आवश्यकता नही समझी। अतः तत्त्व-परिष्कार मे पण्डितराज की यह एक देन है।

अर्थान्तरन्यास

लक्षण

पण्डितराजकृत लक्षण :—

"सामान्येन विशेषस्य विशेषेण सामान्यस्य वा यत्समर्थन तदर्थान्तरन्यासः।[७१]

७० (पृ ३४३ पर उद्धृत ध्व. की पङ्क्ति।)

७१. रस.पृ ४७१

अर्थात् सामान्य अर्थ से विशेष अर्थ का अथवा विशेष अर्थ से सामान्य अर्थ का जो समर्थन है वही समर्थन अर्थान्तरन्यास है।

समर्थन का अर्थ है 'यह इसी प्रकार है अथवा नहीं' (इदमेवमेवानेव वा) इस प्रकार से किसी विषय के सम्बन्ध मे होने वाले सशय को रोक देने वाला 'यह इसी प्रकार है' (इदमित्थमेवेति) इस प्रकार दृढ निश्चय हो जाना। अर्थात एक प्रकार का निश्चय ही है समर्थन।

इस अलङ्कार मे प्रकृत अर्थ का अप्रकृत अर्थ के द्वारा समर्थन किया जाता है। प्रकृत अर्थ यदि सामान्य अर्थ होता है तो अप्रकृत अर्थ विशेष अर्थ होता है और यदि प्रकृत अर्थ विशेष अर्थ होता है तो अप्रकृत अर्थ सामान्य अर्थ होता है। सामान्यतया यही स्थिति रहती है कि प्रस्तुत अर्थ समर्थ्य होता है और अप्रस्तुन अर्थ समर्थक होता है।

सामान्य से विशेष का समर्थन इस प्रकार होता है—

> भवत्या हि व्रात्याधमपतितपाखण्डपरिष-
> त्परित्राणस्नेह श्लथयितुमशक्य खलु यथा।
> ममाप्येव प्रेम दुरितनिवहेष्वम्ब जगति
> स्वभावोऽय सर्वैरपि खलु यतो दुष्परिहरः॥[२]

इसमे चतुर्थ पद सामान्यार्थरूप है और वही समर्थक है।

विशेष से सामान्य का समर्थन इस प्रकार होता है—

> उपकारमेव कुरुते विपद्गत. सद्गुणो नितराम्।
> मूर्च्छां गतो मृतो वा रोगानपहरति पारद सकलान्॥[3]

अर्थान्तरन्यास के भेद

साधर्म्य-वैधर्म्य के आधार पर —

सर्वप्रथम अर्थान्तरन्यास दो प्रकार का होता है—साधर्म्याधारित और वैधर्म्याधारित। उदाहरणार्थ—

> उपकारमेव कुरुते विपद्गत सद्गुणो नितराम्।
> मूर्च्छा गतो मृतो वा रोगानपहरति पारद सकलान्॥

इसमे पूर्वार्द्ध है सामान्य अर्थ और उत्तरार्द्ध है विशेष अर्थ तथा विशेष अर्थ सामान्य अर्थ का समर्थक है। यह साधर्म्याधारित है।

इसी उदाहरण को यदि इस प्रकार कर दिया जाय कि उत्तरार्द्ध प्रकृत अर्थ हो और पूर्वार्द्ध अप्रकृत अर्थ तो यही उदाहरण साधर्म्याधारित सामान्य अर्थ से विशेष अर्थ के समर्थनका उदाहरण हो जायेगा।

---

७२. रस. पृ. ४७२

७३. रस. पृ ४७१

वैधर्म्याधारित अर्थान्तरन्यास का उदाहरण यह है '—

अहन्नेको रणे रामो यातुधानाननेकश ।[७४]
नून सहायसम्पत्तिमपेक्षन्ते बलोज्झिता ।।[७५]

इसमे विशेष का सामान्य के द्वारा समर्थन किया गया है तथा दोनो मे परस्पर वैधर्म्य है । इसी मे यदि सामान्य अर्थ को पहले और विशेष अर्थ को बाद मे रख दिया जाय तो यही उदाहरण विशेष से सामान्य का समर्थन हो जायेगा ।

इस प्रकार प्रस्तुत अप्रस्तुत के भेद से एक ही उदाहरण सामान्य से विशेष का समर्थन और विशेष से सामान्य का समर्थन रूप अर्थान्तरन्यास हो सकता है । अर्थात एक ही उदाहरण मे व्यत्यास हो जाने से भिन्न-भिन्न भेदो का उदाहरणत्व आ सकता है ।

आर्थ शाब्द के आधार पर :—

इस अलङ्कार को पुन. शाब्द और आर्थ के भेद से द्विधा विभाजित कर सकते हैं ।

जहाँ हि, यत्, यत आदि पदो का प्रयोग होता है वहाँ यह शाब्द और जहाँ इनका प्रयोग नही होता वहा यह आर्थ होता है ।

शाब्द अर्थान्तरन्यास का भेद इस प्रकार है —

करिकुम्भतुलामुरोजयो क्रियमाणा कविभिर्विश्रृङ्खलै ।
कथमालि श्रृणोषि सादर विपरीतग्रहणा हि योषित ।।[७६]

इसमे 'हि' पद का प्रयोग हो जाने से अर्थान्तरन्यास शाब्द है ।

आर्थ अर्थान्तरन्यास का भेद इस प्रकार है —

उपकारमेव कुरुते विपद्गत: सद्गुणो नितराम् ।
मूर्च्छां गतो मृतो वा रोगानपहरति पारद सकलान् ।।

इसमे उपर्युक्त पदो मे से किसी का भी प्रयोग न होने से आर्थ अर्थान्तरन्यास है । हि आदि पदो के प्रयोग से दो अर्थों का समर्थ्य समर्थकभाव स्पष्ट हो जाता है और उनका अप्रयोग होने से वह अर्थ से ज्ञात होता है शब्दो से स्पष्ट नही होता ।

प्रस्तुताप्रस्तुत के आधार पर —

इस अलङ्कार मे प्राय अप्रकृत से प्रकृत का ही समर्थन किया जाता है फिर भी कही-कही ऐसा भी होता है कि प्रकृत से प्रकृत का या प्रकृत से अप्रकृत का समर्थन किया जाय ।

उदाहरण के लिये प्रकृत का प्रकृत से समर्थन यह है :—

---

७४ रस. पृ ४७१
७५. रस. पृ ४७१
७६ रस. पृ ४६६

कस्तृप्येन्मार्मिकस्तन्वि रमणीयेषु वस्तुषु ।
हित्वान्तिक सरोजिन्या पश्य याति न षट्पद ॥[७७]

यह नायक की नायिका के प्रति उक्ति है जो जलक्रीडा के समय दूर जाती हुई नायिका को उद्देश्य करके कही गई है। इसमे भ्रमर वृत्तान्त एव रमणीय वस्तु (रमणी आदि) का वृत्तान्त दोनो ही प्रकृत है।

प्रकृत से अप्रकृत का समर्थन, जैसे —

प्रभुरपि याचितुकामो भजेत वामोरु लाघव सहसा ।
यदह त्वयाधरार्थी सपदि विमुख्या निराशता नीतः ॥[७८]

इसमे कामुक व्यक्तियो के प्रकरण मे कामुक-उक्ति के द्वारा अप्रकृत दातृ-याचक के वृतान्त का समर्थन किया जा रहा है। इस प्रकार के स्थलो मे अप्रकृत वृत्तान्त अन्ततोगत्वा प्रकृत वृत्तान्त मे ही पर्यवसित हो जाता है क्योकि नितान्त अप्रस्तुत का समर्थन करना तो अनुचित एव प्रयोजनहीन हो जायेगा। अत. यहाँ दातृ-याचक वृत्तान्त भी 'बलपूर्वक तेरे अधरो को ग्रहण करने मे समर्थ होते हुए भी मैं तेरे वश मे होने के कारण तुझसे याचना कर रहा हूँ' इस रूप मे प्रकृत अर्थ मे ही परिणत हो जाता है।

रुय्यक का मत :—

रुय्यक ने अर्थान्तरन्यास के दो भेद और माने हैं—(1) जहाँ कारण से कार्य का समर्थन होता हो और (2) जहाँ कार्य से कारण का समर्थन होता है।[७९]

पण्डितराजकृत खण्डन :—

पण्डितराज सर्वस्वकाराभिमत उक्त दो भेदो को मानने के पक्ष में नही है क्योकि उस स्थल पर उनके मतानुसार काव्यलिङ्ग अलङ्कार होता है।

यदि वहाँ काव्यलिङ्ग को स्वीकार नही किया जाय तो मम्मट के द्वारा माने गये—

वपु प्रादुर्भावादनुमितमिद जन्मनि पुरा,
पुरारे न प्राय क्वचिदपि भवन्त प्रणतवान् ।
नमन्मुक्तः सम्प्रत्यतनुरहमग्रेऽप्यनतिमात्
महेश क्षन्तव्य तदिमपराधद्वयमपि ॥[८०]

इस काव्यलिङ्ग के उदाहरण की सङ्गति नही होगी। सिद्धान्त यह है कि इस पद्य मे काव्यलिङ्ग उदाहरण है परन्तु यदि सर्वस्वकार कृत उपर्युक्त दोनों भेद

---

७७. रस पृ ४७३
७८. रस. पृ ४७३
७९. अ० स० पृ० २०१
८० का० प्र० पृ० ४०४

भी स्वीकार किये जाये तो इस पद्य के उत्तरार्ध मैं दोनो वाक्यार्थो के कारण रूप होने से और प्रथमार्थ के समर्थक होने के कारण से कार्य का समर्थन रूप अर्थान्तर-न्यास अलङ्कार हो जायेगा ।

अत , प्राय सर्वत्र ही इस प्रकार के स्थलो पर काव्यलिङ्ग होगा, अर्थान्तर-न्यास नही ।

अप्पयदीक्षित का मत

अप्पयदीक्षित ने विकस्वर नामक एक पृथक् अलङ्कार माना है जिसका लक्षण एव उदाहरण इस प्रकार है ।

लक्षण —

यस्मिन्विशेषसामान्यविशेषा स विकस्वर· ।

अर्थात् जहाँ विशेषोक्ति के पश्चात् सामान्योक्ति और सामान्योक्ति के पश्चात् पुन विशेषोक्ति हो वहाँ विकस्वर अलङ्कार होता है ।[८१]

उदाहरण—

अनन्तरत्नप्रभवस्य यस्य हिम न सौभाग्यविलोपि जातम् ।
एको हि दोषो गुणसन्निपाते निमज्जतीन्दो· किरणेष्विवाङ्क. ।।[८२]

इसमे सर्वप्रथम 'हिम अनेकरत्नो के उत्पत्तिस्थल हिमालय का सौन्दर्य लुप्त करने मे समर्थ नही हुआ–' यह एक विशेष कथन है । इसके पश्चात् उसी के पोषण के लिये 'अनेक गुणो के होने पर एक दोष छिप जाता है' यह सामान्य उक्ति है । इसके समर्थन मे पुन 'जैसे चन्द्रमा की किरणो मे उसका कलङ्क' इस विशेष कथन का प्रयोग हुआ है । अत· विकस्वर है ।

यह विकस्वर उपमा की रीति से स्थित है क्योकि अन्तिम वाक्य प्रथम वाक्य के प्रति उपमान रूप है अत· दोनो मे उपमा है ।[८३]

इसी प्रकार अर्थान्तरन्यास की रीति से भी विकस्वर अलङ्कार होता है । जैसे—

कर्णारुन्तुदमन्तरेण रणित गाहस्व काक ! स्वय
माकन्द मकरन्दशालिनमिह त्वा मन्महे कोकिलम् ।
धन्यानि स्थलवैभवेन कतिचिद्वस्तूनि कस्तूरिका
नेपालक्षितिपालभालपतिते पङ्के न शङ्केत क. ।।[८४]

---

८१. कुव. पृ. २०८
८२ कुव पृ २०८
८३. कुव पृ २०८
८४. कु पृ २०९

इसमे मुख्य वाक्य है–'काक का आम्रवृक्ष पर चले जाने से कोकिल समझा जाना।' इसके समर्थन मे 'स्थान विशेष की महिमा से वस्तुएँ भी महिमामयी हो जाती है'–इस सामान्य वचन का प्रयोग हुआ। इसके पश्चात् पुन एक विशेष कथन से उसका पोषण किया कि नेपालराज के भाल पर पङ्क भी कस्तूरिका समझा जाता है। इसमे क्रमश सामान्य से विशेष का और विशेष से सामान्य का समर्थन हुआ है, औपम्य नही है, अतः अर्थान्तरन्यास की रीति से विकस्वर अलङ्कार है।[८५]

पण्डितराजकृत खण्डन

पण्डितराज ने इस विकस्वर अलङ्कार के उदाहरणो को अर्थान्तरन्यास और उदाहरण की ससृष्टि मे तथा अर्थान्तरन्यास के भेदो की ससृष्टि मे गतार्थ कर दिया है। और इस प्रकार विकस्वर को ही पृथक् अलङ्कार मानना अस्वीकार कर दिया है। इसके लिये प्रमाण यह है—

(१) हमारे द्वारा कहे गये 'उपकारमेव कुरुते–'[८६] इत्यादि पद्य मे उदाहरणालङ्कार है। उसमे सामान्य अर्थ के पश्चात् विशेषार्थ का ग्रहण हुआ है। विचारणीय यह है कि अप्पयदीक्षित के अनुसार उसमे कौनसा अलङ्कार है।

'निदर्शन' पद के आ जाने से यहाँ अर्थान्तरन्यास नही होगा–यह इसी अलङ्कार के आरम्भ मे निश्चित हो चुका।

विकस्वर भी नही होगा क्योकि यहाँ केवल सामान्य और विशेष अर्थों का ही वर्णन है विशेष, सामान्य और विशेष अर्थो का नही। परन्तु यहाँ कोई न कोई तो अलङ्कार मानना ही पडेगा।

विकस्वर के उक्त दोनो उदाहरणो मे क्रमश अर्थान्तरन्यास और उदाहरण की तथा अर्थान्तरन्यास के भेदो की ससृष्टि मानी ही जा सकती है अत विकस्वर नामक किसी नवीन अलङ्कार की उद्भावना करने की आवश्कता नही है।

(२) यदि इस प्रकार के एक स्थान पर एकाधिक अलङ्कारो के होने पर ससृष्टि न मानकर नवीन अलङ्कार की ही रचना को जायेगी तब तो उपमादि के अनुग्राह्य अनुग्राहक रूप से एकत्र सन्निवेश होने पर भी नवीन मानना पडेगा। एव च 'वीक्ष्य राम घनश्याम ननृतु शिखिनो वने' इस उपमापोषित भ्रान्तिमान् मे नया अलङ्कार मानना पडेगा।

अर्थान्तरन्यास की विशेषता

इस अलङ्कार मे यदि समर्थ्य वाक्य पहले और समर्थक वाक्य उसके बाद आये तो भी कोई दोष नही होता क्योकि परार्थ अनुमान के स्थल मे जिस प्रकार

---

८५ कु पृ २०९
८६ रस पृ ३४८

प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनयन, निगमन इन पाँच अवयवो का निर्देश रहता है उस प्रकार यहाँ नही रहता, दूसरे, समर्थ्य[८७] अर्थ की अनुपपत्ति होने पर ही कवि समर्थक अर्थ का प्रयोग करता हो ऐसा नही होता। उपपत्ति हो जाने पर भी केवल प्रतीति की दृढता के लिये कवि उस समर्थक वाक्य का प्रयोग करता है।

अर्थान्तरन्यास सम्बन्धी विशेष विचार

अर्थान्तरन्यास के दो स्थल है—(१) सामान्य से विशेष का समर्थन और (२) विशेष से सामान्य का समर्थन। इनमे से विशेष का सामान्य से समर्थन रूप प्रथम स्थल अनुमान या उदाहरण मे अन्तर्भूत किया जा सकता है परन्तु उस प्रकार का अन्तर्भाव उचित नही है इसी को विशेष बल देकर पण्डितराज ने प्रमाणित किया है।

अनुमान मे अन्तर्भाव इस प्रकार सम्भव है—

(१) सामान्य अर्थ विशेष अर्थ का समर्थक है इसका तात्पर्य यही हो जाता है कि सामान्य रूप जो व्याप्ति ज्ञान है वह विशेष रूप अनुमिति का प्रयोजक होता है। 'भवत्या हि व्रात्याधम०' '[८७] इत्यादि पद्य मे सामान्य अर्थ है 'अपने-अपने स्वभाव को कठिनाई से छोडा जाना' (स्वभावादि का दुष्परिहारत्व)। यदि इस ज्ञान का व्यभिचार भी ज्ञात हो जाये, अर्थात् ऐसा भी सम्भव हो सके कि स्वभाव को छोडा जा सकता है तो यह सामान्य वाक्य, समर्थ्य विशेष वाक्य का, जो गङ्गा के विषय मे कहा गया है, समर्थक नही हो सकता। जैसे अनुमान के स्थल मे, पर्वतो वमह्निमान् धूमात्' का 'यत्र तत्र वह्निस्तत्र तत्र धूम ' यह वाक्य सभी समर्थक हो सकता है जबकि 'धूम के रहते हुए भी वह्नि नही रहती'—इस प्रकार का ज्ञान न हो। इस प्रकार तत्त्वत अनुमिति और अर्थान्तरन्यास के उक्त भेद मे कोई अन्तर नही है।

(२) प्राचीन आलङ्कारिकों की दृष्टि से यह कह कर भी अनुमिति मे तो सामान्य अर्थ (व्याप्ति) विशेष अर्थ के प्रति कारण होता है और अर्थान्तरन्यास मे सामान्य अर्थ विशेषार्थ का समर्थक होता है इसलिये अनुमान मे अर्थान्तरन्यास के इस भेद को अन्तर्भूत नही कर सकते—दोनो को पृथक्-पृथक् सिद्ध नही किया जा सकता क्योकि आपातत प्रतीत होने वाला यह अन्तर पार्यन्तिक नही है। उपर्युक्त रीति से यह सिद्ध किया जा चुका है कि विश्लेषणात्मक दृष्टि से इन दोनो मे कोई अन्तर नही है। समर्थक होने के लिये भी समर्थक अर्थ को व्याप्ति रूप ही होना चाहिये।

---

८७. रस पृ ४७२

अतएव वास्तव मे विशेषार्थ से सामान्यार्थ का समर्थन ही अर्थान्तरन्यास का स्थल है विशेषार्थ का सामान्यार्थ से समर्थन नही। इस भेद मे विशेष स्थल मे सह-चार देखकर सामान्य स्थल मे व्याप्ति ज्ञान दृढ हो जाता है। अर्थात् 'उपकारमेव कुरुते—' इत्यादि स्थल मे सद्गुण और उपकार का सङ्कट दशा मे भी सहचारित्व है—यह अर्थ दृढ हो जाता है। इस प्रकार अर्थान्तरन्यास का एक भेद अनुमिति मे चला जाता है और एक ही भेद अर्थान्तरन्यास का स्थल रह जाता है।

पण्डितराज का उत्तर

पण्डितराज ने इस अन्तर्भाव को 'कवि शृणोति' कहकर समाप्त कर दिया है। इससे अनुमान यही होता है कि उन्हे इस प्रकार अर्थान्तरन्यास के एक भेद को अनुमान मे गतार्थ कर देना स्वीकार्य नही है। उसका अन्तर्भाव क्यो नही होना चाहिये इसके लिये कोई युक्ति नही दी है।

उदाहरणालङ्कार मे अन्तर्भाव

(१) विपक्षी का द्वितीय आक्षेप यह है कि अनुमान से किसी प्रकार इस भेद को बचा भी लिया जाय तो भी उदाहरण अलङ्कार मे इसका विषय चला ही जाता है अत तब भी यह अर्थान्तरन्यास का भेद नही रह जाता।

(२) दोनो का भेद स्पष्ट करने के लिये यदि यह कहा जाय कि उदाहरण अलङ्कार मे इवादिपदो का प्रयोग रहता है तथा अर्थान्तरन्यास मे नही रहता, तो भी उचित नही है क्योकि उस स्थिति मे उसे आर्थ उदाहरण कहा जा सकता है। एव च अर्थान्तरन्यास का उक्त भेद वास्तव मे आर्थ उदाहरण का ही स्थल है अन्य कुछ नही।

पण्डितराज का उत्तर

उदाहरण मे भी अर्थान्तरन्यास का अन्तर्भाव नही हो सकता इसके लिये निम्नलिखित उक्तियाँ हैं—

(१) उदाहरण और अर्थान्तरन्यास मे पर्याप्त भेद है। इसका विस्तार से उल्लेख किया जा चुका है उदाहरणालङ्कार के अन्तर्गत।

(२) उदाहरण अलङ्कार को मानना प्राचीनो को अधिक रुचिकर भी नही है। वह इसे उपमा का ही एक प्रकार मानते हैं। इसका भी विशद निरूपण उदा-हरणालङ्कार के अन्तर्गत किया जा चुका है।

(३) इस पर भी यदि कहा जाय कि यह वैलक्षण्य इतना सूक्ष्म है कि इससे दोनो का कोई पार्थक्य नही सिद्ध हो सकता केवल एक विशेषता मात्र ही सिद्ध हो सकती है तब उदाहरणालङ्कार को अर्थान्तरन्यास का, प्रतिवस्तूपमा को दृष्टान्त का

और अतिशयोक्ति को रूपक का ही भेद मान लेना चाहिये क्योकि उनमे भी अत्यन्त सूक्ष्म भेद है ।

इस प्रकार यह निश्चित हो जाता है कि अर्थान्तिरन्यास के दोनो भेद अर्थान्तरन्यास के ही स्थल है किसी अन्य अलङ्कार मे इन्हे गतार्थ नही कर सकते ।

जयरथ का मत

विमर्शिनीकार जयरथ का मन्तव्य है कि विशेष से सामान्य के समर्थन मे भी दो प्रकार होते है । पहला वह जहाँ सामान्य वाक्यार्थ की उपपत्ति के लिये विशेष वाक्यार्थ का प्रयोग होता है और दूसरा वह जहाँ सामान्य को उपपन्न करने के लिये नही अपितु केवल दृढ करने मात्र के लिये सामान्यार्थ के ही किसी एक देश को निरूपित किया जाता है । इनमे से प्रथम स्थान तो अर्थान्तिरन्यास का है और दूसरा उदाहरणालङ्कार का । जैसे—

'एको हि दोषो गुणसन्निपाते निमज्जतीन्दो किरणेष्विवाक ।।'[८८]

इसमे उदाहरण अलङ्कार है ।

पण्डितराजकृत खण्डन

(१) उदाहरण और अर्थान्तिरन्यास मे जयरथ ने जो भेद दिखाया है वह ठीक नही है क्योकि अर्थान्तिरन्यास मे सर्वत्र सामान्यार्थ की उपपत्ति के लिये ही विशेष अर्थ का ग्रहण होता हो ऐसा नही है । जहा उसकी उपपत्ति की अपेक्षा नही होती वहा भी अर्थान्तिरन्यास होता है । उदाहरण के लिये—

निजदोषावृतमनसामपि सुन्दरमेव भाति विपरीतम् ।
पश्यति पित्तोपहत· शशिशुभ्र शङ्खमपि पीतम् ।।[८९]

इस पद्य मे सामान्य अर्थ है–दोषयुक्त होने पर भ्रम होना । इस अर्थ की सिद्धि के लिये किसी अन्य अर्थ की अपेक्षा हो ऐसा नही है क्योकि इसकी सत्यता मे किसी पामर व्यक्ति को भी सन्देह नही है । अत उपपत्ति की अपेक्षा न होने पर भी विशेष अर्थ का ग्रहण यहाँ हुआ है ।

(२) यदि यह कहा जाय कि स्वाभाविक रूप से उक्त विषय मे 'सशय नही होता तथापि आहार्य सशय (अपनी इच्छा से माना हुआ सशय कि ऐसा होता है या नही) की निवृत्ति के लिये यहाँ विशेष अर्थ का ग्रहण हुआ है अत उक्त नियम उचित ही है, तो इसके उत्तर मे यह कहा जा सकता है कि इस प्रकार का आहार्य सशय तो उदाहरण अलङ्कार मे भी स्वीकार किया जा सकता है, केवल अर्थान्तिरन्यास मे ही वह बन सकता हो ऐसा नही है ।

---

८८. रस पृ ३५२
८९. रस पृ ४७४

अत पूर्वोक्त रीति से (पण्डितराज की रीति) ही उदाहरण और अर्थान्तरन्यास मे भेद करना उचित है ।

समवलोकन ·

मम्मट रुय्यकादि की अपेक्षा पण्डितराज ने इस अलङ्कार को अधिक सूक्ष्मता एव विस्तार से निरूपित किया है । समर्थन का क्या तात्पर्य है यह बहुत स्पष्टता से बताया गया है ।

अनुमान एव उदाहरण से इसका पार्थक्य जिस दृढता से सिद्ध किया गया है उससे यह निश्चित हो जाता है कि पण्डितराज को अर्थान्तरन्यास की स्वतन्त्र अलङ्कारता विशेष रूप से मान्य है ।

रुय्यक कृत भेदो को खण्डित करके स्वयं उसके कुछ नवीन भेद दिखाये हैं शाब्द-आर्थ, प्रस्तुत-अप्रस्तुत इत्यादि के आधार पर ।

अन्त मे अप्पय दीक्षित द्वारा माने गये विकस्वर अलङ्कार को भी अर्थान्तर-न्यास मे विलीन कर दिया है । उस सम्बन्ध मे नागेश का कथन यह है कि विकस्वर मे विशेष-सामान्य-विशेष के क्रम मे एक विशेष चमत्कार है इसलिये उसे पृथक् अलङ्कार मानने मे कोई दोष नही है । चमत्कृति भेद से ही अलङ्कार भेद होता है । अत दोनो को एक मानना अनुचित है ।

प्रतीप

लक्षण

पण्डितराज की व्यक्तिगत दृष्टि से प्रतीप वास्तव मे कोई पृथक् अलङ्कार नही है अपितु उपमा आदि का ही एक प्रकार विशेष है । तथापि प्राचीन आलङ्कारिक मम्मट आदि ने इस अलङ्कार का निरूपण किया है, अत परम्परा की रक्षा के लिये एव अपने उपजीव्य आचार्य की मर्यादा के लिये उन्होने प्राचीन दृष्टि से प्रतीप के पाँच प्रकारो का निरूपण किया है । वह पाँचो लक्षण इस प्रकार है —

प्राचीनानुरोध से प्रतीप के लक्षण .

प्रथम प्रतीप का लक्षण इस प्रकार है—

'प्रसिद्धौपम्यवैपरीत्येन वर्ण्यमानमौपम्यमेक प्रतीपम् ।'[९०]

अर्थात् लोक मे प्रसिद्ध औपम्य से (उपमानोपमेय भाव से) विपरीत जब उपमानोपमेय का वर्णन किया जाता है तो प्रतीप का प्रथम प्रकार होता है ।

विपरीत वर्णन का अर्थ है उपमान मे उपमेय की और उपमेय मे उपमान की

९० रस.पृ ४९५

कल्पना करना। इसका फल होता है उपमान की अपेक्षा उपमेय की अधिकता और उपमेय की अपेक्षा उपमान की न्यूनता का बोध।

द्वितीय प्रकार के प्रतीप का लक्षण यह यह है–

उपमानोपमेययोरन्यतरस्य किञ्चद्गुणप्रयुक्तमद्वितीयतोत्कर्ष परिहर्तुं द्वितीय-प्रदर्शनेनोल्लास्यमान सादृश्यमपर द्विविधम्।[६१]

अर्थात् उपमान और उपमेय मे से अन्यतरका किसी एक गुण विशेष के कारण जो अद्वितीय उत्कर्ष होता है उसका परिहार करने के लिये दूसरी किसी समकक्ष वस्तु को दिखाकर जब सादृश्य वर्णित किया जाता है तो वह प्रतीप का दूसरा भेद होता है। उपमेय के उत्कर्ष का परिहार और उपमान के उत्कर्ष का परिहार करने से यह दो प्रकार का होता है।

इन दोनो प्रकारो का फल है अद्वितीयता के गर्व का निराकरण करते हुए तिरस्कार करना।

चतुर्थ प्रकार के प्रतीप का लक्षण यह है–

'उपमानस्य कैमर्थ्यं चतुर्थम्।'[६२]

अर्थात् उपमान की किमर्थता का प्रतिपादन करना ही चतुर्थ प्रकार का प्रतीप है।

इसका फल है निषिध्यमान वस्तु मे रहने वाले सम्पूर्ण गुणो की उपमेय मे ही उपस्थिति की प्रतीति।

पञ्चम प्रकार के प्रतीप का लक्षण है—

'सादृश्यविघटन पञ्चमम्।'[६३]

अर्थात् सादृश्य का विघटन (अप्रतिष्ठान) होना ही पञ्चम प्रतीप है।

इसका फल वही है जो प्रथम प्रकार का फल है। अर्थात् उपमान और उपमेय के न्यूनत्व और आधिक्य की प्रतीति।

अपने इन विभिन्न फलो (प्रयोजनो) के आधार पर ही यह अलङ्कार उपमा से पृथक् है। उपमा मे उपमान का आधिक्य और उपमेय का न्यूनत्व ही अवगत होता है। इसमे सादृश्य की स्थिति बनती है और व्यतिरेक में उसका अभाव रहता है, इससे यह अलङ्कार व्यतिरेक से भी पृथक् है।

उदाहरण के लिये यह पद्य लिया जा सकता है—

---

६१. रस. पृ ४६५

६२–६३. रस पृ. ४६५

किं जल्पसि मुग्धतया हन्त ममाङ्ग सुवर्णवर्णमिति ।
तद्यदि पतति हुताशे तदा हताशे तवाङ्गवर्णं स्यात् ।।[९४]

इसमे लोकसिद्ध औपम्य का निषेध कर उसके विपरीत सादृश्य का वर्णन किया गया है। अर्थात् उपमेय अङ्ग को उपमान और उपमान स्वर्ण को उपमेय के रूप मे वर्णित किया गया है। यह प्रथम प्रकार का उदाहरण है। इसी प्रकार अन्य उदाहरण भी दिये है।

पण्डितराजकृत खण्डन

प्रतीप के इन पाँचो प्रकारो मे से प्रथम तीन प्रकारो का उपमा मे ही अन्तर्भाव हो जाता है। क्योकि वहाँ उपमा का आधार - निष्पाद्यमान सुन्दरसादृश्य का अभाव नही रहता। अर्थात् न तो वहाँ सादृश्य की अनिष्पत्ति रहती है न असौन्दर्य ही। अत. उपमा का लक्षण वहाँ सङ्गत ही हो जाता है।

चतुर्थ भेद, कुछ लोगो के अनुसार माने गये आक्षेपालङ्कार मे ही अन्तर्भूत हो जाता है। (जिनके अनुसार उपमान का कैमर्थ्य–आक्षेप का स्वरूप है, उनके अनुसार प्रतीप का चतुर्थ भेद इसी मे समाविष्ट हो जाता है।)

पञ्चम प्रकार का प्रतीप भी व्यतिरेक मे अनुक्तवैधर्म्यरूप भेद मे गतार्थं हो जाता है।

अतः इसका कोई भी स्थल नही शेष रहता।

यदि केवल फल की विभिन्नता से ही अलङ्कार की विभिन्नता मानी जायेगी तब तो प्रतीप के यह पञ्च भेद भी पृथक्-पृथक् अलङ्कार हो जायेगे।

प्रतीप का कोई सामान्य लक्षण है नही। इनमे से 'अन्यतम का होना' सामान्य लक्षण हो नही सकता क्योकि उस प्रकार के लक्षण मे अनेक दोष आ जाते हैं। उपमा आदि के सभी भेदो मे उपमा सामान्य का लक्षण जाता है। यहाँ उस प्रकार की स्थिति नही है।

जिस मत मे चतुर्थ प्रकार का प्रतीप आक्षेप के अन्तर्गत नही आता उनके मत मे उसे प्रतीप अलङ्कार माना जा सकता है।

समवलोकन :

उपमा का निरूपण करते समय पहले ही जगन्नाथ ने यह कह दिया था कि प्रतीप उपमा का ही एक प्रकार है। कोई पृथक् अलङ्कार नही। उसी कथन का विस्तीर्ण रूप इस अलङ्कार के प्रकरण मे सम्मुख आ जाता है।

---

९४. रस पृ ४९६

वास्तव मे प्रतीप पृथक् अलङ्कार है या नही इसका एक मात्र निकषग्रावा सहृदयानुभव ही है। अलङ्कार का पार्थक्य निर्भर करता है चमत्कार की विलक्षणता पर। यदि उपमा की अपेक्षा प्रतीप मे किसी विशेष चमत्कार की अनुभूति हो तो उसे पृथक् अलङ्कार मानना नितान्त युक्तिपूर्ण है और यदि सादृश्य ही चमत्कारी हो तो निश्चित रूप से उसे उपमा मे ही विलीन कर देना चाहिये। यह ऐसा विषय नही जो तर्क से सिद्ध किया जा सके अत विचारणीय है।

७

विरोधमूलक अलंकार

विरोध

लक्षरण

पण्डितराजकृत लक्षरण —

'एकाधिकरणसम्बद्धत्वेन प्रतिपादितयोरर्थयोर्भासमानैकाधिकरणासम्बद्धत्वम्, एकाधिकरणासम्बद्धत्वभान वा विरोध । यदा, एकाधिकारणासम्बद्धत्वेन प्रसिद्धयोरे-काधिकरणसम्बद्धत्वेन प्रतिपादन सः ।'

अर्थात् एक ही अधिकरण से सम्बन्ध रखने वाले दो अर्थों का जब एक ही अधिकरण से असम्बन्धित होना प्रतीत हो तो विरोध होता है । (विरोध की प्रतीति को दो रूप मे कहा है —(१) ज्ञान का विषय जो एकाधिकरण से असम्बन्ध विरोध है, (२) असम्बद्ध होने का ज्ञान विरोध है । यहाँ प्रथम रूप मे 'असम्बद्धत्व' विशेष्य है और 'उसका भान' विशेषरण है तथा दूसरे रूप मे 'असम्बद्धत्व' विशेषरण है और 'भान' विशेष्य है । स्थूल दृष्टि से दोनो का तात्पर्य एक ही है ।) अथवा जहाँ एक स्थान से असम्बद्ध रूप से प्रसिद्ध दो पदार्थों का एक ही अधिकरण से सम्बद्ध रूप मे प्रतिपादन किया जाय तो भी विरोध होता है । यह विरोध-बोध कालान्तर मे समाप्त हो जाता है इससे इसे विरोधाभास भी कहते हैं ।

विरोध

विरोध दो प्रकार का होता है—प्ररूढ और अप्ररूढ । जो विरोध बाध-बुद्धि से समाप्त नही होता, बना ही रहता है वह प्ररूढ और जो बाधबुद्धि से समाप्त हो जाता है वह अप्ररूढ विरोध होता है । प्ररूढ विरोध दोष होता है और अप्ररूढ विरोध अलङ्कार का स्थल होता है ।

आभास

'आ ईषद् भासते इति आभास ।'[1]

अर्थात् किञ्चित् भासित होना ही है आभास । जब विरोध की प्रतीति पार्यन्तिक न होकर प्रातिभासिक हो तो वहाँ विरोध का आभास मात्र होता है ।

---

१ रस पृ. ४२७

यह विरोधाभास अथवा आपातत होने वाली विरोध की प्रतीति अग्रिम क्षण मे उत्पन्न होने वाली अविरोध बुद्धि से समाप्त हो जाती है ।

यही विरोध यदि कार्यकारण भाव से युक्त होता है तो विभावना या विशेषोक्ति अलङ्कार का विषय बन जाता है । अत इस लक्षण से इतना विशेषण और जोड देना चाहिये कि उस विरोध को कार्य-कारण भाव से रहित होना चाहिये । उसी स्थिति मे वह विरोधाभास अलङ्कार हो सकेगा ।

विरोधालङ्कार के भेद

मम्मट का मत—

विरोध अलङ्कार दस प्रकार का होता है —

अर्थात्, जाति, गुण, द्रव्य और क्रिया रूप पदार्थों का जब अपने से अथवा दूसरे से विरोध होता है तो उसके विभिन्न प्रकार बन जाते है । जैसे जाति का जाति से विरोध होने पर, जाति का द्रव्य से विरोध होने पर, जाति का गुण से विरोध होने पर इत्यादि उक्त दस भेद सम्भव हो जाते है । इनमे से कतिपय भेदो के उदाहरण इस प्रकार हैं —

> कुसुमानि शरा मृणालजालान्यपि कालायसकर्कशान्यभूवन् ।
> सुदृशो दहनायते स्म राका भवनाकाशमथाभवत्पयोधि ॥[२]

इसमे कुसुमत्व जाति का शरत्व जाति से, मृणालत्व जाति का कर्कशत्वगुण से, राकात्व जाति से दहनरूपक्रिया का और पयोधित्व रूप जाति से आकाश रूप द्रव्य का विरोध है । अत. उक्त दस भेदो मे से प्रथम चार प्रकार का विरोध यहाँ है ।

यहा प्रतीत होने वाले सभी विरोध, जब यह ज्ञात होता है कि कुसुमादि सभी विरहिणी के दु:ख को बढाने वाली वस्तुएं है, तो समाप्त हो जाते हैं ।

गुण का गुण से विरोध—

---

२ रस पृ. ४२७

त्वयि दृष्टे त्वया दृष्टे भवन्ति जगतीतले ।
महान्तोऽप्यणवो राजन्नणवश्च महत्तरा ॥[3]

इसमे अणुत्व और महत्त्व इन दो गुणो का विरोध प्रतीत होता है ।

इसी प्रकार गुण से क्रिया का, द्रव्य से द्रव्य का इत्यादि विरोध के शेष प्रकारो को भी उदाहरण देकर स्पष्ट किया गया है ।

इस अलङ्कार के प्रसङ्ग मे जाति और क्रिया का तात्पर्य नैयायिक दृष्टिकोण के अनुसार किसी वस्तु का असाधारण धर्म अथवा स्पन्दन इत्यादि मे ग्रहण न करके धर्ममात्र मे और विभिन्न धातुओ के द्वारा अभिहित नाना क्रियाओ मे ही समझना चाहिये ।

जाति का अर्थ धर्म मात्र मान लेने से अभाव का और उपाधिका भी सङ्ग्रह हो जायेगा । जिससे 'य किल बालकोऽपि पुराणपुरुष,' "विशुद्धमूर्तिरपि नीलाम्बुदनिभ" जगद्धितकृदपि जगदहितकृत् और 'अगोद्धारकोऽपि नागोद्धारको' इत्यादि स्थानो पर भी विरोधालङ्कार की सङ्गति हो जायेगी ।[4]

उक्त भेदों का अहृद्यत्व

विरोधालङ्कार के उक्त दसो भेद मम्मटादि के अनुरोध से प्रतिपादित कर दिये गये है । वास्तव मे जाति आदि के कारण होने वाले भेदो मे कोई विशेष चमत्कार नही है । अत उन भेदो को मानना निरर्थक है ।

विरोधालङ्कार के दो ही प्रकार चमत्कारी होते हैं—श्लेषरहित और श्लेष सहित । अर्थात् श्लेष के रहने और न रहने से चमत्कृति मे वैलक्षण्य होता है । अत· विरोध को दो प्रकार का मानना उचित है—१–शुद्ध व २–श्लेषमूलक ।

उपर्युक्त 'य किल बालकोऽपि पुराणपुरुष' इत्यादि उदाहरण श्लेषमूलक विरोध के उदाहरण हैं और 'कुसुमानि शरा' इत्यादि शुद्ध विरोधाभास के उदाहरण हैं ।

शाब्द व आर्थ विरोधालङ्कारसम्बन्धी प्राचीन मत—

जहाँ 'अपि' आदि शब्द विरोध के द्योतक हो वहा वह विरोध शाब्द होता है और जहाँ 'अपि' शब्द का प्रयोग नही होता वहाँ आर्थ होता है ।

'शाब्द' होने का तात्पर्य 'शब्द द्वारा होने वाली प्रतीति का विषय होना' (शब्दकरणकप्रतीतिगोचरत्व) नही है क्योंकि 'त्रयोऽप्यत्रय.' इत्यादि मे अ उपसर्ग नञर्थक न होने से विरोध का भान नही होता अपितु विशेष–विशेष्यभूत 'तीनों अत्रि भी' यह निश्चित अर्थ ही ज्ञात होता है ।

---

३ रस पृ. ४२७

४, दे. परि. ख–१

इसकी सिद्धि के लिये यदि यह कहा जाय कि–'त्रयोऽप्यत्रय.' मे नञर्थक अ उपसर्ग के दर्शन मात्र से पहले विरोध का आभास होता है तत्पश्चात् प्रकरणादि का ज्ञान होने पर विशेषणविशेष्य तदुभय ससर्ग रूप अर्थ का भान होता है। अत 'अपि' शब्द की शब्दकरण प्रतीति गोचरता यहाँ भी सिद्ध हो गयी। अर्थात् तदधिकरणावृत्तित्व के समान तत्प्रतियोगिकत्व भी विरोध का स्थल है और त्रयोऽप्यत्रय मे नञर्थ 'अ' उपसर्ग के प्रतियोगी त्रय का अत्रय के साथ विरोध हो ही जाता है तो भी निस्तार नही क्योकि 'सुप्तोऽपि प्रबुद्ध,' इसमे तब भी अपि शब्द विरोध का द्योतक नही होता। इसका 'सुप्त सुप्तत्वविरुद्धप्रबुद्धत्ववदभिन्नः' यह लाक्षणिक अर्थ भी नही किया जा सकता क्योकि वह अनुभवसिद्ध नही है। अत अभिधेय अर्थ से तो विरोध का शाब्दत्व नही ही है। लक्ष्यार्थ से भी उस विरोध को शाब्द बोध का विषय नही मान सकते।

अत होता यह है कि 'त्रयोऽप्यत्रय' और 'सुप्तोऽपि प्रबुद्धः' इत्यादि विरोध के उदाहरणो मे दोनो पदो के द्वारा शयितत्व तथा जागरितत्व आदि दोनो धर्मों की उपस्थिति होती है, जिससे सम्बन्धिज्ञान होता है (विरोध है सम्बन्ध, उस सम्बन्ध के प्रति सम्बन्धी है उक्त पदद्वयादि। उनका ज्ञान ही सम्बन्धिज्ञान है) उन दोनो सम्बन्धियो के मध्य, अपि शब्द के साचिव्य से, विरोध की भी स्मृति होती है। तत्पश्चात् सुप्तत्व और जागरितत्व एक अधिकरण मे नही रह सकते इस प्रकार के प्रतिबन्धक ज्ञान के द्वारा, जो प्रबलतर है, (प्रतिबध्य ज्ञान से प्रतिबन्धक ज्ञान प्रबलतर होता है) 'यह दोनो धर्म विरुद्ध है' इस प्रकार का मानसिक (ज्ञानलक्षणासन्निकर्षजन्य) या वैयञ्जनिक बोध होता है (मानसबोध मे शाब्दत्व नही है अत. वैयञ्जनिक कहा है) इससे शयितत्व और जागरितत्व मे अभेद–बोध नही होने पाता। तब द्वितीय अभिधा से प्रादुर्भूत किया गया द्वितीय अर्थ–प्रकृष्टज्ञानवत्त्व को लेकर अन्वय–बोध होता है और विरोध समाप्त हो जाता है। समाप्त हो जाने पर भी कवि की कुशलता से उत्पन्न होने के कारण वह चमत्कारिणी होती है।

नवीन आचार्यो का मत :

दो अर्थों के प्रादुर्भाव के बिना विरोध नही हो सकता और उनमे से भी एक अर्थ विरोध को उत्पन्न करने वाला और दूसरा इसको समन्वित करने वाला होता है– इसमे कोई विवाद ही नही है। परन्तु अन्वय बोध का विषय जो द्वितीयार्थ है उसी मे लगा हुआ सा विरोध को उत्पन्न करने वाला प्रथम अर्थ भी भासता रहता है। यद्यपि वह प्रथम अर्थ द्वितीय अर्थ से भिन्न होता है परन्तु श्लेष के कारण वह अभेदाध्यवसित हो जाता है। और इस प्रकार अविरुद्ध द्वितीयार्थ को लेकर अन्वयबोध होने पर भी पहले उपस्थित हुआ विरुद्ध अर्थ पूर्णत. निवृत्त नहीं होता अपितु

अर्धमृत व्यक्ति के समान श्वास लेता हुआ सा मानस बोध का विषय बना रहता है इसी से वह चमत्कारी कहा जाता है ।

जो विरोध पूर्णतया समाप्त हो जाये वह चमत्कार उत्पन्न नही कर सकता और बिना चमत्कार उत्पन्न किये कोई अलङ्कार अलङ्कार नही होता । अत विरोध-बुद्धि न तो पूर्णत समाप्त होती है और न दृढ ही रहती है ।

प्राचीन और नवीन मत का मुख्य भेद यही है कि प्राचीनो के अनुसार अन्वय-बोध के पश्चात् विरोधबोध पूर्णतया समाप्त हो जाता है और नवीनो के अनुसार न तो पूर्णत समाप्त ही होता है और न अन्त तक दृढ ही बना रहता है ।

अप्पयदीक्षित का मत :—

उत्प्रेक्षामूलक विरोध अलङ्कार भी होता है । जैसे—

प्रतीपभूपैरिव किं ततो भिया विरुद्धधर्मैरपि भेत्तृतोज्झिता ।
अमित्रजिन्मित्रजिदोजसा स यद्विचारदृक् चारदृगप्यवर्तत ॥

इसमे विरोध का समाधान करने के लिये उत्प्रेक्षा का आश्रय लेना पडता है इसलिये यह उत्प्रेक्षामूलक विरोधाभास का स्थल है ।

पण्डितराजकृत खण्डन :

अप्पयदीक्षित का मत अनुचित है क्योकि विरोध अलङ्कार वही पर माना जाता है जहाँ पहले विरोध की प्रतीति होती है, पश्चात् दूसरे अर्थ का बोध हो जाने पर वह समाप्त हो जाती है । तदनुसार उक्त अप्पय दीक्षित के उदाहरण मे विरोध का समाधान करने के लिये जिस उत्प्रेक्षा का आश्रय लेना पडता है वह उत्प्रेक्षा प्रमुख होने के कारण विरोध उत्पन्न ही नही होने देती । अत जहाँ किसी प्रकार का विरोध ही नहीं होगा वहा विरोधालङ्कार कैसे हो सकता है ।

निष्कर्ष यह है कि 'प्रतीपभूपै' इत्यादि उदाहरण मे उत्प्रेक्षामूलक विरोध अलङ्कार नही है अपितु उत्प्रेक्षा ही है ।

समवलोकन :—

विरोधाभास अलङ्कार विरोधमूलक अलङ्कारो का प्रमुख अलङ्कार है अत इसका सर्वप्रथम निरूपण हुआ है । विरोधाभास का मूल तत्त्व विरोध ही है, उसका पण्डितराज ने सूक्ष्मेक्षिकया पूर्ण विश्लेषण किया है ।

इसके मम्मटादि सम्मत सभी भेदो को अचमत्कारी सिद्ध करके केवल दो ही भेदो को स्वीकार किया है—श्लिष्ट और अश्लिष्ट ।

---

५ 'अत्र विरोधसमाधानोत्प्रेक्षाशिरस्को विरोधाभास इति पूर्वस्माद् भेद ।'
कुव० पृ १४२ (उक्त उदाहरण भी इसी पृष्ठ पर प्राप्त है ।)

विरोधाभास की व्याकरण सम्मत व्युत्पत्ति को दिखाकर तदनुकूल उसका स्वरूप बताना अप्पयदीक्षित के मत का ही अनुवाद प्रतीत होता है। क्योंकि कुवलयानन्द मे जो लक्षण किया गया है वह है 'आभासत्वे विरोधस्य विरोधाभास इष्यते।'[६] इन्होने भी मम्मट सम्मत जात्यादि के भेद से विरोध के प्रकारों का उल्लेख नही किया है केवल श्लेषमूलक और अश्लिष्ट दो ही प्रकार गिने हैं।

मम्मट के मत से पण्डितराज के मत मे एक सूक्ष्म भेद है। मम्मट ने विरोध के वर्णन को (कथन को) चमत्कारी माना है अर्थात् विरोध की उक्ति विरोधालङ्कार है और पण्डितराज ने विरोध की प्रतीति को विरोधालङ्कार माना है।[७] विरोधाभास शब्द की व्युत्पत्ति के अनुसार पण्डितराज और अप्पय के ही लक्षण अधिक अनुकूल प्रतीत होते हैं।

विभावना

लक्षण

पण्डितराजकृत लक्षण .

विभावना का लक्षण यह है—

'कारणव्यतिरेकसमानाधिकरण्येन प्रतिपाद्यमाना कार्योत्पत्तिर्विभावना'।[८]

अर्थात् जिस स्थान मे कारण का अभाव हो उसी स्थान मे कार्य की उत्पत्ति का वर्णन करना ही विभावना है। इसके समर्थन मे मम्मट का दिया हुआ लक्षण भी दिया जा सकता है—'क्रियाया प्रतिषेधेऽपि फलव्यक्तिर्विभावना।[९] अर्थात् क्रिया के न रहने पर भी कार्य हो जाये तो विभावना होती है। इसमे क्रिया का अर्थ है, कारण।

इसमे प्रतीत होने वाला विरोध आपातत ही होता है क्योंकि कारणान्तर की कल्पना कर लेने से वह विरोध समाप्त हो जाता है। जैसे—

विनैव शस्त्र हृदयानि यूना विवेकभाजामपि दारयन्त्य ।
अनन्तमायामयवल्गुलीला जयन्ति नीलाब्जदलायताक्ष्य· ।।[१०]

इसमे, दारणरूप कार्य मे शस्त्र कारण हैं, परन्तु शस्त्र के बिना ही दारण का वर्णन हुआ है। अपातदृष्ट्या यहाँ विरोध दिखाई पडता है परन्तु बाद मे जब

---

६ कुव. पृ १४१

७. 'विरोध सोऽविरोधेऽपि विरुद्धत्वेन यद्वच । (का. प्र. पृ ३९५)
भासमानैकाधिकरणासम्बद्धत्वम् एकाधिकरणासम्बद्धत्वभान वा विरोध । रस. पृ ४२७)

८. रस. पृ ४३१

९. का. प्र. पृ १९०

१०. रस. पृ. ४३२

कामिनीविलास को दारण के प्रति कारण जान लेते हैं (कल्पित कर लेते हैं) तो वह विरोध समाप्त हो जाता है।

विभावनागत यह कारणाभाव सामान्यकारणाभाव नही है। यदि इसे सामान्य-कारणाभाव मान लिया जाय तो 'लुब्धकधीवरपिशुना निष्कारणवैरिणो जगति' इसमे भी विभावना अलङ्कार हो जायेगा। क्योकि यहाँ वैर रूप कार्य के प्रति सामान्यकारणाभाव वर्जित है।

उक्त उदाहरण मे विभावना की अतिव्याप्ति को रोकने के लिये यदि यह कहा जाय कि उस कारणाभाव को विशेष रूप से कारण का नाम देकर कहना चाहिये (कारणतावच्छेदकरूपावच्छिन्नप्रतियोगिताक कारणाभाव होना चाहिये) तो भी उसकी सङ्गति 'खला विनैवापराध भवन्ति खलु वैरिणः' इस स्थल मे हो जायेगी। यहाँ कारण का विशेष रूप 'अपराध–'उक्त है। अर्थात् अपराध रूप से कारणका अभाव कहा गया है। (कारणतावच्छेदकरूप है अपराधत्व, उससे अवच्छिन्न है अपराध, तद्रूप कारण के अभाव मे वैररूप कार्य की प्रतिपत्ति हुई है। अतः विभावना हो जाती है)

पुनः, इस अतिव्याप्ति को रोकने के लिये यह कहा जाय कि कार्यांश को अतिशयोक्ति या रूपक से अभेदनिश्चय वाला होना चाहिये, तब भी 'खला विनैवाप-राध दहन्ति खलु सज्जनान्' मे विभावना की सङ्गति हो जायेगी। यहाँ कार्य है दहन, इसके प्रति अपराध को कारण तभी माना जा सकता है जब दहन का अर्थ पीडा भी हो। अत अपराध रूप कारण के प्रति दहन रूप कार्यांश मे अतिशयोक्ति से पीडा और दाहरूप अर्थों का अभेदाध्यवसान है।

इत्थ प्रकारेण, कारणाश और कार्यांश मे उक्त नाना विशेषणो को जोडने से भी विभावना की अतिप्रसक्ति निवृत्त नही होती। अत उसका निष्कृष्ट लक्षण इस प्रकार समझना चाहिये।

कार्यांश मे जिन दो अर्थों का अभेद रहता है उसमे से उपमानभूत अर्थ का जो विशेष रूप है, उसके प्रति जो कारण हो उसके ही विशेष रूप को 'कारणताव-च्छेदकरूपावच्छिन्नप्रतियोगिताक' पद से ग्रहण करना चाहिये। (अर्थात् कार्यांश मे जो विषयितावच्छेदक, उससे अवच्छिन्न जो कार्यता, तन्निरूपित कारणता का अवच्छेद) यह अर्थ ग्रहण करने से 'खला विनैवापराध दहन्ति खलु सज्जनान्' मे विभावना नही होगी क्योकि इसमें कार्य है दहन। दहन मे दाह और पीडा का अभेद है। इनमे से पीडा है विषय और दाह है विषयी। उस दाह के प्रति कारण है वह्नि, उस वह्नि का अभाव यहाँ वर्णित नही है। (कार्यांश-दाह, विषयितावच्छेदक-दाहत्व, तदवच्छिन्न कार्यता-दाह, दाहनिरूपित कारणता-वह्निनिष्ठा, कारणतावच्छेदक-वह्नित्व तदवच्छिन्न–वह्नि, उसका अभाव यहाँ नहीं है।)

दाह की कारणता अपराध मे नही है, वह्नि मे ही है अतः उसका अवच्छेदक भी वह्नित्व ही है अपराधत्व नही । अत· अपराधाभाव के सामानाधिकरण्य से दहन की उत्पत्ति का वर्णन होने से भी यहाँ विभावना नही होगी ।

उक्त उदाहरण को ही यदि 'खला विनैव दहन दहन्ति जगतीतलम्' इस प्रकार कर दिया जाय तो विभावना हो जायेगी ।

विभावना के भेद

पण्डितराज का मत ·

विभावना दो प्रकार की होती है–उक्तनिमित्ता और अनुक्तनिमित्ता

उक्तनिमित्ता–जहाँ कारणाभाव से कार्योत्पत्ति का वर्णन करते हुए उस कार्य का पृथक् कारण भी कह दिया जाय वहाँ उक्त निमित्ता विभावना होती है ।

अनुक्तनिमित्ता–जहाँ उस कारण को न कहा गया हो वहाँ अनुक्तनिमित्ता विभावना होती है । इसके उदाहरण के लिये 'विनैव शस्त्र–' इत्यादि पूर्वोक्त पद्य लिया जा सकता है ।

उक्तनिमित्ता का उदाहरण यह है —

यदवधि विलासभवन यौवनमुदियाय चन्द्रवदनाया ।
दहन विनैव तदवधि यूना हृदयानि दह्यन्ते ।।[११]

इसमे अग्नि के बिना ही दाह का वर्णन किया गया है । परन्तु उस दाह के प्रति अग्नि से अतिरिक्त दूसरा कारण यौवन भी शब्दश उक्त है । अत. यहाँ यौवन रूप कारण से पीडा रूप दहन हो रहा है । निमित्त के उक्त हो जाने से यह उक्तनिमित्ता का उदाहरण है ।

अप्पयदीक्षित का मत

विभावना के ६ प्रकार है जिनके लक्षण और उदाहरण क्रमश इस प्रकार है –

(१) 'विनापि स्यात् कारण कार्यजन्म चेत् ।'[१२] अर्थात् जहाँ बिना कारण के कार्य की उत्पत्ति हो वहाँ विभावना होती है । जैसे–'अप्यलाक्षारसासिक्त रक्त तच्चरणद्वयम् ।'[१३] इसमे लाक्षारस रूप कारण के अभाव मे रक्तिमा रूप कार्य की उत्पत्ति होने से विभावना का उक्त प्रकार है ।

(२) 'हेतूनामसमग्रत्वे कार्योत्पत्तिश्च सा मता ।'[१४] अर्थात् जहाँ किसी कार्य के प्रति एक ही कारण न हो, अनेक कारण हो और उन अनेक कारणो मे से सबके

११. रस. पृ. ४३५
१२. कुव० पृ. १४२
१३. वही
१४. कुव० पृ. १४४

उपस्थित न होने पर भी कार्य हो जाये तो दूसरी विभावना होती है। जैसे–अस्त्रैर-तीक्ष्णकठिनैर्जगज्जयति मन्मथ।[15] अस्त्र और तीक्ष्णता मे से केवल अस्त्रो का रहना, तीक्ष्णता का न रहना–कारणो का पूर्ण न होना है परन्तु उसके अभाव मे भी संसार पर विजय रूप कार्य हो रहा है। अत विभावना का द्वितीय प्रकार है।

(३) 'कार्योत्पत्तिस्तृतीया स्यात्सत्यपि प्रतिबन्धके।'[16] अर्थात् कारणो के साथ-साथ प्रतिबन्धक के रहने पर भी जब कार्य की उत्पत्ति हो जाती है तो तृतीय प्रकार की विभावना होती है। जैसे–'सातपत्र दहत्याशु प्रतापतपनस्तव।[17] 'यहाँ ताप से तप्त होने मे आतपत्र बाधक है परन्तु फिर भी तपनरूप कार्य हो ही रहा है अत तृतीय प्रकार की विभावना है।

(४) अकारणात्कार्यजन्म चतुर्थी स्याद्विभावना।[18] अर्थात् अकारण से कार्य की उत्पत्ति हो तो चतुर्थी विभावना होती है। जैसे–'शखाद्वीणानिनादोऽयमुदेति महदद्भुतम्।'[19] इसमे शख से वीणा की ध्वनि उत्पन्न हो रही है अत चतुर्थ प्रकार की विभावना है।

(५) 'विरुद्धात्कार्यसम्पत्तिर्दृष्टा काचिद्विभावना।'[20] अर्थात् जहाँ कार्य की उत्पत्ति विरुद्ध कारण से हो जाये। वहाँ विभावना का पञ्चम प्रकार होता है। जैसे–'शीताशुकिरणास्तन्वी हन्त सन्तापयन्ति ताम्।'[21] इसमे शीताशु से ताप रूप कार्य की सिद्धि हो रही है जो नितान्तविरुद्ध है।

(६) 'कार्यात्कारणजन्मापि दृष्टा काचिद्विभावना।'[22] अर्थात् कार्य से कारण की उत्पत्ति होने पर भी एक प्रकार की विभावना होती है। जैसे–'यश पयोराशिरभूत्करकल्पतरोस्तव।'[23] इसमे कल्पतरु से समुद्र की उत्पत्ति वर्णित है। कल्पतरु वास्तव मे समुद्र का उत्पाद्य है। अत· विरोध होने से यहाँ षष्ठ प्रकार की विभावना है।

पण्डितराजकृत खण्डन :

अप्पयदीक्षित ने जिस प्रकार विभावना के प्रकारो का उल्लेख करके उसकी व्यवस्था की है वह असङ्गत है। कारण इस प्रकार है—

---

१५ वही
१६. कुव. पृ. १४५
१७. कुव. पृ. १४५
१८. कुव. पृ १४५
१९. वही
२०. कुव. पृ. १४६
२१. वही
२२. कुव. पृ. १४७
२३. वही

(१) विभावना का कोई सामान्यलक्षरण नही दिया है जिसके कारण उक्त भेदो को किसका भेद माने यह आकाक्षा बनी ही रहती है। जिस प्रकार उपमा, रूपक आदि का एक-एक मुख्य लक्षरण है–'साद्दश्यमुपमा भेदे', 'तद्रूपकमभेदो य उपमानोपमेययो' इत्यादि, तत्पश्चात् पूर्णा, लुप्ता, सावयव, निरवयव आदि उसके भेद हैं उस प्रकार यहाँ कोई मुख्य लक्षरण नही है जो उक्त प्रकारो के लिये अपेक्षित है।

(२) 'कारण के बिना कार्य की उत्पत्ति होना' सामान्य लक्षण हो नही सकता क्योकि उसका उल्लेख एक भेद के रूप मे हुआ है।

(३) उक्त भेद को भेद मानना इसलिये अनिवार्य है क्योकि यदि उसे भेद नही माना जायेगा तो तृतीय और चतुर्थ भेद मे कहे गये 'तृतीया' और 'चतुर्थी' पदो की सार्थकता नही रहेगी। अर्थात् वह विभावना तीसरी और चौथी तभी होगी जब 'कारण के बिना कार्य की उत्पत्ति' पहली विभावना हो।

(४) यदि अतिशयोक्ति आदि के समान यहाँ भी यह कहा जाय कि 'इनमे से अन्यतम के होने पर विभावना होगी' यही इसका सामान्य लक्षरण है, तो भी व्यवस्था नही बन पाती क्योकि यह जो ६ भेद कहे है उनमे परस्पर कोई विलक्षणता नही है। क्योकि—

(क) प्रथम प्रकार मे कारणाभाव मे कार्य की उत्पत्ति होती है। यहाँ वही कारणाभाव विवक्षित है जो कारणतावच्छेदकावच्छिन्न प्रतियोगिताक, कारणतावच्छेदक सम्बन्धावच्छिन्न हो। द्वितीय प्रकार मे हेतुओ का समग्र रूप मे उपस्थित न होना भी कारणाभाव ही है। अत प्रथम प्रकार से द्वितीय प्रकार मे कोई वैलक्षण्य नही है।

(ख) तृतीय प्रकार मे प्रतिबन्धक का रहना भी कारण का अभाव ही है क्योकि कार्य मात्र के प्रति प्रतिबन्धकाभाव कारण है—यह सिद्धान्त है। अत यह भी प्रथम प्रकार मे ही समाविष्ट हो जाता है।

(ग) चतुर्थ प्रकार मे भी अकारण से कार्य की उत्पत्ति कहने मे अर्थत कारणाभाव का ज्ञान हो ही जाता है। अत. यहाँ भी कारणाभाव मे कार्योत्पत्ति के होने से प्रथम प्रकार की विभावना ही सङ्गत हो जाती है।

(घ) पञ्चम प्रकार के उदाहरण मे शङ्ख से वीणा की ध्वनि की उत्पत्ति का वर्णन करने मे अभिप्राय यही है कि वीणा के अभाव मे ही वीणा-नाद भी उत्पत्ति हो गयी। यह कारण के अभाव मे कार्योत्पत्ति से अतिरिक्त और कुछ नही है। अतः यहाँ भी प्रथम प्रकार से कोई विलक्षणता नही है। षष्ठ प्रकार मे भी कारणाभाव स्पष्ट ही है।

इस प्रकार जब एक ही प्रकार से अन्य सभी प्रकारो का सग्रह हो जाता है तो उन्हे पृथक्-पृथक् भेद कहना असङ्गत व व्यर्थ है। एव च भेदो की विलक्षणता के असम्भव होने पर उनमे से अन्यतम का होना विभावना का सामान्य लक्षण कहना स्वत ही निराधार है।

यदि अप्पय दीक्षित कृत भेदो को अपनाना ही हो तो उनकी व्यवस्था इस प्रकार करनी चाहिये—

'कारण के बिना कार्य की उत्पत्ति' यह है विभावना का सामान्य लक्षण। इसके सर्वप्रथम दो भेद होते है– शाब्दी और आर्थी।

शाब्दी विभावना तीन प्रकार की होती है —

(१) प्रतिबन्धकाभावातिरिक्तकारणव्यक्तिप्रतियोगिकाभावोक्तिपूर्विका। अर्थात् प्रतिबन्धक से अतिरिक्त जो विशेष कारण हो उसके अभाव मे कार्य की उत्पत्ति होने पर।

(२) किसी कारण विशेष के रहते हुए भी कारणगत जिस विशेषता के अभाव मे कार्योत्पत्ति नही हो सकती उस विशेषता के अभाव का कथन होने पर।

यह विशेषता कही तो कारणतावच्छेदक धर्मरूपा हो सकती है और कही कारणतावच्छेदकसम्बन्धरूपा हो सकती है।

(३) प्रतिबन्धक के रहते हुए कार्योत्पत्ति का वर्णन होने पर। इसमे प्रतिबन्धक का शब्दत. कथन होना अपेक्षित है।

आर्थी विभावना भी तीन प्रकार की ही है —

(१) प्रकृत कार्य के समानजातीय किसी अन्य कार्य के कारण से कार्य की उत्पत्ति होने पर।

(२) प्रकृत कार्य के विरोधी कार्य के कारण से कार्य की उत्पत्ति होने पर

(३) अपने कार्य से ही प्रकृत कार्य की उत्पत्ति होने पर।

इन्ही अर्थों मे 'कारणाभाव' का सङ्गमन होगा।

विभावना की विशेषताएँ —

(१) विभावना मे सर्वत्र कार्यांश मे अतिशयोक्ति का अनुप्राणन रहता है। इस अतिशयोक्ति से दो अर्थों मे एकीकरण हो जाता है और उन एकीकृत दो कार्यों मे से एक कार्य से सम्बन्धित कारण का अभाव जहाँ रहता है वही उसके कार्य की अनुत्पत्ति का भी वर्णन रहता है। परन्तु उस कारण की कारणता को तदितर कार्य के प्रति मान कर वहाँ विरोध हो जाता है। जैसे 'विनव शस्त्रं—'इत्यादि में दारण

रूप कार्य मे द्विधाकरण और पीडा विशेष का अभेदाध्यवसान है। द्विधाकरण के प्रति शस्त्र कारण है, उस कारण के अभाव मे द्विधाकरण रूप कार्य का भी अभाव है। परन्तु यहाँ शस्त्र को द्विधाकरण से एकीभूत पीडाविशेष का कारण मानकर विभावना की उद्भावना की जाती है।

वस्तुत, विभावना मे सर्वत्र अतिशयोक्ति अनुप्राणिका होती है इसका तात्पर्य इतना ही है कि आहार्या अभेद बुद्धि मात्र विभावना की पोषिका होती है। वह अभेद ज्ञान कही अतिशयोक्ति से हो सकता है और कही रूपकसे भी हो सकता है। रूपक कृत अभेदाध्यवसान को भी उदाहरण देकर स्पष्ट किया गया। जिससे रुय्यक का यह मत भी खण्डित हो जाता है कि अतिशयोक्ति विभावना का सर्वत्र अनुप्राणन करती है।[२४]

(२) कारण से विरुद्ध कार्यांश कारणाभावरूप विरोधी के रहते हुए भी बाध्य रूप से स्थित रहता है। अर्थात् जिस कार्य की उत्पत्ति वर्णित रहती है उसका ही नियम के विरुद्ध होने से बाध हो जाता है क्योकि विरोध का परिहार करने के लिये कार्यांश का ही रूपान्तर मे पर्यवसान होता है कारणाश का नही। कार्यांश ही कल्पित होता है, कारणाश स्वभाव-सिद्ध रहता है।

विरोध और विभावना मे भेद.—

विरोध और विभावना का प्रमुख भेद यह है कि विभावना मे कार्यांश दुर्बल रहता है और कारणाश प्रबल अत. दोनो अंशो मे समबलता नही रहती और विरोध मे इसके विपरीत दोनो अर्थ समान शक्तिवाले होते हैं।

इस भेद को मानते हुए ही किसी प्राचीन आलङ्कारिक ने कहा है—

कारणस्य निषेधेन बाध्यमान. फलोदयः।
विभावनायामाभाति, विरोधोऽन्योन्यबाधनम् ॥[२५]

अर्थात् कारण के अभाव से बाधित होते हुए कार्य का वर्णन विभावना मे होता है और जहाँ दोनो अर्थ एक दूसरे को बाधित करें वहाँ विरोधालङ्कार होता है। विभावना मे कार्य-कारण परस्पर बाधक नही होते केवल कारणाभाव ही कार्योत्पत्ति का बाधक होता है। कार्योत्पत्ति से कारणाभाव बाधित नही होता।

समवलोकन :—

विभावना के लक्षणादि मे पण्डितराज का मत कोई वैलक्षण्य नही रखता किन्तु विभावना की स्थिति का जो विश्लेषण पण्डितराज ने किया है वह उनकी विशेष

---

२४. 'उच्यते–मा स्म भूत्सर्वत्र विभावनायामतिशयोक्तिरनुप्राणिका। आहार्याभेदबुद्धिमात्रमेवानुप्राणकम्। तच्च क्वचिदतिशयोक्त्या, क्वचिच्च रूपकेणेति न दोष·।' (रस. पृ. ४४३)

२५. रस. पृ. ४३२

देन है। 'विभावना की विशेषताओं' के अन्तर्गत उस विश्लेषण का पूर्ण विवेचन हुआ है अत: यहाँ उसको पुन: कहना पिष्ट-पेषण होगा।

पूर्वाचार्यों ने सामान्यतया केवल विभावना का लक्षण और उदाहरण (भेद सहित) ही दिये है उसकी सूक्ष्मता मे उतरने का साहस किसी ने नही किया। विभावना मे कार्यांश मे अतिशयोक्ति का अनुप्राणन रुय्यक ने प्रदर्शित किया था परन्तु पण्डितराज ने उसमे सुधार करके केवल आहार्या अभेदबुद्धि मात्र का अनुप्राणन स्वीकार किया। वह अभेद बुद्धि श्लेष, रूपक अथवा अतिशयोक्ति मे से किसी से भी हो सकती है।

भेदो मे ऐसा प्रतीत होता है कि मुख्यरूप से उक्तनिमित्ता और अनुक्तनिमिता यह दो ही भेद स्वीकार्य है। अप्पय दीक्षित के तो लगभग सम्पूर्ण विभावना प्रकरण पर ही प्रहार किया गया है। अन्त मे उन्ही प्रकारो को नवीन रीति से व्यवस्थित कर देने से पण्डितराज का विरोध स्वय कुछ शिथिल हो जाता है और ऐसा लगने लगता है कि अपने प्रधान प्रतिद्वन्द्वी होने के नाते अप्पय के ऊपर आक्षेप करना ही उनका उद्देश्य था।

पुनर्व्यवस्था मे भेदो के स्वरूप मे कोई अन्तर नही है केवल शब्दो का ही अन्तर है।

विशेषोक्ति

लक्षण

पण्डितराजकृत लक्षण —

विशेषोक्ति अलङ्कार का लक्षण है—'प्रसिद्धकारणकलापसामानाधिकरण्येन वर्ण्यमाना कार्यानुत्पत्तिर्विशेषोक्ति।'[२६] अर्थात् किसी कार्य के प्रति जिन-जिन कारणो की प्रसिद्धि हो उन सबके उपस्थित होते हुए भी कार्य की उत्पत्ति का न होना विशेषोक्ति अलङ्कार है। जैसे—

उपनिषद परिपीता गीतापि च हन्त मतिपथ नीता।
तदपि न हा विधुवदना मानससदनाद् बहिर्याति॥[२७]

इसमे उपनिषद् आदि का परिशीलन इत्यादि सब कारणो के होते हुए भी विरति रूप कार्य का अभाव है। अतः यहाँ विशेषोक्ति अलङ्कार है।

इस अलङ्कार मे कारणो के होते हुए भी कार्य के न होने से जो विरोध प्रतिभासित होता है वह प्रसिद्ध कारण से अतिरिक्त कारण की कल्पना कर लेने से

२६. रस. पृ. ४३७
२७. रस. पृ. ४३७

समाप्त हो जाता है। तात्पर्य यह है कि जिस कार्य का अभाव रहता है उसके प्रति जो कारण है उस कारण का भी वहाँ अभाव ही रहता है एव उससे इतर किसी कारण का वर्णन वहाँ रहता है। इस प्रकार आपातत· प्रतीत होने वाले विरोध का परिहार हो जाता है । उपर्युक्त उदाहरण मे विरति के प्रति उपनिषद् आदि का अध्ययन आदि कारण उपस्थित है तथापि प्रतिबन्धकाभावरूप कारण का वहाँ अभाव है। वह प्रतिबन्धक है अनुराग की अधिकता । अत. प्रतिबन्धकाभाव के न होने पर विरति रूप कार्य का न होना सङ्गत हो जाता है जिससे उक्त विरोध समाप्त हो जाता है।

वामन का मत —

विशेषोक्ति का लक्षण यह है—'एकगुणहानिकल्पनाया साम्यदार्ढ्यं विशेषोक्ति ।'[२८] अर्थात् एक गुण का अभाव रहते हुये भी जब दो वस्तुओ मे समानता का निश्चय किया जाता है तो विशेषोक्ति होती है। जैसे—

'द्यूत हि नाम पुरुषस्यासिंहासन राज्य ।'[२९] इसमे राज्य और द्यूत का तादात्म्य वर्णित किया है, परन्तु द्यूत मे राज्य की अपेक्षा एक न्यूनता है—सिंहासन का अभाव ।

पण्डितराजकृत खण्डन —

विशेषोक्ति का उक्त उदाहरण उचित नही है क्योकि वहाँ वास्तव मे दृढ़ारोप रूपक ही है। सिंहासनरहित द्यूत का सिंहासन से युक्त राज्य के साथ तादात्म्य नही हो सकता क्योकि वैधर्म्य है। आरोप के लिये सादृश्य ही अपेक्षित रहता है। इस आरोप विरोधी युक्ति के आधार पर उक्त उदाहरण मे रूपक न मानना उचित नही है क्योकि दोनो मे सादृश्य बनाने के लिये राज्य मे भी सिंहासन का अभाव कल्पित किया जाता है।

इसी प्रकार एक गुण के आधिक्य मे भी रूपक ही होता है। जैसे धर्मो वपुष्मान् भुवि कार्तवीर्य' इत्यादि मे कार्तवीर्य रूप उपमेय मे शरीर-योग रूप अधिक गुण है। तथापि वहाँ रूपक ही है।

इन्ही युक्तियो के आधार पर 'एकगुणहान्युपचयादिकल्पनाया' साम्यदार्ढ्य विशेषणम्'[३०] इस लक्षण का भी खण्डन हो गया।

विशेषोक्ति के भेद

पण्डितराज का मत —

विशेषोक्ति दो प्रकार की होती है—उक्तनिमित्ता और अनुक्तनिमित्ता ।

---

२८. रस. पृ. ४३६

२९. रस. पृ. ४३६

३०, रस. पृ. ४३६

उक्तनिमित्ता—जहाँ कार्य के न उत्पन्न होने का कारण कह दिया गया हो वहाँ उक्तनिमित्ता विशेषोक्ति होती है ।

अनुक्तनिमित्ता—जहाँ कार्यानुत्पत्ति का कारण न कहा गया हो वहाँ अनुक्त-निमित्ता विशेषोक्ति होती है ।

उक्तनिमित्ता के उदाहरण के लिये यह पद्य है—

प्रतिपलमखिलाल्लोकान्मृत्युमुख प्रविशतो निरीक्ष्यापि ।
रागान्ध चित्तमिद विरमति नाद्यापि विषयेभ्य ।।[31]

इसमे मृत्यु के मुख मे प्रवेश करती हुई वस्तुओ को देखते हुए भी विरति का न होना वर्णित है परन्तु उसके न होने का कारण भी कह दिया गया है—रागान्धता । अत· यह उक्तनिमित्ता विशेषोक्ति का उदाहरण है ।

अनुक्तनिमित्ता का उदाहरण 'उपनिषद परिपीता—'इत्यादि पूर्वोक्त पद्य है ।

दूसरे दृष्टिकोण से शाब्दी और आर्थी भी विशेषोक्ति के दो भेद हो सकते हैं । जहाँ कार्याभाव का विशेष रूप मे शब्द से कथन हो जाये, (अर्थात् कार्याभाव स्वप्रतियोगितावच्छेदकविशिष्टरूप मे हो) वहाँ विशेषोक्ति शाब्दी होती है एव उसके अभाव मे वह आर्थी हो जाती है । शाब्दी विशेषोक्ति का उदाहरण यह है:—

भगवद्वदनाम्भोज पश्यन्त्या अप्यहर्निशम् ।
तृष्णाधिकमुदेति स्म गोपीसीमन्तिनीदृशः ।।[32]

जगत् मे यह प्रसिद्ध है कि जिस वस्तु से सम्पर्क नही होता उसी को प्राप्त करने की इच्छा भी होती है । परन्तु यहाँ असन्निकर्ष के अभाव मे भी अर्थात् सन्निकर्ष होते हुए भी तृष्णा का वर्णन किया गया है। जिससे तृप्ति न होने का बोध होता है । इसमे कार्याभाव का शब्दश अर्थात् विशेषरूप मे कथन नही हुआ है । अत. आर्थी विशेषोक्ति है । इस पद्य मे विभावना भी हो सकती है । विभावना व विशेषोक्ति मे से किसी एक को प्रमाणित करने वाली युक्ति के अभाव मे यहाँ विशेषोक्ति और विभावना का आर्थ सङ्कर मानना चाहिये ।

मम्मट का मत —

उक्तनिमित्ता और अनुक्तनिमित्ता के अतिरिक्त अचिन्त्यनिमित्ता नामक विशेषोक्ति का तीसरा प्रकार और होता है । जैसे—

सएकस्त्रीणि जयति जगन्ति कुसुमायुध ।
हरतापि तनु यस्य शम्भुना न बल हृतम् ।।[33]

---

३१. रस पृ ४३७

३२ रस पृ. ४३६

३३. का० प्र० पृ ३६२

इसमे तनु-हरण रूप कारण के होते हुए भी बलहरण रूप कार्य की अनुत्पत्ति है ।

अनुक्त निमित्ता और अचिन्त्यनिमित्ता मे यह भेद है कि अनुक्तनिमित्ता मे कारण की उसके विशेष रूप मे (अर्थात् कार्य के प्रति एक निश्चित कारण की) उक्ति न होने पर भी मनसा उसकी प्रतीति हो जाती है अर्थात् इसमे कारणविशेष का अभाव कहा नही जाता परन्तु उसकी प्रतीति, निश्चित रूप मे अर्थत हो जाती है ।

अचिन्त्यनिमित्ता मे उस प्रकार से कारण की प्रतीति नही होती अपितु 'कोई कारण होगा' इस प्रकार का भाव ही बना रहता है । अर्थात् वहाँ क्या कारण है यह ज्ञान ही नही हो पाता ।

अन्यकृत खण्डन.—

अचिन्त्यनिमित्ता वाला भेद अनुक्तनिमित्ता वाले भेद से विलक्षण नही है ।

अनुक्तनिमित्ता मे कारण चिन्त्य ही हो यह कोई नियम नही है । उसको विशेषण रूप मे दे देने से ही अचिन्त्यनिमित्ता रूप पृथक् भेद मानने की आयश्यकता होती है । अत अपनी इच्छा से अनुक्तनिमित्ता मे कारण को चिन्त्य मानने मे दोषान्तर की कल्पना करने के कारण गौरव होता है ।

चिन्त्य और अचिन्त्य इन दोनो ही कारणो का जहाँ कथन न हो वहाँ अनुक्तनिमित्ता और जहाँ उस कारण का कथन हो वहाँ उक्त निमित्ता विशेषोक्ति माननी चाहिये । अत विशेषोक्ति के दो ही भेद होते है तीन नही ।

विशेषोक्ति का वैशिष्ट्य —

विशेषोक्ति मे कारण का होना और कार्य का न होना परस्पर विरोधी है । कुछ विद्वानो के अनुसार, यहाँ कारण का होना दुर्बल होता है और कार्य का न होना प्रबल होता है । अतः कार्यानुत्पत्ति से कारण का होना बाधित हो जाता है । परन्तु वास्तविकता इसके विपरीत है-कारण के रहने से कार्य की अनुत्पत्ति बाधित होती है । क्योंकि—

'कर्पूर इव दग्धोऽपि शक्तिमान्यो जने जने ।
नमोऽस्त्ववार्यवीर्याय तस्मै मकरकेतवे ॥[३४]

इत्यादि मम्मट प्रदत्त उदाहरणो मे कामदेव का शरीरनाश रूपी कारण तो प्रमाण सिद्ध ही है अत वह बाध्य हो ही नही सकता । इसमे सर्वसाधारण को जो बोध होता है वह यह है कि 'शरीर के नष्ट हो जाने पर भी कामदेव की शक्ति और बल का नाश क्यो नही हुआ ?' नकि 'शक्ति और बल के रहते उसका शरीर कैसे

३४. रस पृ ४३८

नष्ट हुआ ?'' इस प्रकार का। अत. अनुभव के आधार पर भी यही सिद्ध होता है कारण पक्ष अबाध्य और कार्यपक्ष बाध्य रहता है।

जहाँ इस प्रकार की स्थिति नही होती वहाँ विशेषोक्ति अलङ्कार नही बन पाता। जैसे—

दृश्यतेऽनुदिते यस्मिन्नुदिते नैव दृश्यते।
जगदेतन्नमस्तस्मै कस्मैचिद् बोधभानवे ।।[35]

इसमे उदयाभाव मे जगद्दर्शनरूप कार्य का वर्णन है और उदय के होते जगद्-दर्शन रूप कार्याभाव का वर्णन है। परन्तु यहाँ विभावना या विशेषोक्ति अलङ्कार नही है क्योकि जिस सूर्य का उदयानुदय वर्णित किया गया है वह प्रतिदिन दृश्यमान सूर्य नही है। यदि उसी सूर्य का वर्णन होता तो उपर्युक्त उदाहरण का अर्थ ही असङ्गत हो जाता। अत ब्रह्म के साथ अभिन्नता का बोधरूपी सूर्य ही यहाँ वर्ण्य है। उसके उदय का जगददर्शन ही कार्य है जगद्दर्शन नही। अत यहाँ व्यतिरेक अलङ्कार ही है क्योकि बोधसूर्य और साहजिक सूर्य मे वैधर्म्य है। यह व्यतिरेक रूपक पर आश्रित है क्योकि दोनो सूर्यो मे अभेद किया गया है।

समवलोकन

विशेषोक्ति विभावना का ही विपरीत प्रकार है अत इसका अधिकांश विचार विभावना के विचार के समान ही होगा। इसकी और विभावना की स्थिति मे विशेष भेद नही है। यही कारण है कि इसके अन्तर्गत कोई विशेष विचार नही हुआ है।

वामन के लक्षण के प्रति पण्डितराज का क्या मत है यह ज्ञात नही हो पाता क्योकि स्पष्ट स्वरो मे कुछ नही कहा है केवल उदाहरण का ही खण्डन किया गया है। वामन के प्रति पूज्यभाव ही इस मौन का कारण रहा होगा।

मम्मटसम्मत एक भेद का निराकरण अन्य आलङ्कारिक के शब्दो मे करके स्वय कुछ न कहने से भी यही प्रतीत होता है कि पण्डितराज को भी अचिन्त्यनिमित्ता विशेषोक्ति स्वीकार नही है।

कारणाश बाध्य होता है या कार्यांश इसकी अनुभव के आधार पर सिद्धि की है। इनकी दृष्टि से कार्यांश ही बाध्य रहता है।

असंगति

लक्षण

पण्डितराजकृत लक्षण —

असङ्गति अलङ्कार का लक्षण यह है —

---

३५. रस. पृ ४३८

'विरुद्धत्वेनापाततो भासमानं हेतुकार्ययोर्वैयधिकरण्यमसङ्गतिः ।'[36]

अर्थात् प्रथमदृष्टि मे विरुद्ध प्रतीत होने वाला कार्य-कारण का वैयधिकरण्य (एक स्थान मे न रहना) ही असङ्गति अलङ्कार है। इसमें कार्य-कारण भाव केवल उदाहरण (उपलक्षण) मात्र है जिसका तात्पर्य उन सभी सम्बन्धियो मे है जो सदा एक ही स्थान मे रहने वाले हैं फलतः असङ्गति अलङ्कार उन सब स्थानो पर होता है जहाँ एक साथ रहने वाली किन्ही दो वस्तुओ का भिन्न-भिन्न स्थानो मे इस प्रकार वर्णन किया जाय कि वह विरुद्ध (असङ्गत) सा जान पडे।

'विरुद्ध' विशेषण देने का विशेष प्रयोजन है। क्योंकि—

'स्पृशति त्वयि यदि चाप स्वाप प्रापन्न केऽपि नरपाला.।
शोणे तु नयनकोणे को नेपालेन्द्र तव सुख स्वपितु ।।'[37]

इस प्रकार के उदाहरणो मे असङ्गति अलङ्कार की अतिव्याप्ति नहीं होती। इसमे चाप का स्पर्श और नेत्र की लालिमा इन दोनो कारणो का निद्रा–समाप्ति रूप कार्य के साथ वैयधिकरण्य है तथापि वह अनुचित (विरुद्ध) नही प्रतीत होता क्योकि उन दोनो कारणो की भिन्न देश मे रहते हुए ही उस कार्य के प्रति प्रयोजकता है।

अभिप्राय यह है कि कार्य-कारण आदि का अलग-अलग वर्णन होने पर भी यदि वह विरुद्ध प्रतीत नही होगा तो असङ्गति अलङ्कार नही होगा।

असङ्गति का उदाहरण यह है —

दृष्टिर्मृगीदृशोऽत्यन्त श्रुत्यन्तपरिशीलिनी।
मुच्यन्ते बन्धनात्केशा विचित्रा वैधसी गति ।।[38]

इसमे श्रुति आदि का परिशीलन है नेत्रगत और उसमे होने वाली बन्धन मुक्ति है केशगत। अत दोनो का अलग-अलग स्थानो पर रहना विरोधी होने से असङ्गति अलङ्कार का स्थल है। इस पद्य मे 'श्रुत्यन्तपरिशीलिनी' और 'बन्धनात्' मे श्लेष है। उसी पर आधारित है असङ्गति।

अश्लिष्ट असङ्गति का उदाहरण यह है —

अङ्गै सुकुमारतरैः सा कुसुमाना श्रिय हरति।
प्रहरति हि कुसुमबाणो जगतीतलवर्तिनो यून ।।[39]

इसमे कुसुम-श्री-हरण रूप अपराध और ताडन रूप दण्ड एक ही व्यक्ति मे न रह कर अलग-अलग व्यक्तियो मे रह रहा है अत असङ्गति है।

---

३६. रस. पृ. ४३६
३७. रस पृ ४४०
३८. रस. पृ. ४४०
३९. रस. पृ. ४४०

इस उदाहरण मे 'प्रहरति' पद अपराध के कारण होने वाले ताडन और काम-पीडा इन दोनो का बोधक है। यह दोनो अर्थ अभेदाध्यवसान रूप अतिशय से एकरूप हो गये है। ताडन रूप अर्थ को लेकर जो विरोध आरम्भ मे प्रतीत होता है वही काम-पीडन रूप अर्थ का बोध होने पर निवृत्त हो जाता है। इस प्रकार अभेदाध्यवसान इस अलङ्कार का अनुप्राणक और विरोध उत्थापक होता है। असङ्गति मे सर्वत्र ही इस प्रकार की स्थिति होती है।

रुय्यक का मत

जिस प्रकार विभावना मे कार्यांश मे अतिशयोक्ति अनिवार्य रूप से अनुप्राणिका होती है वैसे ही असङ्गति मे भी अतिशयोक्ति का अनुप्राणन आवश्यक होता है। यदि अतिशयोक्ति (अभेदाध्यवसान) न रहे तो आपातत. प्रतीत होने वाला विरोध कभी निवृत्त ही नही होगा, बना ही रहेगा।

पण्डितराजकृत खण्डन

रुय्यक का उक्त मत सङ्गत नही है क्योकि ऊपर जो दृष्टिर्मृगीदृश –इत्यादि उदाहरण दिया है वहाँ 'मुच्यन्ते बन्धनात्केशा' इसके अर्थ मे केशबन्धनमुक्ति मे अतिशयोक्ति नही है केवल श्लेषाधारित अभेदाध्यवसान ही है। अतः यहाँ अव्याप्ति हो जायेगी।

इस प्रसङ्ग मे केवल इतना ही कहा जा सकता है कि कार्यांश मे अभेदाध्यवसान मात्र होना आवश्यक है चाहे वह अतिशयोक्ति से हो या रूपकादि किसी अन्य उपाय से।

'दृष्टिर्मृगीदृश :–' इत्यादि मे भी कारणांश 'श्रुत्यन्तपरिशीलन' मे श्लेष माना जा सकता है परन्तु वहाँ सदा ही इस प्रकार का श्लेष रहता हो ऐसा नहीं है।

> खिद्यति सा पथि यान्ती कोमलचरणा नितम्बभारेण ।
> स्विद्यन्ति हन्त परितस्तद्रूपविलोकिनस्तरुणा· ।।[४०]

इसमे 'भारजनितखेद' मे श्लेषाधारित अभेदाध्यवसान नही है।

असङ्गति और विरोध मे भेद :—

जयरथका मत—

विरोध और असङ्गति मे निम्नलिखित भेद है–

विरोध अलङ्कार मे एक ही अधिकरण मे दो वस्तुओ का सम्बन्ध होने से विरोध की प्रतीति होती है। और असङ्गति मे दो अधिकरणो मे वस्तुओ का सम्बन्ध होने से विरोध की प्रतीति होती है। अर्थात् विरोधालङ्कार मे एक अधिकरण मे दो

४०. रस पृ ४४१

वस्तुओ का सम्बन्ध रहता है। और असङ्गति मे दो अधिकरणो मे पृथक्-पृथक् वस्तुओ का सम्बन्ध रहता है।

पण्डितराजकृत खण्डन

जयरथ ने जिस प्रकार से विरोध और असङ्गति मे भेद दिखाया है वह अनुचित है क्योकि—

(१) असङ्गति मे भी, एक ही अधिकरण मे दो वस्तुओ का सम्बन्ध होने से ही विरोध की प्रतीति होती है। एक अधिकरण है–कार्य, उनमे कार्यता को निश्चित करने वाली विशेषता (कार्यतावच्छेदक धर्म) और कारण के अधिकरण मे न रहना (कारणव्यधिकरणत्व) रूप दोनो का सम्बन्ध होता है। उससे ही विरोध का बोध होता है।

(२) असङ्गति मे विरोध की उत्पत्ति का विचार रहता है और विरोध मे उस प्रकार के विचार के बिना ही विरोध की प्रतीति होती है। तात्पर्य यह है कि असङ्गति के स्थान मे शाब्द-बोध होने पर 'ऐसा कैसे हो सकता है' इत्यादि विचार मन मे उठते हैं और उसके बाद विरोध का भाव होता है। परन्तु विरोधालङ्कार मे 'यह एकाधिकरण्य कैसे हो सकता है' इत्यादि प्रश्न मन मे नही आते, शुद्ध विरोध की ही प्रतीति होती है।

वस्तुत दोनो का भेद यह है कि असङ्गति मे ऐसी दो वस्तुओ का, जिनकी एक ही जगह स्थिति प्रसिद्ध होती है, भिन्न-भिन्न जगहो मे स्थिति का वर्णन रहता है और विरोधालङ्कार मे ऐसी दो वस्तुओ का, जो सदा अलग-अलग रहने वाली ही प्रसिद्ध हो, एकही स्थान मे होना वर्णित रहता है। इसी कारण लक्षणगत 'हेतुकार्ययो' पद से उन सभी पदार्थद्वय की विवक्षा है जो एक ही आधार मे रहने वाले हो।

अप्पयदीक्षित का मत·—

असङ्गति का लक्षण यह है:—'विरुद्ध भिन्नदेशत्व कार्यहेत्वोरसङ्गति·।'[११] अर्थात् कार्य और कारण जब भिन्न-भिन्न स्थान मे हो और वह विरुद्ध हो तो असङ्गति अलङ्कार होता है। इस असङ्गति के अतिरिक्त इसके दो प्रकार और होते हैं—

(१) अन्यत्र करणीयस्य ततोऽन्यत्र कृतिश्च सा।
(२) अन्यत्कर्तुं प्रवृत्तस्य तद्विरुद्धिकृतिस्तथा ॥[१२]

अर्थात् किसी स्थान विशेष मे किया जाने वाला कार्य जब तदतिरिक्त किसी अन्य स्थान पर किया जाता है तो द्वितीय प्रकार की असङ्गति होती है और तृतीय

४१ कुव पृ. १४९
४२ कुव. पृ १५१

प्रकार की असङ्गति तब होती है जब किसी विशेष कार्य मे प्रवृत्त व्यक्ति उस कार्य को न करके कोई अन्य कार्य करे। इसके उदाहरण क्रमश· इस प्रकार हैं·—

(१) 'अपारिजाता वसुधा चिकीर्षन् द्या तथा कृथा ।'[४३]

अर्थात् 'वसुन्धरा को अपारिजात करने की इच्छा करते हुए स्वर्ग को अपारिजात कर दिया।' इसमे पृथ्वीरूप स्थान पर अपारिजातत्व रूप कार्य किया जाने वाला था किन्तु वह आकाश मे हो गया इसलिये द्वितीय प्रकार की असङ्गति है।

(२) गोत्रोद्धारप्रवृत्तोऽपि गोत्रोद्भेद पुराऽकरो ।[४४]

इसमे पहले गोत्रोद्धार मे प्रवृत्त वराहरूपधारी विष्णु ने उसके विरुद्ध पर्वतो (गोत्रो) का खुरादि से दलन कर दिया इस रूप से तृतीय असङ्गति है।

अथवा जैसे —

त्वत्खड्गखण्डितसपत्नविलासिनीना
भूषा भवन्त्यभिनवा भुवनैकवीर।
नेत्रेषु कङ्कणमथोरुषु पत्रवली
चोलेन्द्रसिंह तिलकं करपल्लवेषु ।।'इति'[४५]

तथा—

मोह जगत्त्रयभुवामपनेतुमेत—
दादाय रूपमखिलेश्वर देहभाजाम्।
नि स्सीमकान्तिरसनीरविनामुनैव
मोह प्रवर्धयसि मुग्धविलासिनीनाम् ।।'इति'[४६]

यह दोनो भी उक्त दूसरी व तीसरी असङ्गतियो के उदाहरण हैं। इनमे से प्रथम उदाहरण मे कङ्कणादि की करणीयता अन्यत्र (कर मे) प्रसिद्ध है अत. उसका शब्दत उल्लेख नही किया। 'भवन्ति' पद से ही भावना रूप अन्यत्रकृति का आक्षेप हो जाता है। इससे वहाँ प्रथम लक्षण की सङ्गति हो जाती है।[४७]

पण्डितराजकृत खण्डन:—

दूसरी असङ्गति का अप्पय द्वारा ही निरूपित प्रथम प्रकार की असङ्गति मे अन्तर्भाव हो जाता है और तीसरी असङ्गति का विभावना के ही एक प्रकार मे अन्तर्भाव हो जाता है। क्योकि

(१) द्वितीय असङ्गति के 'अपारिजाता वसुधा—' इत्यादि उदाहरण मे पारिजात से रहित कर देने की इच्छा है कारण और पारिजात का अभाव है कार्य

४३. कुव० पृ० १५१
४४ कुव० पृ० १५१
४५. कुव० पृ० १५१–१५२
४६. कुव० पृ० १५२
४७. कुव० पृ० १५२

तथा इन कार्य और कारण का भिन्न-भिन्न अधिकरण मे वर्णन हुआ है। अत इसमे 'विरुद्धभिन्नदेशत्व कार्यहेत्वोरसङ्गति.'[४८] रूप प्रथम असङ्गति की ही व्याप्ति हो जाती है। इस प्रकार प्रथम और द्वितीय असङ्गति मे कोई भेद नही रह जाता।

(२) आलम्बन नामक विषयता सम्बन्ध से चिकीर्षा अर्थात् करने की इच्छा कार्यमात्र के प्रति सामानाधिकरण्येन कारण है यह सिद्धान्त है। अर्थात् जिस आलम्बन या आधार मे इच्छा होगी उसी मे कार्य भी होगा—यह नियम है।

(३) यदि यह कहा जाय कि पारिजात-राहित्य रूप कार्य अभावात्मक है अत नित्य है और नित्य होने से उसका कारण कोई होगा ही नही—तो भी ठीक नही है क्योकि अलङ्कारशास्त्र मे अभाव को भी कारण से जन्य मान लिया जाता है। उसमे कोई दोष नही होता।

(४) पारिजातराहित्यचिकीर्षा और पारिजातराहित्य मे कार्य-कारण भाव न माने तो भी वहाँ असङ्गति का प्रथम लक्षण चला ही जावेगा क्योकि लक्षण मे जो हेतुकार्ययो पद है वह सभी समानाधिकरण पदार्थों का उपलक्षक है और चिकीर्षा तथा पारिजातराहित्य मे कार्यकारणभाव हो या न हो समानाधिकरण्य तो है ही।

(५) 'गोत्रोद्धारप्रवृत्तोऽपि' इत्यादि उदाहरण मे गोत्रोद्धारविषयक प्रवृत्ति रूप कारण से गोत्रदलन रूप विरुद्ध कार्य की उत्पत्ति हुई है जिससे यहाँ 'विरुद्धात्कार्य-सम्पत्तिर्दृष्टा काचिद्विभावना'[४९] के अनुसार विभावना अलङ्कार ही हो जाता है।

सिद्धान्तत भी यहाँ पर विभावना और विशेषोक्ति का सङ्कर ही है।

(६) तृतीय उदाहरण 'नेत्रेषु कङ्कणम्—' इत्यादि मे कङ्कणत्व और नेत्र का अलङ्कारत्व पृथक्-पृथक् स्थान पर रहने वाली वस्तुओ के रूप मे प्रसिद्ध हैं। उनका एक ही अधिकरण मे वर्णन होने से वहाँ विरोधाभास है। इसी प्रकार चतुर्थ उदाहरण मे भी मोहनिवर्तकत्व और मोहजनकत्व की एक ही स्थान पर स्थिति होने से विरोधाभास है।

(७) यदि यह कहा जाय कि जब विभावना विरोधाभास मे ही अन्तर्भूत हो जायेगी तो उसे स्वतन्त्र अलङ्कार मानना व्यर्थ हो तो ठीक नही क्योकि विरोधा-भास और विभावना का अन्तर पहले ही स्पष्ट कर दिया गया है। वह अन्तर सक्षेप मे यह है कि विरोध मे समान बल वाले अर्थों का विरोध रहता है और विभावना मे कारणाभाव के कारण कार्य की उत्पत्ति बाध्य रहती है।

समवलोकनः—

असङ्गति अलङ्कार के निरूपण मे पण्डितराज ने प्राचीन परम्परा का ही अनुसरण किया है। मम्मट आदि के द्वारा किये गये असङ्गति निरूपण के समान ही

४८. रस पृ. ४४२

४९. रस. पृ ४४३

जगन्नाथ ने भी प्रतिपादन किया है अत उसमे किसी नये विचार का प्रसङ्ग नही आया है ।

जयरथ ने असङ्गति और विरोध मे जो अन्तर बताया है वह आलङ्कारिक दृष्टि से है और पण्डितराज ने जो उसका खण्डन किया है वह नैयायिक की दृष्टि से । यद्यपि पण्डितराज का बताया हुआ अन्तर भी उचित ही है तथापि जयरथ का मत खण्डित करना बहुत तथ्यपूर्ण नही लगता ।

विषम

लक्षण

पण्डितराजकृत लक्षण:—

विषमालङ्कार का लक्षण इस प्रकार है —'अननुरूपससर्गो विषमम्'।[५०] अर्थात् दो वस्तुओ का ऐसा सम्बन्ध जो अनुकूल न हो विषमालङ्कार होता है ।

अननुरूप—अननुरूप पद की व्युत्पत्ति इस प्रकार है—

'रूपस्य योग्यमिति अनुरूपम्'–योग्यता के अर्थ मेअ व्ययीभाव, 'अनुरूप यत्र न विद्यते इति अननुरूपम्' योग्यतारहित के अर्थ मे बहुव्रीहि। बहुव्रीहि का प्रयोग करने से अधिकरण की प्रधानता हो जाती है । अर्थात् योग्यता रहित जो सम्बन्ध है वह सम्बन्ध है विषम अलङ्कार । योग्यता का तात्पर्य वही है जो साधारण रूप से औचित्य या 'यह उचित है' इस प्रकार कहा जाता है । निष्कर्ष यह है कि जिस सम्बन्ध के विषय मे 'यह अनुचित है' अथवा 'उचित नही है' इस प्रकार का बोध होता हो वही सम्बन्ध अननुरूप है और विषमालङ्कार का स्थल है ।

ससर्ग—

ससर्ग दो प्रकार का होता है—(१) उत्पत्तिलक्षण ससर्ग और (२) सयोगादिलक्षण सयोग ।

इनमे उत्पत्तिलक्षण ससर्ग की अयोग्यता दो प्रकार से होती है (१) जब किसी कारण से ऐसे कार्य की उत्पत्ति हो जो अपने कारण की विशेषताओ से भिन्न विशेषताओ से युक्त हो ।

(२) उत्पत्ति लक्षण ससर्ग की दूसरी अयोग्यता तब होती है जब इष्ट को बनाने वाले साधन से अनिष्ट की सिद्धि हो जाय ।

दो सम्बन्धियो मे से एक के गुण तथा स्वरूप को दूसरे सम्बन्धी के गुण तथा स्वरूप के द्वारा छिपा दिया जाना ही सयोगादिलक्षण ससर्ग की अयोग्यता है । इसी के कारण केवल 'ससर्ग की अननुरूपता' कहने से ही उक्त सब प्रकार की अयोग्यताओ का ग्रहण हो जाता है ।

---

५० रस पृ ४४३

विषम के भेद

तथा उत्पत्तिलक्षण के दोनो भेदो के सङ्कर से द्वादश प्रकार । अतः कुल मिलाकर विषम के इक्कीस भेद होते हैं ।
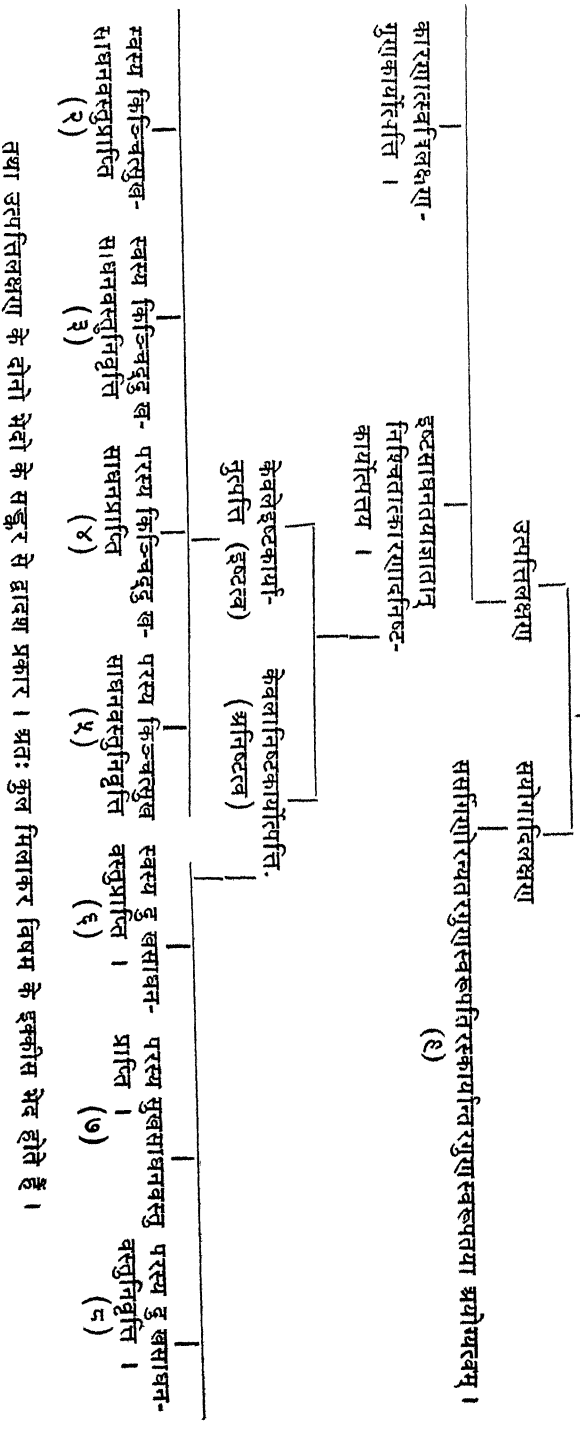
विषम के सकल भेद २१ है। ससर्ग ही विषम है अत ससर्ग के ही विभिन्न प्रकारो पर आधारित विषम के सकल भेद है।

उत्पत्तिलक्षरण विषम के सर्वप्रथम दो प्रकार होते है--

(१) जहा किसी कारण से अपने गुणो से भिन्न गुणो वाले कार्य की उत्पत्ति होती हो।

(२) जहा किसी ऐसे कारण से, जो निश्चित रूप से किसी इष्ट को ही उत्पन्न करता हो, अनिष्ट की उत्पत्ति हो जाये।

इनमे से द्वितीय भेद अनिष्टकार्योत्पत्ति के पुन दो उपभेद होते हैं--(क) केवल इष्ट कार्य की उत्पत्ति जहा न हो वहाँ प्रथम प्रकार होता है।

(ख) केवल अनिष्ट की ही उत्पत्ति जहा हो वहा दूसरा प्रकार होता है।

इन भेदो मे भी इष्ट और अनिष्ट के अनेक भेद सम्भव हैं। इष्ट चार प्रकार का होता हैं।

(क) किसी ऐसे साधन रूप वस्तु की प्राप्ति हो जाये जिससे स्वय को सुख होता हो।

(ख) किसी ऐसे साधन की निवृत्ति हो जाये जिससे स्वय को दु ख होता हो।

(ग) किसी दूसरे व्यक्ति को दु:ख पहुँचाने वाली किसी वस्तु की प्राप्ति हो जाये। अथवा

(घ) दूसरे को सुख देने वाले किसी साधनरूप वस्तु की निवृत्ति हो जाये।

अनिष्ट तीन प्रकार का होता है--

(च) अपने को कष्ट पहुचाने वाली किसी वस्तु की प्राप्ति हो जाये।

(छ) दूसरे को सुख पहुँचाने वाली किसी वस्तु की प्राप्ति हो जाये। अथवा

(ज) दूसरे को दुख पहुँचाने वाली किसी वस्तु की निवृत्ति हो जाये।

इन्ही इष्ट और अनिष्ट के आधार पर केवल इष्ट कार्य की अनुत्पत्ति वाला उपभेद चार प्रकार का और केवल अनिष्ट कार्य की उत्पत्ति वाला उपभेद तीन प्रकार का होता है। तथा इन दोनो के मिश्रण से द्वादश प्रकार का इष्ट कार्य की अनुत्पत्ति और अनिष्ट कार्य की उत्पत्ति वाला विषम हो जाता है। जैसे (क) का (च) के साथ, (क) का (छ) के साथ, (क) का (ज) के साथ इत्यादि प्रकार से मिश्रण हो सकता है।

सकलनेन यह विषमालङ्कार इक्कीस भेद वाला हुआ। इनमे कुछ भेदो के उदाहरण इस प्रकार हैं--

प्रथमत. उत्पत्तिलक्षणसंसर्ग की अयोग्यता के प्रथम भेद का स्थल--

अमृतलहरीचन्द्रज्योत्स्नारमावदनाम्बुजा-
न्यधरितवतो निर्मर्यादप्रसादमहाम्बुधे ।
उदभवदय देव त्वत्त कथ परमोल्बरग-
प्रलयदहनज्वालाजालाकुलो महसा गरग ।।[५१]

इसमे माधुर्य, शीतलता, आह्लादकता, प्रसाद आदि अनेक गुणो वाले कारण से उसके विरुद्ध गुणो वाले प्रताप की उत्पत्ति हुई है । अत प्रथम प्रकार के विषम का स्थल है ।

दूसरे प्रकार के विषम का उदाहरण, जिसमे इष्ट साधन से अनिष्ट सिद्ध होता है—

दूरीकर्तुं प्रिय बाला पद्मेनाताडयद्रुषा ।
स बाणेन हतस्तेन तामाशु परिषस्वजे ।।[५२]

इसमे इष्ट कार्य है प्रिय को दूर करना, परन्तु उसके लिये किये गये पद्मताडन रूप प्रयत्न से, नायक के द्वारा आलिङ्गनरूप अनिष्ट ही सिद्ध हो गया । इसमे मुख्य है इष्ट की अप्राप्ति अर्थात् प्रिय का दूर न जाना ।

जहा अनिष्ट की प्राप्ति होती हो उसका उदाहरण यह है .—

खञ्जनदृशा निकुञ्ज गतवत्या गा गवेषयितुम् ।
अपहारिता समस्ता गावो हरिवदनपङ्कजालोकात् ।[५३]

इसमे अभीष्ट कार्य था गो-अन्वेषण । परन्तु उसके लिये किये गये प्रयत्न से सिद्धि हुई-शेष गो की भी हानि, जो अनिष्ट ही है । अत अनिष्ट की प्राप्ति प्रधान है ।

यहा वास्तव मे श्लेषमूलक विषम है क्योकि द्वितीयचरणगत 'गाव' पद से 'गो' और 'इन्द्रियाँ' यह दो अर्थ प्रतीत हो रहे हैं । जिनमे श्लेषाधारित अभेदाध्यवसान होने से ही विषम की स्थिति बनी है ।

इन दोनो ही उदाहरणो मे इष्टाप्राप्ति और अनिष्टप्राप्ति का मिश्रण है । इन उदाहरणो मे अपने सुख के साधन की अप्राप्ति और अपने दु:ख के साधन की प्राप्ति रूप इष्टानिष्ट का सङ्कर है ।

केवल इष्टाप्राप्ति का स्थल यह है —

---

५१. रस पृ ४४४
५२. रस. पृ. ४४५
५३ रस पृ ४४५

प्रभातसमयप्रभा प्रणयिनि ह्नुवाना रसा-
दमुष्य नयनाम्बुज सपदि पाणिनामीलयत् ।
अनेन खलु पद्मिनीपरिमलालिपाटच्चरै.
समीरशिशुकैश्चिरादनुमितो दिनेशोदयः ।।[५४]

इसमे दो प्रकार की इष्टाप्राप्ति सम्भव है —पहली तो वह जिसमे अपने सुख साधनरूप वस्तु की अप्राप्ति होती हैं और दूसरी वह जिसमे अपने दु ख के साधन की निवृत्ति नही होती । क्योकि 'नायक को प्रभात का ज्ञान न हो' यह है नायिका के सुख का साधन । वह नायिका के प्रयत्न करने पर भी सम्भव नही हुआ । अत पहली स्थिति बन सकती है और 'नायक को प्रभात का ज्ञान हो जाना' यह नायिका के सुख का साधन है, उसकी निवृत्ति के न होने से यहा द्वितीय स्थिति बन सकती है ।

केवल अनिष्ट की प्राप्ति का उदाहरण यह है —

मुकुलितनयनं करिणो गण्ड कण्डूयतो विषद्रुतटे ।
उदभूदकाण्डदहनज्वालाजालाकुलो देहः ।।[५५]

इसमे कण्डूयन–शाति रूप इष्ट की प्राप्ति तो है ही नही केवल देह–दाह रूप अनिष्ट की ही प्राप्ति है ।

अनिष्ट प्राप्ति के अन्य दो भेद–दूसरे के सुख-साधन की प्राप्ति और दु ख साधक की निवृत्ति भी इसी प्रकार समझ लेने चाहिये । एव च अन्य सभी अवशिष्ट भेदो की भी यत्र-तत्र ऊहा कर लेनी चाहिये ।

सयोगादिलक्षण ससर्ग की अननुरूपता इस प्रकार होती है—

वनान्त. खेलन्ती शशकशिशुमालोक्य चकिता
भुजप्रान्त भर्तुं श्रयति भयहर्तुः सपदि या ।
अहो सेय सीता शिव शिव परीता श्रुतिचल-
त्करोटीकोटीभिर्वसति खलु रक्षोयुवतिभिः ।।[५६]

इसमे सीता तथा राक्षसियो का एक स्थान मे रहना ही है विषमालङ्कार का प्रयोजक । सीता सौकुमार्य आदि गुणो से मण्डित एक स्त्री है और राक्षसी उनके विरुद्ध नाश कर देने वाली क्रूर प्रवृत्तिरूप गुण से युक्त है । अत' दोनो का एक स्थान मे रहना अनकूल है, अनुचित है । यहाँ समानाधिकरण सयोग है सीता और राक्षसियो के मध्य सम्बन्ध ।

---

५४. रस. पृ. ४४६

५५ रस. पृ. ४४७

५६. रस. पृ. ४४८

अन्य अलङ्कारों के समान ही, यहाँ भी, यदि वह ससर्गाननुरूपता स्वाभाविक हो कवि की प्रतिभा से उत्थित न हो तो अलङ्कार का स्थल नही होगा । जैसे–

क्व शुक्तय क्व वा मुक्ता क्व पङ्कः क्व च पङ्कजम् ।
क्व मृगा क्व च कस्तूरी धिग्विधातुर्विदग्धताम् ।।[५७]

इसमे शुक्ति–मुक्ता, पङ्क पङ्कज आदि का सामानाधिकरण्य (एक स्थान मे रहना) कवि कल्पित नही है अपितु स्वभाव-सिद्ध है । अलङ्कार का विषय केवल वही अर्थ होता है जो बाह्य जगत् मे असिद्ध हो और केवल कवि की कल्पना से ही उदभूत हुआ हो । इस दृष्टि से यदि, 'वनान्त. खेलन्ती' इत्यादि पद्य मे सीता और राक्षसियो का एक जगह होना लौकिक सत्य है, उसमे कवि की प्रतिभा का कोई प्रयोजन नही अत यह भी अलङ्कार नही है, यह कहा जाय तो इस पद्य को उदाहरण मानना चाहिये ।

क्व सा कुसुमसाराङ्गी सीता चन्द्रकलोपमा ।
क्व रक्ष·खदिराङ्गारमध्यसवासवैशसम् ।।[५८]

यहाँ केवल सीता और केवल राक्षसियो का एकाधिकरण्य ही विवक्षित नही है अपितु पराग के समान कोमल अङ्गोवाली चन्द्रकला के समान सीता का खदिराङ्गारवत् क्रूर स्वभाव वाली राक्षसियो का ऐकाधिकरण्य विवक्षित है जिसमे कोमलता और क्रूरता का एक स्थान पर होना कवि की कल्पना का ही कार्य है । अत यहा सीता और राक्षसी का एक स्थान पर रहना अननुरूप न होते हुए भी विषमालङ्कार है ।

अलङ्कारसर्वस्व में प्रदत्त उदाहरण

रुय्यक ने सयोगादिलक्षण ससर्ग की अननुरूपताका यह उदाहरण दिया है–

अरण्यानी केय धृतकनकसूत्रः क्व स मृग.
क्व मुक्ताहारोऽय क्व च स पतग: क्वेयमबला
क्व तत्कन्यारत्न ललितमहिभर्तुः क्व च वय
स्वमाकूत धाता कमपि निभृत पल्लवयति ।।[५९]

इसमे अरण्यवासिनी और कनकसूत्र आदि का समानाधिकरण रूप सयोग सम्बन्ध अनुचित है अतः विषमालङ्कार है ।

पण्डितराजकृत खण्डन

पण्डितराज ने इस उदाहरण को अनुचित कहा है । उसका कारण वही है जो 'क्व शुक्तय क्व वा मुक्ता:–' इत्यादि पद्य को उदाहरण न मानने मे है ।

५७. रस. पृ ४४८
५८ रस. पृ. ४४६
५६. अ स पृ. २४४

दीक्षित का भेद सम्बन्धी मत

अप्पय दीक्षित ने कुवलयानन्द मे विषम अलङ्कार का निरूपण करते हुए इष्टाप्राप्ति के साथ अनिष्ट की प्राप्ति वाले विषम का भेद इस प्रकार लक्षित किया है—'अनिष्टस्याप्यवाप्तिश्च तदिष्टार्थसमुद्यमात् ।' अर्थात् इष्ट के लिये किये गये प्रयत्न से अनिष्ट की भी प्राप्ति होने पर विषम होता है ।

इसमे 'अपि' शब्द से सङ्ग्राह्य होने के कारण इष्ट की अप्राप्ति का भी विषम पद के साथ अन्वय होता है । इस प्रकार केवल इष्ट की अप्राप्ति और केवल अनिष्ट की प्राप्ति रूप दोनो भेदो का भी इसी लक्षण से प्रतिपादन हो जाता है । तात्पर्य यह है कि विषम के तीनो भेदो का (जो कुवलयानन्द मे कहे गये है) अपि शब्द से प्रत्यायन हो रहा है । तथा प्रत्येक भेद का अन्वय विषम रूप अर्थ के साथ हो रहा है, विषम तत्पद का वाच्य है । इस प्रकार उक्त लक्षण की तीन बार आवृत्ति होगी ।

उपर्युक्त भेद का उदाहरण यह है—

'भक्ष्याशया हि मञ्जूषा दृष्ट्वाखुस्तेन भक्षित. ।'

इसमे मूषिका के द्वारा भक्षण की इच्छा से अहिमञ्जूषा मे प्रवेश रूप क्रिया की गयी परन्तु भक्ष्याप्राप्ति रूप इष्ट की अप्राप्ति के साथ-साथ स्वशरीर हानि रूप अनिष्ट की प्राप्ति भी हो गयी । अत यह इष्टाप्राप्ति और अनिष्ट प्राप्ति का स्थल है ।[६०]

केवल इष्ट की अप्राप्ति का उदाहरण यह है —

खिन्नोऽसि मुञ्च शैल बिभृमो वयमिति वदत्सु शिथिलभुज ।
भरभुग्नविततबाहुषु गोपेषु हसन् हरिर्जयति ।।[६१]

इसमे यद्यपि गोपो के ऊपर पर्वत के गिरने से अनिष्ट की प्राप्ति भी सम्भव हो सकती थी परन्तु भगवान् के करकमल का स्पर्श बने रहने से वह नही हुई । अत. केवल पर्वतधारण रूप इष्ट की अप्राप्ति ही यहाँ वर्णित है ।

पण्डितराजकृत खण्डन

पण्डितराज ने अप्पयदीक्षित के इस भेद के लक्षण को और उसके लिये दिये गये दोनो उदाहरणो को–सबको अनुचित बताया है । सयुक्तिक खण्डन इस प्रकार है–
लक्षण का खण्डन—

(१) प्रथमत. इस लक्षण की असिद्धि मे जो दोष है वह यह है कि इस लक्षण से 'इष्ट की अप्राप्ति' रूप भेद का सङ्ग्रह जो अप्पयदीक्षित ने माना है, वह नही हो पाता । 'अस्मिन्ग्रामे देवदत्तस्य द्रव्यस्यापि लाभोऽस्ति' इत्यादि लौकिक व्यव-

६०. कुव. पृ. १५५ (उक्त सम्पूर्ण मत)
६१. कुव पृ १५७

हार मे द्रव्य पद के बाद आने वाले अपि शब्द से धन आदि का बोध होता है और उस धन आदि का सम्बन्ध भी उसी से होता है जिसमे द्रव्य का सम्बन्ध होता है। प्रकृत स्थल मे वह पद है देवदत्त । द्रव्य का सम्बन्ध देवदत्त से है अत धन, विद्या, आदि का भी सम्बन्ध देवदत्त से ही होता है।

'अनिष्टस्याप्यवाप्तिश्च तदिष्टार्थसमुद्यमात्' मे अपि शब्द 'अनिष्ट' के पश्चात् आया है। अत अपि शब्द से प्रतीत होने वाले 'इष्ट' का सम्बन्ध भी उसी से जुडेगा जिससे 'अनिष्ट' का सम्बन्ध होता है। अनिष्ट का सम्बन्ध होता है 'अवाप्ति' से इसलिये 'इष्ट' का सम्बन्ध भी 'अवाप्ति' से ही करना होगा। वह एकदम विषम के विपरीत है। इष्ट की प्राप्ति होने पर विषम नही होता।

(२) विषम पद के साथ 'इष्टानवाप्ति' का सम्बन्ध (अन्वय) करना अनुचित है क्योकि वह सिद्धान्तत· असम्भव है। 'अनिष्ट' का अन्वयी 'अवाप्ति' पद है न कि 'विषम'।

प्रथम उदाहरण का खण्डन—

(१) 'भक्ष्याशया हि–' इत्यादि उदाहरण भी ठीक नही है क्योकि वहाँ शाब्दबोध ठीक से नही हो पाता न्यूनपदत्वदोष के कारण।

इस उदाहरण मे 'त्वा' प्रत्यय का प्रयोग है (दष्ट्वा अथवा दष्ट्वा मे। कुवलयानन्द मे दृष्ट्वा और रसगङ्गाधर मे उद्धृत इस उदाहरण मे दष्ट्वा पाठ है। दोनो मे 'क्त्वा' समान रूप से है।) क्त्वा प्रत्यय का प्रयोग तभी होता है जब एक ही कर्त्ता के द्वारा की गयी दो क्रियाओ का क्रमिक वर्णन हो। दोनो क्रियाओ मे से प्रथम क्रिया के साथ इसका प्रयोग होता है। इस दृष्टि से इस उदाहरण मे दूसरी क्रिया का अभाव है। आखु (मूषिका) रूपकर्त्ता के द्वारा दर्शन या दशन रूप एक ही क्रिया का अन्वय होता है, आखु के ही द्वारा की गयी दूसरी कोई क्रिया वहाँ उक्त नही है। यदि 'प्रविष्ट.' इत्यादि कोई पद वहाँ होता तो क्त्वा प्रत्यय का अन्वय हो जाता परन्तु उसका वहाँ अभाव है। अत यह उदाहरण 'न्यूनपदता' दोष से दूषित है।

द्वितीय उदाहरण का खण्डन—

(१) 'खिन्नोऽसि मुञ्च शैल–' इत्यादि पद्य भी केवल इष्ट की प्राप्ति का उदाहरण नही हो सकता क्योकि पर्वत–पतन रूप अनिष्ट की प्राप्ति नही होने पर भी अन्य अनेक अनिष्टो की प्राप्ति वहाँ हो रही है जो 'भरभुग्नविततबाहु' पद से साक्षात् अभिहित हो रहे हैं।

'भरभुग्नविततबाहु' से स्पष्ट रूप से सब अङ्गो का चूर-चूर हो जाना और उन गोपों का गर्व नष्ट हो जाना ज्ञात हो रहा है तो यहाँ केवल इष्ट की अप्राप्ति मात्र मानना अनुचित है। शैल पतन रूप अनिष्ट से अतिरिक्त अन्य अनिष्टो का

शब्दश कथन हो जाने पर उसकी प्रतीति मे किसी प्रकार का विवाद या सदेह भी नही हो सकता ।

समवलोकन

प्राय· सभी आचार्यों ने इस अलङ्कार पर विचार किया है परन्तु विषम अलङ्कार का जैसा सर्वग्राही लक्षण रसगङ्गाधर मे प्राप्त होता है वह अन्यत्र नही मिलता है । लक्षण अत्यन्त सूक्ष्म है किन्तु उसमे सारगर्भिता अद्भुत है । उस लक्षण के अर्थ विस्तार का ज्ञान पण्डितराज के ही द्वारा की गयी शाब्दी-व्युत्पत्ति से होता है । अननुरूप का और ससर्ग का विश्लेषण व्याकरण और लोक–व्यवहार के आधार पर किया गया है ।

विषम के भेदो की सुव्यवस्था प्रथम बार पण्डितराज ने ही की है । अप्पय और रुय्यक ने इनमे से अधिकाश भेदो को स्वीकार तो किया था किन्तु इस प्रकार का क्रमिक विभाजन नही किया था ।

अप्पय दीक्षित के दिए हुए उदाहरणो का खण्डन पण्डितराज का आग्रह मात्र लगता है क्योंकि अलङ्कार के प्रसङ्ग मे व्याकरण की दृष्टि से एक प्रत्यय को लेकर दोष दिखाना अत्यन्त अनुचित लगता है ।

सम

लक्षण

पण्डितराजकृत लक्षण

सम अलङ्कार विषमालङ्कार का विपरीत अलङ्कार है । इसका पण्डितराजाभिमत लक्षण यह है–'अनुरूपससर्गः समम् ।'[६२] अर्थात् जहाँ सम्बन्ध अनुरूप होता है वहाँ सम अलङ्कार होता है ।

अनुरूप और ससर्ग पदो की व्याख्या विषम के अन्तर्गत की जा चुकी है । सक्षेप मे 'युक्तमिदम्' इस लौकिक प्रतीति का विषय जो हो वह अनुरूप है । अर्थात् जहाँ योग्यता हो वहाँ अनुरूपता होती है । और उस अनुरूपता का योग्यता से विशिष्ट जो सम्बन्ध, वह सम्बन्ध ही समालङ्कार है ।

विषम अलङ्कार के अनुसार इसमे भी ससर्ग द्विविध होता है–उत्पत्ति लक्षण और सयोगादि लक्षण । उत्पत्ति लक्षण ससर्ग तीन स्थितियो मे होता है—

(१) कारण से कारण के समान गुण वाले कार्य की उत्पत्ति होने पर ।

(२) जैसे गुणो से युक्त वस्तु के साथ सम्बन्ध होता है वैसे ही गुणो की उत्पत्ति होने पर ।

---

६२. रस पृ ४४६

(३) किसी इष्ट को प्राप्त करने के लिये किये गये प्रयत्न से उसी इष्ट की सिद्धि हो जाने पर।

सयोगादिलक्षण अनुरूपता का तात्पर्य है दो सम्बन्धियो मे से किसी एक के गुण तथा स्वरूप को ग्रहण करने से दूसरे के भी गुण तथा स्वरूप का ज्ञान हो जाने मे।

इस प्रकार अनुरूप ससर्ग कहने से ही उक्त सब प्रकार के ससर्गों का ग्रहण हो जाता है।

सम के भेद

सम अलङ्कार के भेद इस प्रकार हैं—
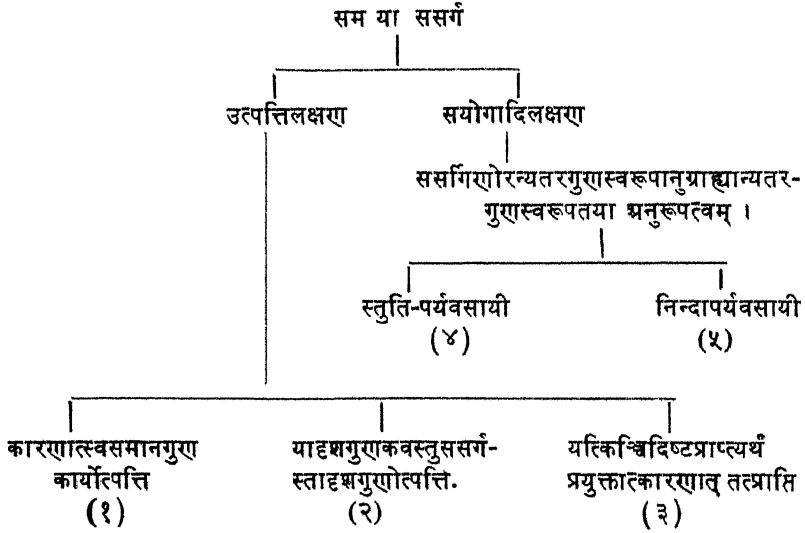
सर्वप्रथम ससर्ग दो प्रकार का होता है—उत्पत्ति रूप और सयोगादि रूप। उत्पत्तिरूप ससर्ग के तीन स्थल होते हैं—

(१) जहाँ किसी कारण से अपने समान गुणो वाले कार्य की उत्पत्ति हो।

(२) जैसे गुणो से युक्त वस्तु के साथ सम्बन्ध हो वैसे ही गुणो की उत्पत्ति हो।

(३) जिसको प्राप्त करने के लिये प्रयत्न किया जाय उसकी प्राप्ति हो जाने पर।

सयोगादि रूप ससर्ग दो प्रकार का होता है—

(१) पहला वहाँ जहाँ उसका पर्यवसान किसी प्रकार की स्तुति मे होता हो और

(२) दूसरा वहाँ जहाँ उसका पर्यवसान किसी प्रकार की निन्दा मे होता हो ।

इनका उदाहरण क्रमश इस प्रकार है—

प्रथम प्रकार जैसे—

कुवलयलक्ष्मी हरते तव कीर्तिस्तत्र किं चित्रम् ।
यस्मान्निदानमस्यालोकनमस्याङ्घ्रिपङ्कजस्तु भवान् ।।[६३]

इसमे राजा के चरण कमलो से उत्पन्न कीर्ति मे चरणो के लोक-विजयत्व आदि गुणो का वर्णन किया गया है ।

द्वितीय प्रकार जैसे—

बडवानलकालकूटलक्ष्मीमकरव्यालगणै' सहैधित' ।
रजनीरमणो भवेन्नृणा न कथ प्राणवियोगकारणम् ।।[६४]

इसमे बडवानल आदि वस्तुए मारकता गुण से युक्त है । उनके ससर्ग से चन्द्रमा मे भी उन्ही गुणो की उत्पत्ति वर्णित की गयी है । अतः उत्पत्तिलक्षण का दूसरा उदाहरण है ।

तृतीय प्रकार जैसे—

नितरा धनमाप्तुमर्थिभिः क्षितिप त्वा समुपास्य यत्नत ।
निधन समलम्भि तावकी खलु सेवा जनवाञ्छितप्रदा ।।[६५]

इसमे धनप्राप्ति की इच्छा से धनार्थियो के द्वारा प्रयत्न किया गया और निधन (नितरा धन—अत्यधिक धन) प्राप्त भी कर लिया गया । इस उदाहरण मे समालङ्कार का चमत्कार तभी होता है जब निधन के मरण और बहुधनरूप दोनो अर्थों मे श्लेष से ऐक्य हो जाये । अन्त मे निन्दात्मक अर्थ मे पर्यवसान होने से यहाँ व्याजस्तुति भी है । परन्तु आरम्भ मे प्रतीत होने वाले अर्थ मे समालङ्कार निर्बाध ही है ।

सयोगलक्षणस्तुतिपर्यवसायी सम का उदाहरण—

अनाथ' स्नेहार्द्रां विगलितगति पुण्यगतिदा
पतन्विश्वोद्धर्त्रीं गदविदलितः सिद्धभिषजम् ।
तृषार्त पीयूषप्रकरनिधिमत्यन्तशिशुकः
सवित्री प्राप्तस्त्वामहमिह विदध्या समुचितम् ।।[६६]

---

६३. रस. पृ ४४६

६४ रस. पृ ४५०

६५ रस. पृ ४५०

६६ रस पृ ४५१

इसमे अनाथता आदि नाना विशेषताओ से युक्त व्यक्ति का स्नेहार्द्रता आदि नाना विशेषताओ से युक्त गङ्गा के पास जाना (उन दोनो का सयोग) उचित ही है। तथा इस सयोग से अभिव्यक्त हो रही है गङ्गा की स्तुति।

निन्दापर्यवासायी सम, जैसे—

युक्त सभाया खलु मर्कटाना शाखास्तरूणा मृदुलासनानि।
सुभाषितं चीत्कृतिरातिथेयी दन्तै· नखाग्रैश्च विपाटनानि।[६७]

इसमे मर्कटो के साथ तरुशाखा आदि का सयोग उचित ही है। यह सयोग अप्रस्तुत रूप से बोध करवाता है दुर्जन के व्यवहार का। वह अप्रस्तुत अर्थ निन्दात्मक है। अत निन्दापर्यवसायी समालङ्कार है।

अलङ्कारसर्वस्वकार का मत :

विषमालङ्कार का लक्षण इस प्रकार है·—

'विरूपकार्यानर्थयोरुत्पत्तिर्विरूपसङ्घटना च विषमम्।[६८]

अर्थात् विरूपकार्य की उत्पत्ति, अनर्थ की उत्पत्ति और विरूप वस्तुओ का सम्बन्ध विषमालङ्कार है।

समालङ्कार का लक्षण यह है ,—

"तद्विपर्ययः समम्।"[६९]

अर्थात् उसका विपरीत सम अलङ्कार है। 'उसका' (तत्) से तात्पर्य है विषम का। किन्तु इस विषम से केवल विरूपसङ्घटना रूप तृतीय भेद का ही ग्रहण किया जाता है। क्योकि केवल उसका ही विपरीत रूप चमत्कारी होता है, प्रथम दो भेदो का विपर्यय चमत्कारी नही होता। प्रथम दोनों भेदो के विपरीत रूप होंगे–कारण से उसके अनुरूप कार्य की उत्पत्ति और वाञ्छित फल की प्राप्ति। यह दोनो भेद स्वभावत. सिद्ध ही हैं अतः उनमे किसी चमत्कार की स्थिति नही होती। अतएव सम अलङ्कार विषम अलङ्कार की भाँति तीन प्रकार का नही होता अपितु एक ही प्रकार का होता है–अनुरूप सङ्घटना रूप।[७०]

विमर्शिनीकार जयरथ ने इसका समर्थन करते हुए कहा है—'कारण से अनुरूप कार्य की उत्पत्ति तो लोक प्रसिद्ध है। उसका वर्णन किसी प्रकार के चमत्कार को नही उत्पन्न करता।'[७१]

६७ रस पृ ४५२
६८. अ स पृ. ४४३
६९. अ. स. पृ २४५
७० "विषमवैधर्म्यादिह प्रस्ताव·। यद्यपि विषमस्य भेदत्रयमुक्त, तथापि तच्छब्देन सम्भवादन्त्यो भेदः परामृश्यते। पूर्वभेदद्वयविपर्ययस्यानलङ्कारत्वात्। अन्त्यभेदे विपर्ययस्तु चारुत्वात्समाख्योऽलङ्कार।" (अ स पृ. २४५)
७१. "कारणादनुरूपकार्योत्पत्तिर्हि लोकप्रसिद्धा। न हि तस्या उपनिबन्धश्चारुतामावहति।" (रस पृ. ३५२)

पण्डितराजकृत खण्डन

उपर्युक्त रुय्यक का मत और जयरथ का समर्थन दोनो ही अनुचित हैं। क्योकि ऊपर यह दिखाया जा चुका है कि वस्तुत कार्य-कारण के अनुरूप न होने पर भी श्लेषादि से उनके धर्मों को एक सिद्ध करके उनमे अनुरूपता का वर्णन जब किया जाता है तो चमत्कार होता है। इसी प्रकार वास्तव मे जो अनिष्ट है उसका भी श्लेष आदि के द्वारा इष्ट के साथ ऐक्य स्थापित करके उसी साधन (इष्ट प्राप्ति के लिये किया गया प्रयत्न) से इष्ट प्राप्ति का वर्णन होता है तो वह चमत्कारी होता है।

इस प्रकार जब उक्त प्रथम और द्वितीय भेद भी श्लेषादि के बल पर चमत्कारी होते है तब यह कहना गलत है कि समालङ्कार एक ही प्रकार का होता है, तीन प्रकार का नही। सम भी विषम के समान तीन प्रकार का होता है।

अप्पयदीक्षित का मत

कुवलयानन्द मे अप्पय दीक्षित ने सम अलङ्कार का एक भेद लक्षित किया है कि जब जिस कार्य को करने के लिये व्यक्ति उद्यत हो उस कार्य की सिद्धि बिना किसी अनिष्ट के हुए हो जाये तो वहाँ समालङ्कार होता है। एव इसके उदाहरण मे यह पद्य दिया है—

> उच्चैर्गजैरटनमर्थयमान एव
> त्वामाश्रयन्निह चिरादुषितोऽस्मि राजन्।
> उच्चाटन त्वमपि लम्भयसे तदेव
> मामद्य नैव विफला महता हि सेवा।[७२]

यहाँ यद्यपि आपातत प्रतीत होने वाली स्तुति से निन्दा की अभिव्यक्ति होती है अत व्याजस्तुति है तथा उस निन्दात्मक अर्थ मे (इष्ट के लिये प्रयत्न करने पर इष्ट की अप्राप्ति तथा अनिष्ट की प्राप्ति होने से) बिषमालङ्कार भी है तथापि वाच्यार्थ के द्वारा प्रतीत होने वाली स्तुति मे जो इष्ट वस्तु के लिये किये गये यत्न से इष्ट वस्तु की प्राप्ति का बोध होता है, उसके आधार पर सम अलङ्कार भी है ही। (तात्पर्य यह है कि यहाँ व्याजस्तुति अलङ्कार है तथा उसके स्तुत्यात्मक अर्थ मे सम और निन्दात्मक अर्थ मे विषम अलङ्कार है। यहा सम अलङ्कार है इसलिये ही इसे समालङ्कार के उदाहरणस्वरूप उद्धृत किया गया है। सर्वप्रथम उस सम का ही बोध होता है) इस प्रकार जहाँ इष्टार्थ की प्राप्ति होने पर भी श्लेष के बल पर

---

७२. कुव. पृ १६३

मिथ्या अनिष्ट अर्थ की प्रतीति हो वहाँ पर भी सम अलङ्कार मानने मे कोई हानि नही है।[७३]

पण्डितराज ने अप्पयदीक्षित के उक्त उदाहरण मे दो दोष दिये है। एक है व्याकरण के अनुसार अशुद्धि रूप दोष एव दूसरा है आलङ्कारिक (अलङ्कार सबधी) दोष। प्रथम दोष माम्' पद को लेकर है। व्याकरण के अनुसार 'गतिबुद्धि'[७४] आदि सूत्र मे गणित धातुओ के पाँच प्रकारो मे लभ् धातु की गणना न होने से उसके कर्त्ता को णिजन्त मे तृतीयाविभक्ति मे होना चाहिये था न कि द्वितीया मे। (लम्भयसे है क्रिया, इसके प्रति कर्म है 'माम्' और 'उच्चाटनम्।' इसमे 'माम्' पद को द्वितीया मे न होकर तृतीया मे 'मया' होना चाहिये था।) अतः व्याकरण की दृष्टि से यह पद्य अशुद्ध है।

दूसरा दोष, जो अलङ्कार सम्बन्धी है, वह यह है कि इसमे विषम अलङ्कार की स्थिति मानना ठीक नही है क्योकि व्याजस्तुति का क्षेत्र बृहत्तर है तथा विषमालङ्कार का सूक्ष्मतर। अर्थात् सामान्य नियम का अपवाद स्वरूप जब कोई विशेष नियम होता है तो वह सामान्य नियम को बाधित कर देता है। अत यहाँ भी व्याजस्तुति न मानकर विषम ही मानना चाहिये। क्योकि विषम भी वास्तव मे व्याजस्तुति रूप सामान्य नियम का एक विशेष नियम ही है।

समवलोकन

समालङ्कार विषमालङ्कार का ही विपरीत अलङ्कार है। अत विषम के अन्तर्गत ही दीर्घ विवेचन हो जाने पर पुन यहाँ उसे नही किया गया है।

पण्डितराज ने अप्पयदीक्षित के मत का पर्याप्त खण्डन किया है परन्तु वह खण्डन तत्त्वान्वेषी सुधीजन के लिये आह्लादकारी नही प्रतीत होता। अलङ्कार के चमत्कार को एक पद मे व्याकरण की त्रुटि के आधार पर निरस्त करना अन्याय्य है। 'माम्' पद मे दोष दिखाकर सम्पूर्ण पद्य को दूषित कहना पण्डितराज का पाण्डित्यप्रमाद प्रतीत होता है।

---

७३. 'अत्र यद्यपि व्याजस्तुतौ स्तुत्या निन्दाभिव्यक्तिविवक्षाया विषमालङ्कारस्तथापि प्राथमिकस्तुतिरूपवाच्यविवक्षाया समालङ्कारो न निवार्यते। एव यत्रेष्टार्थावाप्तिसत्वेऽपि श्लेषवशादसतोऽनिष्टार्थस्य प्रतीतिस्तत्रापि समालङ्कारस्य न क्षति।" (कुव. पृ १६३)

७४ गतिबुद्धिप्रत्यवसानार्थशब्दकर्माकर्मकाणामणि कर्ता स णौ (१ ४ ५१)
अर्थात् जब गति, बुद्धि, प्रत्यवसान, शब्दकर्मके अर्थ वाली अथवा अकर्मक क्रियाएँ होती हैं तो उनके णिजन्त होने पर सामान्य दशा मे रहने वाला उनका कर्ता कर्म हो जाता है। जैसे 'देवदत्त' घट पश्यति' का 'देवदत्त स घट दर्शयति'। दृश् धातु बुद्ध्यात्मक है अत णिजन्त होने पर उसका कर्ता 'देवदत्त' कर्म हो गया। उक्त पाँच प्रकार की धातुओ के अतिरिक्त धातु के णिजन्त होने पर कर्ता मे तृतीया हो जाती है। जैसे 'चैत्र पचति' का चैत्रेण देवदत्त' पाचयति।

दूसरे अप्पयदीक्षित के उसी पद्य मे दिया गया द्वितीय दोष भी ठीक नही कहा जा सकता क्योकि स्वय अप्पय ने उसमे किस अलङ्कार को प्राधान्य दिया है यह निश्चित रूप से प्रतिपादित नही हुआ है । सम अलङ्कार मे उद्धृत होने से ऐसा लगता है कि उनकी दृष्टि से इसमे सम अलङ्कार का ही चमत्कार है परन्तु उसकी स्थिति का प्रतिपादन जिस प्रकार 'अत्र व्याजस्तुतौ–' इत्यादि कह कर किया है उससे यह लगता है कि उन्हे व्याजस्तुति की प्रधानता स्वीकार है तथा उसी के स्तुत्यात्मक अर्थ मे सम की और निन्दात्मक अर्थ मे विषम की गौण स्थिति है । इस अनिश्चितता मे पण्डितराज को यह अवसर मिल गया कि अपनी इच्छा से वह कोई भी मत अप्पय-दीक्षित का मानकर उसे दूषित कह दे ।

वस्तुत यहाँ समालङ्कार का ही चमत्कार प्रधान प्रतीत होता है । समलङ्कार को मानने पर ही चतुर्थचरण–'नैव विफला महता हि सेवा'–की भी सार्थकता हो सकती है ।

विचित्र

लक्षण

पण्डितराजकृत लक्षण

विचित्र अलङ्कार का लक्षण इस प्रकार दिया है·–इष्टसिद्ध्यर्थमिष्टैषिणा क्रियमाणमिष्टविपरीताचरण विचित्रम् ।[७५] अर्थात् जब कोई व्यक्ति अपने अभीष्ट कार्य को सम्पन्न करने की इच्छा से उसके विपरीत कोई प्रयत्न करे तो वहाँ विचित्र अलङ्कार होता है । इसमे विपरीत का तात्पर्य है प्रतिकूल । अर्थात् जिस चेष्टा से अपना इष्ट प्राप्त किया जा सके उसके विपरीत चेष्टा यदि की जाय तो विचित्र अलङ्कार होता है ।

उदाहरण के लिये––

> बन्धोन्मुक्त्यै खलु मखमुखान्कुर्वते कर्मपाशा–
> नन्त शान्त्यै मुनिशतमताऽनल्पचिन्ता वहन्ति ।
> तीर्थे मज्जन्त्यशुभजलधे पारमारोढुकामाः
> सर्वं प्रामादिकमिह भवभ्रान्तिभाजा नराणाम् ।।[७६]

इसमे प्रथम चरण मे रूपकानुप्राणित विचित्र है क्योकि यज्ञादि कर्मों का अनुष्ठान बन्धनमुक्ति के लिये तब तक विपरीत नही हो सकता जब तक यज्ञादि को पाश न मान लिया जाय ।

---

७५. रस.पृ ४५२

७६. कुव० पृ. ४५२

द्वितीय चरण मे शुद्ध विचित्र है क्योकि वहाँ शान्ति और चिन्ता स्वभावत विपरीत है ।

यदि किसी व्यक्ति को भ्रान्त व्यक्ति सिद्ध करने के लिये इस प्रकार का वर्णन किया जाय कि जिसमे वह व्यक्ति अपने इष्ट को प्राप्त करने के लिये अनुकूल आचरण के भ्रम से कोई प्रतिकूल आचरण कर रहा हो, और उसे भी, विपरीताचरण होने के नाते, विचित्र अलङ्कार का ही विषम माना जाय और इसके लक्षण मे 'विपरीत' पद के स्थान पर 'अननुकूल' पद रख दिया जाय तो निम्नोक्त पद्य भी विचित्र अलङ्कार का उदाहरण हो सकता है ––

विष्वद्रीचा भुवनमखिल भासते यस्य धाम्ना
सर्वेषामप्यहमयमिति प्रत्ययालम्बन य· ।
त पृच्छन्ति स्वहृदयगतावेदिनो विष्णुमन्या–
नन्यायोऽय शिव शिव नृणा केन वा वर्णनीय ।।[७७]

इसमे जीवरूप से सभी लोगो के लिये प्रत्यक्षत सिद्ध परमेश्वर को जानने के लिये दूसरो से किया गया प्रश्न अनुकूल सा प्रतीत होता है । वास्तव मे तो अपने ही हृदय से प्रश्न करना इसके लिये मुख्य अनुकूल व्यापार है । इस व्यापार की अनुकूलता मे प्रमाण है श्रुति आदि–'यत्साक्षादपरोक्षात्' इत्यादि ।

विषम और विचित्र मे भेद:—

विषमालङ्कार मे भी कार्य और कारण परस्पर अनुरूप रहते हैं परन्तु फिर भी विषम और विचित्र मे दो मुख्य भेद हैं:––

(१) विषम मे वह कार्य-कारण भाव किसी व्यक्ति के द्वारा किया जाना आवश्यक नही होता । अर्थात् विषम मे किसी कर्त्ता की अपेक्षा नही होती । कार्य-कारण भाव प्राकृत होता है । विचित्र मे वह कार्यकारणभाव कल्पित होता है ।

(२) विषमालङ्कार मे कार्य-कारण के गुणो का वैलक्षण्य ही मुख्यविषय होता है जबकि विचित्रालङ्कार मे इष्ट साधन के विपरीत कार्य करना ही प्रमुख होता है ।

समवलोकन

पारम्परिक स्वरूप को स्वीकार करते हुए भी पण्डितराज ने एक नवीन प्रकार का स्थल भी विचित्र के अन्तर्गत प्रदर्शित किया है–'विष्वद्रीचा ···' इत्यादि जैसे स्थल मे ।

काव्यप्रकाश मे विचित्र अलङ्कार नही मिलता अतएव यह प्रतीत होता है कि पण्डितराज को इस अलङ्कार की स्वतन्त्र सत्ता मान्य थी ।

---

७७. रस० पृ. ४५२

अनुज्ञा

लक्षण

पण्डितराजकृत लक्षण —

'उत्कटगुणविशेषलालसया दोषत्वेन प्रसिद्धस्यापि वस्तुन प्रार्थनमनुज्ञा ।'[७८] अर्थात् उत्कट गुणविशेष की इच्छा से किसी दोष-युक्त प्रसिद्ध वस्तु की भी प्रार्थना करना अनुज्ञा अलङ्कार है जैसे—

प्रणिपत्य विधे भवन्तमद्धा विनिबद्धाञ्जलिरेकमेव याचे ।
जनुरस्तु कुले कृषीवलानामपि गोविन्दपदारविन्दभाजाम् ।।[७९]

इसमे हरिभक्ति की अभिलाषा से कृषक के कुल मे जन्म लेने की प्रार्थना की गयी है ।

समवलोकन.—

यह पञ्चम अलङ्कार है जिसकी मम्मटादि के विरुद्ध, अप्पय के अनुकूल पण्डितराज ने स्वीकृति की है । यह और तिरस्कार एक दूसरे के प्रतिलोम अलङ्कार है अत विशेष विचार तिरस्कार के अन्त मे ही किया गया है ।

विशेष

लक्षण

पण्डितराजकृत लक्षण —

'प्रसिद्धमाश्रय विना आधेय वर्ण्यमानमेको विशेषप्रकार । यच्चैकमाधेय परिमितयत्किंचिदाधारगतमपि युगपदनेकाधारगततया वर्ण्यते सोऽपरो विशेषप्रकार:'— यह है विशेष अलङ्कार का पण्डितराजाभिमत लक्षण ।[८०]

इसका आशय यह है कि जहाँ लोक मे विख्यात आश्रय के बिना ही उसके आधेय का वर्णन किया जाय वहाँ एक प्रकार का विशेष अलङ्कार होता है और जहाँ, किसी ऐसे आधेय का, जो एक निश्चित और सीमित आधार मे ही रहता हो, एक साथ अनेक आधारो मे वर्णन किया जाय, वहाँ दूसरे प्रकार का विशेषालङ्कार होता है ।

इस लक्षण मे 'युगपत्' विशेषण देने से पर्याय अलङ्कार मे अतिव्याप्ति नही होती । क्योकि पर्याय मे भी एक ही आधेय का अनेक आधारों मे वर्णन रहता है परन्तु एक साथ नही होता अपितु क्रमशः होता है । इस कारण जिस-जिस ग्रन्थ मे विशेषा-

---

७८. रस. पृ. ५१०
७९. रस. पृ ५१०
८०. रस. पृ. ४५६

लङ्कार के लक्षण मे 'युगपत्' पद का ग्रहण नही किया गया है वह सभी पर्याय अलङ्कार मे अतिव्याप्त हो जाते है ।

विशेषालङ्कार के भेदः—

विशेष अलङ्कार के उक्त दो प्रकारो मे से प्रथम प्रकार पुन दो प्रकार का होता है —

(१) प्रसिद्ध आधार से भिन्न किसी अन्य अप्रसिद्ध आधार मे आधेय का वर्णन करना ।

(२) बिना किसी आधार के वर्णन करना ।

इस प्रकार इस अलङ्कार के कुल तीन भेद होते है । प्रत्येक के उदाहरण क्रमश. इस प्रकार है:—

अये राजन्नाकर्णय कुतुकभाकर्णनयन
त्वदाधारा कीर्तिर्वसति किल मौलौ दशदिशाम् ।
त्वदेकालम्बो य गुणगणकदम्बो गुणनिधे
मुखेषु प्रौढाना विलसति कवीनामविरतम् ।।[८३]

इसमे कीर्ति और गुणसमूह रूप आधेयो का वर्णन राजरूप प्रसिद्ध आधार मे न करके अन्य आधारो मे–दिशा और कविमुख–मे किया गया है ।

द्वितीय प्रकार का उदाहरण––

युक्त तु याते दिवमासफेन्दौ तदाश्रिताना यदभूद्विनाश ।
इद तु चित्र भुवनावकाशे निराश्रया खेलति तस्य कीर्ति ।।[८२]

इसमे कीर्ति रूप आधेय का निराधार होना वर्णित है । अत प्रथम विशेष का द्वितीय भेद है ।

तृतीय भेद का उदाहरण इस प्रकार है––

नयने सुदृशा पुरो रिपूणा वचने वश्यगिरा महाकवीनाम् ।
मिथिलापतिनन्दिनीभुजान्त.स्थित एव स्थितिमाप रामचन्द्र ।।[८३]

इसमे श्रीरामचन्द्र रूप आधेय की कामिनीनयन, शत्रुवचन, कविवाणी और श्री जानकी बाहु आदि अनेक आधारो मे एक साथ स्थिति का वर्णन हुआ है अत· विशेष का दूसरा प्रकार है ।

---

८१ रस. पृ. ४५७
८२ रस. पृ. ४५७
८३. रस. पृ. ४५७

मम्मट का मत—

मम्मटादि ने विशेष अलङ्कार का एक तृतीय प्रकार भी माना है–किसी कार्य को आरम्भ करने पर किसी अन्य असम्भावित कार्य का सम्पादन हो जाने पर।[८४] एव च पूर्वोक्त दो प्रकारो और इस तृतीय प्रकार मे से किसी एक का होना (अन्यतम) विशेषालङ्कार का सामान्य लक्षण माना है। इसका उदाहरण इस प्रकार होगा—

कोदण्डच्युतकाण्डमण्डलसमाकीर्णत्रिलोकीतल
राम दृष्टवता रणे दशमुखप्राणापहारोद्यतम्।
दुर्दर्शोऽपि नृणामभूदुरुमरुद्वेगप्रचण्डीकृत–
ज्वालाभिर्जगतीतल कवलयन्कालानलो गोचर ॥[८५]

इसमे श्रीरामका दर्शन करते हुए कालानलदर्शन रूप असम्भाविन अन्य कार्य भी सम्पादित हो गया। अत. तृतीय प्रकार का उदाहरण है।

इस तृतीय भेद को किसी अन्य अलङ्कार मे भी अन्तर्भूत नही किया जा सकता। यदि प्रहर्षण और विषम अलङ्कार के सङ्कर मे इसका अन्तर्भाव किया जाय, जैसे–

लोभाद्वराटिकाना विक्रेतु तक्रमानिशमटन्त्या।
लब्धो गोपकिशोर्या मध्येरथ्य महेन्द्रनीलमणि ॥[८६]

इसमे दधिविक्रय करते हुए नीलमणि की प्राप्ति हो जाने से विशेषालङ्कार है–यह कहा जाय (जबकि सिद्धान्तत यहाँ प्रहर्षण और विषम का सङ्कर है)—तो उचित नही है, क्योकि तृतीय प्रकार के लक्षण मे 'अशक्यवस्त्वन्तरनिर्वर्तन' (असम्भावित अन्य वस्तु की प्राप्ति) कहने का तात्पर्य है अभेदाध्यवसायमूलक अन्य वस्तु की निवृत्ति। जैसा कि 'कालानलो वीक्षित.' इसमे राम और कालानल मे अभेदाध्यवसान है। 'लोभाद्वराटिकानाम्–' इत्यादि मे वराटिका और महेन्द्रनीलमणि मे इस प्रकार का कोई अभेदाध्यवसान नही है।

भगवान् श्रीकृष्ण के साथ महेन्द्रनीलमणि का अभेदाध्यवसान है अत उक्त शर्त भी पूरी होती है–यह भी नही कहा जा सकता क्योकि जिस कार्य को आरम्भ किया जाय उसी कार्य के साथ वस्त्वन्तर का अभेदाध्यवसान होना चाहिये, चाहे जिस कार्य के साथ नही। यहाँ आरम्भ किया गया कार्य है–तक्रविक्रय, उसके साथ नीलमणि का कोई अभेद नही है।

---

८४. 'किञ्चित्कार्यमारभमाणस्यासम्भाविताशक्यवस्त्वन्तरनिवर्तन स तृतीयो विशेषप्रकार। एव चैतदन्यतमत्व विशेषालङ्कारसामान्यलक्षणम्।" रस पृ ४५७

८५ रस पृ ४५७

८६ रस. पृ ४५७

इसी प्रकार 'कोदण्ड–' इत्यादि पद्य को अतिशयोक्ति का भी उदाहरण नही कहा जा सकता क्योकि वहाँ रामरूप विषय का कालानलरूप विषयी के द्वारा निगरण नही हुआ है। राम और कालानल का पृथक्-पृथक् उपादान किया गया है।

रूपक मे भी इसका अन्तर्भाव नही होता क्योकि विषय और विषयी मे समान विभक्ति न होने से उनमे आरोप की प्रतीति नही होती।

स्मरणालङ्कार से भी इसको निर्विषय नही किया जा सकता क्योकि उस पद्य मे कालानल का प्रयोग गोचर क्रियाके कर्म के रूप मे हुआ है। अतः जो 'गोचर' के प्रति कर्म है वह स्मरण के प्रति कर्म नही हो सकता।

इस प्रकार यह निश्चित हो जाता है कि अशक्यवस्त्वन्तरकरण विशेषालङ्कार का ही एक प्रभेद है।

पण्डितराजकृत खण्डन·—

उपर्युक्त तर्क पर आधारित तृतीय भेद की सिद्धि को रसगङ्गाधरकार ने अन्य तर्कयुक्तियो पर खण्डित किया है। युक्तियाँ इस प्रकार हैं:—

(१) यह प्रभेद विशेषालङ्कार का ही प्रभेद है यह मानने मे कोई प्रमाण नही है। क्योकि—

प्राचीन मत मे रूपक आदि अलङ्कारो के समान विशेष अलङ्कार का कोई सामाम्य लक्षण नही है जिससे आक्रान्त होने पर इसे उस अलङ्कार का भेद माना जाय।

'तीनो प्रकारो मे से अन्यतम का होना' यह सामान्यलक्षण का रूप हो नही सकता क्योकि इस ढङ्ग से तो उसे किसी भी अन्य अलङ्कार का भेद कहा जा सकता है।

इस प्रकार किसी प्रमाणित सामान्य लक्षण के अभाव मे इसे विशेषालङ्कार का भेद कहना राजाज्ञा मात्र है–अयुक्तिपूर्ण है। उस परिस्थिति मे तो इसको एक पृथक् अलङ्कार मान लेना अधिक अच्छा है।

(२) 'येन दृष्टोऽसि देव त्व तेन दृष्टो हुताशन.' अथवा 'तेन दृष्टा वसुन्धरा' इत्यादि मे विशेषालङ्कार नही हो सकता क्योकि हुताशन दर्शन अथवा वसुन्धरा दर्शन ऐसे कार्य नही हैं जो असम्भव हो। इसलिये यदि यहाँ निदर्शना मानी जाय तो 'येन दृष्टोऽसि देव त्व तेन दृष्ट सुरेश्वर·' इस विशेषालङ्कार मे भी निदर्शना मानी ही जा सकती है। क्योकि हुताशन और सुरेश्वर के भेद से चमत्कार मे कोई अन्तर पडता हो यह बात नही है। चमत्कार भेद के अभाव मे अलङ्कार भेद मानना निर्मूल है।

इस प्रकार 'कोदण्ड–' इत्यादि पद्य, जोकि प्राचीन मतानुसार, पण्डितराज ने, उद्धृत किया था वह भी वास्तव मे निदर्शना का ही स्थल है विशेष का नही।

यदि उस तृतीय भेद का उदाहरण देना ही हो तो वह यह हो सकता है—

किं नाम तेन न कृत सुकृत पुरारे
दासीकृता न खलु का भुवनेषु लक्ष्मी ।
भोगा न के बुभुजिरे विबुधैरलभ्या
येनार्चितोऽसि करुणाकर हेलयापि ।।[८७]

इसमे त्रिवर्गप्राप्ति रूप कार्य असम्भव वस्तु है । भगवान् की अर्चना के साथ सुकर्मों का सादृश्य अभीष्ट न होने से यहाँ निदर्शना नही हो सकती । अभीष्ट है कार्यकारण भाव ।

इस प्रकार तृतीय भेद के लक्षण मे यह कहना भी आवश्यक नही रह जाता कि वहाँ अभेदाध्यवसान को मूल रूप मे रहना चाहिये । 'दधि विक्रेतुमटन्त्या-' इत्यादि मे भी अतिव्याप्ति नही .होगी क्योकि उसमे भी प्रहर्षण-विषय और विशेष का सङ्कर माना ही जा सकता है ।

अप्पयदीक्षित का मत —

अप्पयदीक्षित ने इस भेद का जो उदाहरण दिया है वह इस प्रकार है-'त्वा पश्यता मया लब्ध कल्पवृक्षनिरीक्षणम्' ।[८८]

पण्डितराजकृत खण्डन —

उपर्युक्त खण्डन के आधार पर ही इस उदाहरण का भी खण्डन हो जाता है क्योकि उक्त रीति से यहाँ भी निदर्शना ही है ।

समवलोकन . —

विशेष अलङ्कार के निरूपण मे पण्डितराज ने मम्मट पर आक्षेप किया है परन्तु वह उचित नही प्रतीत होता क्योकि उसका प्रथम तर्क-सामान्य लक्षण का अभाव है । वह दोष स्वय पण्डितराज के निरूपण मे भी है । उन्होने विशेष के दो प्रकारो का ही उल्लेख किया है किसी सामान्य लक्षण का नही । तृतीय भेद को प्राचीन रीति से नही माना, अपनी रीति से माना है ।

तृतीय भेद के उदाहरण को असिद्ध किया गया है तथा उसमे निदर्शना को प्रमाणित किया है । परन्तु जिस रीति से आक्षेप हुआ है उससे यही प्रतीत होता है कि पण्डितराज को तृतीय भेद ही स्वीकार नही है, वह उसे निदर्शना के अन्तर्गत ही विलीन कर देते हैं, परन्तु मम्मट के प्रति अपने हृदय मे पूज्यता रहने के कारण स्पष्टतया उसका निरास न करके अपनी ओर से उसका उचित उदाहरण दे देते हैं । वास्तव मे पण्डितराज का क्या मनोरथ रहा होगा-यह धूमिल है ।

---

८७ रस. प. ३५६

८८. कुव० । पृ. १७१

व्याघात

लक्षण

पण्डितराजकृत लक्षण.—

व्याघात का लक्षण है—'यत्र ह्येकेन कर्त्रा येन कारणेन कार्यं किञ्चिन्निष्पादित निष्पिपादयिषित वा तदन्येन कर्त्रा तेनैव कारणेन तविरुद्धकार्यस्य निष्पादनेन निष्पिपादयिषया वा व्याहन्यते स व्याघात ।'[८९] अर्थात् जहाँ एक कर्ता के द्वारा जिस कारण से कोई कार्य सम्पादित किया जाय या सम्पादित करने की इच्छा की जाय वही किसी अन्य कर्ता के द्वारा उसी कारण से उस कार्य से विरुद्ध किसी कार्य का निष्पादन करके अथवा निष्पादन करने की इच्छा से जब बाधा उत्पन्न की जाय तब वहाँ व्याघात अलङ्कार होता है । अर्थात् व्याघात अलङ्कार दो प्रकार का होता है—(१) जहाँ एक कर्ता के द्वारा एक कारण से किये गये कार्य मे किसी अन्य कर्ता के द्वारा उसी कारण से किये गये तद्विरुद्ध कार्य से बाधा डाली जाय । (२) जहाँ एक कर्ता के द्वारा जिस कारण से किसी कार्य के सम्पादन की अभिलाषा हो उसमे अन्य कर्ता के द्वारा उसी कारण से किसी विरुद्ध कार्य के सम्पादन की अभिलाषा से बाधा डाली जाय ।

इस अलङ्कार मे कर्ता का तात्पर्य है किसी कार्य को उद्देश्य बनाकर उसमे प्रवृत्त हो जाने वाला व्यक्ति न कि किसी तरह कार्य मे हेतु बन जाने वाला ।[९०] इस विवक्षा से लाभ यह है कि जहाँ किसी व्यक्ति का किसी कार्य के प्रति कर्तृत्व होते हुए भी उस कार्य मे प्रवृत्ति न हो वहाँ यह अलङ्कार नही जाता । जैसे

'पाण्डित्येन प्रचण्डेन येन माद्यन्ति दुर्जना ।
तेनैव सज्जना रूढा यन्ति शान्तिमनुत्तमाम् ।।[९१]

इसमें दुर्जन और सज्जन का मद और शान्ति के प्रति कर्तृत्व होने पर भी प्रवृत्तत्व नही है । अत यह उदाहरण व्याघात के अन्तर्गत नही आता ।

व्याघात का उदाहरण यह है —

दीनद्रुमान्वचोभि. खलनिकरैरनुदिन दलितान् ।
पल्लवन्त्युल्लसित नित्य तैरेव सज्जनधुरीणाः ।।[९२]

इसमे व्याघात अलङ्कार का प्रथम प्रकार है क्योकि दुष्टसमूह रूप कर्ता से वचनो द्वारा किये गये दीन–जन–दलन रूप कार्य का सज्जनो के वचनो द्वारा व्याहृत होना ही वर्णित है ।

---

८९ रस पृ ४५९

९०. "कर्तृत्व चेह कार्योद्देशेन प्रवर्तमानत्वम् ।" — (वही)

९१. रस पृ. ४५९

९२. रस पृ ४५९

इसमे श्रुतिप्रतिपादितवचनत्वरूप एक धर्म के पुरस्कार से अभिन्नीकृत मधुर और कठोर वचनो का एकत्व मे अध्यवसान होने से प्रथमत विरोध की स्फूर्ति होती है उसके पश्चात् वह विरोध व्यक्तिगत रूप से तत्तत्कार्यहेतुता का विचार करने पर समाप्त हो जाता है।

व्याघात के दूसरे प्रकार का उदाहरण यह है—

विमुञ्चसि यदि प्रिय प्रियतमेति मा मन्दिरे
तदा सह नयस्व मा प्रणययन्त्रणायन्त्रित. ।
अथ प्रकृतिभीरुरित्यखिलभीतिभङ्गक्षमा-
न्न जातु भुजमण्डलादवहितो बहिर्भावयः ॥[६३]

इसमे नायक का अभिलषित कार्य नायिका को न ले जाना व्याहृत है। अतः दूसरा प्रकार है।

मम्मट का मत —

मम्मट ने व्याघात का एक ही प्रकार माना है क्योकि उक्त दोनो ही प्रकारो मे कर्ता के अभीष्ट का व्याहनन समान रूप से विद्यमान है। इस आशय से उन्होने जो उदाहरण दिया है वह यह है —

दृशा दग्ध मनसिज जीवयन्ति दृशैव याः ।
विरूपाक्षस्य जयिनीस्ता. स्तुवे वामलोचना ॥[६४]

पण्डितराजकृत समर्थन—

पण्डितराज ने इस उदाहरण को लेकर पर्याप्त विचार किया है। उनका मत मम्मट के मत के अनुरूप ही है। अत' उनके मत से भी यहाँ व्याघात अलङ्कार ही है। इस विषय मे मम्मट के प्रतिपक्षी की ओर से इस उदाहरण के विरुद्ध सम्भावित सभी आपत्ति-शङ्काओ का समाधान किया है, जो इस प्रकार है।

'दृशा दग्धम्—' इत्यादि उदाहरण मे 'जयिनी विरूपाक्षस्य' और 'वामलोचना' इन पदो से व्यतिरेक अलङ्कार की ही स्फुरणा होती है अत यहाँ व्यतिरेक ही है व्याघात नही।

व्याघात का उत्थापक व्यतिरेक है ऐसा कह कर भी यहाँ व्याघात की सिद्धि नही की जा सकती क्योकि उत्थापक अलङ्कार का अलङ्कारत्वेन व्यपदेश नही किया जाता प्रत्युत उत्थाप्य का ही व्यपदेश होता है। यदि उत्थापक को ही अलङ्कार कहेंगे तो 'आननेनाकलङ्केन जयतीन्दु कलङ्किनम्' इत्यादि मे अनलङ्कार की आपत्ति होगी

६३. रस पृ ४६०
६४. रस. पृ ४६०

क्योकि यहाँ तो केवल वस्तुरूप अर्थ (अलङ्कार रहित व्याच्यार्थ) से ही व्यतिरेक की उद्भावना हो रही है ।

व्याघात का ऐसा कोई भी उदाहरण नही मिलता जो व्यतिरेक से रहित हो । अत. जब सर्वत्र ही इन दोनो का मिश्रण रहता है तो व्याघात व्यतिरेक का सङ्कर भी नही माना जा सकता । निष्कर्ष यह है कि व्याघात को किसी भी आधार पर एक स्वतन्त्र अलङ्कार नही माना जा सकता ।

उपर्युक्त विप्रतिपत्तियो के विरुद्ध मम्मट का समर्थन करने के लिये पण्डितराज का मत यह है "जिस प्रकार अन्य अलङ्कारो को अलङ्कारान्तर के साथ नित्य सम्बन्धित रखते हुए भी पृथक् अलङ्कार माना जाता है उसी प्रकार यहाँ भी व्याघात को स्वतन्त्र अलङ्कार मानना चाहिये क्योकि उस प्रकार के सम्बन्ध मे एक विशेष चमत्कार होता है । चमत्कृति ही अलङ्कारो की भेदक है । उदाहरण के लिये अनन्वयादि अलङ्कार सदा उपमा से अनुप्राणित रहते हैं परन्तु फिर भी विशेष चमत्कारी होने से उन्हे स्वतन्त्र अलङ्कार माना गया है उसी प्रकार व्याघात को भी सदा व्यतिरेक के साथ सम्बन्धित रहते हुए भी अलङ्कारान्तर मानने मे कोई हानि नही है ।" इस प्रकार के प्राचीन मत को मानकर ही व्याघात की पृथगलङ्कारता सिद्ध हो सकती है ।

इसके पश्चात् अप्पय दीक्षित के एक उदाहरण को अनुदाहरण कहा है ।[९५]

समवलोकन:—

व्याघात का लक्षण प्राचीन मत के अनुकूल ही है । उसके दोनो स्थलो को एक ही प्रकार मानना मम्मट को अभीष्ट है, पण्डितराज ने भी उसका अनुमोदन किया है ।

अन्त मे अप्पय दीक्षित के एक उदाहरण का खण्डन किया है परन्तु उसके लिये विस्तृत तर्क नहीं दिये हैं—मम्मट के समर्थन मे दी गयी युक्तियों का उस उदाहरण मे सङ्गत न होना ही उसके अनौचित्य मे कारण है । तत्व विचार की दृष्टि से उसका विशेष महत्त्व न होने से उसे यहाँ नही दिया गया है । इतना कह देना अनावश्यक न होगा कि पण्डितराज का यह आक्षेप भी आग्रह मूलक ही प्रतीत होता है ।

तिरस्कार

लक्षण

पण्डितराजकृत लक्षण—

'दोषविशेषानुबन्धाद्गुणत्वेन प्रसिद्धस्यापि द्वेषस्तिरस्कारः ।[९६] अर्थात् दोष

---

९५. लुब्धो न विसृजत्यर्थं नरो दारिद्र्यशङ्कया ।
दातापि विसृजत्यर्थं तयैव ननु शङ्कया ।। —(रस. पृ. ४६०)

९६. रस. पृ. ५१०

विशेष के सम्बन्ध से गुणत्वेन प्रसिद्ध किसी वस्तु से भी द्वेष करना तिरस्कार है।

उदाहरण के लियेः—

> श्रियो मे मा सन्तु क्षणमपि च माद्यद्गजघटा-
> मदभ्राम्यद्भृङ्गावलिमधुरसङ्गीतसुभगा ।
> निमग्नाना यासु द्रविडरसपर्याकुलहृदा
> सपर्यासौकर्य हरिचरणयोरस्तमयते ।।[६७]

यहाँ पर हरिचरणो की भक्ति के क्षय के भय से राज्यसुख तिरस्कार किया गया है।

इसके पश्चात् अप्पय दीक्षित के ऊपर एक कटु कटाक्ष किया है। उन्होने अनुज्ञा के लिये जो उदाहरण दिया है वह वास्तव मे तिरस्कार का उदाहरण है और तिरस्कार का कोई लक्षण उन्होने किया नही अतः पण्डितराज ने इसी विषय पर आपत्ति की है। और यह सिद्ध किया है कि तिरस्कार को एक पृथक् अलङ्कार मानना चाहिये।[६८]

अनुज्ञा और तिरस्कार का विशेष तत्त्व —

अनुज्ञा और तिरस्कार परस्पर विरुद्ध अलङ्कार है एव इनमे क्रमश· दोष और गुण रहते हुए भी प्रवृत्ति और निवृत्ति रहती है। आपाततः यह असङ्गत प्रतीत होता है कि दोष मे इच्छा और गुण मे दोष हो। परन्तु सूक्ष्म दृष्टि से देखने पर यह विरोध समाप्त हो जाता।

विश्व मे ऐसी कोई वस्तु नही है जिसमे केवल दोष या केवल गुण ही रहते हो। प्रत्येक वस्तु मे यह मिश्रित रूप से रहते हैं। अत जिस वस्तु मे गुण अधिक होता है उसमे दोष के रहते हुए भी गुण के कारण इच्छा होती है और जिसमे दोष अधिक होता है उसमे गुण के रहते हुए भी दोष के कारण द्वेष होता है। अतः दोष और गुण के रहते हुए इच्छा और द्वेष के होने मे कोई विरोध नही है। वास्तव मे वहाँ इच्छा और द्वेष का कारण गुणाधिक्य और दोषाधिक्य होता है।

समवलोकन —

यह एक ऐसा अलङ्कार है जो अप्पय ने भी निरूपित नहीं किया है। पण्डितराज ने स्वय इसकी उद्भावना की है। अत. यह अलङ्कार और इसके अन्त मे दिया गया विशेष तत्त्व-विचार दोनो ही पण्डितराज की ही देन है।

---

६७. रस. पृ. ५१०

६८ अमु च तिरस्कारमलक्षयित्वाऽनुज्ञां लक्षयत कुवलयानन्दकृतो विस्मरणमेव शरणम्। रस पृ ५१०

अप्पय दीक्षित के द्वारा अनुज्ञा की स्वीकृति और तिरस्कार का अनिरूपण भी पण्डितराज के लिये आपत्तिजनक है। अप्पय दीक्षित के ही दिये हुए अनुज्ञा के एक उदाहरण मे इस अलङ्कार को मानने की आवश्यकता पडी होगी।

समासोक्ति

लक्षण

पण्डितराजकृत लक्षण

समासोक्ति का लक्षण यह है.—

यत्र प्रस्तुतधर्मिको व्यवहार साधारणविशेषणमात्रोपस्थापिताप्रस्तुतधर्मिक-व्यवहाराभेदेन भासते सा समासोक्ति ।[९९]

अर्थात् जहाँ प्रस्तुत धर्मी का व्यवहार साधारण विशेषणो के द्वारा इस प्रकार कहा जाता है कि वह अप्रस्तुत धर्मी के व्यवहार के साथ अभिन्न होकर अवभासित होता है वहाँ समासोक्ति होती है। अर्थात् कवि के द्वारा किये गये वर्णन से जब किसी दूसरे अप्रस्तुत वर्णन की भी प्रतीति हो तो समासोक्ति होती है परन्तु यह आवश्यक है कि दूसरे अर्थ की वह प्रतीति उन विशेषणो के ही आधार पर हो जो प्रस्तुत अर्थ के वर्णन मे प्रयोग किये गये हो और अप्रस्तुत अर्थ मे भी प्रयुक्त होते हो।

'साधारणविशेषणमात्र' कहने मे (लक्षण ये मात्र पद होने से) शब्द-शक्ति-मूलध्वनि मे,' समासोक्ति का लक्षण नही जाता। शब्दशक्तिमूलध्वनि मे भी एक अर्थ से दूसरे अर्थ की प्रतीति होती है परन्तु वह विशेष्यो के श्लेष से भी हो सकती है केवल विशेषणो के श्लेष से नही होती और समासोक्तिगत अप्रस्तुत अर्थ की प्रतीति साधारण विशेषणो के बल पर ही होती है। केवल विशेषणो की समानता ही रहती है विशेष्यो की नही।

'मात्र' पद से उस स्थान पर भी अतिशयोक्ति का निरास हो जाता है जहाँ अप्रस्तुतप्रशसा का स्थल होता है। क्योकि अप्रस्तुतप्रशंसा मे अप्रकृत व्यवहार शब्दत उपात्त होने के कारण विशेष्याश से भी उपस्थापित होता ही है। जैसे—

मलिनेऽपि रागपूर्णां विकसितवदनामनल्पजल्पेऽपि।
त्वयि चपलेऽपि च सरसा भ्रमर कथ वा सरोजिनी त्यजसि ।।[१००]

सम्पूर्ण अप्रस्तुत अर्थ (भ्रमर सम्बन्धी) यहाँ शब्दतः प्रतिपाद्य है। अत' इससे प्रस्तुत अर्थ की जो प्रतीति होगी वह भ्रमर रूप विशेष्य से भी उपस्थापित होगी केवल विशेषणो से नही।

---

९९. रस पृ. ३६७
१००. रस पृ ३६७

यदि यहाँ भ्रमर वृत्तान्त को प्रस्तुत मान लिया जाय तब समासोक्ति हो सकती है ।

इसी प्रकार प्रकृत और अप्रकृत दोनो का विशेषण 'धर्मी' बनाने से वहाँ समासोक्ति नही होती जहाँ श्लेषके कारण एक ही धर्मी के प्रकृत और अप्रकृत व्यवहार की प्रतीति होती है । जैसे यहाँ—

> आबध्नास्यलकान्निरस्यसितमा चोल रसाकाङ्क्षया—
> लङ्काया वशता तनोषि कुरुषे जङ्घाललाटक्षतम् ।
> प्रत्यङ्ग परिमर्दनिर्दयमहो चेत समालम्बसे
> वामाना विषये नृपेन्द्र भवतः प्रागल्भ्यमत्यद्भुतम् ।।[१०१]

नृप रूप एक ही धर्मी के रतिवृत्तान्त और वीरवृत्तान्त रूप दोनो व्यवहारो का प्रत्यायन होता है अत यहाँ समासोक्ति नही है । यदि केवल राजवर्णन ही यहाँ प्रस्तुत माना जाय तब यहाँ समासोक्ति हो सकती है ।

समासोक्ति का उदाहरण इस प्रकार है —

> विबोधयन्करस्पर्शै पद्मिनी मुद्रितानननाम् ।
> परिपूर्णानुरागेण प्रातर्जयति भास्कर ।[१०२]

यहाँ 'करस्पर्श, मुद्रितानना' इत्यादि ऐसे विशेषण है जिनके बल पर सूर्य का व्यवहार नायक के व्यवहार से अभिन्न होकर प्रतीत हो रहा है । सूर्य है प्रकृतधर्मी और नायक है अप्रकृत धर्मी । मात्र विशेषणो की समानता के कारण ही यहाँ प्रस्तुत धर्मी–सूर्य का व्यवहार अप्रस्तुत धर्मी–नायक से अभिन्न रूप मे ज्ञात हो रहा है । अत समासोक्ति है ।

समासोक्ति का वैशिष्ट्य —

इस अलङ्कार मे व्यङ्ग्य होने वाला अप्रस्तुत व्यवहार प्रस्तुत व्यवहार का उपस्कारक ही होता है, प्रधान नही । प्रधानता होती है व्यङ्ग्यार्थ के द्वारा परिपुष्ट वाच्यार्थ की ही । यदि इसमे व्यङ्ग्यार्थ की ही प्रधानता हो जाये और वाच्यार्थ की प्रधानता न हो तो आगे उदाहृत किये जाने वाले 'देव त्वा परित स्तुवन्तु –'[१०३] इत्यादि उदाहरण मे निन्दा का स्तुति मे पर्यवसान नही होगा । स्तुति प्रकृत और निन्दा अप्रकृत अर्थ है ।

रुय्यक का मत —

> तन्वी मनोहरा बाला पुष्पाक्षी पुष्पहासिनी ।

---

१०१ रस पृ. ३६७

१०२. रस पृ. ३७०

१०३. रस पृ. ४२४

विकासमेति सुभग भवद्दर्शनमात्रतः ।। [१०४]

इसमे तनुता आदि विशेषणो के साथ से चञ्चल नेत्र वाली नायिका मे लता के व्यवहार की प्रतीति होती है। इस आरोप में कारण है 'विकास' धर्म का प्रयोग करना जो केवल लता पक्ष मे ही लग सकता है। यदि 'विकास' पद का प्रयोग न हो तो केवल अन्यविशेषणो की समानता होने मात्र से यहाँ लताव्यवहार की प्रतीति नही होती। नायिका पक्ष मे वह पद लाक्षणिक ही समझना चाहिये। [१०५]

विमर्शिनीकार ने इसी के समर्थन मे यह कहा है कि समासोक्ति मे विशेषणो का साम्य होते हुए भी जब तक अप्रकृत धर्मी से सम्बन्धित किसी धर्म या कार्य का आरोप प्रकृत धर्मी के व्यवहार पर न हो तब तक अप्रकृत व्यवहार की प्रतीति नही होती। [१०६]

पण्डितराजकृत खण्डनः—

(१) 'तन्वी मनोहरा–' इत्यादि मे समासोक्ति अलङ्कार नही है क्योकि रुय्यक ने यह स्वय ही कह दिया है कि केवल विशेषणो के साम्यमात्र से वहाँ अप्रकृत व्यवहार की प्रतीति नही हो रही अपितु केवल अप्रकृत अर्थ मे सङ्गत होने वाले विकास नामक व्यवहार का भी आरोप होने से होती है। और समासोक्ति का जो लक्षण बनाया है वह है विशेषण साम्य मात्र से अप्रकृत व्यवहार की प्रतीति होना। अत रुय्यक के लक्षण की ही यहाँ सङ्गति नही हो पाती।

(२) लक्षण मे विशेषणों के साम्य से व्यङ्ग्य होने का तात्पर्य विशेषणो के साम्य मात्र से व्यङ्ग्य होना नही है अपितु विशेषणों के साम्य से व्यङ्ग्य होने मे हा है। अर्थात् विशेषणसाम्य के अतिरिक्त यदि अप्रकृत अर्थ का व्यञ्जक अन्य कोई कारण भी हो तो भी कोई हानि नही है। अत· उक्त उदाहरण मे भी यदि विकासाख्य धर्म का आरोप लता व्यवहार का व्यञ्जक है तो भी इसमें समासोक्ति हो ही सकती है। (यहाँ मात्र पद विशेषणसाम्येतर का व्यावर्तक है)–ऐसा यदि कहें तो भी ठीक नही है क्योकि श्लेष मे इसकी अतिव्याप्ति हो जायेगी।

(३) मात्रा पद को विशेष्य का व्यावर्तक मानकर केवल विशेषणो के ही साम्य को व्यञ्जक माना जाय, विशेष्यो का नही तो श्लेष मे अतिव्याप्ति नही होगी

---

१०४. रस पृ. ३७६

१०५. 'अत्र तन्वीत्यादिविशेषणसाम्याल्लोलाक्ष्या लताव्यवहारप्रतीति । अत्र च लतैकगामिविकासाख्यधर्मसमारोप. कारणम्। अन्यथा विशेषणसाम्यमात्रेण नियतस्य लताव्यवहारस्याप्रतीते.। विकासश्च प्रकृते उपचरितो ज्ञेयः।' (अ. स. । पृ १२२)

१०६. 'तदेव साधारण्येन समासोक्तं विशेषणसाम्येऽप्यप्रकृतसम्बन्धिधर्मकार्यसमारोपमन्तरेण तद्व्यवहारप्रतीतिर्न भवति' —(रस. । पृ ३८०)

और 'तन्वी मनोहरा–' इत्यादि मे भी लक्षण की सङ्गति हो जायेगी। ऐसा भी नही कहा जा सकता क्योकि वास्तव मे इस पद्य मे समासोक्ति है ही नही।

समासोक्ति वही होती है जहाँ साधारणविशेषणो के आधार पर अप्रकृतार्थ की व्यञ्जना होती है। जहाँ किसी असाधारण विशेषण से व्यङ्ग्यार्थ का बोध होता है वहाँ व्यङ्ग्य रूपक होता है। यही दोनो का पार्थक्य है। इस प्रकार 'तन्वी मनोहरा–' मे साधारण विशेषणो के होते हुए भी उनके आधार पर लता की व्यञ्जना नही होती अपितु 'विकास' की महिमा से ही वह व्यञ्जना होती है। अतः इसमे व्यङ्ग्यरूपक कहना ही उचित है।

वह व्यङ्ग्य रूपक कही प्रधान हो सकता है कही गुणीभूत। 'तन्वी मनोहरा–' मे वह गुणीभूत है और

'चकोरनयनानन्दि कह्लाराह्लादकारणम्।
तमसा कदन भाति वदनं सुन्दर तव ।।[१०७] इसमे वह व्यङ्ग्य रूपक प्रधान है।

(४) समासोक्ति मे सर्वत्र ही रूपक अनुस्यूत रहेगा ऐसी शङ्का भी उचित नही है क्योकि 'अन्धेन पातभीत्या–'[१०८] इत्यादि उदाहरणो मे इस प्रकार का स्थल प्रदर्शित किया जा चुका है जहाँ शुद्ध समासोक्ति ही है। इसमे किसी भी असाधारण विशेषण का प्रयोग नही हुआ है केवल साधारण विशेषणो की ही महिमा से अप्रकृत अर्थ का प्रत्यापन हो रहा है।

इस प्रकार यह निश्चित हो जाता है कि 'तन्वी मनोहरा–' मे समासोक्ति कहना अनुचित है। विमर्शिनीकार का मत भी स्वत खण्डित हो जाता है।

समासोक्ति के भेद

विशेषणो के आधार पर समासोक्ति के चार प्रकार हैं —
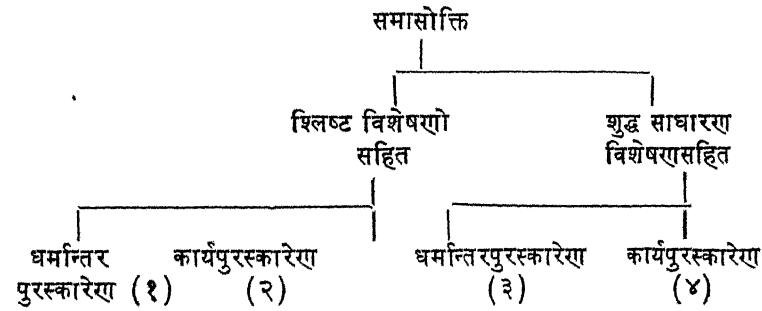
१०७. रस. पृ. ३७९
१०८. रस पृ. ४२४

सर्वप्रथम समासोक्ति के दो प्रकार हो सकते हैं–(१) प्रथम वह जिसमे प्रकृत और अप्रकृत व्यवहार मे समान रूप से लगने वाले विशेषणो मे श्लेष हो और (२) द्वितीय वह जहाँ उन विशेषणो मे किसी प्रकार का श्लेष न हो अपितु वास्तव मे दोनो व्यवहारो मे उनका साम्य हो

इनमे से प्रत्येक के पुन दो-दो भेद हो जाते है–(१) जहाँ किसी अन्य धर्म को सम्मुख करते हुए अप्रकृत व्यवहार का प्रत्यापन हो और (२) दूसरा वह जहाँ प्रकृत व्यवहार के कार्य आदि के रूप में अप्रकृत व्यवहार की प्रतीति हो।

श्लिष्ट विशेषणो वाले धर्मान्तर पुरस्कार वाले भेद का उदाहरण पूर्वोक्त 'विबोधयन् करस्पर्शै –' इत्यादि पद्य मे है। इस पद्य अप्रस्तुत अर्थ को उपस्थापित करने वाले विशेषण हैं कर, पद्मिनी, राग इत्यादि। यह सभी श्लिष्ट विशेषण हैं और कार्य के बोधक नही हैं अपितु अन्य अन्य विशेषताओ को द्योतित करते हैं। इसीका एक दूसरा उदाहरण भी दिया गया है।

श्लिष्ट कार्य पुरस्कारेण समासोक्ति का उदाहरण भी पूर्वोक्त पद्य ही है– 'आबन्धास्यलकान्—' इत्यादि। इसमे अप्रस्तुत अर्थ के बोधक 'आबध्नासि' इत्यादि विशेषण कार्य रूप मे कथित हुए हैं।

तृतीय भेद का उदाहरण यह है:—

अन्धेन पातभीत्या सञ्चरता विषमविषयेषु ।
दृढमिह मया गृहीता हिमगिरिश्रृङ्गादुपागता गङ्गा ।।[१०९]

इसमे गङ्गा है प्रकृत धर्मी, उसका व्यवहार पर्वत के शिखर पर उत्पन्न वश-दण्ड(बास के डण्डे) के व्यवहार से अभिन्न होकर प्रतीत होरहा है। दृढता रूप विशेषण श्लिष्ट नही है अपितु उभयसाधारण है। अतः तृतीय प्रकार की समासोक्ति है।

चतुर्थ भेद का उदाहरण यह है:—

देव त्वा परित स्तुवन्तु कवयो लोभेन, किं तावता
स्तव्यस्त्व भवितासि, यस्य तरूणश्चापप्रतापोऽधुना ।
क्रोडान्त· कुरुतेतरां वसुमतीमाशाः समालिङ्गति
द्या चुम्बत्यमरावती च सहसा गच्छत्यगम्यामपि ।।[११०]

इसमे राजा के चापप्रताप का व्यवहार प्रस्तुत व्यवहार है जो पर-स्त्री-कामुकरूप अप्रकृत के व्यवहार के साथ अभिन्न होकर प्रतीत होता है। उस अप्रस्तुत व्यवहार के उपस्थापक विशेषण है क्रोडीकरण और आलिङ्गन आदि। यह कार्य रूप मे उपात्त हुए हैं। अतः चतुर्थ भेद का स्थल है।

---

१०९ रस. पृ. २७८
११० रस पृ २७८

जहाँ वह विशेषण कार्यरूप और धर्मान्तरपुरस्कार रूप दोनो ही, अर्थात् जहाँ दोनो का सङ्कर होगा वहाँ भी समासोक्ति होती है । जैसे—

उत्क्षिप्ता कबरीभर विवलिता पार्श्वद्वय न्यक्कृताः
पादाम्भोजयुग रुषा परिहृता दूरेण चेलाञ्चलम् ।
गृह्णन्ति त्वरया भवत्प्रतिभटक्ष्मापालवामभ्रुवा
यान्तीना गहनेषु कण्टकचिता. के के न भूमीरुहा:[१११]

इसमे सामान्य विशेषण है कण्टकचितत्व और कबरीग्रहणत्व । इनमे प्रथम तो साधारण है किन्तु दूसरा कार्यरूप है अत दोनो प्रकारो का सङ्कर है ।

आरोप के आधार पर समासोक्ति के भेद —

समासोक्ति मे प्रकृत पर अप्रकृत का आरोप होता है । वह आरोप भी चार प्रकार का होता है जिसके आधार पर समासोक्ति के भी चार भेद होते है —

समासोक्ति

लौकिक व्यवहार पर लौकिक व्यवहार का आरोप	शास्त्रीय व्यवहार पर शास्त्रीय व्यवहार का आरोप	लौकिक व्यवहार पर शास्त्रीय व्यवहार का आरोप	शास्त्रीय व्यवहार पर लौकिक व्यवहार का आरोप
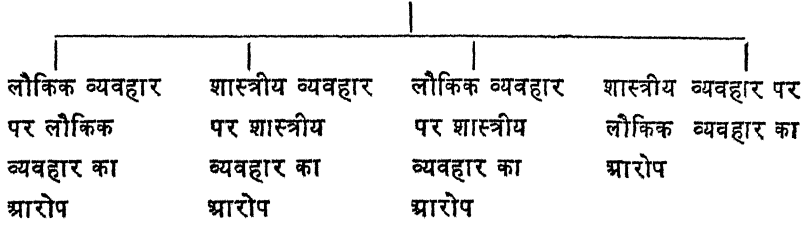
(१) जहाँ प्रकृत व्यवहार भी लौकिक हो और उससे अभिन्न रूप में प्रतीत होने वाला अप्रकृत व्यवहार भी लौकिक हो ।

(२) जहाँ प्रकृत और अप्रकृत दोनो व्यवहार शास्त्रीय हो ।

(३) जहाँ प्रकृत व्यवहार लौकिक हो और उस पर अलौकिक अप्रस्तुत व्यवहार का आरोप है ।

(४) जहाँ प्रकृत व्यवहार शास्त्रीय और अप्रकृत व्यवहार लौकिक हो ।

क्रमश इसके उदाहरण इस प्रकार हैं:—

प्रथम भेद का उदाहरण तो 'विबोधयन्करस्पर्शै'·—इत्यादि पद्य को समझा जा सकता है । अन्य उदाहरण भी इसके उदाहरण हो ही सकते हैं ।

द्वितीय भेद का उदाहरण इस प्रकार है:—

गुणवृद्धी परे यस्मिन्नैव स्त. प्रत्ययात्मके ।
बुधेषु सदिति ख्यात तद्ब्रह्म समुपास्महे ।।[११२]

---

१११. रस पृ. ३७८
११२. रस पृ. ३८४

यहाँ वेदान्तशास्त्र से सिद्ध व्यवहार पर व्याकरण सिद्ध व्यवहार का—शतृशानच् आदि का आरोप हुआ है।

लौकिक पर शास्त्रीय व्यवहार का आरोप है जैसे—

परार्थव्यासङ्गादुपजहदथ स्वार्थपरता—
मभेदैकत्व यो वहति गुणभूतेषु सततम् ।
स्वभावाद्यस्यान्त' स्फुरति ललितोदात्तमहिमा
समर्थो यो नित्य स जयतितरा कोऽपि पुरुष. ।[११३]

इसमे 'समर्थ' पदविधि.' इत्यादि महाभाष्य के सूत्रार्थ का आरोप लौकिक अर्थ पर हुआ है।

शास्त्रीय व्यवहार पर लौकिक अर्थ का आरोप—

कृत्वा सूत्रै सुगूढार्थै प्रकृते. प्रत्यय परम् ।
आगमात् भावयन् भाति वैयाकरणपुङ्गव ।[११४]

इसमे राजा के व्यवहार का आरोप शास्त्रीय व्यवहार मे हुआ है। व्याकरण शास्त्र के ही समान अन्य शास्त्रो का भी उदाहरण समझ लेना चाहिये।

इस सबके अतिरिक्त समासोक्ति अलङ्कार अन्य अनेक अलङ्कारो से अनुगुणित होकर भी रहता है। जैसे—

स्थितेऽपि सूर्ये पद्मिन्यो वर्तन्ते मधुपैः सह ।
अस्त गते तु सुतरा स्त्रीणा कः प्रत्ययो भुवि ।।[११५]

इसमे अर्थान्तरन्यास अलङ्कार समासोक्ति का पोषक है। इसी प्रकार उत्प्रेक्षादिमूलक समासोक्ति के भी अनेक भेद देकर अलङ्कारान्तरों की अनुगुणता प्रदर्शित की है।

रुय्यक का मत —

समासोक्ति मे रहने वाला विशेषण साम्य औपम्यगर्भित (सादृश्याधारित) भी होता है। जैसेः—

दन्तप्रभापुष्पचिता पाणिपल्लवशोभिनी ।
केशपाशालिवृन्देन सुवेषा हरिणेक्षणा ।।[११६]

इत्यादि मे ।

यहाँ 'सुवेषा' विशेषण केवल नायिका (हरिणेक्षणा) के साथ ही सयुक्त होता है। इसी विशेषण की महिमा से 'उपमानानि सामान्यवचनैः.' सूत्र के अनुसार होने

---

११३. रस पृ. ३८४
११४. रस. पृ. ३८५
११५. रस पृ. ३८५
११६. रस पृ. ३८०

वाली 'दन्तप्रभा के समान पुष्प' इस व्युत्पत्ति को छोडकर 'उपमित व्या घ्रादिभि –' इत्यादि के अनुसार होने वाली पुष्पो के समान दन्तप्रभा इत्यादि व्युत्पत्ति करने पर यद्यपि नायिकाविषयक प्रस्तुत अर्थ की सिद्धि हो जाती है तथापि व्यञ्जना के बल से उसी पारित्यक्त व्युत्पत्ति का पुनरुज्जीवन होने पर पुष्प पल्लव तथा भ्रमर समूह जो प्रथम योजना मे उपमान थे, उपमेय हो जाते है, तब उनसे लता का आक्षेप होता है। और इस प्रकार ज्ञात हुई लता का मृगाक्षी पर आरोप होता है।[११७]

यदि इसमे 'सुवेषा' के स्थान पर परीता कर दिया जाय तो उपमा के साधक और रूपक के बाधक प्रमाणो का अभाव हो जायेगा। और उसके कारण उपमा और रूपक के सन्देह का आश्रय लेकर योजना कर लेने से पूर्वोक्त रीति से (व्यञ्जना से) लता की प्रतीति होने से समासोक्ति ही होगी। तात्पर्य यह है कि 'सुवेषा' और 'परीता' दोनो मे से किसी भी विशेषण के रहने से समासोक्ति ही होगी।

श्लेषमूलक समासोक्ति के समान यहाँ भी समास भेद से अर्थ भेद होने पर भी शब्द की समानता को लेकर, समासोक्ति के लिये आवश्यक, विशेषण साम्य हो जायेगा।

यदि प्रथम योजना और द्वितीय योजना मे रूपक का आश्रय लेकर 'दन्तप्रभा ही पुष्प है' इत्यादि अर्थ कर लिया जाय तो नायिका अश मे भी आक्षिप्त लता का तादात्म्य मानकर होने वाले एकेदेशविवर्ति रूपक के द्वारा ही अप्रस्तुत अर्थ की प्रतीति हो जायेगी। और तब वहाँ समासोक्ति का कोई प्रयोजन नही रहेगा।[११८]

पण्डितराजकृत खण्डन

रुय्यक का उक्त मत उचित नही है क्योकि—

(१) एकदेशविवर्तिरूपक न भी माना जाय तो भी 'पुष्पो के समान दन्तप्रभा' इत्यादि प्रथम उपमागर्भित योजना करने पर भी, मृगाक्षी अश मे आक्षेप के द्वारा लब्ध लता जिसमे उपमान हो, ऐसी एकदेशविवर्तिनी उपमा मान लेने से ही अप्रस्तुत अर्थ की प्रतीति हो जाती है जिससे समासोक्ति यहाँ निरर्थक ही है।

(२) यदि यह कहा जाय कि उद्भट आदि प्राचीन आलङ्कारिको के ही अनुसार एकदेशविवर्तिनी उपमा और एकदेशविवर्ती सङ्कर को अस्वीकार करके रुय्यक ने भी औपम्य-मूलक विशेषण साम्य से समासोक्ति का प्रकार माना है–तो भी उचित नही है क्योकि सर्वस्वकार ने अपने ग्रन्थ मे तुरन्त पश्चात् ही एकदेशविवर्तिनी उपमा और सङ्कर को स्वीकार किया है।

---

११७. दे. परि. ख–६

११८. रस. पृ. ३८१

(३) एक देशविवर्ति उपमा को अस्वीकृत भी नही किया जा सकता क्योकि—

हालाहलसमो मन्युरनुकम्पा सुधोपमा ।
कीर्तिस्ते चन्द्रसदृशी भटास्तु मकरोद्भटा ।।[११६]

इत्यादि मे और कोई अलङ्कार माना ही नही जा सकता ।

अत जब एकदेशविवर्ति उपमा माननी आवश्यक ही है तो फिर समासोक्ति का एक नया भेद मानना उचित नही है ।

(४) जहाँ श्लिष्ट विशेषणो से अथवा शुद्ध साधारण विशेषणो से सहचरित सादृश्य से विशेषण गर्भित हो वहाँ यद्यपि समासोक्ति ही होगी तथापि वह औपम्य गर्भित विशेषण साम्योत्थापित समासोक्ति नामक तृतीय भेद नही हो सकता क्योकि इसका कोई स्वतन्त्र स्थल नही है । अर्थात् ऐसा कोई उदाहरण नही है जो केवल औपम्यमूलक विशेषण साम्य से ही उत्थापित हो । सभी स्थानो मे श्लेष अथवा शुद्ध साधारण्य भी रहता है । जैसे—

निर्मलाम्बररम्यश्रीः किञ्चिद्दर्शिततारका ।
हसावलीहारयुता शरद्विजयतेतराम् ।।[१२०]

इसमे पूर्वार्ध मे श्लिष्ट विशेषणों से उत्थापित समासोक्ति का उत्तरार्धगत औपम्यगर्भ विशेषणो से उत्थापित समासोक्ति के द्वारा उसी प्रकार अनुमोदन (अनुसरण) कर दिया गया है जिस प्रकार विद्वान् के द्वारा कही गयी युक्ति का कोई मूर्ख अनुमोदन करता है । उसी प्रकार 'दत्तानन्दा समस्ताना प्रफुल्लोत्पलमालिनी' इस प्रकार पूर्वार्ध कर देने पर साधारण विशेषणो से उत्थापित ही समासोक्ति हो जायेगी ।

(५) इसी प्रकार—

परिफुल्लाब्जनयना चन्द्रिकाचारुहासिनी ।
हसावलीहारयुता शरद्विजयतेतराम् ।।[१२१]

इसमे उपमा और रूपक के साधक और बाधक प्रमाणो के अभाव मे, सङ्कर अलङ्कार को मानने वाले पक्ष मे दोनो का सशयरूप एकदेशविवर्ती सङ्कर अलङ्कार ही है । सङ्कर अलङ्कार को न स्वीकार करने के पक्ष मे यदि 'उपमितसमासे'—सूत्र से व्युत्पत्ति की जाय तो एकदेशविवर्ति उपमा और विशेषणो का समास मानने पर एकदेशविवर्ति रूपक है ।

'उपमित समासे-' के अनुसार व्याख्या करने पर ही अप्रकृत अर्थ का बोध हो जाता है अत 'परिफुल्लाब्जानीव नयनानि' इस औपम्यगर्भित विशेषणोत्थापित समासोक्ति तक अनुधावन व्यर्थ हो जाता है ।

---

११९. रस पृ. ३८१
१२०. रस. पृ ३८१
१२१. रस. पृ. ३८१

(६) यदि इसका चतुर्थ चरण 'शरद् वर्षासखी बभौ' यह बना दिया जाय तो केवल शरदृतु मे रहने वाले 'वर्षाऋतु का सखीत्व' रूप धर्म के उपात्त हो जाने से 'उपमितसमासे–' इत्यादि सूत्र से अब्ज, चन्द्रिका, हस का प्राधान्य करने वाला प्रथम से रीति से व्याख्या करना आवश्यक हो जायेगा और उसमे उपमान होगे नयन, हास, हार और उससे नायिका का आक्षेप होगा। इस प्रकार एकदेशविवर्तिनी उपमा से ही निर्वाह हो जायेगा।

निष्कर्ष यही निकला कि औपम्यगर्भित विशेषणसाम्य से उत्थापित समासोक्ति को कोई पृथक् भेद मानना युक्तिहीन है।

अप्पयदीक्षित का मत

सारूप्य से भी समासोक्ति होती है। जैसे—

> पुरा यत्र स्त्रोत पुलिनमधुना तत्र सरिता
> विपर्यास यातो घनविरलभाव' क्षितिरुहाम्।
> बहोर्दृष्ट कालादपरमिव मन्ये वनमिद
> निवेश शैलाना तदिदमिति बुद्धि द्रढयति॥

इसमे एक वन का वर्णन प्रस्तुत अर्थ है तथा उसके सारूप्य से (एक रूप होने से) एक ऐसे ग्राम या नगर का वर्णन अप्रस्तुत रूप से ज्ञात होता है जिसमे निवसित कुटुम्बियो की धन सन्तान आदि की समृद्धि और असमृद्धि विपरीत हो गयी है। (अर्थात् समृद्ध कुटुम्बी असमृद्ध और असमृद्ध कुटुम्बी समृद्ध हो गये हैं।)[२२२]

पण्डितराजकृत खण्डन

उपर्युक्त अप्पयदीक्षित प्रदत्त उदाहरण समासोक्ति का उदाहरण नही हो सकता, अर्थात् समासोक्ति का यह प्रभेद भी अनुचित है। उसके निम्नलिखित कारण हैं—

(१) समासोक्ति का मुख्य तत्त्व विशेषणो की साधारणता यहाँ नही है।

(२) समासोक्ति का यह लक्षण भी नही बनाया जा सकता कि विशेषणो की समता से अथवा प्रस्तुत अर्थ के साथ सादृश्य होने से जहाँ अप्रस्तुत अर्थ की प्रतीति हो वहाँ समासोक्ति होती है। क्योकि समासोक्ति मे प्रकृत वृत्तान्त से अप्रकृत-वृत्तान्त अभिन्न होकर रहता है–यह सभी आलङ्कारिको ने माना है। अप्पयदीक्षित ने भी यह कहा है कि प्रकृतधर्मी पर अप्रकृतधर्मी का आरोप होता है। तदनुसार प्रस्तुत उदाहरण मे स्रोत और वृक्षादि का विपर्यय धन-सन्तान आदि के विपर्यय से अभिन्न रूप मे प्रतीत नही होता।

---

२२२. अत्र वनवर्णने प्रस्तुते तत्सारूप्यात् कुटुम्बिषु धनसन्तानादिसमृद्ध्यसमृद्धिविपर्यासं प्राप्तस्य तत्समाश्रयस्य ग्रामनगरादेर्वृत्तान्त प्रतीयते। (कुव. पृ. ८६)

(३) यदि वनादि मे धन-सन्तान आदि का अभेद मानकर, पूर्वाचार्यों के द्वारा मानी गयी समासोक्तियो से भिन्न होने पर भी, यहाँ समासोक्ति ही मानी जाय तब तो दूसरे अलङ्कारो को भी समासोक्ति ही माना जा सकता है ।

(४) यदि यह शङ्का की जाय कि समासोक्ति न होने पर यहाँ कौन सा अलङ्कार होगा ? क्योकि अप्रस्तुतप्रशसा तो हो नही सकती, कारण, उसमे प्रस्तुत अर्थ ही वाच्य होता है और यहाँ अप्रस्तुत अर्थ वाच्य होकर प्रस्तुत अर्थ के साथ अभिन्नतया स्थित है । तो इसका उत्तर यह है कि यहाँ अप्रस्तुत प्रशसा ही है क्योकि प्रस्तुत से प्रस्तुत अर्थ की व्यञ्जना होने पर भी अप्रस्तुतप्रशसा होती है—यह अप्रस्तुत-प्रशसा का निरूपण करते समय स्पष्ट किया जायेगा ।

(५) अप्पयदीक्षित ने उपजीव्य ग्रन्थ अलङ्कारसर्वस्व से भी इसका विरोध होता है क्योकि रुय्यकसम्मत सादृश्य-गर्भ-विशेषणसाम्योत्थापित समासोक्ति तो एक बार कही भी जा सकती है क्योकि उसमे विशेषण साम्य है परन्तु अप्पय का अभिमत भेद तो सम्भव ही नही है ।

समवलोकन

समासोक्ति अलङ्कार पर पर्याप्त दीर्घविचार हुआ है । इसके लक्षण मे पण्डितराज ने विशेष सावधानी बरती है जो इनके पूर्वाचार्यों ने नही बरती । यह है 'धर्मिक' पदो का प्रयोग और 'एव' पद का प्रयोग । इन्ही अन्य अनेक अलङ्कारो का निरास हो जाता है ।

'विबोधयन्करस्पर्शै.—' इत्यादि समासोक्ति के उदाहरण पर मूल ग्रन्थ मे सुदीर्घ विवेचन हुआ है जिसका मुख्य विषय है आख्यात प्रधान और प्रथमान्तविशेष्यक बोध का आकार । विषय विचार मे अधिक उपयोगी न होने से इसे अलङ्कार विचार के अन्तर्गत नही दिया गया है । परिशिष्ट मे देखा जा सकता है ।[१२३]

अलङ्कारसर्वस्वकार और अप्पय का खण्डन करते हुए प्राचीन पथ के अनुगमन पर ही विशेष बल दिया है ।

भेदो का विचार करते हुए शास्त्रीय व लौकिक व्यवहार के आधार पर नवीन भेदो की कल्पना की है । सारूप्यमूला समासोक्ति का खण्डन केवल आग्रह ही प्रतीत होता है ।

अप्रस्तुतप्रशंसा

लक्षण

पण्डितराजकृत लक्षण

अप्रस्तुतप्रशसा समासोक्ति का विपरीत अलङ्कार है । समासोक्ति मे अप्रस्तुत

---

१२३. दे. परि. क–४

व्यङ्ग्यार्थ से प्रस्तुत वाच्यार्थ का उपस्कार होता है और अप्रस्तुतप्रशसा मे प्रस्तुत व्यङ्ग्यार्थ का अप्रस्तुत वाच्यार्थ से उपस्करण होता है।

अप्रस्तुतप्रशसा का लक्षण यह है—

'अप्रस्तुतेन व्यवहारेण सादृश्यादिवक्ष्यमाणप्रकारा-
न्यतमप्रकारेण प्रस्तुतव्यवहारो यत्र प्रशस्यते साप्रस्तुतप्रशसा।'[124]

अर्थात् अप्रस्तुत व्यवहार से सादृश्यादि प्रकारो मे से किसी भी प्रकार के द्वारा जब प्रस्तुत व्यवहार का प्रशसन हो तो अप्रस्तुतप्रशसा अलङ्कार होता है।

इसमे प्रशसन (प्रशसा) का अर्थ स्तुति नही है अपितु वर्णनमात्र है। प्रशसा का अर्थ यदि स्तुति लिया जायेगा तो 'धिक्तालस्योन्नतता यस्य च्छायापि नोपकाराय' इत्यादि मे अव्याप्ति हो जायेगी।

अप्रस्तुतप्रशसा के भेद

मम्मटादि के अनुसार अप्रस्तुतप्रशसा के भेद :—

अप्रस्तुतप्रशसा निम्नलिखित प्रकार की होती है—
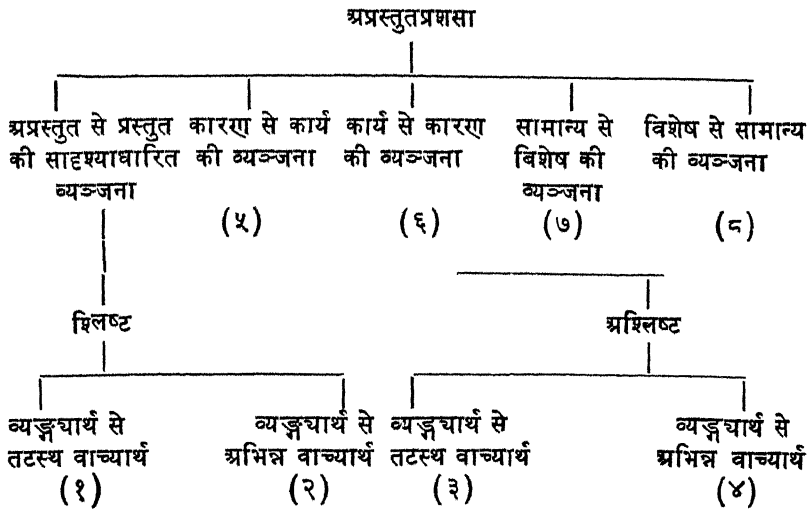
मुख्य रूप से अप्रस्तुतप्रशसा पाँच प्रकार की होती है—

(१) जहाँ प्रस्तुत अर्थ से सादृश्य के कारण किसी अप्रस्तुत अर्थ का व्यङ्ग्य रूप मे बोध हो।

---

124. अ० स० पृ. १२२

(२) जहाँ प्रस्तुत अर्थ कारण रूप हो और व्यङ्ग्यार्थ उसके कार्य के रूप मे बोधित हो।

(३) जहाँ प्रस्तुत अर्थ कार्यरूप हो और व्यङ्ग्यार्थ का उसके कारण के रूप मे वर्णन हो।

(४) जहाँ प्रस्तुत अर्थ सामान्य हो और अप्रस्तुत अर्थ विशेष हो, तथा

(५) जहाँ प्रस्तुत अर्थ विशेष हो और अप्रस्तुत अर्थ सामान्य रूप हो।

प्रथम भेद को सादृश्यमूला अप्रस्तुतप्रशसा भी कहते है। यह कही श्लिष्ट होती है कही अश्लिष्ट। उनमे भी कही तो व्यङ्ग्यार्थ का वाच्यार्थ से कोई सम्बन्ध नही रहता, दोनो स्वतन्त्र रहते हैं और कही उन दोनो मे अभेद रहता है। इस प्रकार इसके चार भेद हो जाते है।

इन भेदो के उदाहरण क्रमश इस प्रकार हैं—

दिगन्ते श्रूयन्ते मदमलिनगण्डा करटिन·
करिण्यः कारुण्यास्पदमसमशीला खलु मृगा.।
इदानी लोकेऽस्मिन्ननुपमशिखाना पुनरय
नखाना पाण्डित्य प्रकटयतु कस्मिन्मृगपतिः ॥[१२५]

इसमे अप्रस्तुत वर्णन है राघव का वर्णन, वही वाच्य भी है और उसी वाच्य अप्रस्तुत अर्थ से व्यङ्ग्य हो रहा है व्यक्ति विशेष का प्रस्तुत वर्णन जो असावधानी से अपने उपयुक्त स्थान का त्याग कर बैठा हो और उसके अभाव मे व्याकुल हो।

यहाँ कोई पद श्लेष युक्त नही है तथा वाच्यार्थ और व्यङ्ग्यार्थ मे परस्पर कोई सम्बन्ध नही है अतः सादृश्यमूला अप्रस्तुतप्रशसा का प्रथम प्रकार है।

यही अप्रस्तुतप्रशसा श्लिष्ट पदों वाली इस प्रकार होती है—

नितरा नीचोऽस्मीति त्व खेद कूप मा कदापि कृथा।
अत्यन्तसरसहृदयो यत परेषा गुणग्रहीतासि।[१२६]

इसमे नीच, सरस गुणादि पद श्लिष्ट हैं जिनके कारण कूप से उसके सदृश अन्य अर्थ की प्रतीति होती है। यहाँ भी व्यङ्ग्यार्थ व वाच्यार्थ का परस्पर सम्बन्ध नही है।

इस उदाहरण में समासोक्ति अनुग्राहिका है ऐसा समझना अनुचित है क्योकि वह प्रकृत अलङ्कार से विपरीत स्वरूप वाली है। इसी आधार पर मम्मट का यह मत भी खण्डित हो जाता है कि अप्रस्तुतप्रशसा मे समासोक्ति अनुग्राहिका होती है। (मम्मट ने एक उदाहरण देकर उसमे समासोक्ति को अनुग्राहक माना है)

---

१२५. रस.पृ ४०२–४०३
१२६. रस.पृ. ४०३

इसी अप्रस्तुतप्रशसा का वह भेद इस प्रकार है जिसमे वाच्यार्थ को व्यङ्ग्यार्थ के तादात्म्य की अपेक्षा रहती है—

समुपागतवति दैवादवहेला कुटज मधुकरे मा गा ।
मकरन्दतुन्दिलानामरविन्दानामय महामान्य. ॥[127]

इसमे वृक्ष को किया गया सम्बोधन तभी सार्थक हो सकता है जब व्यङ्ग्यार्थ के साथ अभेद मानकर उसे सचेतन माना जाय ।

इस तादात्म्य के भी अनेक रूप (अवान्तरभेद) हो सकते हैं जैसे– केवल विशेषणाश मे तादात्म्य की अपेक्षा, केवल विशेष्याश मे तादात्म्य की अपेक्षा, विशेषण और विशेष्य दोनो मे तादात्म्य की अपेक्षा, वाच्यार्थ को व्यङ्ग्यार्थ की अपेक्षा, व्यङ्ग्यार्थ को वाच्यार्थ की अपेक्षा इत्यादि । इनमे से कुछ को उदाहरण देकर स्पष्ट भी किया गया है ।

अप्रस्तुतप्रशसा के द्वितीय भेद–कार्य से कारण की व्यञ्जना–का उदाहरण यह है—

नितरा परुषा सरोजमाला न मृणालानि विचारपेशलानि ।
यदि कोमलता तवाङ्गकानामथ का नाम कथापि पल्लवानाम् ॥[128]

इसमे पल्लवादि के तिरस्कार रूप कार्य से नायिका के अङ्गो की अत्यन्त सुकुमारता रूप कारण की व्यञ्जना हो रही है । कार्यकारण भाव वस्तुगत नही है अपितु ज्ञान-गत है । अतः एक ज्ञान से दूसरा ज्ञान उत्पन्न होता है ।

कारण से कार्य की व्यञ्जनारूप चतुर्थ भेद—

आनम्य वल्गुवचनैर्विनिवारितेऽपि
रोषात्प्रयातुमुदिते मयि दूरदेशम् ।
बाला कराङ्गुलिनिदेशवशवदेन
क्रीडाबिडालशिशुनाशु रुरोध मार्गम् ॥[129]

इसमे 'मैं प्रवास के लिये नही गया' यह अर्थ प्रस्तुत है जो बिडाल-रोध रूपी अप्रस्तुत वाच्यार्थ से प्रतीत हो रहा है । अप्रस्तुत अर्थ कारण और प्रस्तुत अर्थ कार्य रूप है ।

सामान्य अर्थ से विशेष अर्थ की व्यञ्जना, जैसे—

कृतमपि महोपकार पय इव पीत्वा निरातङ्क ।
प्रत्युत हन्तुं यतते काकोदरसोदरः खलो जगति ॥[130]

---

१२७ रस पृ. ४०४
१२८. रस. पृ. ४०५
१२९. रस. पृ. ४०५
१३०. रस० पृ० ४०६

इसमे एक सामान्य अर्थ वर्णित है जिससे किसी प्रकृत खल विशेष का वर्णन व्यङ्ग्य हो रहा है । एव इसमे उपमा आनुगुण्येन स्थित है ।

विशेष से सामान्य की व्यञ्जना जैसे–

हार वक्षसि केनापि दत्तमज्ञेन मर्कटः ।
लेढि जिघ्रति सक्षिप्य करोत्युन्नतमाननम् ।।[१३१]

इसमे मर्कटवृत्तान्त अप्रस्तुत है और विशेष रूप भी है उससे सामान्य अर्थ की प्रतीति होती है—'किसी भी अज्ञानी के लिये रमणीय वस्तुओ को देना रूप ।'

उपर्युक्त प्रत्येक भेद के उक्त उदाहरणो के अतिरिक्त भी कुछ उदाहरण दिये गये हैं ।

पण्डितराजकृत आलोचना .—

उपर्युक्त सम्पूर्ण विभाजन प्राचीन परम्परा (मम्मटादि) के अनुसार किया गया है । पण्डितराज की दृष्टि मे अप्रस्तुतप्रशसा मुख्यत· दो ही प्रकार की होती है– (१) अप्रस्तुत अर्थ की व्यञ्जना वाली और (२) प्रस्तुत से प्रस्तुत अर्थ की व्यञ्जना वाली ।

प्राचीनकृत समस्त भेद प्रथम भेद के ही विभिन्न प्रकार हैं । उनके उदाहरण भी दिये ही जा चुके हैं । दूसरे भेद का उदाहरण यह है —

मलिनेऽपि रागपूर्णां विकसितवदनामनल्पजल्पेऽपि ।
त्वयि चपलेऽपि च सरसा भ्रमर कथ वा सरोजिनी त्यजसि ।।[१३२]

इसको, यदि जलक्रीड़ा के प्रकरण मे, भ्रमर, कमलिनी आदि के सम्मुख रहने पर, नायक के नायिका मे अननुरक्त रहने पर, पीछे खडी हुई नायिका की किसी सखी का नायक के प्रति कहा गया वचन माना जाये तो दोनो वृत्तान्त प्रस्तुत होगे– भ्रमर और नायक के । तथा भ्रमर रूप प्रस्तुत वृत्तान्त से नायक रूप प्रस्तुत वृत्तान्त की व्यञ्जना होगी ।

प्रस्तुत से प्रस्तुत की व्यञ्जना होने पर अप्रस्तुतप्रशसा अलङ्कार नहीं होगा क्योकि अप्रस्तुतप्रशसा मे यह आवश्यक है कि प्रस्तुत अर्थ व्यङ्ग्य ही हो और अप्रस्तुत अर्थ वाच्य हो । ऐसा नही कहना चाहिये क्योकि यहाँ अप्रस्तुत अर्थ का तात्पर्य है–मुख्य रूप से जिस अर्थ की विवक्षा हो उससे भिन्न अर्थ । वह मुख्यतात्पर्य-विषयीभूतार्थातिरिक्त अर्थ कही अत्यन्त अप्रस्तुत भी हो सकता है और कही प्रस्तुत भी उसमे कोई दोष नही है ।

---

१३१ रस. पृ. ४०६
१३२. रस. पृ. ३६७

इसी युक्ति पर अप्पय दीक्षित का प्रस्तुताङ्कुर अलङ्कार, जिसमे प्रस्तुत से प्रस्तुत अर्थ की व्यञ्जना होती है, भी अप्रस्तुतप्रशसा मे ही अन्तर्भूत हो जाता है।

प्रस्तुत से प्रस्तुत व्यञ्जना वाले भेद को ध्वनि भी नही मान सकते क्योकि साहश्यादि प्रकारो से युक्त होना आवश्यक होने से उमकी ध्वनि से विलक्षणता है।

निष्कर्ष यह है कि अत्यन्त अप्रस्तुत से प्रस्तुत की प्रतीति वाला प्रथम भेद ध्वनि नही हो सकता क्योकि वहाँ व्यङ्ग्यार्थ की प्रतीति बलात् होती है। परन्तु प्रस्तुत से प्रस्तुत की प्रतीति वाला भेद निर्विघ्नरूप से ध्वनि का स्थल हो सकता है। इस प्रकार साहश्यमूला अप्रस्तुतप्रशसा के दो प्रकार हो गये–अप्रस्तुत से प्रस्तुत की व्यञ्जना होने पर और प्रस्तुत से प्रस्तुत की व्यञ्जना होने पर।

कार्यकारण भाव और सामान्यविशेषभाव पर आधारित चारो भेद गुणीभूत-व्यङ्ग्य के भेद हैं।
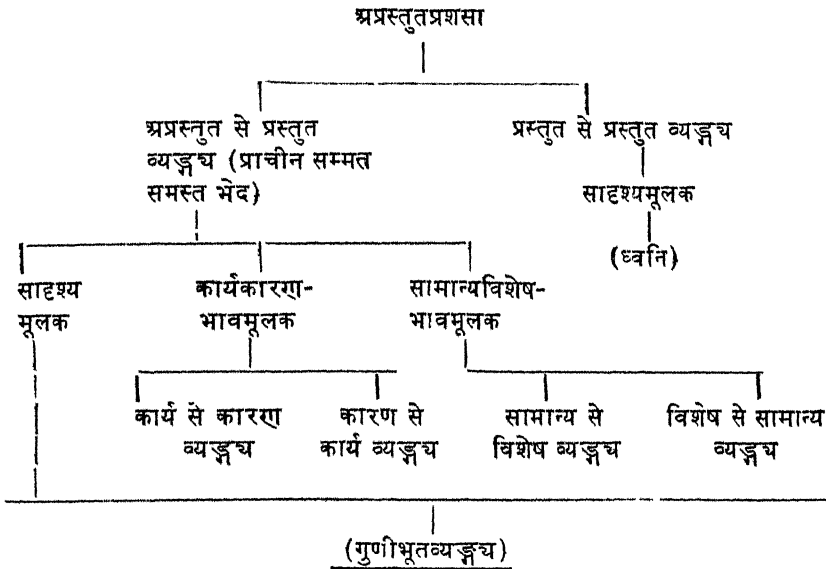
'अप्रस्तुतप्रशसा' शब्द की व्याख्या —

अन्त मे एक पद्य मे[१३३] यह निश्चय करते समय कि उसमे अप्रस्तुत प्रशसा अलङ्कार ही है अन्य कोई अलङ्कार नही, पण्डितराज ने 'अप्रस्तुतप्रशसा' शब्द का

१३३. आपेदिरेऽम्बरपथं परितः पतङ्गा
भृङ्गा रसालमुकुलानि सामाश्रयन्त।
सङ्कोचमञ्चति सरस्त्वयि दीनदीनो
मीनो नु हन्त कतमां गतिमभ्युपैतु॥ — (रस० । पृ० ४०७)

इस प्रकार व्याख्या की है कि जो प्रस्तुत से प्रस्तुत की व्यञ्जना वाले भेद के लिये भी सङ्गत हो जाती है। वह व्याख्या इस प्रकार है —

'अप्रस्तुतप्रशसा' का अर्थ 'अप्रस्तुतस्य प्रशसा' नही है अपितु 'अप्रस्तुतेन प्रशसा' यह अर्थ है। वह अर्थत प्रस्तुत अर्थ की ही प्रशसा होती है। अर्थात् अप्रस्तुत प्रशसा का अर्थ है 'अप्रस्तुत अर्थ से प्रस्तुत अर्थ का वर्णन'। 'अप्रस्तुत अर्थ का वर्णन' इसका अर्थ नही है।

वह अप्रस्तुत अर्थ वाच्य भी हो सकता है और व्यङ्ग्य भी। अत जहाँ वाच्य अथवा व्यङ्ग्य अप्रस्तुत अर्थ से व्यङ्ग्य अथवा वाच्य प्रस्तुत अर्थ की सादृश्यादि कारणो से प्रतीति हो वहाँ प्रशसा होती है। केवल वाच्य अप्रस्तुत से ही व्यङ्ग्य प्रस्तुत का बोध हो–यह कोई आवश्यक नही है।[१३४]

उपर्युल्लिखित उदाहरण विशेष मे अप्रस्तुतप्रशसा अलङ्कार को सिद्ध करने का प्रयोजन यह निश्चय करना भी है कि प्रस्तुत से प्रस्तुत की व्यञ्जना वाला भेद अप्रस्तुतप्रशसा का स्थल मानना अनिवार्य है, उसका अन्य किसी भी अलङ्कार मे अन्तर्भाव नही हो सकता।

अन्य मत—

इस सम्बन्ध मे एक मत यह भी है कि प्रस्तुत से प्रस्तुत की व्यञ्जना वाला भेद शुद्ध ध्वनि का ही स्थल है और जो ध्वनि हो वह अलङ्कार नही हो सकता अलङ्कार्य ही होता है। अत· इसके अतिरिक्त अन्य भेद ही अप्रस्तुतप्रशसा के स्थल हैं, यह भेद नही।[१३५]

समवलोकन

अप्रस्तुतप्रशसा का जिस प्रकार प्राचीन आलङ्कारिक मम्मटादि ने निरूपण किया है, पण्डितराज ने उससे भिन्न प्रकार का विवेचन किया है।

प्राचीन मत की अपेक्षा इनके मत मे दो विशेषताए है–(१) अप्रस्तुत से प्रस्तुत की प्रशसा (वर्णन) वाले भेद के अतिरिक्त प्रस्तुत से प्रस्तुत की प्रशसा वाले नवीन भेद की उद्भावना तथा उसे अप्रस्तुतप्रशसा के अन्तर्गत अनिवार्य रूप से स्वीकार्य सिद्ध करना। (२) अप्रस्तुतप्रशसा के अन्य भेदो की पुनर्व्यवस्था। प्राचीन मत मे अप्रस्तुत-

---

१३४. "अप्रस्तुतप्रशसैवात्रालङ्कार.। अप्रस्तुतस्य प्रशसेति न तदर्थ। किन्त्वप्रस्तुतेनेति। सा चार्थात्प्रस्तुतस्यैव। एव च वाच्येन व्यक्तेन वा अप्रस्तुतेन वाच्य व्यक्त वा प्रस्तुत यत्र सादृश्याद्यन्यतमप्रकारेण प्रशस्यते साऽप्रस्तुतप्रशंसेति। न तु वाच्येनैव व्यङ्ग्यमेवेति।" (रस०। पृ० ४०८)

१३५. "यदि तु प्रकारस्यास्य ध्वनिप्रभेदत्वात् ध्वनेश्चालङ्कार्यस्यालङ्कारत्वानुपपत्तिरिति सूक्ष्ममीक्ष्यते, तदाऽप्रस्तुतप्रशसाया भेदान्तरमेव विषय इत्यपि वदन्ति।" –(रस०। पृ० ४०६)

प्रशसा के मुख्य पाँच प्रकार थे, पण्डितराज ने उनके स्थान पर दो ही मुख्य भेद माने तथा उनमे से प्रथम भेद के अन्तर्गत ही प्राचीन समस्त भेदो को रखा।

इसके नवीन व्यवस्थानुसार किये गये प्रथम भेद को गुणीभूत व्यङ्ग्य मे और द्वितीय भेद को ध्वनि मे डाल देने से यह प्रश्न सम्मुख आ सकता है कि फिर अप्रस्तुतप्रशसा मे अलङ्कार का भी कोई स्थान रहा या नही ? इसके उत्तर मे यह कहा जा सकता है पण्डितराज एक ही विषय की दो कोटियो मे गणना करने को दोष नही मानते है, (परिकर अलङ्कार के प्रकरण मे यह सिद्ध हो चुका है) अत इसके प्रथम भेद के सभी स्थलो को गुणीभूत व्यङ्ग्य मानते हुए भी अलङ्कार मानने मे कोई बाधा नही है। आनन्दवर्धन ने भी ध्वन्यालोक मे समासोक्ति, पर्यायोक्त, अप्रस्तुत-प्रशसा आदि को अलङ्कार और गुणीभूत व्यङ्ग्य दोनो माना ही है।

अब शेष रहा द्वितीय भेद। उसे भी उपर्युक्त प्रणाली से ध्वनि और अलङ्कार दोनो माना जा सकता है परन्तु यदि यह स्वीकार न हो तो उसे ध्वनि मे ही मान लिया जाय, शेष भेदो को ही अलङ्कार मे रखें—यह पण्डितराज को स्वीकार प्रतीत होता है क्योकि इस सम्बन्ध मे इसी अभिप्राय वाला जो मतान्तर दिया है उसका उन्होने कोई खण्डन नही किया।

पर्यायोक्त

लक्षण

पण्डितराजकृत लक्षण

पर्यायोक्त का लक्षण यह है.—

'विवक्षितस्यार्थस्य भङ्ग्यन्तरेण प्रतिपादन पर्यायोक्तम्।'[१३६]

अर्थात् जिस अर्थ को बताने की इच्छा हो उस अर्थ को किसी अन्य रीति से कहना ही पर्यायोक्त है। किसी अन्य रीति से कहने का तात्पर्य है जिस रूप मे अर्थ की विवक्षा हो उस रूप से भिन्न रूप मे उसे कहना। अथवा जब आक्षेप से विवक्षित अर्थ का बोध हो तब पर्यायोक्त अलङ्कार होता है। जैसे—

त्वा सुन्दरीनिवहनिष्ठुरधैर्यगर्व—
निर्वासनैकचतुर समरे निरीक्ष्य।
केषामरिक्षितिभृता नवराज्यलक्ष्मी:
स्वामिव्रतात्वमपरिस्खलित बभार ॥[१३७]

१३६. रस. पृ ४०९
१३७. रस. पृ. ४०९-१०

यहाँ जो अर्थ विवक्षित है अथवा जिस रूप मे जिस अर्थ को बताने की इच्छा है वह है 'सभी शत्रुओ की राज्यसम्पत्ति को तुमने प्राप्त कर लिया ।' परन्तु इसको जिस ढङ्ग से कहा है वह इससे भिन्न है। वह है 'शत्रुओं' की राज्यलक्ष्मी अपने पातिव्रत धर्म से च्युत हो गयी ।' इसी प्रकार 'सूर्याचन्द्रमसौ–'[138] इत्यादि उदाहरण पर भी विचार किया गया है ।

अभिनवगुप्त का मत—

पर्यायक्त का यौगिक अर्थ ही उसका लक्षण है। यौगिक अर्थ है–पर्यायेण वाच्यातिरिक्तप्रकारेण व्यङ्ग्येन उपलक्षित उक्तमभिहितम् ।[139]

अर्थात् पर्याय का अर्थ है वाच्य से अतिरिक्त प्रकार से, व्यङ्ग्य रूप से विवक्षित अर्थ जहाँ उक्त हो अर्थात् अभिहित हो, उपलक्षित हो। फलतः पर्यायोक्त का लक्षण हुआ–जहाँ विवक्षित अर्थ व्यङ्ग्यरूप से उपलक्षित होकर कहा जाय (अभिधा-प्रतिपाद्य हो) वहाँ पर्यायोक्त होता है ।

पण्डितराजकृत स्पष्टीकरण—

अभिनवगुप्त ने पर्यायोक्त का जिस प्रकार लक्षण किया उससे उनका अभिप्राय यह है कि यदि पर्याय पद का अर्थ प्रकारान्तर अर्थात् धर्मान्तर किया जाय तो पर्यायोक्त का यौगिक अर्थ इस प्रकार बन जायेगा–'विवक्षित अर्थ के अवच्छेदक धर्म से अतिरिक्त धर्म का पुरस्कार करके कहना ।' अर्थात् जिस रूप मे अर्थ की अवगति अभीष्ट हो उससे अतिरिक्त प्रकार से उसे कहना । और इस योगार्थ के अनुसार पर्यायोक्त का लक्षण होने पर 'दशवदननिधनकारी दाशरथिः पुण्डरीकाक्ष' इसमे इसकी सङ्गति हो जायेगी। क्योकि यहाँ विवक्षित अर्थ है राम, उसे राम रूप से न कह कर दशवदननिधनकारी व पुण्डरीकाक्ष के रूप मे कहा जो रामरूप से अतिरिक्त है। अर्थात् राम का रामत्वेन कथन न होकर दशवदननिधनकारित्वेन पुण्डरीकाक्षत्वेन कथन हुआ है ।

इस अतिव्याप्ति का वारण करने के लिये यदि यह कहा जाय कि जहाँ व्यङ्ग्यार्थ व्यङ्ग्यतावच्छेदकातिरिक्तधर्मपुरस्कारेण उक्त हो वहाँ पर्यायोक्त होता है, तो ठीक नही है क्योकि पर्याय पद का अर्थ धर्मान्तर करने पर जो यौगिक अर्थ बनता है उसमे व्यङ्ग्यार्थ का कही समावेश नही है ।

---

१३८. "सूर्याचन्द्रमसौ यस्य वासो रञ्जयत. करै ।
अङ्गराग सृजत्यग्निस्त वन्दे परमेश्वरम् ॥" रस. पृ. ४१०

१३९. 'पर्यायेण प्रकारान्तरेणावगमात्मना व्यङ्ग्येनोपलक्षित सद्यदभिधीयते तदभिधीयमानमुक्तमेव सत्पर्यायोक्तमित्यभिधीयत इति लक्षणपदम् ।" —(ध्व० लो० पृ. ११८)
पण्डितराज ने इसी को अपने शब्दो मे उद्धृत कर दिया है ।

यौगिक अर्थ मे व्यङ्ग्यार्थ का समावेश न होने पर भी यदि लक्षण मे उसका प्रयोग कर लिया जाय तो कोई हानि नही–ऐसा यदि कहे तो अधिक अच्छा यही होगा कि जब पर्यायोक्त के लक्षण मे व्यङ्ग्य का ग्रहण आवश्यक है तो पर्याय पद से व्यङ्ग्य को ही समझा जाय धर्मान्तर को नही।

दूसरे व्यङ्ग्यार्थ का कथन धर्मान्तर मे पुरस्कार से ही सम्भव है इसलिये पर्याय पद से धर्मान्तर रूप अर्थ का ग्रहण करना आवश्यक भी नही है।

निष्कर्ष यह है कि 'पर्यायोक्त' पद का यौगिक अर्थ करते हुए 'पर्याय' पद से व्यङ्ग्य का ग्रहण करना चाहिये धर्मान्तर का नही। अत. व्यङ्ग्य रूप से उपलक्षित अर्थ का कथन ही पर्यायोक्त है।

मम्मट का मत·—

जहाँ व्यङ्ग्यार्थ का प्रकारान्तर से अभिधान होता है (पर्यायेण भङ्ग्यन्तरेणोक्तमभिहित व्यङ्ग्य यत्र इति पर्यायोक्तम्) वहाँ पर्यायोक्त होता है इस प्रकार प्राचीन आलङ्कारिको ने (अभिनवादि ने) पर्यायोक्त का जो लक्षण बनाया है उसमे एक ही अर्थ व्यङ्ग्य हो और वाच्य हो तो उसमे विरोध होगा–ऐसी शङ्का नही करनी चाहिये। क्योकि इस अलङ्कार मे एक ही अर्थ जिस प्रकार से व्यङ्ग्य होता है उससे भिन्न आकार मे वह वाच्य होता है।[१४०]

एक ही अर्थ प्रकार भेद से (विशेषणो के अन्तर से) वाच्य और व्यङ्ग्य दोनो हो सकता है। उदाहरण के लिये, जिस प्रकार यावक, महारजन, दाडिमी, जपाकुसुम आदि सभी को 'रक्त' (लाल) कह कर एक नाम से पुकारा जा सकता है तथापि उनके आकार भेद से उन्हे भिन्न-भिन्न सज्ञा प्राप्त हो जाती है, वह आकार–भेद प्रत्यक्ष अर्थात् स्पष्ट ही रहता है, उसी प्रकार वाच्य और व्यङ्ग्य यद्यपि एक ही अर्थ होते है तथापि आकार भेद से उनमे वैभिन्य रहता है।

रुय्यक का मत

पर्यायोक्त का लक्षण है—

'गम्यस्यापि भङ्ग्यन्तरेणाभिधान पर्यायोक्तम्।'[१४१]

अर्थात् व्यङ्ग्यार्थ का ही प्रकारान्तर से कथन होना पर्यायोक्त है।

इस लक्षण मे यदि यह शङ्का हो कि जो अर्थ व्यङ्ग्य है वही वाच्य कैसे हो सकता है ? तो इसका उत्तर यह है कि कार्यादि द्वारा वह सम्भव हो जाता है।[१४२]

---

१४०. यदेवोच्यते तदेव व्यङ्ग्यम् यथा तु व्यङ्ग्यन्न तथोच्यते (का०प्र०पृ० ४०७)

१४१. अ०स०। पृ० २०५

१४२. 'गम्यस्य सत कथमभिधानमिति चेत्, न, गम्यापेक्षया प्रकारान्तरेणाभिधानस्य भावात् . . ..अतः कार्यादिद्वारेणाभिधानम्।' (अ०स०। पृ० २०६)

इसका आशय यह है कि—

चक्राभिघातप्रसभाज्ञयैव चकार यो राहुवधूजनस्य ।
आलिङ्गनोद्दामविलासवन्ध्य रतोत्सव चुम्बनमात्रशेषम् ।[143]

इस पद्य मे व्यङ्गयार्थ है–'राहु के सिर को काटने वाला' (राहुशिरश्छेदकारी) और उसी का वाच्य रूप है–'राहु की वधू के रतोत्सव को केवल चुम्बन से युक्त बना देने वाला ।' वाच्यार्थ का तात्पर्य यद्यपि वही है जो व्यङ्गयार्थ का है तथापि दोनो के स्वरूप मे भेद होने से उनमे पार्थक्य है और उस पार्थक्य मे कोई विरोध भी नही है । प्रकार भेद से एक ही अर्थ व्यङ्गय और वाच्य दोनो हो सकता है ।

उक्त पद्य के व्यङ्गय व वाच्य अर्थों की भी यदि और अधिक सूक्ष्मता से विवेचना करे तो ज्ञात होगा कि राहुशिरश्छेदकर्तृत्व रूप धर्म, जो व्यङ्गय था, विष्णु मे ही रहने वाले दूसरे धर्म–राहुस्त्रीसम्बन्धी रतोत्सव को चुम्बनमात्रावशिष्ट कर देने वाला-से व्यङ्गय (अभिव्यक्त) होता है । अर्थात् वाच्यार्थ रूपी धर्म से व्यङ्गयार्थ रूपी धर्म की अभिव्यक्ति होती है, अवगति होती है । एक धर्म से दूसरे धर्म का व्यञ्जना से बोध होता है । धर्मी-भगवान् का व्यञ्जना से ज्ञान नही होता क्योकि 'यत्' पद से (य) प्रकरण के बल पर अभिधान (शब्दत कथन) हो गया है । अत

य प्रेक्ष्य चिररूढापि निवासप्रीतिरुज्झिता ।
मदेनैरावणमुखे मानेन हृदये हरे ।[144]

इत्यादि मम्मट के द्वारा दिये गये पर्यायोक्त के इस उदाहरण मे भी 'इन्द्र और ऐरावण (ऐरावत) मान और मद से रहित हो गये' यह व्यङ्गयार्थ भी अन्त मे 'मान-मद' के 'राहित्य' मात्र मे पर्यवसित हो जाता है क्योकि इन्द्र और ऐरावत रूप धर्मी का 'हर' और 'ऐरावत' पदो से अभिधान हो गया है ।

इस विवेचन से जो सिद्धान्त निकलता है वह यही कि पर्यायोक्त मे जो धर्म-रूप अश व्यङ्गय होता है वह कभी रूपान्तर के पुरस्कार से अभिहित नही होता और जो धर्मी अश अभिधा से प्रतिपादित होता है वह कभी व्यङ्गय नही होता । फलत. व्यङ्गयार्थ का ही प्रकारान्तर से अभिधान होना पर्यायोक्त है यह कहना असङ्गत है । अतएव कार्यादि के रूप मे व्यङ्गयार्थ अभिहित-सा हो वही पर्यायोक्त कहलाता है यही कहना उचित है । अर्थात् जहाँ व्यङ्गयार्थ का कार्यादिरूप वाच्यार्थ से आक्षेप हो वह पर्यायोक्त है ।

प्राचीन आलङ्कारिक मम्मटादि ने जो धर्मी अश का भी व्यङ्गय होना कहा है उसका आशय यही समझना चाहिये कि व्यञ्जना से जिसका बोध होता है वह

---

१४३. अ.स.पृ. १६३
१४४. का. प्र. । पृ. ४०६

सम्पूर्ण वाक्य का अर्थ होता है। अर्थात् पूरा वाक्यार्थ व्यञ्जना का विषय होता है जिससे धर्मी भी व्यङ्ग्य कहलाने लगता है। विश्लेषणात्मक दृष्टि से उस व्यङ्ग्यार्थ मे कुछ पदार्थ केवल अभिधा से बोध्य होते हैं और कुछ पदार्थ केवल व्यञ्जना से।

पण्डितराजकृत उक्त मतत्रय की आलोचना

'वापी स्नातुमितो गतासि न पुनस्तस्याधमस्यान्तिकम्' यह सभी आलङ्कारिको के द्वारा स्वीकृति प्राप्त ध्वनि का प्रसिद्ध उदाहरण है।

अभिनव गुप्त ने जो विश्लेषण किया है उसमे भी अतिव्याप्ति दोष आता है क्योकि उनके लक्षण के अनुसार भी उक्त ध्वनि के उदाहरण मे पर्यायोक्त अलङ्कार हो जाता है। क्योकि दोनो प्रकार के व्यङ्ग्यार्थों से उपलक्षित कथन यहाँ भी विद्यमान है।

मम्मट ने पर्यायोक्त का जो विश्लेषण किया है उसके अनुसार यहाँ भी पर्यायोक्त अलङ्कार की सङ्गति होती है क्योकि अधमनिकटगमनविशेष रूप से दूती का और अधमत्वरूप से दूती का सम्भोग करने वाले नायक का कथन यहाँ हुआ है। अर्थात् जिस आकार मे अर्थ की विवक्षा है—दूती और दूतीसयोगकर्ता, उससे भिन्न आकार मे उनका कथन हुआ है। एक ही अर्थ आकार प्रकार के भेद से व्यङ्ग्य और बाध्य है।

रुय्यक के लक्षण की यहाँ अतिव्याप्ति नही होगी क्योकि उनके मत मे अभीष्ट व्यङ्ग्यार्थ और वाच्यार्थ मे यहाँ कार्य-कारण भाव नही है।

मम्मट और अभिनव गुप्त के मतो को एक ही प्रकार से निर्दुष्ट (प्रकृत उदाहरण मे अव्याप्त) किया जा सकता है—पर्यायोक्त मे एक विशेष प्रकार के व्यङ्ग्य का होना आवश्यक है जिसमे वक्तृसम्बोध्य के वैशिष्ट्य की अपेक्षा नही रहती–यह मानकर।

अप्पयदीक्षित के कतिपय मत

प्रथम मत

'नमस्तस्मै कृतौ येन मुधा राहूवधूस्तनौ ॥[१४५]

इसमे भगवान् वासुदेव अपने असाधारण रूप मे (अर्थात् वासुदेवत्वविशिष्ट अर्थ मे) व्यङ्ग्य है और राहुवधूकुचवैयर्थ्यकारी के रूप मे वाच्य है जो व्यङ्ग्यार्थ का ही रूपान्तर है। अतः इसमे पर्यायोक्त है।[१४६]

---

१४५ रस पृ ४१२

१४६. अप्पयदीक्षित का बनाया हुआ पर्यायोक्त का लक्षण इस प्रकार है —
'पर्यायोक्त तु गम्यस्य वचो भङ्ग्यन्तराश्रयम्।' (कुव.। पृ. १२१)

द्वितीय मत

अलङ्कारसर्वस्कार और अभिनवगुप्त ने पर्यायोक्त के लक्षणो की व्याख्या करते हुए गम्य अर्थ का ही अभिधान कैसे होगा तथा पर्याय पद का अर्थ प्रकारान्तर क्यो नही है व्यङ्ग्य ही क्यो है इत्यादि को सिद्ध करने के लिये इतनी विस्तृत और क्लिष्ट योजनाए क्यो की है ? ज्ञात नही ।[१४७]

तृतीय मत

अलङ्कारसर्वस्वकार ने जो 'चक्राभिघातप्रसभाज्ञया–'[१४८] इत्यादि पद्य पर्यायोक्त के प्रकरण मे उद्धृत किया है उसमे प्रस्तुताङ्कुर और पर्यायोक्त दोनो है ।

प्रस्तुताङ्कुर वहाँ होता है जहाँ प्रस्तुत अर्थ से प्रस्तुत अर्थान्तर का ही बोध हो । प्रकृत पद्य मे राहुवधूकुचवैयर्थ्यकारी रूप प्रस्तुत अर्थ से जो राहुशिरश्छेद रूप प्रस्तुत अर्थ का बोध हो रहा है वह प्रस्तुताङ्कुर का विषय है ।

अथच, प्रस्तुत राहु को शिरमात्रावशिष्ट कर देने से आलिङ्गन और वन्ध्यात्व आदि के राहित्य रूप वाच्यार्थ से, जो कि वास्तव मे भगवान् का ही रूपान्तर से अभिधान है, भगवान् रूप व्यङ्ग्यार्थ का बोध होने से वहाँ पर्यायोक्त का विषय है ।

पण्डितराजकृत खण्डन

प्रथम मत का खण्डन

'नमस्तस्मै–' इत्यादि पर्यायोक्त के उदाहरण मे भगवान् वासुदेव अपने असाधारण रूप मे व्यङ्ग्य है— यह कहना अनुचित है । क्योकि—

(१) राहुवधूकुचवैयर्थ्यकारी से राहुशिरश्छेदकारी रूप अर्थ व्यङ्ग्य होता है–यह निर्विवाद है । परन्तु विशेष्य-भूत भगवान् वासुदेव का वासुदेवत्व व्यङ्ग्य है यह ठीक नही है क्योकि उसका ज्ञान येन पद से प्रकरणादि के बल पर अभिहित होने वाले वासुदेव के विशेषण के रूप मे ही (वासुदेवत्वेन) हो जाता है । अभिधा से स्पर्श हो जाने से उसे व्यङ्ग्य कहना अनुचित है ।

(२) यदि विशेषण मर्यादा लभ्य अर्थ को भी व्यङ्ग्य मान लिया जाय तो 'नमो राहुशिरश्छेदकारिणे दुःखहारिणे' इसमे भी भगवान् का वासुदेवत्व रूप व्यङ्ग्य होने से पर्यायोक्त अलङ्कार हो जायेगा ।

विशेषणमर्यादा से प्राप्त अर्थ यदि कुछ अश मे व्यङ्ग्य हो तो भी उसे काव्य के अन्तर्गत व्यङ्ग्य रूप मे स्थान नही मिलता क्योकि वह सुन्दर (चमत्कारी) नही होता ।

---

१४७ कुव पृ १२५

१४८ चक्राभिघातप्रसभाज्ञयैव चकार यो राहुवधूजनस्य ।
आलिङ्गनोद्दामविलासवन्ध्य रतोत्सव चुम्बनमात्रशेषम् ॥ रस. पृ, ४१०

(३) 'राहुस्त्रीकुचनैष्फल्यकारिणे हरये नम' इसमे भगवान् का हरये पद से स्पष्टत कथन हो गया है अत यहा भगवत्त्व वा वासुदेवत्व व्यङ्ग्य नही है अपितु राहुशिरश्छेदकारी अर्थ ही व्यङ्ग्य है। और इस उदाहरण मे पर्यायोक्त नही है—ऐसा किसी का भी मत नही है।

द्वितीय मत का खण्डन

अलङ्कारसर्वस्वकार ने और लोचनकार ने पर्यायोक्त के लक्षण की सङ्गति के लिये इतना विस्तृत विवेचन क्यो किया, इसका स्पष्टीकरण उनके मतो का विवेचन करते समय ही कर दिया गया है। अर्थात् उनके द्वारा किया गया तत्तद् विश्लेषण भी व्यर्थ नही है।

तृतीय मत का खण्डन

'चक्राभिधात–' इत्यादि पद्य मे भी प्रस्तुताङ्कुर का विषय उचित नही है क्योकि—

(१) यदि राहुशिरश्छेद की प्रतीति (व्यङ्ग्यार्थ का बोध) अप्पयदीक्षित के द्वारा माने गये प्रस्तुताङ्कुर अलङ्कार का ही विषय हो तो पर्यायोक्त का कोई प्रयोजन ही नही रह जाता। क्योकि भगवान् रूप से (स्वासाधारणरूपेण) जो बोध होगा वह तो विशेषण मर्यादा से ही हो जाने के कारण अचमत्कारी है ही अतः उसको लेते हुये भी वहाँ पर्यायोक्त का व्यवहार नहीं हो सकेगा। जिस प्रकार 'नमो राहुशिरश्छेद-कारिणे- दुःखहारिणे' मे कोई अलङ्कार नही है उसी प्रकार यहाँ भी भगवत्तात्मक अर्थ को लेकर कोई अलङ्कार नही होगा।

(२) मम्मट आदि प्राचीन आलङ्कारिको मे से किसी ने भी प्रस्तुताङ्कुर नामक अलङ्कार नही माना है।

(३) यदि प्रस्तुताङ्कुर को स्वीकार कर भी लिया जाय तो उसका स्थान वहाँ होगा जहाँ प्रस्तुतार्थ से अपने समान ही किसी अन्य प्रस्तुतार्थ की अवगति हो। जहाँ प्रस्तुत कार्य से प्रस्तुत कारण की अवगति हो वहाँ तो उसका विषय नही होगा।

(४) यदि प्रस्तुत कार्य से प्रस्तुत कारण का बोध होने पर भी प्रस्तुताङ्कुर मान लिया जाय तो फिर अलङ्कारसर्वस्वकारादि के द्वारा कहा गया–'जहाँ अप्रस्तुत कार्य से प्रस्तुत कारण की अवगति हो वहाँ अप्रस्तुतप्रशसा और जहाँ प्रस्तुत कार्य से प्रस्तुत कारण की ही अवगति हो वहाँ पर्यायोक्त होता है; यह अप्रस्तुतप्रशसा और पर्यायोक्त का भेद ही समाप्त हो जायेगा।

(५) अप्पय के उपजीव्य ग्रन्थ अलङ्कारसर्वस्व से भी अप्पय के मत का विरोध है क्योकि रुय्यक ने अपने ग्रन्थ मे यह कहा है कि राहु की स्त्री के विलक्षण रतोत्सव रूप कार्य से राहुशिरश्छेद रूप कारण का व्यञ्जना से बोध होता है। इसी प्रकार अन्य स्थानो पर भी पर्यायोक्त समझना चाहिये। इति।

अत' निष्कर्ष यह है कि यहाँ—'चक्राभिघात–' इत्यादि पद्य मे–राहुशिरश्छेद-कारित्वेन जो व्यङ्ग्यार्थ का बोध होता है वही पर्यायोक्त का विषय है भगवान् रूप से होने वाला बोध नही ।

पर्यायोक्त के भेद

मुख्य रूप से पर्यायोक्त तीन प्रकार का होता है—
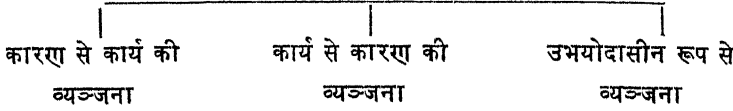
(१) प्रथम प्रकार वह है जिसमे वाच्यार्थ कारण रूप होता है और उसके कार्य रूप मे व्यङ्ग्यार्थ की प्रतीति होती है ।

(२) दूसरा प्रकार वह है जिसमे कार्य रूप वाच्यार्थ से कारण रूप व्यङ्ग्यार्थ की प्रतीति होती है ।

(३) तीसरा प्रकार है वह जहाँ कार्य-कारण भाव से रहित ही वाच्यार्थ से व्यङ्ग्यार्थ का बोध होता है । इनके उदाहरण क्रमश इस प्रकार है—

> अपकुर्वद्भिरनिश धृतराष्ट्र तवात्मजै. ।
> उप्यन्ते मृत्युबीजानि पाण्डुपुत्रेषु निश्चितम् ।।[१४६]

इसमे बीजवपन रूप कार्य से कौरव कुल का नाश रूपी कार्य व्यङ्ग्य हो रहा है ।

> त्वद्विपक्षमहीपाला. स्वबालाधरपल्लवम् ।
> पीडयन्तितरा तीव्रदारुणैर्दशनक्षतै. ।।[१५०]

इसमे बैरियो की वधुओ के सम्भोग रूपी कार्य से शत्रुओ का मरण रूप कारण व्यङ्ग्य होता है ।

> सूर्याचन्द्रमसौ यस्य वासो रञ्जयत. करैः ।
> अङ्गराग सृजत्यग्निस्त वन्दे परमेश्वरम् ।।[१५१]

इसमे आकाश रूप व्यङ्ग्यार्थ का सूर्य और चन्द्र से रगे जाने वाले के रूप मे और भस्म रूपी व्यङ्ग्यार्थ का अग्नि के द्वारा बनाये जाने वाले के रूप मे कथन हुआ है । इन व्यङ्ग्य व वाच्यार्थों मे किसी प्रकार का कार्य-कारण भाव नही है । अत उभयोदासीन व्यङ्ग्य-व्यञ्जकभावयुक्त पर्यायोक्त है ।

---

१४६. रस पृ. ४१५
१५०. रस. पृ ४१५
१५१. रस. पृ. ४१०

इसके अतिरिक्त कहने के विभिन्न ढङ्गो के आधार पर तो इसके असख्य भेद हो सकते है क्योकि एक ही बात को अनेक प्रकार से कहा जा सकता है । उदाहरण के लिये 'इह भवद्भिरागन्तव्यम्' इस आशय को 'अय देशोऽलङ्कर्तव्य' 'अय देश पवित्रीकर्तव्य', 'सफलजन्मा कर्तव्यः',—'प्रकाशनीय', 'देशस्यास्य भाग्यान्युज्जीवनीयानि',— 'तमासि तिरस्करणीयानि', 'अस्मन्नयनयो सन्तापो हरणीय'—'मनोरथ पूरणीय' इत्यादि अनेक प्रकार से स्पष्ट किया जा सकता है । इसमे ही यदि कार्य-कारण आदि का भेद भी बना दिया जाय तो और भी अनेक भेद हो जायेगे ।

आनन्दवर्धन-सम्मत अप्रस्तुतप्रशसा व पर्यायोक्त मे भेद

अप्रस्तुतप्रशसा मे वाच्यार्थ व्यङ्ग्यार्थपरक होता है अर्थात् वाच्यार्थ से व्यङ्ग्यार्थ का पोषण होता है और पर्यायोक्त मे व्यङ्ग्यार्थ वाच्यार्थ का पोषण करता है । इसी कारण से पर्यायोक्त वाच्यसिद्धयङ्गगुणीभूत व्यङ्ग्य का ही एक प्रकार माना गया है ।

रुय्यकाभिमत पर्यायोक्त व अप्रस्तुतप्रशसा मे भेद

अप्रस्तुत व पर्यायोक्त मे सर्वप्रमुख भेद यह है कि अप्रस्तुत प्रशसा मे एक अर्थ प्रस्तुत और एक अप्रस्तुत रहता है । और पर्यायोक्त मे दोनो अर्थ प्रस्तुत रहते हैं ।

अतः कारण से कार्य और कार्य से कारण की व्यञ्जना वाले अप्रस्तुतप्रशंसा के भेद से पर्यायोक्त मे अन्तर है । अप्रस्तुतप्रशसा का विषय सङ्कीर्ण और पर्यायोक्त का विषय अप्रस्तुतप्रशसा की अपेक्षा विशाल है ।

जयरथ का मत

रुय्यक ने जो अप्रस्तुतप्रशसा और पर्यायोक्त मे भेद बताया है उसका आशय यह है कि मम्मट ने जो लक्षणा के दो भेद बताये हैं—

स्वसिद्धये पराक्षेप परार्थं स्वसमर्पणम् ।
उपादान लक्षण चेत्युक्ता शुद्धैव सा द्विधा ।।[१५२]

उन्ही के आधार पर पर्यायोक्त और अप्रस्तुतप्रशसा का भेद है । अर्थात् जहाँ वाच्यार्थ अपनी सिद्धि के लिये व्यङ्ग्यार्थ का आक्षेप करे (व्यङ्ग्यार्थ वाच्यार्थपरक) हो) वहाँ उपादानलक्षणा होती है और जहाँ व्यङ्ग्यार्थ के लिये वाच्यार्थ अपने को नगण्य बना ले (वाच्यार्थ व्यङ्ग्यार्थ का पोषक हो) वहाँ लक्षण-लक्षणा होती है ।

पर्यायोक्त उपादानलक्षणा पर और अप्रस्तुतप्रशसा लक्षण-लक्षणा पर आश्रित होते हैं । इसी से इन दोनो अलङ्कारो मे अवान्तर भेद है ।

---

१५२ का प्र पृ ३२

पण्डितराजकृत खण्डन :—

जयरथ का यह मत कि पर्यायोक्त और अप्रस्तुतप्रशसा मे लक्षणा का आधार रहता है, अनुचित है । क्योकि —

(१) पर्यायोक्त के लिये रुय्यक ने जो 'चक्राभिघातप्रसभाज्ञयैव–' इत्यादि उदाहरण दिया है उसमे चुम्बन मात्र से युक्त रतोत्सव वाला करने वाला (चुम्बन मात्रशेषरतोत्सव) अश मे किसी प्रकार का मुख्यार्थ बाध नही है । मुख्यार्थ बाध के अभाव मे लक्षणा प्रवृत्त ही नही हो सकती ।

इसी प्रकार अप्रस्तुतप्रशसा मे भी प्रस्तुत अर्थ मे कोई मुख्यार्थ बाध नही होता । अत. वहाँ भी लक्षणा की प्रवृत्ति नही होती ।

इसी से इन दोनो अलङ्कारो मे प्राचीन सभी आलङ्कारिको ने व्यञ्जना ही मानी है लक्षणा नही ।

(२) यदि पर्यायोक्तादि मे लक्षणा मान ली जाय तो पर्यायोक्त मे वाच्यार्थ का और अप्रस्तुतप्रशसा मे व्यङ्ग्यार्थ का प्राधान्य रहता है–यह भेद कहना अनुचित हो जायेगा । क्योकि जहाँ लक्षणा होती है वहा लक्ष्यार्थ ही प्रधान होता है वाच्यार्थ नही ।

(३) रुय्यक के मत से भी इस मत का विरोध होता है । रुय्यक ने कहा है– 'जहाँ वाच्यार्थ अपने उपस्कारक के रूप मे किसी अन्य अर्थ का आगूरण (आक्षेप) करता है वहाँ पर्यायोक्त होता है और जहाँ वाच्यार्थ अप्रस्तुत होने के कारण किसी अन्य प्रस्तुत अर्थ के प्रति अपने को समर्पित कर देता है वहाँ अप्रस्तुतप्रशसा होती है ।' इसमे रुय्यक ने स्पष्ट कहा है कि पर्यायोक्त मे वाच्यार्थ अर्थान्तर को आगूरित करता है । आगूरण और लक्षणा एक नही है ।

अत रुय्यक का तात्पर्य यही है कि पर्यायोक्त मे वाच्यार्थ का प्राधान्य रहता है और अप्रस्तुतप्रशसा मे नही ।

समवलोकन:—

पर्यायोक्त का उपर्युक्त पण्डितराजकृत निरूपण अन्य सभी अलङ्कार ग्रन्थो मे किये गये निरूपणो से विलक्षण है । पर्यायोक्त मे एक ही अर्थ अभिधेय भी होता है और व्यङ्ग्य भी होता है–इस पर सभी आचार्यों ने पर्याप्त विचार किया है । पण्डितराज ने उन सभी का एकत्र सङ्कलन करके उसके स्पष्टीकरण मे विशेष सौविध्य की योजना की है ।

आनन्दवर्धन, मम्मट और रुय्यक के मतो को स्पष्ट करने के पश्चात् पण्डितराज ने स्वतन्त्र रूप से अपना कोई मत नही दिया है । तीनो मतो की जो आलोचना की

गयी है उससे ऐसा प्रतीत होता है कि अलङ्कारसर्वस्व के साथ इनकी सहमति है। अप्पय दीक्षित का खण्डन करते समय भी रुय्यक को ही प्रमाणरूप मे उद्धृत किया है उससे भी यही पुष्ट होता है।

आनन्दवर्धन और मम्मट पूज्य थे अत मुक्त कण्ठ से उनका विरोध न करके अपनी ओर से उनके मतो को निर्दोष करने का उपाय दे दिया है।

व्याजस्तुति

लक्षण

पण्डितराजकृत लक्षण .--

इसका लक्षण इस प्रकार है:—

'आमुखप्रतीताभ्या निन्दास्तुतिभ्या स्तुतिनिन्दयो क्रमेण पर्यवसान व्याजस्तुति.।'[१५३]

अर्थात् आपातत प्रतीत होने वाली निन्दा और स्तुति का जब क्रमश स्तुति और निन्दा मे पर्यवसान होता है तो व्याजस्तुति होती है।

'व्याजस्तुति'—

(१) व्याजरूपा स्तुति –कर्मधारय।

(२) व्याजेन स्तुति –तृतीया तत्पुरुष।

दोनो ही व्युत्पत्तियो के अनुसार 'व्याजस्तुति' नाम इसके स्वरूप व लक्षण के अनुरूप है।

आमुखप्रतीति–लक्षण मे आये **'आमुखप्रतीताभ्याम्'** का अर्थ है निन्दा और स्तुति का वह प्रथम बोध जो अन्त तक स्थिर न रहता हो। प्रथम अर्थ वाच्यार्थ ही होगा–यह भी आवश्यक नही है। जो अर्थ अन्तिम बोध तक न बना रहे वह है आपतित अर्थ।

इसमे पहले जिस अर्थ का बोध होता है उसका प्रकरण आदि के माहात्म्य से बाध हो जाता है और बाध हो जाने से उसका अपने से विपरीत (स्तुति का निन्दा मे और निन्दा का स्तुति मे) अर्थ मे पर्यवसान हो जाता है। अतः आमुख प्रतीति की विवक्षा ऐसे अर्थ मे है जो प्रथम बार मे बोधित हो और साथ ही बाधित हो।

मुख्यत व्याजस्तुति के दो प्रकार हुए–निन्दा का स्तुति मे पर्यवसान होने पर और स्तुति का निन्दा मे पर्यवसान होने पर। इनमे से प्रथम व्याजस्तुति का उदाहरण यह है—

उर्वीं शासति मय्युपद्रवलवः कस्यापि न स्यादिति
प्रौढ व्याहरतो वचस्तव कथ देव प्रतीमो वयम्।

---

१५३. रस पृ ४१६

प्रत्यक्ष भवतो विपक्षनिवहैर्द्यामुत्पतद्भि: क्रुधा
यद्युष्मत्कुलकोटिमूलपुरुषो निर्भिद्यते भास्कर. ।।[१५४]

राजा की निन्दारूपा यह उक्ति राजवर्णन के प्रसङ्ग मे प्रयुक्त हुई है । प्रकरण के अनुसार यह निन्दा बाधित है क्योकि राजा की निन्दा करना अनुचित है । अत इसका पर्यवसान होता है राजा की स्तुति मे । यह उदाहरण निन्दा का स्तुति मे पर्यवसान होने वाली व्याजस्तुति का स्थल है ।

द्वितीय प्रकार की व्याजस्तुति, जिसमे स्तुत्यात्मक अर्थ का निन्दात्मक अर्थ मे पर्यवसान होता है, का उदाहरण यह है·—

किमह वदामि खल दिव्यमते गुणपक्षपातमभितो भवत ।
गुणशालिनो निखिलसाधुजनान्यदहर्निश न खलु विस्मरसि ।।[१५५]

किसी दुष्ट व्यक्ति के प्रति कही गयी इस उक्ति का बाध होता है क्योकि किसी दुर्जन की स्तुति अनुचित है । अत इस स्तुति की अध्यवसिति होती है निन्दा मे ही ।

कभी-कभी इस व्याजस्तुति के मूल मे कोई दूसरा अलङ्कार भी रहता है, जो व्याजस्तुति का ही पोषण करता है । उदाहरणार्थ यह पद्य है —

देव त्वा परित स्तुवन्तु कवयो लोभेन, किं तावता
स्तव्यस्त्व भवितासि यस्य तरुणश्चापप्रतापोऽधुना ।
क्रोडान्त कुरुतेतरां वसुमतीमाशा समालिङ्गति
द्या चुम्बत्यमरावती च सहसा गच्छत्यगम्यामपि ।।[१५६]

इसमे चाप प्रताप के आधार पर एक खलपुरुष के व्यवहार की भी प्रतीति हो रही है, अत समासोक्ति है । समासोक्ति पर आश्रित निन्दा का स्तुति मे पर्यवसान होता है अत व्याजस्तुति है ।

इसी प्रकार अर्थान्तरन्यास आदि अलङ्कारो से पोषित व्याजस्तुति भी होती है । इसका भी उदाहरण देकर विचार किया गया है ।

व्याजस्तुति की विशेषताएँ—

(१) इसकी प्रथम विशेषता यह है कि इसमे एकही अर्थ एक आकार से स्तुति या निन्दा का विषय होकर प्रकरण आदि के बल पर दूसरे आकार से निन्दा या स्तुति का विषय होता है ।

---

१५४. रस० पृ० ४१७
१५५. रस पृ ४१७
१५६ रस. पृ ४१७

(२) प्रथम अर्थ मे जितना अश बाधित होता है उतना ही दूसरे रूपमे परिणत होता है। जो अश बाधित नही होता है वह वैसा ही रहता है।

(३) तृतीय वैशिष्ट्य यह है कि आरम्भ मे जिसकी स्तुति या निन्दा प्रतीत होती है अन्त मे भी उसी की निन्दा या स्तुति का भान होता है। अर्थात् आरम्भिक और पार्यन्तिक स्तुति व निन्दा का विषय एक ही रहता है। यदि वह विषय एक न हो, पृथक-पृथक् हो तो व्याजस्तुति अलङ्कार नही होता। अर्थात् स्तुति और निन्दा मे वैयधिकरण्य होने पर व्याजस्तुति नही होती। यह विशेषता प्राचीन आलङ्कारिक भी मानते है।

(४) चतुर्थ विशेषता यह है कि आरम्भिक स्तुति या निन्दा बाधित होती है। यदि वह बाधित नही होती तब व्याजस्तुति नही बन पाती। आपातत प्रतीत होने वाले स्तुत्यात्मक या निन्दात्मक अर्थ का प्रकरण आदि के अनुसार अनौचित्य-बोध होना आवश्यक है।

यही विशेषता व्याजस्तुति को ध्वनि से पृथक् करती है क्योकि ध्वनि मे प्रथमत प्रतीत होने वाले अर्थ का बाध नही होता। बाध के बिना ही अर्थान्तर की प्रतीति होती है।

उपर्युक्त विशेषताओ के कारण ही—

परोपसर्पणानन्तचिन्तानलशिखाशतै।
अचुम्बितान्त करणा साधु जीवन्ति पादपा ॥[१५७]

इसमे व्याजस्तुति नही हो पाती। यहाँ प्रथमत प्रतीत होती है वृक्ष की स्तुति तत्पश्चात् उसका पर्यवसान होता है सासारिक प्राणियो की निन्दा मे तथा पहले प्रतीत होने वाले वृक्ष की स्तुति रूप अर्थ का बाध भी कही नही होता।

इसी प्रकार जहाँ निन्दा से स्तुति का बोध बिना किसी बाध के हो वहाँ भी व्याजस्तुति नही होती। किसी की निन्दा से किसी दूसरे की स्तुति, किसी की स्तुति से किसी अन्य की निन्दा अथवा किसी एक की स्तुति से दूसरे की स्तुति और किसी की निन्दा से किसी अन्य की निन्दा होने पर भी व्याजस्तुति नही होती—तृतीय विशेषता के न होने से

उदाहरण के लिये—

ये त्वा ध्यायन्ति सतत त एव कृतिना वरा।
मुधा गत पुराराते भवदन्यधिया जनुः[१५८]

---

१५७. रस पृ ४१७
१५८. रस. पृ ४१६

इसमे पूर्वार्ध मे ध्याता की स्तुति से ध्येय की स्तुति और उत्तरार्ध मे ध्याता की निन्दा से ध्येय की निन्दा व्यङ्ग्य हो रही है। स्तुति और निन्दा का व्यधिकरण होने से यहाँ व्याजस्तुति नही है ।

अलङ्कारसर्वस्वकार का मतः—

कि वृत्तान्तै परगृहगतै , किंतु नाह समर्थ-
स्तूष्णी स्थातु प्रकृतिमुखरो दाक्षिणात्यस्वभाव ।
देशे देशे विपणिषु तथा चत्वरे पानगोष्ठ्या-
मुन्मत्तेव भ्रमति भवतो वल्लभा देव कीर्ति ।।[१५९]

इसमे प्रकरण के अनुसार यद्यपि निन्दा का स्तुति मे पर्यवसान हो रहा है तथापि 'कीर्तिः' पद का प्रयोग हो जाने से वह निन्दा नष्ट हो गयी, परिपुष्ट नही हो सकी। अत अभिनवगुप्त ने ध्वन्यालोक की लोचन नामक टीका में जो यह व्याजस्तुति का उदाहरण दिया है वह ठीक नही है ।[१६०]

विमर्शिनीकार जयरथ ने भी रुय्यक का समर्थन करते हुए कहा है कि यह पद्य व्याजस्तुति का उदाहरण नही है ।[१६१]

पण्डितराजकृत खण्डन

अलङ्कारसर्वस्वकार का मत उचित नही है क्योकि ऊपर यह दिखाया ही जा चुका है कि समासोक्ति आदि अन्य अलङ्कारो से गर्भित अथवा अनुप्राणित भी व्याजस्तुति होती है । दूसरे कारण यह है कि—

(१) किं वृत्तान्तै – इत्यादि मे 'कीर्तिः' पद के प्रयोग से, यद्यपि समासोक्ति वाच्य हो गयी है तथापि 'किं वृत्तान्तै. परगृहगतै' इत्यादि वाक्यों से पहले तो निन्दात्मक अर्थ का ही बोध होता है। उसके बाद ही समासोक्ति का बोध होता है। समासोक्ति की वाच्यता व्याजस्तुति की बाधक नही है ।

(२) अन्वय क्रम से भी पहले वल्लभा के साथ ही अन्वय बोध होता है तत्पश्चात् कीर्ति के साथ उसका अभेदाध्यवसान होने पर, प्रकरण आदि का आलोचन करने से 'कीर्ति वल्लभा' इस प्रकार का विपरीत अर्थ बोध होता है ।

अतः अभिनवगुप्त का दिया हुआ उदाहरण व्याजस्तुति के लिये उचित ही है क्योकि उसमे पहले निन्दा का और फिर स्तुति का बोध होता है ।

---

१५९. रस. पृ ४१८

१६० 'इत्यत्र प्रक्रान्तापि स्तुतिपर्यवसायिनी निन्दा हन्त कीर्तिरिति भणित्या उन्मूलितेति न प्ररोह गमितेति ,श्लिष्टमेतदुदाहरणम्। (अ स. पृ २०९)

१६१ 'अनुदाहरणमेवैतत्पद्य व्याजस्तुते । —(रस पृ. ४१८)

अप्पयदीक्षित का मत

व्याजस्तुति के चार भेद और होते है जब व्यधिकरण मे स्तुति और निन्दा से क्रमशः स्तुति और निन्दा अथवा निन्दा और स्तुति का अवगमन होता है अर्थात् जिसकी स्तुति या निन्दा हो उससे भिन्न किसी वस्तु की स्तुति या निन्दा अथवा निन्दा या स्तुति की व्यञ्जना हो तब भी व्याजस्तुति अलङ्कार होता है।

समानाधिकरण से (अर्थात् एक ही व्यक्ति से सम्बन्धित) स्तुति के द्वारा निन्दा की अभिव्यक्ति का उदाहरण यह है—

अर्ध दानववैरिणा गिरिजयाप्यर्ध शिवस्याहृत
देवेत्थ जगतीतले स्मरहराभावे समुन्मीलति ।
गङ्गा सागरमम्बर शशिकला नागाधिप क्ष्मातल
सर्वज्ञत्वमधीश्वरत्वमगमत्त्वाम्, मा च भिक्षाटनम् ॥

इसमे 'आप सर्वज्ञ हैं सर्वेश्वर है' इत्यादिरूप से राजा की स्तुति है परन्तु उससे अभिव्यक्त हो रही है यह निन्दा की आप मेरी विद्वत्ता और दरिद्रतादि को जानते हुए भी बहुत कुछ धनादि देकर रक्षा करने योग्य मुझे कुछ भी नही देते है।[१६२]

पण्डितराजकृत खण्डन

भेदो का खण्डन—अप्पयदीक्षित के द्वारा माने गये व्यधिकरण युक्त व्याजस्तुति के चार भेद अनुचित है। कारण वही है जो व्याजस्तुति की विशेषताओ के अन्तर्गत तृतीय विशेषता का निरूपण करते हुए उल्लिखित हुआ है।

यदि इसके विरोध मे यह कहा जाय कि प्राचीन परम्परा को मानना कोई आवश्यक नही है अत यह चारो भेद भी माने ही जा सकते हैं, तो ठीक नही है। क्योकि इस दशा मे, प्राचीन परम्परा के भङ्ग हो जाने मे कोई हानि न होने पर व्यङ्ग्य और गुणीभूतव्यङ्ग्य के सभी भेदो को अलङ्कार के ही अन्तर्गत समाविष्ट किया जा सकता है, व्याजस्तुति को ही अप्रस्तुतप्रशसा मे अन्तर्भूत किया जा सकता है। इत्यादि।

अत इन चारो प्रकार की व्याजस्तुति को व्यङ्ग्य के ही अन्तर्गत मानना चाहिये व्याजस्तुति के अन्तर्गत नही। व्यङ्ग्य के सम्पूर्ण भेद अलङ्कारो के अन्तर्गत आ जाते हो ऐसा नही है क्योकि अलङ्कारो का क्षेत्र अत्यन्त सीमित है और व्यङ्ग्य काव्य का क्षेत्र अत्यन्त विस्तृत।

---

१६२. कुव । पृ. १३० (उक्त सम्पूर्ण मत)

उदाहरण का खण्डन—

'अर्धं दानववैरिणा–' इत्यादि उदाहरण भी ठीक नही है क्योकि इसके पूर्व जो—

> 'साधु दूति पुन' साधु कर्त्तव्य किमत· परम् ।
> यन्मदर्थे विलूनासि दन्तैरपि नखैरपि ।।"[१६३]

उदाहरण अप्पय ने दिया है उससे इसमे ('अर्धं दानव०–' इत्यादि मे) बहुत भेद है।

(१) 'साधु दूति–' इत्यादि पद्य मे 'इससे अधिक और क्या किया जा सकता था' (साधु किमत पर कर्त्तव्यम्) इस शक से हितकारिणी का बोध होने से दूती की स्तुति वाच्य रूप मे ही बाधित हो गयी है जिससे उसका पर्यवसान असाधुकारिणी रूप विपरीत अर्थ मे हो जाता है। परन्तु 'अर्धं दानववैरिणा–' इत्यादि उदाहरण मे ऐसा नही होता। यहाँ सर्वज्ञ होना और अधीश्वर होना स्तुतिपरक है परन्तु उनका कोई बाध नही होता क्योकि प्रकरण के अनुसार यहा राजा की ज्ञानहीनता या पामरता (साधारण मनुष्य होना) की विवक्षा नही है। अत 'सर्वज्ञ होते हुए भी मेरी रक्षा नहीं की' एक उपालम्भ होते हुए भी निन्दा के रूप मे अभिप्रेत नही है।

इस पद्य मे वस्तुत विवक्षित अर्थ है 'मै दरिद्र होने के कारण आपकी रक्षा के योग्य हूँ–' यह।

(२) उक्त उपालम्भ को यदि व्यङ्ग्य निन्दा मान भी ले तो भी यहाँ व्याजस्तुति नही बन पाती क्योकि 'साधु दूति' इत्यादि पद्य मे जिस प्रकार साधुकारिणीत्व आदि स्तुति की विद्युत्प्रकाश के समान क्षणिक प्रतीति होती है 'दानववैरिणा–' इत्यादि मे सर्वज्ञता और सर्वेश्वरता आदि का ज्ञान उस प्रकार क्षणिक नही होता। यदि सर्वज्ञता आदि को क्षणभङ्गुर मानें तो उक्त उपालम्भरूप निन्दा की सङ्गति ही नही होगी क्योकि यह उपालम्भ सर्वज्ञ और सर्वेश्वर व्यक्ति के प्रति ही सार्थक हो सकता है अज्ञ और पामर व्यक्ति के प्रति नही। अत सर्वज्ञत्वादि स्तुत्यात्मक अर्थ की प्रतीति भी निन्दात्मक अर्थ के साथ विद्यमान रहती है, बाधित होकर समाप्त नही हो जाती।

समवलोकन

व्याजस्तुति का वर्णन करते हुए पण्डितराज का प्राचीन प्रथा का कट्टर अनुयायी रूप सम्मुख आता है। मम्मटादि ने व्याजस्तुति का जो स्वरूप और लक्षण माना है वही इन्होने भी स्वीकार किया है।

---

१६३. कुव । पृ १२६

अप्पयदीक्षित ने व्याजस्तुति के व्यधिकरण से तीन ही प्रकार माने हैं तथा उसके अतिरिक्त व्याजनिन्दा नामक एक अन्य अलङ्कार स्वीकार किया है जिसमे एक व्यक्ति की निन्दा से दूसरे व्यक्ति की निन्दा व्यङ्ग्य होती है। यह प्रकार व्याजस्तुति के व्यधिकरण वाले तृतीय प्रकार का विपरीत रूप है।[१६४] परन्तु पण्डितराज ने उसे भी व्याजस्तुति के भेदो के ही अन्तर्गत मानकर खण्डन किया है। उन्हे व्याजस्तुति मे व्यधिकरण की ही सत्ता स्वीकार नही है क्योकि उसमे आपातत प्रतीत होने वाले अर्थ का बाध नही होता।

अत एक प्रकार से इन्होने व्याजस्तुति के भेदो को सक्षिप्त कर दिया है।

इस सक्षिप्तीकरण मे पण्डितराज जैसे विज्ञ पुरुष के लिये यह अनुचित प्रतीत होता है कि अप्पयदीक्षित द्वारा स्वीकृत अलङ्कारान्तर का इस प्रकार अवान्तर भेदो मे समावेश करके खण्डन किया जाय। उन्हे स्पष्ट रूप से इसका निर्वचन करना चाहिये था कि व्याजनिन्दा नामक अलङ्कार व्याजस्तुति का ही एक प्रकार रूप है और तब उसको व्याजस्तुति की विशेषताओ से रहित होने के कारण अनुचित कहते।

आक्षेप

लक्षण

आक्षेप अलङ्कार के अनेक लक्षण दिये गये है जो विभिन्न आलङ्कारिको के हैं। क्रमश वह मत इस प्रकार है—

प्रथम मत

'उपमेयस्योपमानसम्बन्धिसकलप्रयोजननिष्पादनक्षमत्वादुपमानकैमर्थ्यमुपमानाधिक्षेपरूपमाक्षेप।'[१६५]

अर्थात् उपमान सम्बन्धी सभी प्रयोजनो के निष्पादन मे उपमेय के समर्थ होने पर उपमान के प्रति कैमर्थ्य की भावना होना, अर्थात् उपमान का तिरस्कार करना आक्षेप अलङ्कार है। जैसे—

अभूदप्रत्यूह कुसुमशरकोदण्डमहिमा
विलीनो लोकाना सह नयनतापोऽपि तिमिरै।

---

१६४. "निन्दाया निन्दया व्यक्तिर्व्याजनिन्देति गीयते।
विधे! स निन्द्यो यस्ते प्रागेकमेवाहरच्छिर॥
... . . . अन्यस्तुत्याऽन्यस्तुत्यभिव्यक्तिरिति पञ्चमप्रकारव्याजस्तुतिप्रतिबन्दीभूतेय व्याजनिन्दा।" (कुव. पृ १३४)

१६५. रस पृ. ४२१

तवास्मिन्पीयूष किरति परितस्तन्वि वदने
कुतो हेतो· श्वेतो विधुरयमुदेति प्रतिदिनम् ।।[१६६]

इसमे उपमेय है नायिका-मुख और उपमान है चन्द्र । और उपमान सम्बन्धी प्रत्येक प्रयोजन-अन्धकारनाश, अमृत वर्षा आदि का मुख से ही सम्पादन हो जाने के कारण चन्द्र की निष्प्रयोजनता का वर्णन किया गया है । अत आक्षेप अलङ्कार है । 'कुतो हेतो' इत्यादि पदो का प्रयोग होने से वह आक्षेप वाच्य हो गया है । आर्थ आक्षेप का उदाहरण इस प्रकार है—

वसुधावलयपुरन्दर विलसति भवत कराम्भोजे ।
चिन्तामणिकल्पद्रुमकामगवीभिः कृत जगति ।।[१६७]

इसमे उपमान की निष्प्रयोजनता साक्षात् शब्द से नही कही गयी है अतः आर्थ आक्षेप है । चिन्तामणि आदि के वर्णन से उस आक्षेप का आर्थ ज्ञान होता है ।

द्वितीय मत

आक्षेप का लक्षण—'पूर्वोपन्यस्तस्यार्थस्य पक्षान्तरालम्बनप्रयुक्तो निषेध आक्षेपः ।'[१६८]

अर्थात् पहले जिस अर्थ को कहा (व्यक्त किया) उसका ही, किसी दूसरे पक्ष को ग्रहण करने के कारण, जब निषेध होता है तो आक्षेप अलङ्कार होता है । उदाहरण के लिये—

सुराणामारामादिह झगिति झञ्झानिलहता
पतेयु शाखीन्द्रा यदि तदखिलो नन्दति जनः ।
किमेभिर्वा कार्यं शिव-शिव विवेकेन विकलै-
श्चिर जीवन्नास्तामधिधरणि दिल्लीनरपति ।।[१६९]

इसमे 'किमेभि.–' इत्यादि उत्तरार्ध के द्वारा पूर्वार्ध मे कहे गये कल्पतरुओ के पतन रूपी अर्थ का तिरस्कार कर दिया गया है । (इसी प्रकार मूलग्रन्थ अन्य उदाहरणो पर भी विचार किया गया है ।)

तृतीय मत (मम्मट)

आक्षेप का लक्षण इस प्रकार है—

---

१६६ रस पृ ४२१
१६७. रस पृ. ४२१
१६८. रस पृ. ४२१
१६९. रस. पृ. ४२१

'निषेधो वक्तुमिष्टस्य या विशेषाभिधित्सया ।
वक्ष्यमाणोक्तविषय स आक्षेपो द्विधा मत ।।'[१७०]

अर्थात् व्यङ्ग्यार्थरूप विशेष अर्थ को कहने की इच्छा से प्रकृत अर्थ का निषेध करना अर्थात् निषेधात्मक रूप मे कहना ही आक्षेप है। वह आक्षेप दो प्रकार का होता है—वक्ष्यमाणविषय, और उक्तविषय।

जब किसी विशेष अर्थ का बोध कराने की इच्छा से कुछ बात कहकर उसका निषेध किया जाता है तो वह उक्त विषयक आक्षेप होता है। अर्थात् जहाँ विषय उक्त होकर निषिद्ध हो वह है उक्त विषय। जहाँ उसे बिना कहे ही निषेध कर दिया जाय वहाँ वक्ष्यमाणविषय आक्षेप होता है। अर्थात् कहे जाने वाले विषय का निषेध जहाँ हो वहाँ वह वक्ष्यमाणविषयक आक्षेप होता है जैसे—

रीतिं गिराममृतवृष्टिकिरा त्वदीया
ता चाकृतिं कृतिवरैरभिनन्दनीयाम्।
लोकोत्तरामथ कृति करुणारसार्द्रा
ज्ञातु न कस्यचिदुदेति मन प्रसार ।।[१७१]

यहाँ मन प्रसार का निषेधात्मक रूप मे कथन हुआ है जिससे यह व्यङ्ग्य होता है कि वर्णनीय वस्तु (किसी की कृति) अवर्णनीय है। यहाँ वक्ष्यमाणविषयक आक्षेप है क्योकि अवर्णनीयता का उल्लेख किये बिना ही वहाँ निषेध है।

उक्तविषयक आक्षेप का उदाहरण यह है—

श्वासोऽनुमानवेद्य शीतान्यङ्गानि निश्चला दृष्टि ।
तस्या सुभग कथेय तिष्ठतु तावत्कथान्तर कथय ।।[१७२]

इसमे नायिका की विरह वेदना को कहने के पश्चात् उस सबका निषेध कर दिया गया है क्योकि यहाँ अभीष्ट अर्थ है उसकी मरणासन्न अवस्था को बताना। उसका प्रत्यायन इसी निषेध से हो रहा है।

चतुर्थ मत (रुय्यक तथा अप्पय)

आक्षेप का लक्षण—

प्राकरणिकस्यार्थस्य निषेधोऽप्रतिष्ठितत्वादाभासमात्ररूपः
कस्यचिदर्थविशेषस्य विधान व्यनक्ति स एक.
यश्चाप्राकरणिकस्य विधिस्तादृश एव सन्निषेधे
पर्यवस्यति सोऽपर इत्युभयविधोऽप्यपमाक्षेप ।[१७३]

---

१७०. का प्र ३८६
१७१ रस पृ ४२२
१७२. रस. पृ ४२२
१७३. रस. पृ ४२२। तथा, दे. अ स आक्षेप-प्रकरण।

अर्थात् जब प्रसङ्गत प्राप्त किसी अर्थ का निषेध अनुचित (असम्भव) होने के कारण केवल एक प्रतीति मात्र होकर किसी दूसरे अर्थ को व्यक्त करता है जो विध्यात्मक होता है तो एक प्रकार का आक्षेप होता है तथा जहाँ कोई अप्राकरणिक विधि असम्भव होने के कारण आपातत ही प्रतीत होकर निषेध मे पर्यवसित हो जाती है वहाँ दूसरे प्रकार का आक्षेप होता है । साराश यह है कि निषेध का विधान मे और विधि का निषेध मे प्रकरण के वश, पर्यवसान होना ही आक्षेप है । इस प्रकार यह दोनो ही आक्षेप के स्थल है ।

निषेधाभासरूप आक्षेप सकल रूप से चार प्रकार का होता है—
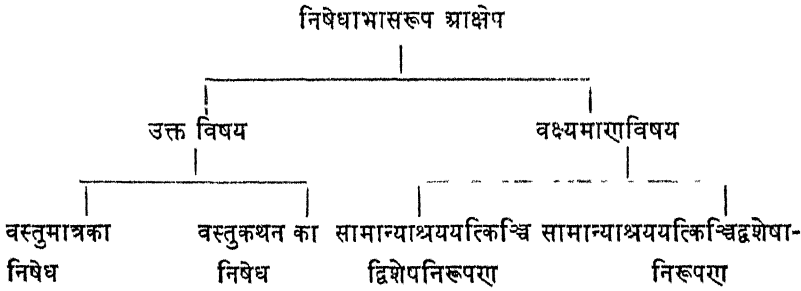
सर्वप्रथम आक्षेप के दो प्रकार होते है–उक्त विषय और वक्ष्यमाणविषय । जहाँ, जिसका निषेध करना है उसे कहकर निषेध किया जाय वहाँ उक्तविषयक आक्षेप होता है और जहाँ जिसका निषेध करना है उसको बिना कहे ही निषेध कर दिया जाय वहाँ वक्ष्यमाणविषयक आक्षेप होता है ।

उक्त विषय्य पुन· दो प्रकार का होता है —

(१) जहाँ किसी वस्तु मात्र का ही कथन कर उसका निषेध हुआ हो ।

(२) जहाँ किसी वस्तु के कथन का निरूपण कर उसका निषेध किया गया है ।

वक्ष्यमाणविषयक आक्षेप केवल वस्तुकथन–निषेधात्मक होता है क्योकि कोई कथन ही वक्ष्यमाण (कहा जाने वाला) हो सकता है, वस्तु नही । वह वस्तुकथन-निषेधात्मक वक्ष्यमाणवस्तुविषयक आक्षेप भी दो प्रकार का होता है ।

(१) जिस वस्तु का निषेध करना हो उसके सम्बन्ध मे थोडा बहुत कहकर शेष का निषेध कर देने पर ।

(२) जिसका निषेध करना हो उसके विषय में कोई भी सङ्केत न देकर 'कुछ नहीं कहूँगी' इत्यादि रूप मे कथनसामान्य का निषेध कर देने पर ।

द्वितीय प्रकार मे यद्यपि कथनमात्र का निषेध ही प्रतिभासित होता है परन्तु वास्तव मे उससे एक विशेष अर्थ का ही निषेध होता है जिसे प्रकरणादि के बल पर सामाजिक का हृदय समझता है । अत सामान्य कथनाभाव होते हुए भी उस विशेष अर्थ को व्यङ्ग्य करता है जिसका वास्तव मे निषेध रहता है ।

वक्ष्यमाण विषय वाले आक्षेप के दोनो भेदो मे से प्रथम भेद मे, जहाँ कुछ अश कह दिया जाता है, निषेध का कोई प्रयोजन नही होता अत उसके फलस्वरूप उस विशेष अर्थ का व्यञ्जना से बोध होता है । अर्थात् कुछ बाते कही और फिर उनको असत्य कह दिया, इसकी सार्थकता तभी हो सकती है जब उससे किसी और अर्थ का बोध हो । अन्यार्थ बोध के अभाव मे वह निषेध व्यर्थ ही हो जायेगा ।

दूसरे भेद मे तो, जहाँ विशेष अर्थ से सम्बन्धित कुछ भी अश कहा नही जाता, विशेष रूप से उस निषेध का यही प्रयोजन रहता है कि उससे किसी अन्य विशेष अर्थ का बोध हो ।

इन चारो भेदो के उदाहरण क्रमश इस प्रकार है —

(१) न वय कवयस्तव स्तव नृप कुर्वीमहि यन्मृषाक्षरम् ।
रणसीम्नि तवावलोकने तरुणार्को दिनकौशिकायते ।।[१७४]

इसमे 'न वय कवय' कहकर कवित्व मात्र का निषेध किया है । और स्वय कवि की ही उक्ति होने से यह उक्त (सिद्ध) भी है । अत उक्तविषयक आक्षेप का प्रथम भेद-वस्तुमात्र का निषेध है । इससे व्यङ्ग्य होती है उत्तरार्ध के अर्थ की सत्यता ।

(२) मा पाहीति विधिर्विधेयविषयो वाच्य स्वतन्त्रे कथ
नोपेक्ष्यो भवतास्मि दीन इति गी श्लाघ्या न सख्यावताम् ।
एव दोषविचारणाकुलतया देव त्वयि प्रोन्मुखे
वक्तव्यप्रतिभादरिद्रमतय किञ्चिन्नहि ब्रूमहे ।

इसमे 'मा पाहि' इत्यादि कथनो को कहकर 'किञ्चिन्नहि ब्रूमहे' इस वाक्य से उनका निषेध किया है । राजा के प्रति आज्ञारूप होने से वह निषेध बाधित हो जाता है जिससे 'आपको अवश्य रक्षा करनी चाहिये' यह विशेष अर्थ व्यङ्ग्य होता है ।

(३) रे खल तव खलु चरित विदुषामग्रे विविच्य वक्ष्यामि ।
अलमथवा पापात्मन्कृतया कथयापि ते हतया ।।[१७६]

---

१७४ रस पृ ४२३
१७५ रस पृ ४२३
१७६. रस पृ. ४२३

इसमें दुष्ट सम्बन्धी वृत्तान्त का कथन सामान्यरूप से निषिद्ध है अर्थात् कथन मात्र का निषेध किया गया है। यहाँ वक्ष्यमाण कथन है दुष्ट की पिशुनता आदि परन्तु उसके सम्बन्ध मे कोई स्पष्ट सङ्केत न कर उसका निषेध कर दिया है। जिससे व्यङ्ग्य होता है 'उसके चिन्तन मात्र से दु ख होना'। यह उदाहरण वक्ष्यमाणविषयक आक्षेप के द्वितीय भेद का उदाहरण है जिसमे कहे जाने वाले कथन का कोई निरूपण नही होता।

(४) श्वासोऽनुमानवेद्य शीतान्यङ्गानि निश्चला दृष्टि ।
तस्या कि वा पृच्छसि निर्दय तिष्ठत्वसौ हता वार्ता ॥[१७७]

इसमे नायिका सम्बन्धी विषय को श्वास की अनुमानवेद्यता आदि के द्वारा कुछ अश मे कह दिया गया है तथा आगे कहे जाने वाले मरणादि का निषेध कर दिया गया है। जिसमे व्यङ्ग्य यह होता है कि वह मरणवार्ता मुख से नही निकालनी चाहिये।

उपर्युक्त सभी उदाहरणो मे वाच्य है निषेध और उससे आक्षिप्त है विधि क्योकि निषेध बाधित है। निषेध के असत्य अथवा बाधित होने के कारण इनको विहित अर्थ का निषेध, अथवा निषेध का विधान नही कहा जा सकता। अपितु असत्य निषेध से विधि का आक्षेप होता है। इसी अर्थ को लेते हुए इस अलङ्कार का नाम आक्षेप है।

निषेधाभास रूप आक्षेप के सभी भेदो मे चार अश रहते है-(क) इष्ट अर्थ, (ख) उसका निषेध (ग) उस निषेध की असत्यता, और (घ) उससे (निषेधात्मक अर्थ से) किसी विशेष अर्थ की व्यञ्जना।

मूल लक्षण मे आक्षेप का द्वितीय प्रकार है—विध्याभास। इसका उदाहरण इस प्रकार है —

तपोनिधे कौशिक रामचन्द्र निनीषसे चेन्नय कि विकल्पै ।
निरन्तरालोकनपुण्यधन्या भवन्तु वन्या अपि जीवभाज ।[१७८]

यह उस दशरथ की उक्ति है जो पुत्र के स्नेह से व्याकुल हैं। जिससे इस वाक्य मे 'नय' पद से जो विधि है उसका बाध्य हो जाता है और उसका अर्थ निकलता है 'मा नय' यह। इस विधिका निषेध मे पर्यवसान होने से व्यङ्ग्य होता है 'अन्यथा मेरा प्राणवियोग हो जायेगा' यह अर्थ।

विध्याभास मे भी निषेधाभास के समान ही चार अङ्ग होते है-(क) अनिष्ट अर्थ (ख) उसका विधान, (ग) उस विधान की असत्यता और, (ख) उस विधान की असत्यता से विशेष अर्थ की व्यञ्जना।

इस मत के अनुसार प्रथम, द्वितीय व तृतीय मत के अन्तर्गत जो उदाहरण दिये गये है वे असङ्गत है। अत प्रथम मत के अनुसार आक्षेप का जो स्वरूप है वह प्रतीप का ही एक प्रभेद रूप है। द्वितीय मत के अनुसार जो आक्षेप का लक्षण है वह वास्तव मे विधि का निषेध ही है, आक्षेप नही क्योकि उसमे निषेध आभास रूप नही है।

(अप्पय ने भी इनका ही अनुसरण किया है)

पञ्चम मत —

लक्षण–'**निषेधमात्रमाक्षेप**।'[१७९]

अलङ्कार सामान्य के विशेषणो को यहाँ भी समझना चाहिये अर्थात् जब निषेध चमत्कारी और उपस्कारक हो तो वह आक्षेप अलङ्कार हो जाता है। चमत्कारी तभी हो सकता है जब वहाँ कोई व्यङ्ग्यार्थ विद्यमान हो। अर्थात् व्यङ्ग्यार्थ से युक्त समस्त निषेध आक्षेप का विषय है।

इस लक्षण मे उपर्युक्त आक्षेप के सभी लक्षणो का–(१) उपमान का उपमेय के कारण तिरस्कार रूप प्रथम लक्षण, (२) पक्षान्तर का ग्रहण करने से प्राचीन मत के कैमर्थ्यरूप द्वितीय लक्षण (३) विशेष अर्थ को कहने की इच्छा से उक्त और वक्ष्यमाण विषयो के निषेधरूप लक्षण का और (४) निषेधाभास तथा विध्याभास रूप निषेध से युक्त आक्षेप के लक्षण का–सङ्ग्रह हो जाता है। क्योकि सभी मे निषेध विद्यमान है।

आक्षेप की ध्वनि —

इसकी ध्वनिका उदाहरण यह है—

त्वामवश्य सिसृक्षन्य सृजति स्म कलाधरम्।
किं वाच्य तस्य वैदुष्य पुराणस्य महामुने ॥[१८०]

इसमे प्रथम मतानुसार 'त्वयि सति किं कलाधरेण' इस अर्थ के बोध से आक्षेप हो जायेगा।

निषेधमात्र को आक्षेप मानने वाले इस पञ्चममत मे 'वृद्ध ब्रह्मा मे विद्वत्ता नही है', इस आकार से आक्षेप होगा।

---

१७९ रस पृ ४२४
१८०, रस. पृ ४२४

'ब्रह्मा के वैदुष्य मे क्या कहा जाय ?' इस प्रकार विद्वत्ता की उपपत्ति होने पर उसका तुरन्त बाध हो जाता है जिससे वह वैदुष्याभाव मे पर्यवसित हो जाता है। जिससे उपमान रूप चन्द्र का तिरस्कार भी तुरन्त अवभासित हो जाता है। तुरन्त बाधित रूप मे ज्ञात होने से वह वाच्य के समान ही है। अत यहाँ ध्वनि नही हो सकती।—ऐसा नही कहना चाहिये क्योकि वैदुष्य का कथन बाधित नही होता। कारण, जो प्रतीति होती है वह इस आकार मे होती है कि चन्द्र का निर्माण ब्रह्मा ने अपने कार्य की कुशलता के लिये उसी प्रकार किया जिस प्रकार पाण्डुलेख किया जाता है। अत जिसे पाण्डुलेख की आवश्यकता हो उसकी कैसी विद्वता ? इस प्रकार वाच्यार्थ मे ही बुद्धि के शान्त हो जाने पर पश्चात् पुराण पद के अर्थ का ज्ञान होने से वैदुष्याभाव का और चन्द्र की तिरस्कृति का बोध होता है। अत ध्वनि मे कोई बाधा नही है।

अलङ्कारसर्वस्वकार के मत मे यह उदाहरण ध्वनि का स्थल नही हो सकता अपितु यह होगा।

त्वां गीर्वाणगुरु सर्वे वदन्तु कवयस्तु ते।
समानकक्षस्तेनासीत्येषोऽर्थस्तु मतो मम ॥[181]

यह एक कवि की उक्ति है अत कवित्व का निषेध बाधित होने से वह निषेध का आभास मात्र है। इस निषेध का 'मिथ्या न बोलने वाले' रूप अर्थ मे पर्यवसान होता है और उससे व्यङ्ग्य होती है उत्तरार्धरूप वाक्य की सत्यता।

अप्पयदीक्षित का मत (मात्र उदाहरण सम्बन्धी)

नरेन्द्रमौले न वय राजसन्देशहारिण.।
जगत्कुटुम्बिनस्तेऽद्य न शत्रु कश्चिदीक्ष्यते ॥

यह अलङ्कारसर्वस्वकार के अनुसार आक्षेप का उदाहरण है।

इसमे, सन्देशवाहको की उक्ति मे, 'हम सन्देशवाहक नही है' (न वय राजसन्देशहारिण) यह निषेध बाधित है अत उसका अभिप्राय यह निकलता है कि सन्धिकाल मे छलयुक्त व्यक्ति का यह वचन नही है अपितु सत्यभाषी का कथन है। और इस अभिप्रायरूप अर्थ से जो विशेष अर्थ व्यङ्ग्य होता है वह यह कि सम्पूर्ण जगत् का पालन करने वाले आपके द्वारा कोई भी शत्रु भाव से देखे जाने योग्य नही है। अपितु सभी राजा भृत्यभाव से पालन करने योग्य हैं।[182]

पण्डितराजकृत खण्डन

अप्पयदीक्षित ने अलङ्कारसर्वस्वकार का उक्त पद्य उद्धृत करके जिस प्रकार व्याख्या की है वह अनुचित है। उसकी अनुचितता के कारण निम्नलिखित है —

१८१. रस. पृ. ४२५
१८२. कुव. पृ १३६ (उक्त सपूर्ण मत)

(१) अप्पयदीक्षित ने जिस निषेध से जिस विशेष अर्थ को व्यङ्गच माना है वह असत्य है। अर्थात् 'हम राजसन्देशवाहक नही है' इस निषेध से 'आपके द्वारा कोई भी शत्रुभाव से देखने योग्य नही है–' यह विशेष अर्थ व्यङ्गच नही होता। अपितु 'सभी राजा आपके द्वारा मुख्य रूप से पालन करने योग्य है–' यही अर्थ व्यङ्गच होता है।

(२) वह उपर्युक्त विशेष अर्थ भी (सभी राजा भृत्यभाव से पालनीय हैं—इति) तभी व्यङ्गच होता है जब उत्तरार्ध का भी प्रयोग हो जाता है। अर्थात् सम्पूर्ण पद्य से ही उक्त विशेषार्थ व्यङ्गच होता है केवल निषेधात्मक वाक्य से नही।

अत जो विशेष केवल निषेध मात्र से ही आक्षिप्त हो जाये उसी को निषेध का व्यङ्गच समझना चाहिये उससे भिन्न अश से व्यङ्गच होने वाले अश को नही।

(३) राजसन्देशहारियो के द्वारा कहे गये 'हम राजसन्देशहारी नही है' इस वाक्य मे अपने से अपना निषेध बाधित होने के कारण, सन्देशहारिपद से लक्षणा से, राजसन्देशहारियो मे रहने वाले प्रवञ्चनात्मक वाक्यो का प्रयोग करने वाले आदि की उपस्थिति होती है। और उस लक्षणा का प्रयोजन है अपने को सत्यवादी सिद्ध करना अथवा अपने कथन को सत्य सिद्ध करना। एव च अपने मे कैतववचन का अप्रयोक्तात्व बताना अथवा अपने वचन की सत्यता का बोध कर पाना ही वह विशेष अर्थ है जिसका आक्षेप यहाँ अभीष्ट है। 'आपके द्वारा कोई शत्रुभाव से देखने योग्य नही है' इत्यादि विशेष अर्थ इस निषेध से व्यङ्गच नही होता।

(४) राजसन्देशवाहको के द्वारा ही अपना ही निषेध बाधित होने से 'राज' पद की 'राजशत्रु' मे लक्षणा होती है जिससे 'राजसन्देशहारिण' पद का अर्थ होता है 'राजशत्रुसन्देशहारिण' (राजा के शत्रु के सन्देशवाहक) तदनुसार उक्त निषेध का अर्थ होगा 'हम शत्रुओ के सन्देशवाहक नही है।' इससे व्यञ्जना होगी इस अर्थ की– 'हमारे स्वामी के कोई शत्रु नही है, अपितु सभी भृत्यभाव से पालन करने योग्य हैं।'—इस प्रकार यदि आक्षेप की स्थिति को स्थिर किया जाय तो भी ठीक नही है क्योकि तब 'हमारे स्वामी के कोई शत्रु नही है' इत्यादि तृतीय अर्थ, जो निषेधात्मक है' ही व्यङ्गच होगा। और उस व्यङ्गच का व्यञ्जक 'न वय राजसन्देशहारिण' इत्यादि त्वदुक्त निषेध नही है।

(५) इसके उत्तर मे यदि यह कहे कि निषेध से परम्परया किसी भी विशेष अर्थ की अवगति होने पर आक्षेप अलङ्कार हो जाता है। तब 'सन्धिकालोचितकैतववचन के परिहार से यथार्थवादिता मे पर्यवसित होकर' इत्यादि दीक्षित जी का ही वचन असङ्गगत हो जायेगा।

केवल यथार्थवादिता से ही उनका अभीष्ट अर्थ व्यङ्गच नही हो सकता अपितु उत्तरार्ध का प्रयोग होने पर भी उसकी व्यञ्जना होगी।

इसलिये जिसमे निषेध का पर्यवसान होता हो उसी को उस निषेध से आक्षिप्त अर्थ मानना उचित है अर्थान्तर को नही ।

समवलोकन

सम्पूर्ण रसगङ्गाधर मे अन्य किसी अलङ्कार का लक्षण इस प्रकार नही हुआ है जिस प्रकार आक्षेप का । इस अलङ्कार का पण्डितराज ने क्या लक्षण किया है यह केवल अनुमान से ही मालूम करना पडता है क्योकि स्पष्ट शब्दो मे इसका कही उल्लेख नही हुआ कि पण्डितराज का कौनसा लक्षण है । अनुमान के द्वारा पञ्चम मत ही पण्डितराज का मत माना जा सकता है क्योकि उसको जिस प्रकार निर्दोष और सर्वलक्षणग्राही सिद्ध किया गया है उससे उसके प्रति उनकी विशेष आस्था द्योतित होती है । इसके अतिरिक्त उस लक्षण की पूर्णता भी तभी होती है जब उसमे पण्डितराज सम्मत अलङ्कार सामान्य के लक्षण को भी जोड दिया जाय ।

अपने लक्षण को स्पष्ट रूप मे न कहना ग्रन्थकार का दोष है । अन्य सभी मतो का बिना किसी विरोध के अन्तिम लक्षण के द्वारा सङ्ग्रह कर लेना यह सिद्ध करता है कि जगन्नाथ को अन्य मत भी अस्वीकार नही थे । सार रूप मे यह कहा जा सकता है कि आक्षेप अलङ्कार के सम्बन्ध मे पण्डितराज की क्या धारणा थी वह अत्यन्त अस्पष्ट है ।

अप्पयदीक्षित के मत का खण्डन करने मे जिस मार्ग का अनुसरण किया गया है वह सहृदयहृदयस्फुरणा के कितना समीप है यह विचारणीय है ।

सम्पूर्ण खण्डन का उद्देश्य केवल अप्पय का मस्तकमण्डन ही प्रतीत होता है क्योकि तत्त्वपरिष्कार की दृष्टि से वह लेशमात्र भी उपयोगी नही ।

अर्थापत्ति

लक्षण

पण्डितराजकृत लक्षण

'केनचिदर्थेन तुल्यन्यायत्वादर्थान्तरस्यापत्तिरर्थापत्ति ।'[१८३]

अर्थात् किसी अर्थ के द्वारा तुल्यता (समानता) के बल पर किसी दूसरे अर्थ की उपस्थिति होना (सिद्धि होना) अर्थापत्ति अलङ्कार है ।

इसमे 'न्याय' पद का तात्पर्य है कारण मे । अर्थात् एक अर्थ से दूसरे अर्थ की सिद्धि जब कारण की समानता के आधार पर हो तो अर्थापत्ति अलङ्कार होना है ।[१८४] जैसे—

---

१८३ रस पृ. ४८५

१८४. न्यायश्च कारणम् । रस. पृ. ४८५

लीलालुण्ठितशारदापुरधियामस्मादृशाना पुरो
विद्यासद्मविनिर्गलत्कणमुषो वल्गन्ति चेद् बालिशा ।
अद्य श्व फणिना शकुन्तशिशवो दन्तावलाना शशा
सिहाना च सुखेन मूर्धनि पद धास्यन्ति शालावृका. ।।[१८५]

इसमे विद्वज्जन के सम्मुख अज्ञानिजनो की वाचालता का वर्णन करके सर्प के सिर पर पक्षियो के शिशुओ का नर्तन रूप अर्थ आपतित किया गया है। अत यहाँ समान न्यायश्रेष्ठ के सम्मुख अधम का उच्छृङ्खल होना—से एक अर्थ के द्वारा दूसरे अर्थ की सिद्धि हुई है ।

अर्थापत्ति अलङ्कार वही होता है जहाँ आपातित अर्थ कवि की कल्पना से अर्थात् प्रतिभा से प्रसूत हो । यदि वह अर्थ लोकसिद्ध होता है, कवि प्रतिभा से उत्थित नही होता तो वह अलङ्कार का विषय नही होता अपितु कैमुतिकन्याय मात्र ही रहता है । जैमे पूर्वोक्त 'लीलालुण्ठितशारदा ' मे आपाद्यमान अर्थ—शकुन्तशिशुओ का सर्प के सिर पर नर्तन करना लोकसिद्ध नही है अपितु कवि—प्रतिभोत्थित है । परन्तु—

उदुम्बरफलानीव ब्रह्माण्डान्यत्ति य सदा ।
सर्वगर्वापह कालस्तस्य के मशका वयम् ।।[१८६]

इसमे अर्थापत्ति अलङ्कार नही है अपितु कैमुतिक न्याय मात्र है क्योकि 'काल के लिये मनुष्यो का मशकवत् होना' यह आपतित अर्थ तो जगत्सिद्ध ही है । तात्पर्य यह है कि जो ब्रह्माण्ड को उदुम्बर फल के समान खा लेता है वह हम मनुष्यो को भी समाप्त कर ही देगा, मनुष्य तो उसके लिये कुछ भी नही है-इस प्रकार का अर्थ किसी प्रकार का वैचित्र्य नही उत्पन्न करता । अत. अलङ्कार का विषय नही हो पाता ।

इसी आधार पर अलङ्कारसर्वस्वकार के दो उदाहरणो को भी अनुदाहरण सिद्ध किया है क्योकि वहाँ भी कैमुतिक न्याय मात्र ही है ।[१८७]

अप्पयदीक्षित का मत —

अप्पयदीक्षितकृत अर्थापत्ति का लक्षण यह है—

'कैमुत्येनार्थससिद्धि काव्यार्थापत्तिरिष्यते ।'[१८८]

अर्थात् कैमुतिक न्याय से जहाँ अर्थ सिद्ध होता है वहाँ अर्थापत्ति अलङ्कार होता है ।

---

१८५. रस पृ ४८५
१८६ रस पृ ४८६
१८७. रस. पृ ४८७
१८८ कुव पृ १९३

पण्डितराजकृत खण्डन·—

अप्पयकृत उक्त लक्षण को अर्थापत्ति अलङ्कार का उचित लक्षण नही माना जा सकता क्योकि—

(१) जैसाकि ऊपर कहा गया है, कैमुतिक न्याय से सिद्ध होने वाले अर्थ मे कोई वैचित्र्य नही होता । अत वह अलङ्कार का विषय ही नही होता ।

(२) यदि उसे लक्षण मान भी लिया जाय तो उसमे अव्याप्ति दोष है क्योकि किसी बडे अर्थ से छोटे अर्थ की सिद्धि होती हो वहाँ तो कैमुतिक न्याय हो सकता है परन्तु जहाँ किसी छोटे अर्थ से बडे अर्थ सिद्धि हो वहाँ तो कैमुतिक न्याय नही हो सकेगा और उसके न होने से वहाँ अर्थापत्ति का लक्षण नही जायेगा । इस प्रकार न्यूनार्थ से अधिकार्थ की आपत्ति वाले सम्पूर्ण भेद अर्थापत्ति से बाहर हो जायेगे । जैसे—

तवाग्रे यदि दारिद्र्यं स्थित भूप द्विजन्मनाम् ।
शनै सवितुरप्यग्रे तम स्थास्यत्यसशयम् ।।[१८६]

इसमे अधिक अर्थ का आपादन होने से अर्थापत्ति नही हो सकेगी । यह बोध तुल्य न्याय से ही सम्भव है कैमुतिक न्याय से नही ।

अर्थापत्ति अलङ्कार का स्वातन्त्र्य —

मीमासको के द्वारा माने गये अर्थापत्ति प्रमाण से इस अर्थापत्ति अलङ्कार का पार्थक्य है । अर्थापत्ति प्रमाण मे आपतित अर्थ के बिना आपादक अर्थ की उपपत्ति नही हो पाती, वह अनुपपन्न रहता है । परन्तु अर्थापत्ति अलङ्कार मे आपादक अर्थ स्वय सिद्ध रहता है । उसे अपनी सिद्धि के लिये आपतित अर्थ की अपेक्षा नही रहती । जैसे उक्त 'लीलालुण्ठित—' इत्यादि पद्य मे ।

अनुमान प्रमाण मे भी इस अलङ्कार का अन्तर्भाव नही हो सकता क्योकि अर्थापत्ति मे आपादक और आपतित अर्थ का अधिकरण समान नही रहता जिससे दोनो मे व्याप्य-व्यापक भाव तथा पक्षधर्मता का ज्ञान नही सिद्ध होता । अनुमान मे आपादक अर्थ का व आपतित अर्थ का निस्सन्दिग्ध व निश्चयात्मक ज्ञान रहता है । अर्थापत्ति मे ऐसी स्थिति नही रहती । जैसे पर्वत मे धूम का निश्चित ज्ञान रहता है तथा उस धूमरूप आपादक अर्थ से होने वाले वह्निज्ञान रूप आपतित अर्थ का भी निश्चयात्मक ज्ञान ही होता है । वहाँ यह सन्देह नही रहता कि वह्नि है या नही । अत. अनुमान मे होने वाले बोध का आकार होता है—'भवत्येव' । अर्थापत्ति मे इसके स्थान पर 'यदि ऐसा होगा तो ऐसा भी हो सकता है' इस प्रकार की स्थिति रहती है । वहाँ बोध का आकार है 'भवितुमर्हति' । जैसे 'लीलालुण्ठित—' इत्यादि पद्य मे है ।

१८६. रस. पृ. ४८७

यद्यर्थातिशयोक्ति मे भी इसका अन्तर्भाव नही हो सकता क्योकि यद्यर्थातिशयोक्ति का पर्यवसान विपरीत अर्थ मे होता है । 'यदि उपमान ऐसा हो तो उपमेय की समानता बने' यह है अतिशयोक्ति का रूप जिसका पर्यवसान होता है 'न उपमान ऐसा होगा न उपमेय से उसका सादृश्य होगा' इस प्रकार के विपर्यय मे । परन्तु अर्थापत्ति मे ऐसा नही होता । वहाँ किसी प्रकार के सादृश्याभाव मे तात्पर्य नही रहता अपितु जिस प्रकार का श्रवण होता है वैसे ही विश्रान्ति भी होती है । अर्थात् 'जिस न्याय से एक अर्थ सिद्ध है उसी न्याय से दूसरा अर्थ भी सिद्ध हो सकता है' यही आपातत. और पार्यन्तिक स्थिति रहती है ।

अर्थापत्ति के भेद
अर्थापत्ति के चौबीस भेद है
अर्थापत्ति
व्यतिरेक
प्रकृतार्थ से प्रकृतार्थ की उपस्थिनि
प्रक्व से अप्र की उपस्थिति
अप्र से अप्र की उपस्थिति
अप्र से प्रक्व की उपस्थिति
साम्य
न्यून
अधिक
साम्य
न्यून
अधिक
साम्य
न्यून
अधिक
भावत्व (१)
अभा. (२)
भाव (३)
अभा. (४)
भाव (५)
अभा. (६)
भाव. (७)
अभा. (८)
भाव. (९)
अभा. (१०)
भाव (११)
अभा (१२)
भाव (१९)
अभा. (२०)
भाव (२१)
अभा (२२)
भाव (२३)
अभा (२४)
साम्य
न्यून
अधिक
भावत्व (१३)
अभावत्व (१४)
भाव (१५)
अभा (१६)
भावत्व (१७)
अभावत्व (१८)
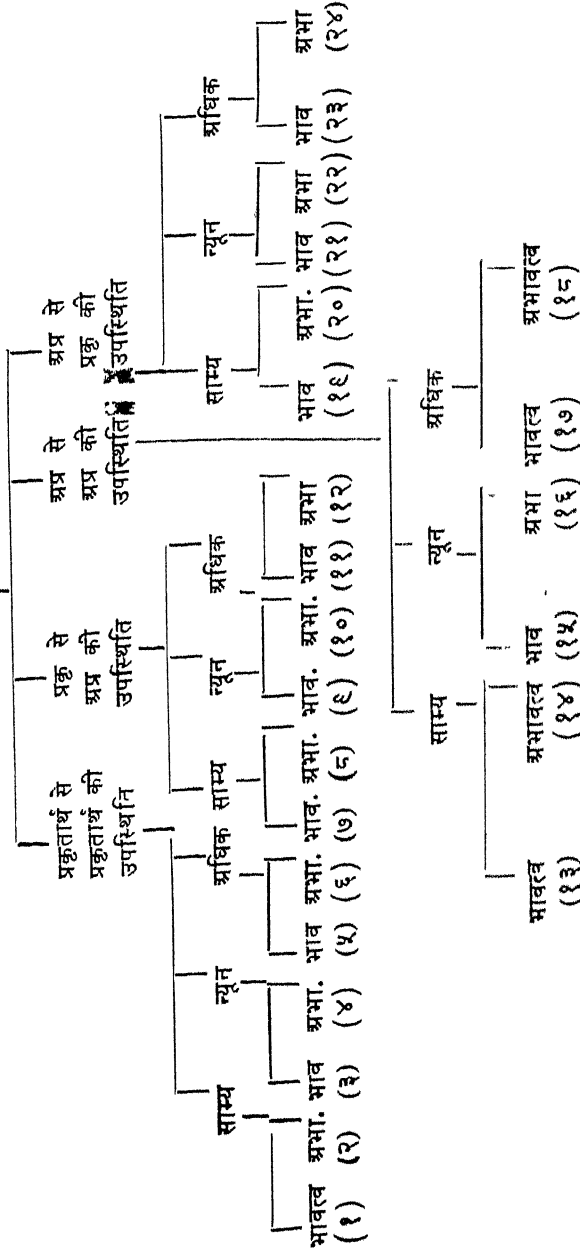
सर्वप्रथम अर्थापत्ति चार प्रकार की होती है —

(१) जहाँ किसी प्रकृत अर्थ से प्रकृत अर्थ की ही उपस्थिति हो।

(२) जहाँ किसी प्रकृतार्थ से अप्रकृतार्थ की उपस्थिति होती हो।

(३) जहाँ किसी अप्रकृतार्थ से अप्रकृतार्थ की उपस्थिति होती हो। और

(४) जहाँ किसी अप्रकृतार्थ से प्रकृतार्थ की उपस्थिति होती हो।

इन चारो भेदो के पुन तीन-तीन भेद हो सकते हैं—

(१) जहाँ उन दोनो अर्थों मे साम्य हो।

(२) जहाँ उन दोनो अर्थों मे न्यूनाधिक भाव हो। अर्थात् जिस अर्थ की उपस्थिति होती है वह अर्थ उपस्थापक अर्थ से न्यून हो।

(३) जहाँ आपतित अर्थ आपादक अर्थ से अधिक हो।

इस प्रकार कुल बारह प्रकार होते हैं। यह बारहो भेद पुन भावात्मक और अभावात्मक होने से दो-दो प्रकार के हो सकते हैं। अर्थात् जहाँ किसी भाव का (सद्वस्तु का) वर्णन हो (उपस्थापन) हो वहाँ भावात्मक और जहाँ किसी अभावात्मक अर्थ का वर्णन किया गया हो वहाँ अभावात्मक भेद होगा। इस प्रकार कुल चौबीस भेद होते हैं। इनमे कतिपय भेदो को उदाहृत किया गया है। पण्डितराज द्वारा दिये गये उदाहरणो मे से कुछ उदाहरण इस प्रकार है —

'लीलालुण्ठित—' इत्यादि पूर्वोक्त उदाहरण प्रकृत से अप्रकृत अर्थ की साम्य के आधार पर होने वाली अर्थापत्ति का उदाहरण है। अतः सप्तम भेद का उदाहरण है।

यदि ते चरणाम्बुज हृदा वहतो मे न हतो विपद्गणः।
अथ चण्डकरेण मण्डित दिनमध्येऽपि जित तमोगणैः॥[१९०]

इसमे प्रकृत से अप्रकृत अर्थ की उपस्थिति है परन्तु अप्रकृत अर्थ प्रकृत अर्थ से अधिक है। अतः इसका दूसरा प्रकार है। यह ग्यारहवें भेद का उदाहरण है।

सदैव स्नेहार्द्रं सुरतटिनि निष्किञ्चनजने
यदि त्व नाधत्से सुरभिरिव वत्से मयि कृपाम्।
तदा चिन्तारत्नत्रिदशपतिभूमीरुहमुखा
ददीरन्नर्थिभ्यः किमिति कणभिक्षामपि जडाः॥[१९१]

इसमे अभावात्मक अर्थ से अभावात्मक अर्थ का आपादन हुआ है। तथा आपाद्यमान अर्थ अप्रकृत है और प्रकृत की अपेक्षा न्यून भी है। अतः अर्थापत्ति के दशम प्रकार का उदाहरण है।

१९० रस पृ. ४८५

१९१. रस. पृ ४८५

प्रकृत से प्रकृत अर्थ का ही आपादान होने वाला तथा आपतित अर्थ के न्यूनत्व का उदाहरण यह है —

मामनुरक्ता हित्वा यदि राजन्पुरुषसिंह यातोऽसि ।
मुक्त्वा वनमिदमेष्यति वनलक्ष्मीमत्र किं चित्रम् ।।[१९२]

यह तृतीय प्रकार का उदाहरण है ।

इसी प्रकार अन्य उदाहरणो को भी समझ लेना चाहिये ।

समवलोकन —

अलङ्कारसर्वस्वकार और कुवलयानन्दकार ने कैमुतिकन्याय से अर्थ का आक्षेप होने पर अर्थापत्ति माना था और पण्डितराज ने उसी कैमुतिक न्याय का अलङ्कार की दृष्टि से एकदम बहिष्कार कर दिया । अत एक प्रकार से अर्थापत्ति अलङ्कार के लक्षण मे सुधार कर दिया । कैमुतिकन्याय से सिद्ध अर्थ मे एक तो कोई चमत्कार नही होता दूसरे अव्याप्ति दोष भी आता है । अत उसे नही मानना ही ठीक है ।

इस मान्यता मे कुछ अश मे तो सत्य अवश्य है परन्तु जहाँ कैमुतिकन्याय से अर्थ की सिद्धि हो जाती है वहाँ अर्थापत्ति के अतिरिक्त कौनसा अलङ्कार होगा यह विचारणीय है क्योकि उस सबको अकाव्य तो नही कहा जा सकेगा अनुभव-विरोधी होने से ।

इसके २४ भेद भी प्रथमवार पण्डितराज ने ही किये है । उसके पूर्व इतने भेद किसी ने नही दिखाये हैं ।

ललित

लक्षण

इस अलङ्कार पर दो दृष्टियो से विचार किया गया है-प्राचीन और नवीन । प्राचीन आलङ्कारिको के अनुसार ललित अलङ्कार एक पृथक् अलङ्कार है परन्तु नवीन आलङ्कारिको के अनुसार इसका आर्थी निदर्शना मे अन्तर्भाव हो जाता है ।

पण्डितराज ने पहले प्राचीन परम्परा के अनुसार, प्राचीन आलङ्कारिको की दृष्टि से इसका लक्षण, उदाहरण आदि दिया है तत्पश्चात् इसको पृथक् अलङ्कार न मानने वाले आलङ्कारिको का मत भी प्रतिपादित किया है । पण्डितराज स्वय कस पक्ष के अनुयायी हैं यह उन्होने स्पष्ट शब्दो मे नही कहा है ।

पण्डितराजकृत लक्षण

प्राचीनानुरोध से इसका लक्षण इस प्रकार है—

'प्रकृतधर्मिणि प्रकृतव्यवहारानुल्लेखेन निरूप्यमाणो
प्रकृतव्यवहारसम्बन्धो ललितालङ्कार. ।'[१९३]

---

१९२ रस पृ ४८५
१९३ रस. पृ ५००

अर्थात् प्रकृतधर्मी मे अप्रकृत व्यवहार का सम्बन्ध निरूपित करना ललितालङ्कार है। यह सम्बन्ध निरूपण प्रकृत धर्मी के व्यवहार का उल्लेख बिना किये होता है। इसमे 'आददान परद्रव्य विष भक्षयसि ध्रुवम्' इत्यादि निदर्शना का वारण करने के लिये 'प्रकृतव्यवहारानुल्लेखेन' विशेषण दिया है। तथा अप्रस्तुतप्रशसा का वारण करने के लिये 'प्रकृतधर्मिणि' कहा। उदाहरण के लिये जैसे—

> क्व वा राम कामप्रतिभटललाटतपबल-
> स्तव क्वामी वीरा रणशिरसि धीरा मखभुजाम्।
> दिधक्षोस्त्रैलोक्य प्रलयशिखिनः पद्ममथन-
> प्रगल्भैः प्रालेयैः प्रशममसि कर्तुं व्यवसित ॥[१९४]

इत्यादि पद्य मे प्रकृत धर्मी है रावण। अप्रकृत व्यवहार है—पद्म विनाशक ओसकणो के द्वारा प्रलयाग्नि को शान्त करना। प्रकृत व्यवहार है 'दूसरों के द्वारा दिये गये पुरोडाश आदि का भक्षण करते हुए देवताओ के सम्मुख धीरता दिखाने वाले कुम्भकर्णादि वीरो से श्रीराम को पराजित करने की इच्छा करना।' यहाँ रावण मे प्रकृत व्यवहार का वर्णन न करके अप्रकृत व्यवहार का ही सम्बन्ध दिखाया गया है।

इस मत के अनुसार मम्मट के द्वारा उदाहृत कालिदास के इस पद्य मे—

> क्व सूर्यप्रभवो वशः क्व चाल्पविषया मतिः।
> तितीर्षुर्दुस्तर मोहादुडुपेनास्मि सागरम् ॥[१९५]

निदर्शना नही है अपितु ललित अलङ्कार है। क्योंकि इसमें प्रकृत व्यवहार का उल्लेख नही हुआ है।

इसी प्रकार एक और उदाहरण भी दिया गया है।

अन्य मत

ललित अलङ्कार को पृथक् न मानने वालों का मत यह है—

ललित अलङ्कार कोई पृथक् अलङ्कार नही है क्योंकि निदर्शना में ही वह अन्तर्भूत हो जाता है।

अधिकांश अलङ्कार प्राय शाब्द और आर्थ दो प्रकार के होते हैं परन्तु शाब्द और आर्थ होने से वह पृथक् अलङ्कार नही कहलाते एक ही अलङ्कार के दो भेद होते हैं। जहाँ दो व्यवहार वाले पृथक्-पृथक् धर्मियो का अभेद वर्णन करने से उन व्यवहारो मे अभेद का आक्षेप होता है वहाँ वाक्यार्थनिदर्शना होती है। इसमे दो धर्मियों का अभेद प्रतिपादन शाब्द भी हो सकता है और आर्थ भी। ललितालङ्कार वास्तव मे आर्थी वाक्यार्थ निदर्शना ही है, पृथक् कोई अलङ्कार नही। क्योंकि वहाँ

१९४. रस पृ. ५००

१९५. रस. पृ. ५०१ (रघुवश १/२)

भी दो व्यवहारो का अभेद आक्षिप्त होता है और प्रकृत व्यवहार का उल्लेख न होने से वह आर्थ होता है । इस मत के अनुसार 'क्व सूर्यप्रभवो–' इत्यादि पद्य मे निदर्शना ही है ।

(यह विचार बहुत विस्तार से हुआ है परन्तु यहाँ केवल सारमात्र ही दिया गया है—ग्रन्थाकृतिवृद्धिभय से ।)[१६६]

अप्पयदीक्षित का मत

ललितालङ्कार के अन्तर्गत अप्पयदीक्षित ने एक उदाहरण दिया है—

'अनायि देश कतमस्त्वयाद्य वसन्तमुक्तस्य दशा वनस्य ।
त्वदाप्तसङ्केततया कृतार्था श्राव्यापि नानेन जनेन सज्ञा ।'

और कहा है कि इसमे 'तुमने कौनसा देश छोडा ?' इस प्रस्तुत अर्थ को उपन्यस्त न करके 'वसन्तविहीन वन की दशा को पहुँचाया गया है–' इस प्रतिबिम्बभूत अप्रस्तुत वृतान्त का ही उपन्यास होने से यहाँ ललितालङ्कार है ।[१६७]

पण्डितराजकृत खण्डन

पण्डितराज इस उक्ति को अत्यन्त असङ्गत कहते है । उनका कहना है कि (१) यहाँ पर 'किसी अन्य की दशा को कोई अन्य कैसे ला सकता है' इसका 'वसन्त-मुक्तवनदशा को जो कि श्रीहीन स्वरूपा है उसको ले आये' यह पर्यवसितार्थ है । इसमे नि श्रीकत्वरूपकार्य द्वारा राजकर्तृकत्यागकर्मत्व का अभिदान जो कारणरूप है, पर्यायोक्ति का विषय है । तात्पर्य यह है कि 'आज आपने किस देश को वसन्त से परित्यक्त वन की दशा को प्राप्त करा दिया' इस कथन मे 'आपने किस देश को त्याग दिया' इस प्रस्तुत अर्थ को न कहकर केवल उस अर्थ के प्रतिबिम्बभूत 'वसन्त से परित्यक्त वन की दशा को प्राप्त करा दिया' इस अर्थ का उल्लेख किया है । अत. ललितालङ्कार है—ऐसा नही कहना चाहिये । क्योकि एक की दशा दूसरे मे नही प्राप्त कराई जा सकती इसलिये 'देश को तादृश वन की दशा प्राप्त कराई' इसका पर्यवसित अर्थ यही होगा कि देश को शोभाहीन बना दिया । इसमे 'शोभाहीन होना' है कार्य और 'राजा के द्वारा किया गया त्याग' है कारण । पर्यायोक्त का स्वरूप है अभिप्रेत अर्थ का भङ्ग्यन्तर से कथन होना । उसी मे कार्य के द्वारा कारण का कथन भी एक भेद है । अत शोभाराहित्य रूप कार्य के उल्लेख से राजकर्तृकदेशत्यागरूप कारण का उल्लेख होने से यह पर्यायोक्त का ही विषय है । दोनो दशाओ का—वन की शोभाहीनता और देश की शोभाहीनता का—एकत्व मे अध्यवसाय हो और उससे उसे पदार्थनिदर्शना अथवा अतिशयोक्ति कहे तो वह बात अलग है । अतः पदार्थ निदर्शना से उपबृंहित पर्यायोक्त का ही यहाँ विषय है । ललित का नहीं ।

---

१६६. रस. पृ. ५०१
१६७. रस पृ २१८ (उक्त सम्पूर्ण मत)

(२) दूसरा कारण यह है कि अप्पय दीक्षित द्वारा कहा गया ललितालङ्कार का लक्षण भी यहाँ सङ्गत नही होता । उनका लक्षण है—'प्रस्तुते वर्ण्यवाक्यार्थप्रतिबिम्बस्य वर्णनम्'[१९८] अर्थात् प्रस्तुत धर्मी मे वर्णनीय वाक्यार्थ का वर्णन करना ललितालङ्कार है । अब यदि 'राजारूपी कर्त्ता के द्वारा, उससे सुशोभित देश विशेष परित्यक्त हुआ' इस प्रकृत का वर्णन न करके, 'वसन्त के द्वारा किस देश को त्याग दिया गया' इस प्रकार के परिवर्त्तित रूप मे अप्रकृत का वर्णन हो तो यहाँ ललितालङ्कार बने । परन्तु यहाँ तो 'वसन्तमुक्त वनदशा को प्राप्त कराया' यह कहा गया है अत अप्रकृत का भी त्याग विषयक वर्णन उपात्त नही है । इस कारण यहाँ लक्षण की सङ्गति कैसे हो सकती है । साराश यह कि पण्डितराज के मत मे उक्त उदाहरण मे ललितालङ्कार नही है अपितु वाक्यार्थनिदर्शना से विशिष्ट पर्यायोक्त अलङ्कार है । (इसी उदाहरण को ललितालङ्कार का उदाहरण बनाने के लिये किस प्रकार से पद्य रचना करनी चाहिये यह भी बताया है ।[१९९] किन्तु उसका विशेष प्रयोजन न होने से यहाँ विवरण नही दिया जा रहा है ।)

समवलोकन

ललित अलङ्कार का निरूपण जिस प्रकार से किया गया है उससे यह ज्ञात होना कठिन है कि उनका अपना इस प्रकरण मे क्या मत है । उस दृष्टि से यह निरूपण अत्यन्त अस्पष्ट है जो पण्डितराज जैसे प्रकाण्ड विद्वान् के लिये अनुपपन्न है ।

ललित को पृथक् अलङ्कार मानना चाहिये या नही यह निर्णय पण्डितराज ने ग्रन्थानुशीलनकर्त्ता के ऊपर ही छोड़ दिया है ।

अप्पयदीक्षित के द्वारा दिये गये उदाहरण का खण्डन भी ऐन्द्रजालिक-सा ही प्रतीत होता है । उसमे तत्त्वाविष्कार तथा सत्य किस सीमा तक है यह विचारान्तर्गत है ।

१९८. कुव. पृ. २१२
१९९. 'अकारि देश कलमस्त्वयाद्य निरस्तचन्द्रः कठिनाशयेन (रस पृ. ५०३)

८

श्रृखंलामूलक एवं अन्य अलंकार

कारणमाला

लक्षण

पण्डितराजकृत लक्षण

कारणमाला अलङ्कार शृङ्खलामूलक अलङ्कारो मे प्रथम अलङ्कार है। शृङ्खला क्या है इसका स्वरूप पहले ही स्पष्ट कर दिया गया है।[1] उस पर आधारित सभी अलङ्कारो के लक्षणो मे उसे ध्यान मे रखना चाहिये।

इस अलङ्कार का लक्षण इस प्रकार है—

'सैव शृङ्खला आनुगुण्यस्य कार्यकारणभावरूपत्वे कारणमाला।'[2]

अर्थात् पूर्वोक्त शृङ्खला जब कार्य कारण सम्बन्ध के होने पर हो तो कारणमाला कहलाती है। अर्थात् जहाँ क्रमश पूर्वपूर्व का उत्तर उत्तर पद के साथ कार्य-कारणभाव सम्बन्ध हो वहाँ कारणमाला अलङ्कार होता है।

कारणमाला के भेद

इसके दो प्रकार होते है—(१) जब पूर्व-पूर्व पद क्रमश उत्तरोत्तर पदो के प्रति कारण होता है और (२) जब उत्तरोत्तर पद क्रमश पूर्व-पूर्व पदो के प्रति कारण होता है।

जैसे, प्रथम भेद का उदाहरण यह है—

लभ्येत पुण्यैर्गृहिणी मनोज्ञा तया सुपुत्राः परित पवित्राः।
स्फीत यशस्तैः समुदेति नून तेनास्य नित्य खलु नाकलोक॰ ।।[3]

इसमे क्रमश॰ पत्नी कार्य है और पुण्य कारण, फिर पुत्र कार्य है पत्नी कारण इस क्रम से उत्तर पद कार्य है और पूर्व-पूर्व पद कारण।

---

१ पृ. १४४ (ख)

२ रस पृ ४६१

३. रस पृ ४६१

द्वितीय भेद का उदाहरण यह है—

स्वर्गापवर्गौ खलु दानलक्ष्मीर्दान प्रसूते विपुला समृद्धि ।
समृद्धिमल्पेतरभागधेय भाग्य च शम्भो तव पादभक्ति. ।।[४]

इसमे स्वर्ग-अपवर्ग कार्य है और दान-लक्ष्मी कारण, दान कार्य है समृद्धि कारण है । इत्यादि । इस प्रकार यहाँ पहले कार्य फिर कारण, इस क्रम से वस्तुओ का वर्णन हुआ है ।

कारणमाला की विशेषताएँ

(१) इस अलङ्कार की प्रथम विशेषता यह है कि यदि पहले कारण का कथन होता है और फिर कार्य का तो अन्त तक उसी प्रकार कारण और कार्य के क्रम का निर्वाह होता है । अर्थात् क्रम से पहले कारण फिर कार्य उस काय का कार्य, फिर उस कार्य का काय इस प्रकार वर्णन होता है—जिससे एक ही कार्य आगामी कार्य के प्रति कारण बनता चलता है और क्रम का निर्वाह होता रहता है । इसी प्रकार दूसरे भेद मे पहले कार्य का और फिर कारण का निबन्धन होता है । उसमे पहले कार्य फिर कारण और फिर उसका भी कारण, उसका पुन. कारण—इत्यादि वर्णित रहता है जिससे प्रत्यक कारण आगामी कारण के प्रति कार्य बन जाता है ।[५]

(२) दूसरी विशेषता यह है कि पहली बार जिस पद से कथन होगा दूसरी बार उसी पद से कारण का भी कथन होगा । ऐसा होने से, आकांक्षा बनी रहती है जिससे उस रचना मे सौन्दर्य होता है । यदि एक ही पद या क्रम का प्रयोग न हो तो भग्नप्रक्रम दोष हो जायेगा । (उदाहरण के लिये प्राचीन आलङ्कारिक मम्मट भट्ट द्वारा काव्य प्रकाश मे उदाहृत एक पद्य मे वह दोष दिखाया है ।)[६]

(३) तीसरी विशेषता यह है कि एक ही पद का दो बार प्रयोग होने से यहाँ कथितपदता दोष नही होता प्रत्युत भिन्न पद का प्रयोग करना ही दोष है क्योकि एक ही अर्थ को कहने वाले भी दो भिन्न पदो से उसी प्रकार समानार्थ की प्रतीति नही होती जैसे एक ही नर को भिन्न वेश मे आने पर 'यह वही है' इस प्रकार जानने मे कठिनाई होती है ।

---

४. रस. पृ ४६२

५. इह च यथादौ कारणोक्तिरेव स्मूयते तथा पुनस्तस्य कारणं तस्यापि कारणमिति, तत्कस्यचित्कारणं तदपि कस्यचिदिति वा कारणमाला युक्ता । (वही) रस पृ. ४६२

६. सर्वथैव य शब्द कार्यकारणलोपस्थापक आदौ प्रयुक्तः स एव निर्वाह्यः । एवं क्रमेण निबन्धनमाकांक्षानुरूपत्वाद्रमणीयम् । अन्यथा तु भग्नप्रक्रम स्यात् । (वही) रस. पृ ४६२

शब्द भेद से अर्थ मे भी भेद हो जाता है क्योकि शब्द से उपस्थित होने वाले अर्थ मे शब्द का भी भान विशेषण के रूप मे होता रहता है। इसमे प्रमाण है भर्तृ-हरि का यह वाक्य—

न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके य शब्दानुगमादृते।
अनुविद्धमिव ज्ञान सर्वं शब्देन भासते ॥

अतः शब्दविशेषण के भेद से अर्थ मे भी भेद हो जाता है। वह अर्थ वैभिन्न्य महावाक्यार्थ बोध मे बाधक होता है।[७]

समवलोकन .—

अलङ्कारो की तृतीय कोटि है शृङ्खला-मूलक। शृङ्खला सामान्य पर पहले विचार हो जाने से तदाधारित अलङ्कारो को समझने मे सौविध्य होता है। इस प्रकार विभक्त रूप मे निरूपण करना पण्डितराज का ही योगदान है।

कारणमाला मे एक ही पद का दो बार प्रयोग होने पर भी कथित पदता दोष क्यो नही होता-- इसका नैयायिक दृष्टि से सुन्दर विवेचन हुआ है।

एकावली

लक्षण

पण्डितराजकृत लक्षण

शृङ्खलामूलक अलङ्कारो मे दूसरा अलङ्कार है एकावली। इसका लक्षण इस प्रकार है—

सैव शृङ्खला ससर्गस्य विशेष्यविशेषणभावरूपत्वे एकावली।[८]

अर्थात् वही शृङ्खला जब विशेष्यविशेषण सम्बन्ध से होती है तो एकावली अलङ्कार होता ।

एकावली के भेद

एकावली सर्वप्रथम दो प्रकार का होता है —

(१) पहला वह जिसमे पूर्व-पूर्व पद उत्तर-उत्तर पद के प्रति विशेष्य हो और (२) दूसरा वह जहाँ पूर्व-पूर्व पद के प्रति उत्तर-उत्तर पद विशेषण हो। इनमे से प्रथम भेद पुन दो प्रकार का होता है—(क) जहाँ उत्तर-उत्तर पद विशेषण हो और स्थापक हो। स्थापक का तात्पर्य है ऐसा विशेषण जो अपनी स्थिति से विशेष्य के असाधारण धर्म को। (विशेष्यतावच्छेदक को) नियमित कर देता है। (ख) दूसरा भेद वहाँ होता है जहाँ वह विशेषण अपोहक होते हैं। अपोहक विशेषण वह होते हैं जो अपने अभाव से विशेष्यतावच्छेदक के अभाव के ज्ञान को उत्पन्न करता है।

७ दे. परि. ख ३

८. रस. पृ. ४६३

प्रथम प्रकार के भेद का उदाहरण यह है—

स पण्डितो य स्वहितार्थदर्शी हित च तद्यत्र परानपक्रिया ।
परे च ते ये भितसाधुभावा सा साधुता यत्र चकास्ति केशव ॥[९]

इसमे पण्डित आदि पूर्व पद विशेष्य और स्वहितार्थदर्शी आदि उत्तर पद विशेषण है । और यह विशेषण भी स्थापक है पण्डित आदि विशेष्यो का असाधारण धर्म पण्डितत्व आदि स्वहितार्थदर्शी आदि विशेषणो से ही निश्चित होता है । अर्थात् पण्डितता का निश्चायक उसका विशेषण ही है ।

उसी के द्वितीय प्रभेद का उदाहरण यह है—

नार्य स यो न स्वहित समीक्षते न तद्धित यत्र परानुतोषणम् ।
न ते परे यैर्न हि साधुताश्रिता न साधुता सा न हि यत्र माधवः ॥[१०]

इसमे भी आर्य आदि विशेष्य के प्रति स्वहितादर्शन आदि उत्तर पद विशेषण है । परन्तु यह विशेषण ऐसे है जो अपने अभाव से विशेष्य के भी अभाव का बोध कराते हैं । अर्थात् जो स्वहितसमीक्षक नही है वह कार्य भी नही है—इस प्रकार का बोध होता चलता है । अत. अपोहक विशेषण का उदाहरण है ।

इन भेदो म यद्यपि स्थापक मे अपोहकत्व और अपोहक मे स्थापकत्व की भी प्रतीति (व्यञ्जना) होती है क्योंकि जो स्वहितार्थदर्शी नही है वह पण्डित नही है इस प्रकार का बोध होता है तथापि जिसका शब्दत. प्रतिपादन किया जायेगा उसी का व्यपदेश होगा- ऐसी व्यवस्था कर देने से वहाँ दोष नही होता ।

एकावली के दूसरे भेद का उदाहरण यह है—

धर्मेण बुद्धिस्तव देव शुद्धा बुद्ध्या निबद्धा सहसैव लक्ष्मी. ।
लक्ष्म्या च तुष्टा भुवि सर्वलोका लोकैश्च नीता भुवनेषु कीर्तिः ॥[११]

इसमे उत्तर-उत्तर पद विशेष्य है और पूर्व-पूर्व पर विशेषण है ।

मालादीपक पर विचार (अप्पय का मत)

अप्पयदीक्षित ने मालादीपक नाम का एक स्वतन्त्र अलङ्कार माना है । उसका लक्षण इस प्रकार किया है —

'दीपकैकावलीयोगान्मालादीपकमिष्यते ।'[१२]

अर्थात् जहाँ दीपक और एकावली का सयोग हो वहाँ मालादीपक अलङ्कार होता है ।

९. रस. पृ. ४६३
१० रस. पृ ४६४
११. रस पृ ४६४
१२. कुव पृ १७६

जहाँ पूर्व-पूर्व पद उत्तर-उत्तर पद का विशेष्य हो या विशेषण हो और उनका एक ही धर्म के साथ अन्वय होता हो तो वहाँ मालादीपक होता है ।

पण्डितराजकृत खण्डन

पण्डितराज ने मालादीपक को एक पृथक् भेद न मानकर एकावली के ही एक भेद मे समाविष्ट कर दिया है । उसके लिये जो तर्क दिये है वह इस प्रकार है—

(१) एकावली के द्वितीय भेद मे ही, जहाँ उत्तर पद विशेष्य और पूर्व पद विशेषण होता है, यदि वह विशेषण विशेष्य भाव पुरस्कार एक ही प्रकार का हो जाय तो वह मालादीपक का स्थल हो जायेगा ।

मम्मटादि ने भी इसी आशय से मालादीपक का निरूपण किया है । उन्होने इसका लक्षण यह दिया है—मालादीपकमाद्य चेद्यथोत्तरगुणावहम् ।'[13]

(२) इसमे माला शब्द से 'शृङ्खला' और दीपक पद से 'दीप के समान' एक जगह स्थित रह कर सबका उपकार करना यह अर्थ लेना चाहिये । इसका पर्यवसान 'एक ही स्थान मे स्थित रहकर सबका उपकार करने वाली क्रिया की शृङ्खला' इस अर्थ मे होता है ।

(३) मालादीपक को मम्मट आदि ने दीपक के किसी विशेष भेद के रूप मे निरूपित किया हो ऐसा भी नही जा सकता क्योकि दीपक के मूल मे सादृश्य रहता है जबकि मालादीपक मे सादृश्य का अभाव रहता है । शृङ्खलावयवरूप पदार्थों मे सादृश्य की विवक्षा नही रहती, विशेषण—विशेष्यभाव ही अभीष्ट होता है । दूसरे यहाँ प्रकृत और अप्रकृत का भी अभाव होता है, जो दीपक मे रहना आवश्यक है । अत· दीपक मे मालादीपक का अन्तर्भाव नही हो सकता ।

निष्कर्ष यह हुआ कि दीक्षिताभिमत मालादीपक नामक अलङ्कार दीपक का अवान्तर भेद नही हो सकता अपितु एकावली का ही एक भेद है । मम्मट आदि ने भी इसी आशय मे इसका निरूपण किया है ।

समवलोकन

परम्परानुगत रूप मे ही एकावली का निरूपण करने के पश्चात् पण्डितराज ने मालादीपक नामक अलङ्कार को भी इसी मे गतार्थ कर दिया है । अप्पय के विरुद्ध मम्मट को भी प्रमाण रूप मे उद्धृत किया है । परन्तु वास्तव में मम्मट ने माला-दीपक को स्वतन्त्र अलङ्कार माना है या दीपक का ही एक भेद—यह कहना कठिन है क्योकि काव्य प्रकाश मे इस विषय मे कोई स्पष्ट उल्लेख नही हुआ है । मम्मट ने एकावली का ही एक भेद मालादीपक माना हो यह तो कदापि नही कहा जा सकता क्योकि मालादीपक और एकावली के मध्य अनेक अलङ्कारो का निरूपण है । दीपक अव्यवहितोत्तर मालादीपक का वर्णन होने से इसे दीपक का भेद कल्पित करने मे

---

१३. का० प्र० पृ ३८१

कोई क्लिष्टता नहीं है। अस्तु मम्मट को अप्पय के विरोध में प्रमाण रूप से रखना कहाँ तक समीचीन है—यह विचारणीय है।

सार

लक्षण

पण्डितराजकृत लक्षण

सार अलङ्कार का लक्षण यह है:—

'सैव संसर्गस्योत्कृष्टापकृष्टभावरूपत्वे सारः।'[14]

अर्थात् वही शृङ्खला जब उत्कर्ष-अपकर्ष रूप सम्बन्ध से होती है तो सार अलङ्कार होता है। अर्थात् क्रमशः एक वस्तु दूसरी वस्तु से जब उत्कृष्टतर वर्णित की जाये तो वहाँ सार अलङ्कार होता है। यह शृङ्खलामूलक अलङ्कारों में अन्तिम अलङ्कार है।

सारालङ्कार के भेद

इस अलङ्कार के भेद इस प्रकार हैं:—
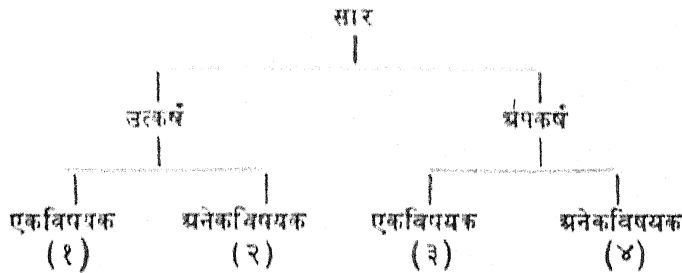
अर्थात् सर्वप्रथम इसके दो भेद होते हैं-पहला वहाँ जहाँ क्रमशः उत्कर्ष का वर्णन हो और दूसरा वहाँ जहाँ क्रमशः अपकर्ष का वर्णन हो। इन दोनों भेदों के पुनः दो-दो भेद होते हैं। पहला वहाँ जहाँ एक ही वस्तु का क्रमशः अवस्थाभेद से उत्कर्ष या अपकर्ष वर्णित हो और दूसरा वहाँ जहाँ अनेक विषयों का क्रमशः उत्कर्ष या अपकर्ष वर्णित हो। जहाँ विषय एक ही होता है वहाँ उसमें अवस्थाभेद मानना आवश्यक रहता है। क्योंकि बिना अवस्थाभेद के एक वस्तु का अपने से ही उत्कृष्ट या अपकृष्ट होते जाना असम्भव है।

उदाहरण के लिये एक विषयक उत्तरोत्तर उत्कर्ष यह है—

जम्बीरश्रियमतिलङ्घ्य लीलयैव व्यानम्रीकृतकमनीयहेमकुम्भौ।
नीलाम्भोरुहनयनेऽधुना कुचौ ते स्पर्धेते खलु कनकाचलेन सार्धम्॥[15]

---

14. रस पृ. ४६५
15. रस. पृ. ४६५

इसमे पूर्व पूर्व अवस्था की अपेक्षा उत्तरोत्तर अवस्था मे कुचो की उत्कृष्टता का वर्णन है ।

अनेक विषयक उत्तरोत्तर उत्कर्ष का उदाहरण यह है—

गिरयो गुरवस्तेभ्योऽप्युर्वी गुर्वी ततोऽपि जगदण्डम् ।
जगदण्डादपि गुरव प्रलयेऽप्यचला महात्मानः ।।[१६]

इसमे पर्वतादि की अपेक्षा पृथ्वी आदि की उत्कृष्टता वर्णित की गयी है ।

वैदिक स्थल मे भी इस प्रकार उदाहरण दृष्टिगोचर होता है—

महत परमव्यक्तमव्यक्तात्पुरुष पर' ।
पुरुषान्न पर किञ्चित्सा काष्ठा सा परा गतिः ।।[१७]

इसमे क्रमश महत् से अव्यक्त का और अव्यक्त से पुरुष का इत्यादि उत्कर्ष प्रतिपादित किया है ।

इसी प्रकार अपकर्षकृत सार के उदाहरणो की कल्पना कर लेनी चाहिये ।

सार सम्बन्धी विशेष विचार :—

सार अलङ्कार की शृङ्खला के विषय मे विशेष ध्यान देने योग्य बात यह है कि एक विषयक सार मे जो शृङ्खला रहती है उसमे कोई सुन्दरता नही रहती अतः उस शृङ्खला पर आधारित सार का वह भेद भी सुन्दर नही हो सकता है ।

वास्तव मे शृङ्खला के लिये स्वाभाविक भेद होना आवश्यक है अवस्थादि के कारण जो भेद होता है उसमे कोई शृङ्खला नही होती ।

एक विषयक सार के विषय मे शृङ्खला का अभाव रहने से कुछ आलङ्कारिको ने वहाँ वर्धमानक अलङ्कार माना है । और उस वर्धमानक का लक्षण इस प्रकार किया है—'रूपधर्माभ्यामाधिक्ये वर्धमानकम् ।'[१८]

अर्थात् रूप और गुण का आधिक्य होने पर वर्धमानक होता है ।

अतएव कारणमाला आदि जिस प्रकार शृङ्खला मात्र पर ही आधारित होते हैं वैसे सार अलङ्कार मे शृङ्खला का होना आवश्यक नही है क्योकि जहाँ विषय एक ही होगा वहाँ शृङ्खला के अभाव मे वर्धमानक अलङ्कार हो जायेगा ।

इस दृष्टि से सार अलङ्कार का लक्षण इस प्रकार बनाना चाहिये 'गुणस्वरूपाभ्या पूर्व-पूर्व-वैशिष्ट्ये सारः ।'[१९] इस लक्षण से वर्धमानक को नही मानना पडेगा क्योकि इसकी एकानेक विषयता को स्थिर करने के लिये यह कहा जा सकता है कि कही तो यह शृङ्खला से युक्त होता है और कही स्वतन्त्र ।

---

१६ रस. पृ. ४६५
१७ रस. पृ ४६५
१८ रस. पृ ४६६
१९ रस पृ ४६६

तात्पर्य यह है कि सार का यह द्वितीय लक्षण शृङ्खला के होने और न होने दोनो मे सङ्गत हो जायगा जबकि पूर्वोक्त 'सैव-'इति लक्षण शृङ्खला रहित एक विषयक सार मे सङ्गत नही होता था। जहाँ शृङ्खला रहेगी वहाँ अनेक विषयक सार होगा, जहाँ शृङ्खला नही रहेगी वहाँ एक विषयक सार होगा।

समवलोकन

पण्डितराज ने पहले परम्परा के अनुसार ही सार अलङ्कार का लक्षण बनाया परन्तु बाद मे स्वय ही उसका परिष्कार भी कर दिया है।

वर्धमानक अलङ्कार की स्वतन्त्र सत्ता को अस्वीकार कर सार के परिष्कृत लक्षण मे ही उसका अन्तर्भाव दिखाया है।

सार के जितने भेद पण्डितराज ने किये हैं उतने मम्मटादि ने नही किये थे। एक-विषयक भेद नवीन है।

सहोक्ति

लक्षण

पण्डितराजकृत लक्षण

'गुणप्रधानभावावच्छिन्नसहार्थसम्बन्ध सहोक्ति.'।[२०]

अर्थात् गुण-प्रधान भाव से विशिष्ट पदार्थों का सह पद के अर्थ-साहित्य के साथ जब सम्बन्ध होता है तो सहोक्ति होती है। अर्थात् सह पदार्थ के साथ जिन पदार्थों का सम्बन्ध हो उनमे से एक अर्थ अप्रधान और दूसरा अर्थ प्रधान होना चाहिये।

इस लक्षण में 'गुणप्रधानभावावच्छिन्न' विशेषण देने से उन स्थलो का वारण हो जाता है जहाँ समान प्रधानता वाले पदार्थों का सह पद के अर्थ के साथ अन्वय होता है। जैसे—

'अनुकूलभावमथवा पराङ्मुखत्व सहैव नरलोके।
अन्योन्यविहितमन्त्री विधिदिल्लीवल्लभौ वहत'॥[२१]

इस पद्य में दिल्लीपति और विधाता का सह पद के साथ अन्वय हो रहा है किन्तु उनमे से एक प्रधान और एक अप्रधान हो ऐसा नही है। अतएव यहाँ सहोक्ति अलङ्कार नहीं माना जा सकता।

सहोक्ति का उदाहरण यह है:—

भाग्येन सह रिपूणामुत्तिष्ठसि विष्टरात्क्रुधाविष्ट:।
सहसैव पतसि तेषु क्षितिशासन मृत्युना साकम्॥[२२]

---

२०. रस. पृ. १४७

२१. रस. पृ. १४७

२२. रस पृ १४७

इसमे भाग्य मृत्यु और राजा का सहपद के साथ सम्बन्ध है एवं गुण प्रधान भाव भी है क्योकि राजा प्रधान और भाग्य आदि अप्रधान है । इसमे अन्वयी पदार्थ (भाग्य आदि) कर्ता है अतः कर्ताओ की सहोक्ति है । इसी प्रकार कर्मों की व क्रियाओ की भी सहोक्ति होती है ।

(मूल ग्रन्थ मे उसके भी उदाहरण दिये गये है)

सहोक्ति के भेद

यह सहोक्ति नाना अलङ्कारो से अनुप्राणित होती है । जैसे—

त्वयि कुपिते रिपुमण्डलखण्डनपाण्डित्यसम्पदुद्दण्डे ।
गिरिगहनेऽरिवधूना दिवसै सह लोचनानि वर्षन्ति ।।[२३]

यहाँ श्लेष से अनुप्राणित सहोक्ति है । इसी का एक और उदाहरण भी दिया गया है ।

गुण जब साधारण धर्म होता है तो सहोक्ति इस प्रकार होती है-

मान्थर्यमाप गमन सह शैशवेन
रक्त सहैव मनसाधरबिम्बमासीत् ।
कि चाभवन्मृगकिशोरदृशो नितम्ब
सर्वाधिको गुरुरय सह मन्मथेन ।।[२४]

माला सहोक्ति

इसमे मन्दता आदि गुण साधारण धर्म है। इसी प्रकार जहाँ एक ही उपमेय भिन्न भिन्न सहोक्तियो का आलम्बन हो वहाँ माला सहोक्ति होती है । जैसे—

उन्मीलित. सह मदेन बलाद्बलारे-
रुत्थापितो बलभृता सह विस्मयेन ।
नीलातपत्रमणिदण्डरुचा सहैव
पाणौ धृतो गिरिधरेण गिरि पुनातु ।।[२५]

सहोक्ति के वैलक्षण्य का तात्पर्य है-स्वसमानाधिकरण दूसरी सहोक्ति मे ।

जहाँ सह आदि पदो का उपादान नही होता वहाँ यह सहोक्ति व्यङ्ग्य होती है । परन्तु वहाँ भी अप्रधान भाव शब्दवाच्य ही रहता है । (अप्रधान भाव शब्द क्यों होता है आर्थ क्यो नही, इस पर पण्डितराज ने दीर्घ विवेचन किया है ।)[२६]

---

२३. रस. पृ ३५७
२४. रस पृ. ३६३
२५. रस. पृ ३६४
२६. दे. परि. क-६

सहोक्ति का चमत्कारी तत्त्व

रुय्यक का मत —

सहोक्ति तभी चमत्कारिणी होती है जब वह अतिशयोक्ति से अनुप्राणित हो। अतिशयोक्ति के तीन प्रकार है-कारण कार्य का पौर्वापर्य विपर्ययमूल, श्लेषभित्तिक अभेदाध्यवसानमूल और केवल अभेदाध्यवसानमूल। इनमे से किसी भी प्रकार की अतिशयोक्ति जब सहोक्ति के गर्भ मे रह कर उसका उपस्कार करती है तो वह चमत्कारिणी होती है। प्रथम प्रकार से अनुप्राणित सहोक्ति का उदाहरण यह है—

केशैर्वधूनामथ सर्वकोषै. प्राणैश्च साकं प्रतिभूपतीनाम्।
त्वया रणे निष्करुणेन राजश्चापस्य जीवा चकृषे जवेन॥[२७]

इसमे चाप को खीचना कारण है और केशो का खुलना आदि उसके कार्य। इन कारण व कार्यों का जिस क्रम से वर्णन होना चाहिये था उस क्रम से न होकर विपरीत क्रम से हो रहा है अर्थात् कारण और कार्य का एक साथ होना वर्णित है। यह कार्यकारणभावविपर्यय ही सह पद के अर्थ के साथ केश, प्राण आदि के सम्बन्ध को चमत्कारी बनाता है। अत. यहाँ कार्यकारणविपर्ययमूलक अतिशयोक्ति से अनुप्राणित सहोक्ति है।

(यहाँ 'केशैर्वधूनाम्–' इत्यादि पद्य वास्तव मे पण्डितराज द्वारा निर्मित ही है परन्तु रुय्यक के मतानुसार उसकी रचना हुई है।)

पण्डितराज कृत खण्डन

पण्डितराज सहोक्ति को अतिशयोक्ति अनुप्राणित अवश्य मानते हैं किन्तु उसके एक भेद-कार्यकारणपौर्वापर्यविपर्ययमूलातिशयोक्ति-से अनुप्राणित सहोक्ति स्वीकार नहीं करते। केवल श्लेषाधारितभेदाध्यवसानमूलक और केवलाभेदाध्यवसानमूलक अतिशयोक्ति को ही सहोक्ति का अनुप्राणक मानते हैं।

'केशैर्वधूनाम्–' इत्यादि पद्य मे भी सहोक्ति अलङ्कार नही है यह सिद्ध किया है। पण्डितराज के अनुसार जहाँ कार्यकारणविपर्ययमूलक अतिशयोक्ति से अनुगर्भित सहोक्ति होती है वहाँ वास्तव मे अतिशयोक्ति अलङ्कार ही होता है सहोक्ति नही। अतः उक्त उदाहरण मे भी अतिशयोक्ति ही है। अपने मत को प्रमाणित करने के लिये उन्होंने निम्नलिखित तर्क दिये हैं—

(१) 'केशैर्वधूनाम्' इत्यादि मे वास्तव में पौर्वापर्यविपर्ययात्मिका अतिशयोक्ति का ही चमत्कार है सहोक्ति का तो केवल सह पद का प्रयोग कर देने से नाममात्र को ही अस्तित्व है। इसको और अधिक स्पष्ट करने के लिये दो उदाहरणों को लेकर इसकी परीक्षा की जा सकती है:—

२७. रस. पृ. ३५७

'तव कोपोऽग्निनाशश्च जायते युगपन्नृप' यह निर्विवाद रूप से अतिशयोक्ति का स्थल है। इसी को यदि 'तव कोपोऽरिनाशेन सहैव नृप जायते' इस प्रकार कर दिया जाय तो यद्यपि कोप और अरिनाश मे प्रधान अप्रधान भाव हो जाता है क्योकि अरिनाश मे तृतीया विभक्ति का प्रयोग हुआ है, तथापि उतने मात्र से इसके चमत्कार मे ऐसा कोई अन्तर नही पडता है कि जिसके आधार पर इसे पृथक् अलङ्कार माना जाय। अतः जब तक कि चमत्कार मे कोई विशेष अन्तर न हो तब तक उसे पृथक् अलङ्कार कहना उचित नही है ।

(२) अतिशयोक्ति से अनुप्राणित सहोक्ति मे यदि सहोक्ति को स्वीकार न किया जाय अतिशयोक्ति को ही मान लिया जाय तब तो रूपकादि अलङ्कारो को भी उपमा मे गतार्थ कर देना चाहिये जो रूपक मे अनुप्राणिका रूप से रहती है-ऐसा नही कहना चाहिये क्योकि यदि रूपक और उपमा को पृथक् नही मानेगे तो 'निशाकरस-मानोऽयमयं साक्षान्निशाकरः' इसमे व्यतिरेक अलङ्कार व्यङ्ग्य नही होगा। ('निशाकरसमानोऽय' उपमा का स्थल है और 'अय साक्षान्निशाकर' यह रूपक का स्थल है। उपमा से मुख व चन्द्र का सादृश्य प्रतिपादित करके पुनः रूपक से उन दोनो मे अभेद वर्णन करने से व्यङ्ग्यार्थ यह निकलता है कि वास्तव मे चन्द्र मुख से उत्कृष्ट नही है, मुख ही चन्द्रमा से उत्कृष्टतर है। उपमेय के उत्कर्ष की ध्वनि होने से यहाँ व्यतिरेक व्यङ्ग्य है। यह व्यङ्ग्यार्थ तभी प्रतीत होगा जब रूपक और उपमा को पृथक् मानेगे।)

अत यहाँ उपमा और रूपक का चमत्कार स्पष्टत. पृथक् प्रतीत हो रहा है।

(३) इतना ही नही है, रूपक को उपमा के गर्भ में नही डाला जा सकता अपितु उपमा इतनी अधिक अप्रधान होती है कि रूपक से पृथक् उसका नामोल्लेख भी नही होता। ठीक इसी प्रकार उक्त सहोक्ति के उदाहरण मे भी अतिशयोक्ति की अपेक्षा सहोक्ति इतनी गौण है कि सहोक्ति का पृथक् नामोल्लेख करना भी उचित नही है ।

निष्कर्ष यह निकला कि 'केशैर्वधूनाम्-' इत्यादि मे अतिशयोक्त्यनुप्राणित सहोक्ति नही है अपितु सहोक्ति से अनुप्राणित अतिशयोक्ति है ।

(४) जहाँ भी सहोक्ति होगी वहाँ अतिशयोक्ति भी उसके साथ रहेगी और अतिशयोक्ति के रहने पर वहाँ अतिशयोक्ति अलङ्कार ही माना जायेगा तो सहोक्ति को कही अवकाश ही नही मिलेगा-ऐसी आपत्ति भी नहीं करनी चाहिये क्योकि केवल कार्यकारणपौर्वापर्यविपर्ययरूपा अतिशयोक्ति के ही स्थान पर सहोक्ति का अभाव होगा अभेदाध्यवसानमूला अतिशयोक्ति के स्थान पर नही। अत. अतिशयोक्ति के शेष दो भेदो से गर्भित सहोक्ति होगी ही। अभेदाध्यवसानमूला सहोक्ति में अभेदाध्यवसान से सहोक्ति का उपस्कार होता है। (जैसे 'त्वयि कुपिते-' इत्यादि पूर्वोक्त उदाहरण मे 'वर्षन्ति' पद के दो अर्थो मे अभेदाध्यवसान है उसके कारण ही वहाँ सहोक्ति की

स्थिति बनी है।) अत: सहोक्ति प्रधान और अभेदाध्यवसान अप्रधान रहता है। प्रधान के द्वारा अप्रधान का तिरस्कार ही उचित है।

किसी स्थान पर कौन प्रधान है, कौन अप्रधान है, यह निष्पक्ष होकर सूक्ष्मदृष्टि से देखने पर ही ज्ञात हो सकता है।

(५) किं च, उपर्युक्त तर्क न भी माना जाय तो दूसरा कारण यह भी है कि दो अर्थों का परस्पर अभेदाध्यवसान तो केवल अतिशय ही है, अतिशयोक्ति नहीं। क्योंकि इस प्रकार का अभेदाध्यवसान तो श्लेषादि में रहता है। (श्लिष्ट पद में दो अर्थों की एकात्मकता रहती ही है) अतिशयोक्ति केवल वहीं होती है जब उपमान का उपमेय के साथ अभेदाध्यवसान (उपमान से उपमेय का निगरण हो) होता है न कि जिस किसी का जिस किसी के साथ अभेदाध्यवसान होने पर। उक्त अभेदाध्यवसानमूला सहोक्ति के उदाहरणों में 'वर्धन्ते' 'उन्मीलन्ती' 'निमीलन्ति' इत्यादि में एक का दूसरे के द्वारा निगरण नहीं है केवल अभेदाध्यवसान ही है। अतः वहाँ अतिशयोक्ति की गन्ध भी नहीं है।

जहाँ भी अभेदाध्यवसान हो वहाँ अतिशयोक्ति होगी ही यह भी नहीं कह सकते क्योंकि अभेदाध्यवसान तो प्रायः अनेक अलङ्कारों में रहता है। जैसे उपमा में ही 'शोभते चन्द्रवन्मुखम्'-इसमें शोभा रूप धर्म चन्द्र और मुख का पृथक् पृथक् होते हुए भी अभेदाध्यवसित है। इस अभेदाध्यवसान के बिना यहाँ उपमा नहीं हो सकती। अत. अभेदाध्यवसानमूलक अतिशयोक्ति से अनुप्राणित अथवा अभेदाध्यवसान से अनुप्राणित सहोक्ति होने में कोई बाधा नहीं है।

(६) तुल्ययोगिता अथवा दीपक में प्रकृत और अप्रकृत अर्थों का समान प्राधान्य रहते हुए एक ही क्रिया आदि धर्म के साथ अन्वय होता है और सहोक्ति में वही अन्वय गुण प्रधान भाव के रहते होता है। परन्तु यह अन्तर रहते हुए भी उनके चमत्कार में ऐसा कोई अंश भेद नहीं होता कि जिसके कारण उन्हें पृथक् पृथक् अलङ्कारों की कोटि में रखा जाय अपितु केवल दीपकादि के अवान्तर भेद के समान ही माना जा सकता है। यदि प्रत्येक वचन-भङ्गी (कहने के ढङ्ग) को एक स्वतन्त्र अलङ्कार माना जायगा तब तो असंख्य अलङ्कार हो जायेंगे। इस प्रकार प्राचीन परम्परा का अनुसरण करते हुए यदि कोई सहोक्ति को दीपक आदि के उदर में डालने का प्रयत्न करे तो उसका उत्तर यही है कि इस प्रकार से यदि अन्तर्भाव करना चाहें तो कर तो सकते हैं परन्तु केवल एक दुराग्रह मात्र होगा गुण-प्रधान भाव से युक्त सहभाव में कोई विशेष चमत्कार होता है या नहीं, इसमें तो प्राचीन आलङ्कारिक ही प्रमाण है। क्योंकि उन्होंने विशेष चमत्कार का अनुभव किया होगा। तभी सहोक्ति को स्वतन्त्र अलङ्कार की कोटि में रखा है।

दूसरे उपर्युक्त प्रकार से यदि अलङ्कारो का अन्तर्भाव करें तब तो यही नही अन्य भी अनेक अलङ्कारो मे अव्यवस्था हो जायेगी और सम्पूर्ण कविकुल व्याकुल हो जायेगा ।

प्राचीनालङ्कारिको को हम प्रमाण नही मानते अत. सहोक्ति को दीपकादि मे अन्तर्भूत कर देने मे कोई हानि नही है–यह कहना केवल मदान्धता (प्रभुता) ही है सहृदयता नही ।

सहोक्ति और दीपकादि स्वतन्त्र अलङ्कार है या नही इसका निर्णय सहृदयता के ही आधार पर करना चाहिये प्राचीनो के अन्धानुकरण अथवा प्रमादवश उनको नितान्त अप्रमाण मानकर नही ।

समवलोकन

सहोक्ति अलङ्कार मे सहार्थ सम्बन्ध की स्थापना तो मम्मट के ही अनुसार हो गयी थी परन्तु गुण-प्रधानभाव की सत्ता पण्डितराज के द्वारा निश्चित हुई है ।

अलङ्कार निरूपण के अन्तर्गत अवान्तर विषय के रूप मे आये हुए अप्रधान भाव के शाब्द और आर्थ होने का विचार अत्यन्त दीर्घ हो गया है जिससे विषय-विचार मे विशृङ्खलता आती है ।

सहोक्ति अलङ्कार मे वास्तव मे चमत्कार का कारण क्या है इसका रुय्यकादि की दृष्टि को अपनाते हुए करते हुए विशेष विचार रसगङ्गाधर मे ही प्राप्त होता है जो वास्तव मे विषय को परिमार्जित कर देता है । इस प्रकार का तत्व परीक्षण ही पण्डितराज का वैशिष्ट्य है तथा काव्यशास्त्र मे उनकी अद्भुत देन है ।

विनोक्ति

लक्षण

पण्डितराजकृत लक्षण

विनोक्ति का लक्षण इस प्रकार है—

विनार्थसम्बन्ध एव विनोक्तिः ।[२८]

अर्थात् 'बिना' पद के साथ अर्थों का सम्बन्ध ही विनोक्ति है ।

इसमे आवश्यक अश है–सम्बन्ध । वह सम्बन्ध बिना पद के उच्चारण से प्रतीत हो अथवा अन्य किसी भी प्रकार से प्रतीत हो, इसमे कोई नियम नहीं है । जहाँ भी इस प्रकार का सम्बन्ध होगा वही विनोक्ति होगी । इस सम्बन्ध को प्रमुख करने के लिये ही 'एव' पद दिया गया है । अर्थात् 'सम्बन्ध' ही अलङ्कार है सम्बन्ध के प्रतिपादक पद नही । वह सम्बन्ध बिना शब्द के अभाव मे, उसके अर्थ के वाचक मात्र के

२८. रस पृ. ३६४

होने पर भी हो सकता है विनार्थ वाचक शब्द यह है—निर्, नञ्, वि, अन्तरेण, ऋते, रहित, विकल इत्यादि ।

विना पद से युक्त विनोक्तिका उदाहरण यह है—

पङ्कैर्विना सरो भाति सद. खलजनैर्विना ।
कटुवर्णैर्विना काव्य मानस विषयैर्विना ।।[२९]

तथा विना पद से रहित विनोक्ति का उदाहरण यह है—

निर्गुणः शोभते नैव विपुलाऽडम्बरोऽपि वा ।
आपातरम्यपुष्पश्रीशोभित शाल्मलिर्यथा ।।[३०]

इसमे निर्, नञ् आदि के द्वारा विनार्थ का उत्पादन किया गया है जिससे यहाँ विनोक्ति है ।

विनोक्ति सम्बन्धी कतिपय अन्य मत

प्रथम मतः—

'अलङ्कारभाष्यकार' के अनुसार विनोक्ति का लक्षण इस प्रकार है—

'नित्यसम्बन्धानामसम्बन्धवचन विनोक्तिः ।'[३१]

अर्थात् जिन वस्तुओ में नित्य सम्बन्ध रहता हो उसमे असम्बन्ध बताना विनोक्ति है । इस मत के अनुसार उक्त उदाहरण विनोक्ति के उदाहरण नहीं हो सकेंगे ।

उसका उदाहरण इस प्रकार होगा—

मृणालमन्दानिलचन्दनानामुशीरशैवालकुशेशयानाम् ।
वियोगदूरीकृतचेतनाया विनैव शैत्यं भवति प्रतीतिः ।।[३२]

यहाँ मृणालादि के साथ शैत्य का नित्य सम्बन्ध होने पर भी उसके असम्बन्ध की चर्चा की गयी है । इसी प्रकार एक और भी उदाहरण दिया गया है ।

द्वितीय मतः—

कुछ विद्वानो का यह भी कहना है कि विनोक्ति तभी चमत्कारी होती है जब उसके गर्भ मे अन्य कोई अलङ्कार हो । केवल विनोक्ति, अलङ्कारान्तर से रहित, किसी चमत्कार को उत्पन्न नही करती । अतः इसको पृथक् अलङ्कार मानना ही अनुचित है ।[३३]

---

२९. रस. पृ १६४
३०. रस. पृ. १६५
३१. रस० पृ. १६५
३२. रस. पृ १६६
३३. 'अलङ्कारान्तरसमालिङ्गनाविर्भूतमेवास्या हृद्यत्वम्, न स्वतः । तेनाऽलङ्कारान्तरत्वमपि किञ्चिन्नमेवेत्यपि वदन्ति ।'' (रस. पृ. १६६)

विनोक्ति के भेद

विनार्थ के साथ जिसका सम्बन्ध होता है उसके अरमणीय, रमणीय और रमणीया-रमणीय होने से यह अलङ्कार तीन प्रकार का होता है । उदाहरण के लिये

सम्पदा सम्परिष्वक्तो विद्यया चानवद्यया ।
नरो न शोभते लोके हरिभक्तिरस विना ।[३४]

इसमे 'न शोभते' से प्रतिपादित होने वाले अशोभन मे अरमणीयता है । अत विनोक्ति का प्रथम भेद है ।

द्वितीय भेद, जिसमे रमणीय वस्तुओ से विनार्थ का सम्बन्ध होता है, इस प्रकार है—

पङ्कैर्विना सरो भाति सद· खलजनैर्विना ।
कटुवर्णैर्विना काव्य मानस विषयैर्विना ।[३५]

इसमे पङ्कादि के बिना सरोवरादि की रमणीयता का वर्णन किया गया है । इसमे दीपकालङ्कार अनुगर्भित है ।

रमणीयारमणीयोभय का उदाहरण इस प्रकार है—

राग विना विराजन्ते शूरा. सन्मणयो यथा ।
न दानेन विना भान्ति नृपा लोके द्विपा इव ।।[३६]

इसमे पूर्वाध मे रमणीयता और उत्तरार्थ मे अरमणीयता का वर्णन किया गया है ।

इसी प्रकार यह श्लेष, उपमा आदि से भी अनुप्राणित रहता है ।

विनोक्ति की ध्वनि

विनोक्ति की ध्वनि, जैसे—

विशालाभ्यामाभ्या किमिह नयनाभ्यां फलमसौ
न याभ्यामालीढा परमरमणीया तव तनु. ।
अय तु न्यक्कार: श्रवणयुगलस्य त्रिपथगे
यदन्तर्नायातस्तव लहरिलीलाकलकल: ।।[३७]

इसमे तुम्हारे दर्शन के बिना नयनो की, लहरों की कलकल ध्वनि को सुने बिना कर्णों की अरमणीयता फल प्रश्न-इन नयनो से क्या ?, और धिक्कार-कर्णयुगल को धिक्कार है–से अभिव्यञ्जित हो रही है अतः ध्वनि है ।

---

३४ रस. पृ ३६४
३५. रस. पृ ३६४
३६. रस पृ. ३६५
३७ रस पृ ३६६

समवलोकन

विनोक्ति के लक्षण में 'एव' पद महत्त्वपूर्ण है । बिना पद का अर्थ ही (सम्बन्ध ही) अलङ्कार है तद्वाचक पद नहीं इसका सूक्ष्म भेद पण्डितराज ने स्पष्ट कर अलङ्कार जगत् में विषय का परिष्कार किया है ।

भेदों में रमणीयारमणीय भेद नवीन है । शेष दो भेद मम्मट, अप्पय आदि के द्वारा प्रदर्शित हैं ।

इसमें अलङ्कार भाष्यकार से कवि का किस में तात्पर्य है यह ज्ञात नहीं हो पाता है । तथापि पण्डितराज की ज्ञानप्रौढ़ि का तो परिचय मिलता ही है ।

परिकर

लक्षण

पण्डितराजकृत लक्षणः -

परिकर का लक्षण है --

विशेषणानां साभिप्रायत्वं परिकरः ।[१८]

अर्थात् जब विशेषण किसी विशेष अभिप्राय से प्रयुक्त हो तो परिकर अलङ्कार होता है ।

साभिप्रायत्व साभिप्राय होने का अर्थ है प्रकृत अर्थ को उपपन्न करने वाले चमत्कारपूर्ण व्यङ्ग्य अर्थ का होना । अर्थात् जब विशेषणों के बल से किसी ऐसे अर्थ की व्यञ्जना हो जो प्रकृत अर्थ को उपपन्न करे तो वहाँ विशेषण विशेष अभिप्राय से युक्त होते हैं।

उपपादकता का तात्पर्य है निष्पादक और उपस्कारक दोनों का होना । अर्थात् जब व्यङ्ग्यार्थ प्रकृतार्थ की सिद्धि में भी सहायक हो और उसका पोषक भी हो तो वह प्रकृतार्थ का उपपादक होता है ।

व्यङ्ग्यार्थ की सत्ता से ही हेतु अलङ्कार का भी व्यावर्तन हो जाता है क्योंकि परिकर में जैसे व्यङ्ग्यार्थ होना आवश्यक होता है हेतु में उस प्रकार की आवश्यकता नहीं होती ।

ध्वनि से भी यह इसलिए पृथक् होता है क्योंकि ध्वनिगत व्यङ्ग्यार्थ प्रकृतार्थ का उपपादक नहीं होता जबकि परिकर में वह अर्थ उपपादक होता है ।

उदाहरण के लिये—

मन्त्रैर्मीलितमौषधैर्मुकुलितं त्रस्तं सुराणां गणैः

त्रस्तं सान्द्रसुधारसैर्विदलितं गारुत्मतग्रावभिः ।

१८. रस. पृ. ३८९

वीचिक्षालितकालियाहितपदे स्वर्लोककल्लोलिनि
त्व ताप तिरयाधुना भवभयव्यालावलीढात्मनः ।।[३९]

इसका वाच्यार्थ है ससार रूपी सर्प के दर्शन से उत्पन्न ताप को गङ्गा के द्वारा दूर किये जाने की प्रार्थना करना । तापनाश रूप विशेष गुण की सिद्धि के लिये भगवान् के चरण का विशेषण दिया है—'कालियाहित' । इससे जो अर्थ व्यङ्ग्य होता है वह यह कि कालियनाग जैसे विषधर के विष को नष्ट करने वाले चरणो को जिसकी लहरो ने धोया है वह कितनी तापनाशिका होगी—इत्यादि ।

(इस विशेषता के बारे मे और भी विवेचन है परन्तु अलङ्कार निरूपण की दृष्टि से उसका कोई विशेष प्रयोजन नही है । इसके पश्चात् एक और भी उदाहरण दिया गया है—"मदकामविमोह-मत्सरा· ··" इत्यादि ।)[४०]

परिकर के भेद

परिकर चार प्रकार का होता है—
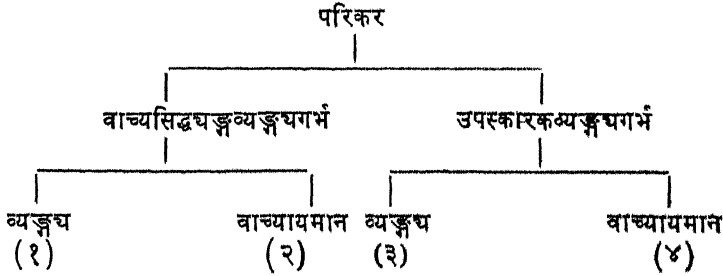
सर्वप्रथम यह दो प्रकार का होता है—

(१) जिसमे व्यङ्ग्यार्थ वाच्यार्थ की सिद्धि का अङ्ग हो और तन्मूलक विशेषणो का अभिप्राय हो ।

(२) जिसमें व्यङ्ग्यार्थ वाच्यार्थ का उपस्कारक हो तथा तादृशमूलक विशेषणों का अभिप्राय हो ।

इन दोनो भेदों के पुन दो-दो भेद होते हैं । जहाँ व्यङ्ग्यार्थ अत्यन्त स्फुट हो, वाच्यार्थ के समान ही सर्वबोध्य हो वहाँ यह व्यङ्ग्यार्थ वाच्यायमान होता है और जहाँ वह व्यङ्ग्यार्थ अत्यन्त स्पष्ट न हो वहाँ वह व्यङ्ग्य होता है । इसी आधार पर उक्त दो प्रकार चार प्रकारो मे विभक्त हो जाते हैं ।

---

३९ रस पृ. ३८६

४०. 'मदकामविमोहमत्सरा रिपवस्त्वत्पुर एव तावकम् ।
धृतशार्ङ्गगदारिनन्दक प्रतिकर्षन्ति कथ न वीक्षसे ।।' (रस. पृ. ३८७)

प्रथम प्रकार का उदाहरण यह है—

विहाय ससारमहामरुस्थलीमलीकदेहादिमिलन्मरीचिकाम् ।

कृपातरङ्गाकुल मन्मनो मृगो विगाढुमीश त्वयि गाढमीहते ।[४१]

इसमे गाहन की सिद्धि का अङ्गभूत कृपा इत्यादि से व्यङ्ग्य होने वाला समुद्र रूप अर्थ वाच्य सा है अर्थात् समुद्ररूप व्यङ्ग्य के बिना गाहन की सिद्धि नही हो सकती । अतः यह वाच्यसिद्ध्यङ्गव्यङ्ग्यगर्भ परिकर है तथा वह व्यङ्ग्य अत्यन्त स्फुट होने से वाच्यायमान है ।

द्वितीय भेद का उदाहरण—

खर्वीकृतेन्द्रगर्व त्वरया चक्रेण भिन्ननक्रमुख ।

लीलात्तकोलमूर्ते मामुद्धर्तुं कथ न शक्तोऽसि ।[४२]

इसमे व्यङ्ग्यार्थ है गोवर्धन, गजेन्द्र और वसुन्धरा का उद्धार तथा इस व्यङ्ग्यार्थ की अभिधा से लेशमात्र भी प्रतीति नहीं होती । उपालम्भ रूप वाच्य अर्थ की सिद्धि का अङ्ग होने से यह वाच्यसिद्ध्यङ्ग व्यङ्ग्यगर्भमूलक का व्यङ्ग्य भेद है ।

तृतीय उदाहरण यह है—

मदकामविमोहमत्सरा रिपवस्त्वत्पुर एव तावकम् ।

धृतशार्ङ्गगदारिनन्दक प्रतिकर्षन्ति कथं न वीक्षसे ।।[४३]

इसके 'धतशार्ङ्गगदारिनन्दक' मे उपस्कारक व्यङ्ग्यगर्भ का वाच्याय-मानत्व है ।

सर्वप्रथम उल्लिखित मन्त्रैर्मीलित इत्यादि उदाहरण मे 'कालियाहितपदे' में वही उपस्कारक व्यङ्ग्य स्फुटतया प्रतीत नहीं होता । अतः वह चतुर्थ प्रकार का भेद है ।

परिकर का पृथगलङ्कारत्व

बिना किसी प्रयोजन के विशेषणो का प्रयोग करना अपुष्टार्थ नामक दोष है । अतः प्रयोजन के साथ विशेषणो का प्रयोग करना इसी दोष का अभाव मात्र है । फलतः परिकर अलङ्कार कोई स्वतन्त्र अलङ्कार नही है अपितु दोषाभाव मात्र है— इस पर विचार करते हुए जयरथादि और अप्पयदीक्षित के मत दिये गये हैं उनके खण्डन में ही कवि ने अपना दृष्टिकोण भी सम्मुख रखा है । मत क्रमशः इस प्रकार है :-

प्रथम मत—जयरथादि

परिकर अलङ्कार में अनेक विशेषणो का होना अपेक्षित है । क्योंकि विशेष प्रयोजनों के साथ प्रयोग किये गये विशेषण जब अनेक होते हैं तभी उनका चमत्कार

४१. रस. पृ. १६०

४२. रस. पृ. १६०

४३. रस. पृ. १६७

भी होता है। यदि कही एक ही विशेषण का विशेष प्रयोजन से प्रयोग किया गया हो तो वह अपुष्टार्थ दोष का अभाव मात्र है।

निष्कर्ष यह है कि एक विशेषण होने पर दोषाभाव और अनेक विशेषणो के होने पर परिकर अलङ्कार होता है।[४४]

पण्डितराजकृत खण्डन

जयरथ का मत अनुचित है क्योकि अनेक विशेषणो के होने पर चमत्कार अधिक होगा यह तो कहा जा सकता है परन्तु विशेषणो के होने पर ही अलङ्कार होगा यह नही कहा जा सकता क्योकि 'वीचिक्षालितकालियाहितपदे' इत्यादि मे एक ही विशेषण का इतना चमत्कार है जो अलङ्कार बन सकता है। दूसरे—

'अयि लावण्य जलाशय तस्या हा हन्त मीननयनाया ।
दूरस्थे त्वयि कि वा कथयामो विस्तरेणालम् ॥'[४५]

इस पद्य मे एक-एक विशेषण ही सम्पूर्ण वाक्यार्थ को परिपुष्ट कर रहा है।

तात्पर्य यह है कि एक विशेषण होने पर भी परिकर अलङ्कार होता है और अनेक विशेषणो के होने पर भी।

अप्पयदीक्षित का मत—

यह कोई नियम नही है कि अनेक विशेषणो के होने पर ही परिकर अलङ्कार होता है। श्लेष और यमकादि में अपुष्टार्थरूप दोष के अभाव के कारण एक विशेषण का प्रयोग भी यहाँ विशेष चमत्कार उत्पन्न करता है अतः परिकर का स्थल होता है। जैसे—

अतियजेत निजा यदि देवतामुभयतश्च्यवते जुषतेऽप्यघम् ।
क्षितिभृतैव सदैवतका वय वनवताऽनवता किमहिद्रुहा ॥

यहाँ, नन्द आदि के प्रति गोवर्धन पर्वत के विषय में भगवान् की उक्ति मे है।[४६] (यह यमक अलङ्कार का उदाहरण है तथा 'वनवता' और 'अनवता' इन एक-एक विशेषणों ने ही चमत्कार उत्पन्न कर दिया है, जो क्रमश पर्वत और इन्द्र के लिये प्रयुक्त हुए हैं। तात्पर्य यह है कि एक विशेषण भी चमत्कारी होता है, अनेक विशेषणो का होना चमत्कार के लिये आवश्यक नही है।)

---

४४ 'विशेषणाना बहुत्वमत्र विवक्षितम् । साभिप्रायविशेषणगतबहुत्वकृत एव चात्र वैचित्र्यातिशय एक विशेषण तु दोषाभावमात्रस्यावकाश. । (रस. पृ. ३८७)

४५ रस पृ ३८७

४६ "श्लेषयमकादिष्वपुष्टार्थदोषाभावेन तत्रैकस्यापि विशेषणस्य साभिप्रायस्य विन्यासे विच्छित्ति-विशेषसद्भावात् परिकरस्वोपपत्ते'। यथा "क्षितिभृतैव सदैवतका वयं वनवतानवता किमहिद्रुहा" इति गोवर्धनपर्वतविषयके नन्दादीन्प्रति भगवद्वाक्ये।" (रस. पृ. ३८८)

निष्कर्ष यह है कि यमकादि मे यदि अपुष्टार्थ का अभाव हो तो वह परिकर अलङ्कार का विषय होता है और यदि अन्य कही विशेषण साभिप्राय हो तो परिकर नही होता ।

पण्डितराजकृत खण्डन

अप्पयदीक्षित का मत अमान्य होने मे निम्नलिखित प्रमाण है —

(१) जो लोग इस अलङ्कार को केवल दोष का अभाव मात्र मानते हैं, अलङ्कार नही वह अप्पयाभिमत श्लेष और यमक के अतिरिक्त साभिप्राय विशेषण के स्थल मे कोई विशेष चमत्कार मानते है या नही-यह विचारणीय है ।

यदि विशेष चमत्कार को मानते हैं तो सर्वत्र ही परिकर अलङ्कार मानना पडेगा क्योकि चमत्कार की विशेषता ही अलङ्कार के भेदो मे कारण है और वह विशेषता यहाँ विद्यमान है । अत: उनके मत के विपरीत, परिकर एक स्वतन्त्र अलङ्कार होगा, दोषाभावमात्र नही ।

यदि विशेष चमत्कार नही मानते हैं तो जैसे यमकादि से अतिरिक्त स्थल मे विशेषणो का साभिप्रायत्व एक दोषाभाव मात्र है वैसे ही यमकादि के स्थल में भी वह दोषाभाव ही माना जा सकता है । क्योकि जैसे अन्यत्र उसमे कोई चमत्कार नहीं है वैसे ही यमकादि मे भी उसका कोई विशेष चमत्कार नही होगा । (इसकी पुष्टि के लिये धर्मशास्त्र सम्बन्धी एक उदाहरण दिया गया है ।)

(२) यदि यह कहा जाय कि यमकादि में दोषाभाव (विशेषण का साभिप्राय प्रयोग) विशेष रूप से चमत्कारी होता है-इसमे अनुभव प्रमाण है, तो अन्यत्र (यमकादि से अतिरिक्त) भी उसी अनुभव को प्रमाण मानकर विशेष चमत्कार माना जा सकता है । यमक पर्यन्त अनुधावन क्यो ?

इस प्रकार अपुष्टार्थतारूप दोष का अभाव और परिकर अलङ्कार का पृथक्करण कठिन है ।

इस समस्या का समाधान इस प्रकार समझना चाहिये—

चमत्कार पूर्ण होते हुए जो उपस्कारक हो वह अलङ्कार कहलाता है । और चमत्कार के अपकर्षक का अभाव होना दोषाभाव कहलाता है । यह दोनो पृथक्-पृथक् पदार्थ यदि संयोग से एक ही स्थान मे उपस्थित हो जाये तो उसमे कोई हानि नहीं है । क्योकि उपाधेयो का सङ्कर होने पर भी उपाधियों का सङ्कर नहीं होता । उदाहरण के लिये, जैसे ब्राह्मण मे मूर्खता होना दोष है और विद्या दोष का अभाव है अथ च गुण भी है वैसे ही परिकर मे भी दोषाभावत्व और अलङ्कारत्व एक साथ रह सकते हैं । (जैसे विद्या एक दोषाभाव भी है और गुण भी है वैसे ही विशेषणों का अभिप्राय युक्त होना एक दोषाभाव भी है और अलङ्कार भी है ।)

दोषाभाव के अन्तर्गत परिकर को गिन लेने पर पुन अलङ्कारो मे भी उसकी गिनती करना अनुचित है क्योकि उसमे गौरव है—यह कहना भी उचित नही है क्योकि दोषाभाव और अलङ्कार दोनो होने के कारण उसकी पृथक्-पृथक् विशेषताओ के बताने के लिये ही उसकी पृथक्-पृथक् गणना की जाती है। जैसे समासोक्ति अलङ्कार को गुणीभूत व्यङ्ग्य का भेद मानने पर भी उसे अलङ्कारों मे भी अनुगुणित किया ही जाता है।

यदि इस प्रकार की द्विधा गणना को स्वीकार नही किया जायेगा तो प्राचीन आलङ्कारिको के द्वारा माना गया काव्यलिङ्ग अलङ्कार भी निर्हेतु रूप दोषाभाव मे ही अन्तर्भूत हो जायेगा।

जहाँ विशेषणों का आधिक्य रहेगा वहाँ चमत्कार का भी आधिक्य होगा। जैसे—

'द्विजराज कलाधार विश्वतापनिवारण ॥
कथं मामबला क्रूरैः करैर्दहसि निर्दय ॥'[४७] इत्यादि मे।

निष्कर्ष यह है कि एक और अनेक विशेषणों का साभिप्रायत्व समान रूप से परिकर का विषय है। विशेषणो का अभिप्राय से युक्त होना दोषाभाव और अलङ्कार दोनों समान रूप से है, उसमें कोई विरोध नहीं है।

समवलोकन

परिकर की स्वतन्त्र सत्ता को जिन दृढ़ स्वरों में पण्डितराज ने सिद्ध किया है उससे यही प्रतीत होता है कि इस अलङ्कार को विशेष रूप से उनकी मान्यता प्राप्त है।

लक्षण के अनुसार ऐसा प्रतीत होता है कि अनेक विशेषणो के होने पर ही उनके अनुसार परिकर होता है क्योंकि 'विशेषणानाम्' मे बहुवचन है परन्तु जयरथ और अप्पय के मतों का खण्डन करते समय उन्होने यही कहा है कि एक विशेषण के होने पर भी परिकर हो सकता है। अतः किञ्चिद् विरोध है।

एक और नवीन दृष्टि का परिचय इसमे मिलता है कि पण्डितराज को दोषाभावत्व और अलङ्कारत्व का विरोध इष्ट नहीं, एक ही लक्ष्य को वह द्विधा गिनने को तैयार है। यद्यपि उनकी इस मान्यता में स्वार्थसिद्धि की गन्ध आती है। तथापि यह उनकी देन ही है कि परिकर मे रहने वाली इस अवस्था विशेष का सयुक्तिक सैद्धान्तिक निष्कर्ष दिया है।

---

४७ रस. पृ ३६०

श्लेष

लक्षण

पण्डितराजकृत लक्षण

श्लेषालङ्कार का लक्षण यह है—

'श्रुत्यैकयानेकार्थप्रतिपादन श्लेषः ।'[४८]

अर्थात् एक ही प्रकार के श्रवण से (समानवर्णानुपूर्वी के श्रवण से) अनेक अर्थों का बोध होना ही श्लेष है ।

श्लेष के भेद

श्लेष अलङ्कारगत उक्त प्रतिपादन निम्नलिखित भेदों वाला होता है—
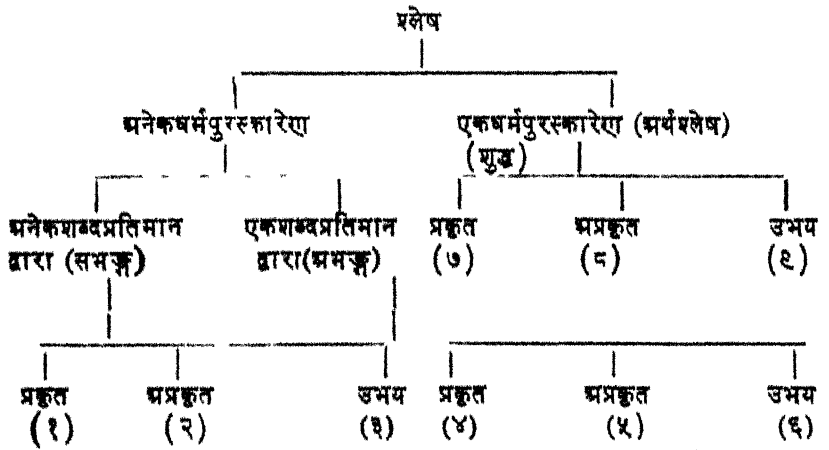
सर्वप्रथम इसके दो भेद होते हैं-(१) जहां एक से अधिक धर्मों को लेते हुए अनेक अर्थों का प्रतिपादन हो और (२) एकही धर्म को पुरस्कृत कर अनेक अर्थों का प्रतिपादन हो । इन्हीं को क्रमशः सभङ्ग और अभङ्ग श्लेष कहते हैं ।

प्रथम प्रकार भी दो प्रकार का होता है-(१) जहाँ अनेक शब्दों का प्रयोग होने से वह नानार्थक बोध हो और (२) एक ही शब्द के प्रयोग से नानार्थक बोध हो । इसी को अर्थश्लेष भी कहा जाता है और शुद्ध श्लेष भी ।

यह तीनों प्रकार का श्लेष कहीं तो प्रकृत अर्थों में ही होता है, कहीं केवल अप्रकृत अर्थों में और कहीं प्रकृत और अप्रकृत अर्थों के मिश्रण में । इस प्रकार सकलरूप से श्लेष के नौ प्रकार हो जाते हैं ।

४८. रस. पृ. १६०

प्रथम भेद का उदाहरण इस प्रकार है --

सम्भूत्यर्थं सकलजगतो विष्णुनाभिप्रपन्न
यन्नाल स त्रिभुवनगुरुर्वेदनाथो विरिञ्चि ।
ध्येय धन्यालिभिरतितरा स्वप्रकाशस्वरूप
पद्माख्यं तत्किमपि ललित वस्तुवस्तुष्टयेऽस्तु ।।[४९]

इसमे 'विष्णुनाभिप्रपन्नम्' के दो विग्रह है-विष्णुना अभिप्रपन्नम् और विष्णु-नाभिप्रपन्नम् । एक शब्द के अनेक खण्ड होने से यह सभङ्ग श्लेष है । विष्णुना और अभिप्रपन्नम् इन दो शब्दो से नानार्थक प्रतीति होने से भिन्न-भिन्न धर्मों के पुरस्कार से यहाँ श्लेष का प्रथम प्रकार है । इसमे प्रतीत होने वाले लक्ष्मी और विष्णु-नाभि-कमल रूप दोनो ही अर्थ प्रकृत है ।

अभङ्ग श्लेष का उदाहरण यह है—

करकलितचक्रघटनो नित्य पीताम्बरस्तमोऽराति ।
निजसेविजाड्यनाशनचतुरो हरिरस्तु भूतये भवताम् ।।[५०]

इसमे कर, चक्र, अम्बर, जाड्य और हरि पद श्लिष्ट हैं परन्तु इनके विभिन्न अर्थों के लिये उनको खण्डित नही करना पडता इसमे अभङ्ग श्लेषका उदाहरण है । अनेक शब्दो का प्रयोग होते हुए भी प्रत्येक शब्द स्वतन्त्र रूप से नानार्थों का प्रतिपादक है । अत एक शब्द द्वारा ही यहाँ प्रतिभान हो रहा है । तथा केवल प्रकृत अर्थों का वर्णन है ।

तृतीय प्रकार का-अर्थ श्लेषका-उदाहरण इस प्रकार है:--

अर्जुनस्य गुरुर्मायामनुजः परमः पुमान् ।
गुञ्जापुञ्जधर पायादपायादिह कोऽपि वः ।।[५१]

इसमें 'गुरु' पद श्लिष्ट है क्योंकि उसके दो अर्थ हैं-उपदेष्टा और बृहस्पति । परन्तु यह परिवृत्तिसह है क्योकि यदि गुरु के स्थान पर शिक्षकादि पद का प्रयोग कर दिया जाय तो भी अर्थ मे व्याघात नही होगा । इसमें भी दोनो अर्थ प्रकृत हैं तथा एक ही शब्द से प्रतिपाद्य है ।

केवल अप्रकृत विषयो का वर्णन इस प्रकार रहता है:--

हरिकरसङ्गादधिकं रमणीयाप्यतुलरागसवलिता ।
सुन्दरि तवाननाग्रे कमलाभा विगलितप्रतिभा ।।[५२]

---

४९ रस. पृ ३६१
५०. रस. पृ. ३६२
५१ रस. पृ. ३६२
५२. रस. पृ. ३६२

इसमे प्रकृत अर्थ है मुख, उसकी श्लेष से कोई प्रतीति नही होती। कमलाभा विशेष्य मे और 'अधिकम्' विशेषणांश मे सभङ्ग श्लेष है और शेष हरि, कर आदि में अभङ्ग श्लेष है।

प्रकृत और अप्रकृत अर्थों के मिश्रण वाला श्लेष--

अल हिमानीपरिदीर्णगात्र समापितः फाल्गुनसङ्गमेन ।
अत्यन्तमाकाङ्क्षितकृष्णवर्त्मा भीष्मो महात्माजनि माघतुल्यः ।।[43]

इसमे भीष्म और माघ रूप प्रकृत और अप्रकृत विशेष्यांश अश्लिष्ट हैं किन्तु 'अल हिमानीपरिदीर्णगात्र' इत्यादि विशेषणांश मे श्लेष है अतः यह तृतीय प्रकार का श्लेष है परन्तु उपमा से सङ्कीर्ण है।

उक्त प्रथम दो भेदो के पुन: दो-दो भेद हो सकते हैं विशेषणो के श्लिष्ट होने से और विशेष्यों के श्लिष्ट होने से। तृतीय भेद-अर्थ श्लेष में सर्वत्र विशेषणों का ही श्लेष होता है विशेष्यों का नहीं।

शेष विभिन्न उदाहरणों की स्वयं ऊहा कर लेनी चाहिये।

श्लेष-ध्वनि

जहाँ प्रकृत और अप्रकृत विशेष्यों का भी श्लेष से प्रतिपादन होता है वहाँ श्लेष की ध्वनि होती है। जैसे:--

अविरलविगलद्दानोदकधारासारसिक्तधरणितलः ।
धनदाग्रमहितमूर्तिर्जयतितरां सार्वभौमोऽयम् ।।[44]

इसमें राजा रूप प्रस्तुत अर्थ में उत्तर दिशा के दिग्गज रूप अप्रस्तुत अर्थ की प्रतीति व्यञ्जना से हो रही है। अप्रस्तुत अर्थ के प्रतिपादन के प्रयोजन के रूप में राजा और दिग्गज में उपमानोपमेयभाव की कल्पना करनी पड़ती है। यह शब्द-शक्तिमूल ध्वनि है।

आनन्दवर्धन प्रदत्त उदाहरण:--

आनन्दवर्धन ने ध्वनि (श्लेष की) का उदाहरण यह दिया है:--

उन्नतः प्रोल्लसद्धारः कालागुरुमलीमसः ।
पयोधरभरस्तस्याः कं न चक्रेऽभिलाषिणम् ।।[45]

मम्मट प्रदत्त उदाहरण:--

मम्मट ने उसका उदाहरण यह दिया है:--

भद्रात्मनो दुरधिरोहतनोर्विशाल-
वंशोन्नतेः कृतशिलीमुखसङ्ग्रहस्य ।

---

४३. रस. पृ. १६२
४४. रस० पृ० १६६
४५. ध्व. पृ. २५६

यस्यानुपप्लुतगतेः परवारणस्य
दानाम्बुसेकसुभगः सततं करोऽभूत् ॥[५६]

इसमे भी राजा और गज मे औपम्य व्यङ्ग्य है ।

अप्पयदीक्षित का मत :—

मम्मट आदि ने प्रकृताप्रकृत श्लेष के उदाहरण मे जो शब्दशक्तिमूलध्वनि मानी है उसका अभिप्राय यही है कि प्रकृत और अप्रकृत अर्थ वहाँ अभिहित होते हैं और उनके आधार पर उपमालङ्कार रूप अर्थ व्यङ्ग्य होता है । अर्थात् अप्रकृतार्थ भी अभिधा से ही प्रतिपादित होता है केवल उपमा का ही व्यञ्जना से बोध होता है ।

अप्रकृतार्थ अभिधा से प्रतिपादित हो सकता है अत उसमे व्यञ्जना की अपेक्षा नही है । यद्यपि प्रकृत अर्थ प्रकरण आदि के कारण तुरन्त अवगत हो जाता है और उसके पश्चात् राजा और उसके द्वारा ग्राह्य धन आदि को प्रतिपादित करने वाले राजा, कर आदि पदो के परस्पर सन्निधान से दूसरी शक्ति से अप्रकृत अर्थ की प्रतीति होती है परन्तु इतने मात्र से उस अप्रकृत अर्थ को व्यङ्ग्य नहीं कहा जा सकता क्योंकि जिसका प्रतिपादन अभिधा से हो जाता है उसमे व्यञ्जना प्रवृत्त नही होती । प्रकृतार्थ के समाप्त हो जाने पर जो अप्रकृत अर्थ का बोध होता है – वह गूढ़श्लेष का विषय होता है । जैसे–

अयमतिजरठाः प्रकामगुर्वीरलघुविलम्बिपयोधरोपरुद्धाः ।
सततमसुमतामगम्यरूपाः परिणतदिक्करिकास्तटीर्बिभर्ति ॥

इस समासोक्ति के उदाहरण मे वृद्ध वेश्या का वृत्तान्त अप्रकृतार्थ के रूप में प्रतीत होता है । इसमे अभङ्ग श्लेष है–यह सभी को स्वीकार है ।

अत , तात्पर्य यह है कि अप्रकृत अर्थ व्यङ्ग्य नहीं होता ।[५७]

दीक्षितमत का पण्डितराजकृत खण्डन:—

(१) उपमादि अलङ्कार मात्र ही व्यङ्ग्य होते हैं अप्रकृत अर्थ नहीं–यह प्राचीन आलङ्कारिको का अभिप्राय है, ऐसा कहना यदि उचित हो तो उन्हीं की (मम्मट की)–

'अनेकार्थस्य शब्दस्य वाचकत्वे नियन्त्रिते ।'
संयोगाद्यैरवाच्यार्थधीकृद्व्यापृतिरञ्जनम् ॥[५८]

यह उक्ति असङ्गत हो जायेगी । क्योकि—

जब केवल उपमा ही व्यङ्ग्य हो और अप्रकृत नहीं तो अभिधा के नियन्त्रण का कोई प्रयोजन नही होगा ।

उपमादि अलङ्कार तो अभिधा से प्रतिपाद्य होते नही जो उनको लेकर सङ्गति बिठा दी जाय क्योकि नानार्थवाची शब्द उपमा के वाचक नहीं होते और दूसरे द्वितीय

५६. का प्र. पृ ५१
५७ कुव. पृ ९९–१०२ (उक्त सम्पूर्ण मत)
५८. का. प्र पृ ४८

अर्थ की वाच्यता के अनियन्त्रित होने पर भी उपमादि की व्यञ्जना निर्बाध रूप से हो जाती है।

अतः, अप्पयदीक्षित का यह कहना कि अप्रकृत अर्थ को वाच्य और उपमादि को ही व्यङ्ग्य मानना प्राचीनो को अभीष्ट है, अनुचित है।

(२) अप्रकृत अर्थ अभिधा से ही प्रतिपादित हो जाता है–यह भी असत्य है।

मम्मटादि ने स्वय ही यह कहा है कि अप्रकृतार्थ मे अभिधा नियन्त्रित हो जाती है। नियन्त्रण का तात्पर्य है प्रथम बोध को ही उत्पन्न करना न कि अन्त मे होने वाले बोध को भी उत्पन्न करना।

इसके विरोध में यदि यह कहा जाय कि प्रकृत अर्थ का बोध कराने के पश्चात् प्रथम शक्ति के शान्त हो जाने पर दूसरी शक्ति (अभिधा) से अप्रकृतार्थ का बोध मानने मे कोई बाधा नही है, तो वह भी ठीक नही है; क्योंकि पहले अप्रकृत अर्थ का बोध नही होता—इसमे यदि प्रकरण आदि के ज्ञान को प्रतिबन्धक (कारण) मानें तो प्रश्न किया जा सकता है कि प्रकृत अर्थ का बोध हो जाने पर उस प्रकरणादिज्ञान की प्रतिबन्धकता कहाँ चली जाती है, अर्थात् तब भी वह अप्रकृत अर्थ के प्रति प्रतिबन्धक रहते ही हैं।

गौरव के अतिरिक्त दूसरा दोष यह है कि 'जैमिनीयमल धत्ते रसनायां महामतिः' इत्यादि में जिस बोध का बाध होता है उसका अभिधा से उपपन्न होना असम्भव है।

ज्ञान क्षणिक (तीन क्षण तक जीवित रहने वाला) होता है अतः अप्रकृत अर्थ के बोध के समय तक वह प्रकरणादिज्ञान नष्ट हो जाता है–यह यदि कहे तो भी ठीक नहीं है क्योंकि उसी प्रकार का प्रकरणादि का द्वितीय ज्ञान भी पुनः उत्पन्न हो सकता है उसमें कोई बाधा नहीं है। एवञ्च यदि पहले होने वाले ज्ञान विशेष को ही इसमें प्रतिबन्धक मानें तो गौरव होगा क्योकि प्रत्येक अप्रकृतार्थ के प्रति पृथक्-पृथक् प्रकृतार्थज्ञानविशेष को प्रतिबन्धक मानना पड़ेगा, उसमे गौरव है। इससे अधिक लघु मार्ग यही है कि अन्यत्र स्वीकार की गयी व्यञ्जना से ही अप्रकृतार्थ की प्रतीति मानी जाये।

यदि किसी प्रकार शक्ति से ही उसकी उपपत्ति मान भी ली जाय तो भी यदि देवदत्त के प्रति उसके पुत्र यह वाक्य कहें और देवदत्त के प्रति उसका श्याला यह वाक्य कहें तो क्रमशः उस अप्रकृत अर्थ की अनुपपत्ति नही बन सकेगी क्योंकि वक्तृ-बोद्धव्य आदि के वैशिष्ट्य को व्यङ्ग्यार्थ बोध के प्रति मम्मटादि ने कारण माना है।

अतः यह कहना नितान्त अनुचित है कि अप्रकृत अर्थ का बोध अभिधा से होता है।

(३) 'अयमतिजरठा–' इत्यादि समासोक्ति में गूढ श्लेष है–यह कहना भी असिद्ध हो गया क्योकि श्लिष्ट विशेषण वाली समासोक्ति में भी व्यञ्जना से ही अप्रकृत अर्थ की प्रतीति स्वीकार की गयी है।

आनन्दवर्धन ने भी कहा है कि समासोक्ति गुणीभूतव्यङ्ग्य का ही भेद है।[५९]

उद्भट ने भी 'समासोक्ति से श्लेष बाधित हो जाता है' यह कहा है। बाध का तात्पर्य है वहाँ श्लेष का न होना।[६०]

अत. 'श्लिष्ट समासोक्ति' मे श्लेष पद का तात्पर्य इतना ही है कि वहाँ दो अर्थों से युक्त एक विशेषण होता है न कि यह कि समासोक्ति व श्लेष का मिश्रण रहता है।

इस विचार मन्थन के पश्चात् सिद्धान्त यही स्थिर होता है कि जहाँ अनेकार्थ-वाची शब्दो का प्रयोग होता हो वहाँ तो एक बार अभिधा से ही अप्रकृत अर्थ का बोध कहना सम्भव हो सकता है परन्तु योगरूढ़ि के स्थल में तो वह भी सम्भव नहीं है। जैसे–

चाञ्चल्ययोगि नयनं तव जलजानां श्रियं हरतु।
विपिनेऽतिचञ्चलानामपि च मृगाणां कथं न तां हरति॥[६१]

इसमें 'चञ्चलता से रहित कमलों का चञ्चलता से युक्त तुम्हारे नयन यदि तिरस्कार करे तो कोई आश्चर्य नही परन्तु आश्चर्य तो इसमें है कि चञ्चलता गुण से युक्त हरिणो को भी नयन तिरस्कृत करते हैं।'—इस वाच्यार्थ से ज्ञात हो जाने पर भी जलज, नयन और मृग शब्दो मे रहने वाली केवल योग शक्ति के आधार पर जो यह अर्थ प्रतीत होता है कि मूर्खपुत्रों का धन चुराना तो चोरो के लिये सम्भव है परन्तु सावधान (गवेषक) का धन चुराना सरल नहीं है, वह व्यञ्जना के अतिरिक्त किसी अन्य व्यापार से सम्भव नहीं है। क्योंकि योग—शक्ति रूढ़ि के द्वारा नियन्त्रित हो जाने के कारण स्वतन्त्र नहीं होती अर्थात् जब एक ही शब्द मे योग और रूढ़ि दोनों होती हैं तो रूढ़िगत अर्थ ही अभिधा से ग्राह्य होता है। इसीसे पङ्कजादि पद का शैवाल आदि अर्थ लाक्षणिक अर्थ होता है।

अत उपर्युक्त पद्य मे चोर व्यवहाररूप अप्रकृत अर्थ अभिधावेद्य नहीं है अपितु व्यञ्जनावेद्य ही है। मुख्यार्थ बाध आदि के न होने से लक्षणावेद्य भी नहीं कह सकते। तात्पर्यार्थ का बाध भी तभी होता है जब तात्पर्यार्थ ज्ञात हो, उसका बोध किसी अन्य उपाय से होता नही अतः उसके लिये भी व्यञ्जना मानना ही एक-मात्र मार्ग है।

---

५९ (क) "गुणीभूतव्यंङ्ग्यभेद समासोक्तिः।" –रस. पृ. ४००
(ख) व्यङ्ग्यस्य यत्राप्रधान्यं वाच्यमात्रानुयायिन.।
समासोक्त्यादयस्तत्र वाच्यालङ्कृतयः स्फुटाः॥ –(ध्व. पृ ११५)

६० 'समासोक्त्या श्लेषो बाध्यते।" –(रस. पृ. ४००)

६१ रस पृ ४००

(इसके आधार पर ही प्राचीन आलङ्कारिको के एक अन्य उदाहरण[१२] पर विचार किया गया है। उस विचार का उद्देश्य यह निश्चय करना ही है कि कहाँ समासोक्ति होती है और कहाँ श्लेष।)

श्लेष का शब्दालङ्कारत्व व अर्थालङ्कारत्व

श्लेष अलङ्कार शब्दालङ्कार है अथवा अर्थालङ्कार इस विषय मे औद्भट, मम्मटीय और रुय्यकीय मत दिये गये हैं। पण्डितराज का अपना कोई स्पष्ट मत सम्मुख नही आता।

उक्त तीनो मत इस प्रकार है—

औद्भट मत

सभङ्ग और अभङ्ग दोनो ही श्लेष अर्थालङ्कार ही हैं।[१३]

मम्मट का मत

अभङ्ग व सभङ्ग—श्लेष के दोनों भेद शब्दालङ्कार हैं क्योंकि उनमें श्लिष्ट पद का परिवर्तन नहीं किया जा सकता जिससे यही सिद्ध होता है कि शब्दविशेष पर ही नाना अर्थों की प्रतीति निर्भर करती है।

परन्तु श्लेष का तृतीय प्रकार (शुद्ध श्लेष) अर्थालङ्कार है क्योंकि वह किसी पद पर आधारित नही रहता अपितु अर्थमात्र पर ही आश्रित रहता है। अर्थात् इसमे यदि किसी पद को परिवर्तित कर दिया जाय तो भी विभिन्न अर्थों की प्रतीति होती ही है।[१४]

अलङ्कारसर्वस्व

सभङ्ग श्लेष और अभङ्ग श्लेष में से प्रथम श्लेष शब्दालङ्कार और द्वितीय श्लेष अर्थालङ्कार है। क्योंकि अन्वय-व्यतिरेक से घट के प्रति दण्ड के समान किसी कारणता का ज्ञान तो हो सकता है परन्तु आश्रयता का ज्ञान नहीं हो सकता। आश्रयता का ज्ञान तद्वृत्तित्व ज्ञान के आधार पर (कौन कहाँ रहता है इस ज्ञान के आधार पर) होता है। अर्थात् जो श्लेष जहाँ रहेगा उसी के आधार पर वह शब्दालङ्कार या अर्थालङ्कार होगा।

तदनुसार, सभङ्ग श्लेष मे दो शब्द उसी प्रकार परस्पर सलग्न रहते हैं जिस प्रकार जतु और काष्ठ। अर्थात् दो होते हुए भी वह एक के समान प्रतीत होते हैं। अत. दो शब्दों मे श्लेष रहता है—इस प्रकार का ज्ञान इसीको सिद्ध करता है कि वह शब्दालङ्कार है।

---

१२. 'रागावृतो बल्गुकराभिमृष्टं श्यामामुखं चुम्बति चारुचन्द्र' –(रस पृ. ४०१)

१३. 'सोऽयं श्लेषः सभङ्गोऽभङ्गश्चार्थालङ्कार एव इत्यौद्भटाः।' —(रस पृ ४०१)

१४. 'उभावप्येतौ शब्दालङ्कारौ, शब्दस्य परिवृत्त्यसहत्वादन्वयव्यतिरेकाभ्यां तदाश्रितत्वावधारणात्। तृतीयस्त्वर्थालङ्कारः, अर्थमात्राश्रितत्वात्। इति मम्मटभट्टाः।" –रस. पृ. ४०१

अभङ्ग श्लेष मे एक शब्द से दो अर्थों की प्रतीति उसी प्रकार होती है जैसे एक ही वृन्त मे दो फलो की उत्पत्ति। अर्थात् वहाँ एक ही शब्द से प्रतिपादित होन वाले दो अर्थों मे श्लेष रहता है--इस आकार का तद्वृत्तित्व ज्ञान उसे अर्थालङ्कार सिद्ध करता है।

यद्यपि अभङ्ग श्लेष को भी 'प्रति प्रवृत्तिनिमित्त' शब्दभेद.'[६५] सिद्धान्त के अनुसार दो शब्दो के होने से शब्दालङ्कार कहा जाना ही उचित है तथापि उन दोनो शब्दो की वर्णानुपूर्वी बिल्कुल एक समान होने के कारण यह प्रतीति नही होने देती कि वहाँ दो शब्द है।

यदि इस प्रकार से दो शब्दो का वर्णानुपूर्वी के अनुसार अभेद न माने तब 'प्रत्यर्थं शब्दनिवेश '[६६] के अनुसार मम्मट के अनुसार अर्थालङ्कार के अन्तर्गत गिना गया अर्थ श्लेष भी शब्द श्लेष हो जावेगा।

अत: अभङ्ग श्लेष को अर्थालङ्कार और सभङ्ग श्लेष को शब्दालङ्कार मानना ही उचित है।[६७]

विशेष विचार

श्लेष अलङ्कार अधिकतर अलङ्कारो के स्थल मे विद्यमान रहता है। उस समय वहाँ श्लेष अलङ्कार का व्यपदेश होगा, अथवा तदितर अलङ्कार का अथवा दोनो के सङ्कर का ?--यह है प्रश्न। इसके उत्तर मे उद्भट का, उनके विरोधियो का तथा कुछ अन्य आलङ्कारिको का मत दिया गया है। वह क्रमशः इस प्रकार है--

उद्भट का मत

'येन नाप्राप्ते य आरम्यते तस्य स बाधक.' अर्थात् 'जिसके अप्राप्त न रहने पर (अर्थात् प्राप्ति होने पर) जो आरम्भ होता है वह उसका बाधक होता है' इस नियम के अनुसार अन्य अलङ्कार के विषय मे ही आरम्भ होने वाला यह श्लेष अलङ्कार अन्य अलङ्कारो को बाधित करता है।

ऐसा कोई उदाहरण नहीं है जहाँ श्लेष के अतिरिक्त अन्य कोई अलङ्कार न हो और श्लेष उसे बाधित न करे। यदि प्रकृतार्थ मात्र का अथवा अप्रकृतार्थ मात्र का

६५-६६. दे. परि. ख-३

६७. 'अन्वयव्यतिरेकाभ्या हि हेतुत्वावगमो घट प्रति दण्डादेरिवास्तु, न त्वाश्रयत्वावगम। स तु पुनस्तद्वृत्तित्वाज्ञानाधीन। इह हि सभङ्गश्लेषस्य शब्दद्वयवृत्तित्वं जतुकाष्ठन्यायेन, अभङ्गस्य चार्थद्वयवृत्तित्वमेकवृन्तगतफलद्वयवच्च स्फुटमेवेत्येकस्य शब्दालङ्कारत्वमपरस्यार्थालङ्कारत्वम्। यद्यपि द्वितीयस्यापि 'प्रतिप्रवृत्तिनिमित्तं शब्दभेद:' इति नये शब्दद्वयवृत्तित्वाच्छब्दालङ्कारत्व-मुचितम्, तथापि शक्ततावच्छेदकानुपूर्वभेदादभेदाध्यवसानाच्छब्दद्वयवृत्तित्वज्ञान दु:शकम्। अन्यथा 'प्रत्यर्थं शब्दनिवेश' इति नये पराभिमतोऽर्थश्लेषोऽपि शब्दालङ्कार एव स्यात्। इत्यलङ्कारसर्वस्वकारादय।"--(रस. पृ. ४०१-४०२)

वर्णन होगा तो वहाँ तुल्ययोगिता ही होगी। और जहाँ प्रकृत-अप्रकृत उभय का वर्णन होगा वहाँ दीपक होगा। और उससे ध्वनित होगी उपमादि।

काव्य प्रकाश मे कहे गये—

'देव त्वमेव पातालमाशाना त्व निबन्धनम् ।
त्व चामरमरुद्भूमिरेको लोकत्रयात्मक ।।'[६८]

इस उदाहरण मे भी श्लेष का विविक्त स्थल नही है क्योंकि वास्तव मे यहाँ रूपक की ही स्पष्ट प्रतीति हो रही है। क्योकि रूपक के बिना श्लेष से प्रतिपादित पातालादि पदो के अर्थों का अभेदारोप किये बिना तीनो लोको की सिद्धि नही हो सकेगी।

इसके विरोध मे, 'नदीनां सम्पद बिभ्रद्राजायं सागरो यथा' इत्यादि मे उपमा का, यथा के स्थान पर 'किमु' पद कर देने से उत्प्रेक्षा का, और किमु के स्थान पर 'अपर:' कर देने पर रूपक का बोध कैसे होगा—यह भी नही कहना चाहिये; क्योकि यहाँ उपमा आदि अलङ्कारो का आभास मात्र ही होता है, वास्तविक स्थिति नही। धवलता के कारण शुक्ति मे रजत की प्रतीति होने पर ही वह प्रतीति सत्य नहीं होती।

अत: उपमादि के उत्थापन-कारणरूप श्लेष ही सर्वत्र अलङ्कार व्यपदिष्ट होता है।[६९]

उद्भट विरोधी मत

उद्भट ने जो 'येन नाप्राप्ते-' इत्यादि सिद्धान्त के आधार पर श्लेष को अलङ्कारान्तर का बाधक माना है वह ठीक नहीं है क्योकि—

(१) तदनुसार, हमारे पूर्वोक्त 'पद्माक्यं तरिकमपि ललितम्.....' इत्यादि पद्य मे और 'सर्वदोमाधव: पातु यो गङ्गां समदीधरत्.....' इत्यादि दूसरे आलङ्कारिक के पद्य मे श्लेष के अतिरिक्त और कौनसा अलङ्कार होगा? तुल्ययोगिता हो नही सकती क्योकि उसमे नियमत: सादृश्य की प्रतीति होती है। वैसी प्रतीति इसमे नही होती। क्योंकि यहाँ लक्ष्मी और कमल में अथवा हरि और हर मे सादृश्य प्रतिपादित करने मे कवि का तात्पर्य नहीं है।

(२) इसके अतिरिक्त, इस पद्य मे जो चमत्कार उत्पन्न होता है वह केवल इसलिये कि एक ही चीज को (शब्द को) सुनने से दो अर्थों का बोध होता है। इसके अतिरिक्त चमत्कार का कोई कारण ही नहीं है जो किसी दूसरे अलङ्कार की कल्पना की भी जाये। एक शब्द को सुनने से दो अर्थों की प्रतीति होना श्लेष का ही विषय

६८. का. प्र. पृ. १२
६९. रस. पृ. १२१ (उक्त सम्पूर्ण मत)

होता है। अन्य किसी का नही। अत. जब श्लेष का स्वतन्त्र स्थान सम्भव है तो फिर उसको दूसरे अलङ्कारो का बाधक कहना अनुचित है।

अत· 'नदीना सम्पद बिभ्रद्राजाय सागरो यथा' इत्यादि में उपमा की प्रातिभासिकी सत्ता है यह कहना भी अनुचित है क्योकि गुण, क्रिया आदि के समान शब्दमात्र के समानधर्म होने पर भी उपमा निर्बाध रूप से होती है। इसी प्रकार अन्य अलङ्कारो की भी, जो श्लेष के साथ रहते है, वास्तविक स्थिति होती है, अवास्तविक नही। वास्तव मे देखा जाय तो श्लेष का ही वहाँ भ्रम रहता है।

(३) पूर्णोपमा मे सर्वत्र ही श्लेष विद्यमान रहता है, अत· यदि श्लेष अन्य अलङ्कार का बाधक स्वीकार कर लिया जाय तो पूर्णोपमा का कोई स्थल रह ही नही जायेगा। फलत. श्लेष अलङ्कार जब अन्य अलङ्कारो के बिना भी सम्भव है तो अलङ्कारान्तर के साथ होने पर उसे बाध्य ही मानना उचित है। उससे दोनों अलङ्कारो की रक्षा हो जायेगी।

'समराचितोऽप्यमराचितः' इत्यादि मे श्लेष की प्रतीति उसी प्रकार होती है जिस प्रकार तिमिर रोग से ग्रस्त व्यक्ति को दो चन्द्रमाओ की। अतः यहाँ श्लेष अलङ्कार का केवल भ्रम ही होता है वास्तविक चमत्कार नहीं।

यहाँ श्लेष न मानने का दूसरा कारण यह है कि दूसरे अर्थ की प्रतीति देर तक नही रहती श्लेष मे दोनो अर्थ समानरूप से स्थिर रहते हैं। केवल आभासमात्र होने पर विरोध अलङ्कार होता है श्लेष नही-यह स्पष्ट ही है। अतः 'समराचितो—' इत्यादि में श्लेषाधारित विरोध अलङ्कार ही है न कि विरोध बोध के कारण उत्पन्न श्लेष।

(४) श्लेषालङ्कार मे सर्वत्र उपमा, रूपक आदि अलङ्कारान्तर की स्थिति होगी ही—यह भी नही है। अत. श्लेष को बाधक कहना उचित नहीं है।

यदि सामान्य रूप से यह कहा जाय कि श्लेष के साथ जो भी अलङ्कार होगा उसका वह बाध करेगा तो श्लिष्ट परम्परित रूपक और श्लिष्ट परम्परित समासोक्ति का उच्छेद ही हो जायेगा क्योकि उनमे तो सदा श्लेष रहता ही है।

अतः श्लेष के साथ अन्य अलङ्कार के होने पर दोनो का सङ्कर मानना ही उचित है न कि श्लेष को अलङ्कारान्तर का बाधक।[७०]

तृतीय मत

किसी अलङ्कार—विशेष का व्यपदेश तभी होता है जब वह प्रधानरूप से चमत्कार को उत्पन्न करता है। यदि वही अलङ्कार किसी अन्य का उपस्कारक हो

७०. रस पृ ३१४ (उक्त सम्पूर्ण मत)

जाये तो अपने नाम से व्यपदिष्ट नही होता। जैसे 'रराज भूमौ वदन मृगाक्ष्या नभोविभागे हरिणाङ्कबिम्बम्' इसमे प्रकृत और अप्रकृत अर्थों के साथ एक ही धर्म का अन्वय होने से दीपक अलङ्कार व्यपदिष्ट होता है परन्तु वही दीपक 'राजते वदन तन्व्या नभसीव निशाकरः' इसमें उपमा का उपस्कारक हो जाने से व्यपदिष्ट नही होता। इसलिये कहा गया है 'प्राधान्येन व्यपदेशा भवन्ति'। अर्थात् प्राधान्य होने पर ही किसी अलङ्कार का व्यपदेश होता है।

इस प्रकार किसी अन्य अलङ्कार के उपरस्कारक के रूप मे स्थित श्लेष भी उसी प्रकार अप्रधान हो जाता है जिस प्रकार अपने गृह मे रहते हुए भी अतिथि के आजाने से गृहस्वामी अप्रधान हो जाता है। अत. अलङ्कारान्तर के साथ आने पर श्लेष बाधित हो जाता है, अलङ्कारान्तर का ही वहाँ व्यपदेश होता है।[७१]

इस प्रकार, संक्षेप में, उक्त मतत्रयानुसार क्रमश श्लेष का बाधकत्व, दोनो का सङ्कीर्णत्व और श्लेष का बाध्यत्व रहता है।

समवलोकन

श्लेषालङ्कार का कतिपय प्रमुख अलङ्कारों के अन्तर्गत स्थान रहा है। पण्डितराज ने भी उसका विस्तार से विचार किया है। जहाँ तक लक्षण व भेद का प्रश्न है, उसमें कोई विशेष मत-भेद दृष्टिगोचर नहीं होता परन्तु कुछ अन्य विषयों पर भी विचार किया गया है जैसे श्लेष अर्थालङ्कार है या शब्दालङ्कार तथा श्लेष के साथ यदि कोई दूसरा भी अलङ्कार हो तो वहाँ दोनों का सङ्कर होगा अथवा श्लेष होगा अथवा अन्य अलङ्कार, उस विषय में पण्डितराज ने अनेक आलङ्कारिकों के मत दिये हैं परन्तु उनका अपना क्या मत है यह कहीं पता नहीं लगता। अतः एक प्रकार से परिष्करणीय विषय पण्डितराज ने भी अपरिष्कृत ही छोड़ दिया है।

अप्पय दीक्षित का खण्डन करने मे उन्होंने मम्मट की शरण ली है परन्तु इस विषय में पण्डितराज का स्वयं मम्मट के साथ मतैक्य नहीं है। शब्दशक्तिमूलध्वनि के प्रसंग मे इसे स्पष्ट किया जा चुका है। अतएव अप्पय का खण्डन एक व्यामिश्रित विचार प्रतीत होता है।

'अधिक'

लक्षण

पण्डितराजकृत लक्षण

अधिकालङ्कार का लक्षण है —

'आधाराधेययोरन्यतरस्यातिविस्तृतत्वसिद्धिफलकमितरस्यातिन्यूनत्वकल्पनमधिकम्।'[७२]

---

७१. रस पृ. ३६२ (उक्त सम्पूर्ण मत)

७२. रस पृ. ४५१

अर्थात् आधार और आधेय मे से किसी भी एक को अत्यन्त विस्तृत सिद्ध करने के लिये दूसरे के अतिन्यूनत्व की कल्पना करना ही अधिकालङ्कार है। जैसे—

लोकाना विपद धुनोषि, तनुषे सम्पत्तिमत्युत्कटा—
मित्यल्पेतरजल्पितैर्जडधिया भूपाल मा गा मदम्।
यत्कीर्तिस्तव वल्लभा लघुतरब्रह्माण्डसद्मोदरे
पिण्डीकृत्य महोन्नतामपि तनु कष्टेन हा वर्तते।[७३]

इसमे ब्रह्माण्ड की अतिसूक्ष्मता की कल्पना से आधेयरूपा कीर्ति का परममहत्त्व सिद्ध होता है। इस अधिकालङ्कार से यहाँ व्याजस्तुति का पोषण हो रहा है।

इसी प्रकार अन्य अनेक उदाहरण दिये है तथा अलङ्कारसर्वस्वकार के द्वारा अधिकालङ्कार के उदाहरण के पद्य को भी अयुक्त सिद्ध किया है। क्योकि उसमे यदि कविप्रतिभा से वर्णन न किया गया हो, स्वाभाविक रूप से सिद्ध हो तो वह चमत्कारी नही होने से अलङ्कार का विषय नही होता।[७४]

समवलोकन

इस अलङ्कार का प्रतिपादन प्राचीन परम्परा के ही अनुकूल है। कवि प्रतिभा से सम्पुटित न होने पर अधिक अलङ्कार का चमत्कार नहीं होता।

अन्योन्य

लक्षण

पण्डितराजकृत लक्षण :—

इस अलङ्कार का लक्षण इस प्रकार है :—

द्वयोरन्योन्येनान्योन्यस्य विशेषाधानमन्योन्यम्।[७५]

इसका तात्पर्य है कि दो जनों का परस्पर विशेष सम्पादन होने पर अन्योन्य अलङ्कार होता है। विशेषाधान का तात्पर्य है क्रिया आदि। अर्थात् एक व्यक्ति दूसरे का और दूसरा व्यक्ति पहले का जब कोई विशेष कार्य आदि सम्पन्न करे तो अन्योन्यालङ्कार होता है। जैसे—

सुदृशो जितरत्नजालया सुरतान्तश्रमबिन्दुमालया।
अलिकेन च हेमकान्तिना विदधे कापि रुचिः परस्परम्।[७६]

इसमे विशेष वस्तु है 'शोभा'। वह गुण रूप है। उस शोभा को रत्नमाला और स्वर्णवर्णी ललाट ने परस्पर विशेषरूप से बढ़ाया अर्थात् माला ने ललाट की शोभा को और ललाट ने माला की शोभा को बढ़ाया। अतः अन्योन्यालङ्कार है।

---

७३ रस पृ. ४५३

७४. रस पृ. ४५४

७५. रस. पृ. ४५५

७६. रस. पृ. ४५५

जहाँ कोई क्रिया विशेषाधानरूपा होती है वहाँ भी अन्योन्यालङ्कार होता है। जैसे--

परपूरुषदृष्टिपातवज्राहतिभीता हृदय प्रियस्य सीता।
अविशत्परकामिनीभुजङ्गीभयत सत्वरमेव सोऽपि तस्याः ।।[७७]

इसमे श्रीराम और सीता ने परस्पर आलिङ्गन मे एक दूसरे की विशेष सहायता की। आलिङ्गन क्रिया है अतः क्रिया मे परस्पर सहायक होने से यहाँ भी अन्योन्य है।

अप्पयदीक्षित का मत

कुवलयानन्द मे अन्योन्यालङ्कार के लिये यह उदाहरण दिया गया है —

यथोर्ध्वाक्षः पिबत्यम्बु पथिको विरलाङ्गुलिः।
तथा प्रपापालिकापि धारा वितनुते तनुम् ।।[७८]

इस पद्य में किये गये वर्णन के अनुसार प्रपापालिका और पथिक इन दोनो ने एक दूसरे को देर तक देखने मे एक दूसरे की विशेष सहायता की। प्रपापालिका ने जल की धारा को मन्द किया और पथिक ने अपनी अङ्गुलिकाओं को फैला दिया जिससे दोनो को परस्परदर्शन का अधिक काल तक सुख मिल सका। इस व्यापार के मध्य प्रपापालिका का मनोभाव यह था कि पथिक मुझको अधिक समय तक देखता रहे और पथिक का मनोभाव यह था कि प्रपापालिका मुझे अधिक समय तक देखती रहे। इस इच्छा की पूर्ति मे जल-दान और जल-पान यह दोनो बहाने मात्र ही थे। अतएव पथिक और प्रपापालिका ने परस्पर कार्य सम्पादन किया इसलिये यहाँ अन्योन्य अलङ्कार है।[७९]

पण्डितराजकृत खण्डन

पण्डितराज ने अप्पय-प्रदत्त उक्त उदाहरण को दो आधारों पर खण्डित किया है। प्रथम कारण है-'अत्र प्रपापालिकाया ……' इत्यादि पंक्ति मे वाक्यरचना का शैथिल्य, और द्वितीय कारण है—इस उदाहरण में अन्योन्यत्व की असिद्धि।

(१) वाक्यरचना के शैथिल्य मे कारण यह है कि 'स्वमुखावलोकनमभिलषन्त्याः' और 'स्वमुखावलोकनमभिलषत' इन पदो मे 'स्व' पद क्रमशः किसके बोधक हैं यह स्पष्ट नहीं होता। झटिति जिस अर्थ की प्रतीति होती है वह है क्रमशः प्रपापालिका और पथिक। क्योंकि 'स्वमुखावलोकनमभिलषन्त्या' प्रपापालिका का विशेषण

---

७७. रस पृ. ४५५

७८. कुव. पृ १६८

७९. कुव. की मूल पंक्ति यह है '—'अत्र प्रपापालिकायाः पथिकेन स्वासक्त्या पानीयदानव्याजेन बहुकालं स्वमुखावलोकनमभिलषन्त्या विरलाङ्गुलिकरणलक्षितं पानीयदानानुवृत्तिसम्पादनेनोपकारः कृतः। तथा प्रपापालिकयापि स्वमुखावलोकनमभिलषत. पथिकस्य धारातनूकरणलक्षितं पानीयपानानुवृत्तिसम्पादनेनोपकारः कृत।" (कुव.। पृ. ११८)

है अत स्व पद से प्रपापालिका का ही बोध होता है पथिक का नहीं। इसी प्रकार 'स्वमुखावलोकनमभिलषत·' इसमे प्रयुक्त 'स्व' पद पथिक का बोधक है क्योकि पथिक के विशेषण के अन्तर्गत है। परन्तु अप्पयदीक्षित ने इन स्व पदो से जो क्रमश. पथिक और प्रपापालिका की विवक्षा की है वह अनुचित है।

(२) यदि अप्पयदीक्षिताभिमत विवक्षा को स्वीकार भी कर लिया जाय तो तो उस वाक्य का अर्थ सङ्गत नही होगा, उसमे अन्विति नही हो सकेगी।[८०]

(३) इसके उत्तर मे यदि यह कहा जाय कि—सर्वनाम से तो 'बुद्धिस्थ विशेषण से युक्त अर्थ' का ही बोध होता है। उसका अपना कोई निश्चित अर्थ नहीं है। अत प्रकरण और विवक्षा के बल पर उससे अभीष्ट अर्थ का बोध हो ही जायेगा—तो भी ठीक नही है, क्योकि ऐसा मानने पर तद्, इदम्, अस्मद्, युष्मद् आदि पदो की व्युत्पत्ति के समान ही स्व आदि अन्य पदों की व्युत्पत्ति को भी निश्चित करना पड़ेगा।[८१] (तत् पद परोक्ष बोधक, इद पद प्रत्यक्ष बोधक, अस्मत् पद वक्तृ बोधक और युष्मत् पद सम्बोध्य बोधक है—इस प्रकार की व्युत्पत्ति है। इसी प्रकार से स्वादि अन्य पदो की भी व्युत्पत्ति कल्पित करनी पड़ेगी।)

(४) प्रस्तुत प्रकरण के अनुसार वह व्युत्पत्ति यही हो सकती है कि 'जिसके विशेषण के रूप मे स्व निज आदि पद आये उनके (अर्थात् विशेष्यों के) ही बोधक वह पद हो।' परन्तु इस प्रकार की व्युत्पत्ति भी उचित नहीं है क्योंकि 'स्वदाररतानां विप्राणामह भक्तः, देवदत्तस्य पुत्रः स्वमातृभक्त' इत्यादि में स्वपद से 'मदीय' और 'देवदत्तीय' इन अर्थों का बोध होने लगेगा, जो नितान्त अनुचित एवं व्यवहारतः असत्य है। किसी भ्रान्त को भी 'मदीयदाररतानाम्' और 'देवदत्तमातृभक्तः' इस प्रकार का बोध नही होता।[८२]

(५) मम्मट ने भी अपने ग्रन्थ मे इस प्रकार की प्रतीति को दोष कहा है क्योंकि 'निजतनुस्वच्छलावण्यवापीसम्भूताम्भोजशोभां विदधदभिनवो दण्डपादो भवान्याः।' इसमें 'निज' पद 'दण्डपाद' का विशेषण है अतः 'दण्डपादगत तनुता' की

८०. "स्वमुखावलोकनमभिलषन्त्या इत्यत्र स्वशब्दस्य प्रपापालिकाविशेषणघटकत्वेन प्रपापालिका-बोधकत्वमेव न्याय्यम्, न पान्थबोधकत्वम्। एवं स्वमुखावलोकनमभिलषत इत्यत्रापि पान्थबोधकत्वमेव, न स्वदिष्टप्रपापालिकाबोधकत्वम्। एवं स्थितेऽर्थासंङ्गति. स्पष्टैव।" (रस. पृ. ४५५)

८१. "न च सर्वनाम्ना बुद्धिस्थप्रकारावच्छिन्ने शक्तत्वादिष्टबोधोपपत्तिरिति वाच्यम्। तदिद-मस्मद्युष्मदादिष्विव तत्तद्विशेषव्युत्पत्तेरपि कल्पनीयत्वात्" (रस०। पृ० ४५५)

८२. "सा च प्रकृते यद्विशेषणघटकत्वेन स्वनिजादय शब्दा उपात्तास्तद्बोधका इत्येवंरूपा। तेन 'स्वदाररतानां' विप्राणामह भक्त', देवदत्तस्य पुत्र स्वमातृभक्त" इत्यादौ मदीयदाररताना-मिति, देवदत्तमातृभक्त इति च न कस्याप्यभ्रान्तस्य स्वरसवाहिनी प्रतीतिः। (रस. पृ. ४५५–४५६)

प्रतीति होनी चाहिये परन्तु वास्तव मे उस निज पद से 'भवानी' रूप अर्थ ही विवक्षित है। अत: जिस विशेषण के अन्दर निजादि पद हो उसी के बोधक बहु होते हैं यह मानना अनुचित है।[८३]

(६) यदि 'स्वदाररतानाम्–' इत्यादि को मदीयादि अर्थ की ही विवक्षा मानकर प्रयोग किया भी जाय तो प्रयोगकर्ता भी हास्यास्पद हो जायेगा।

(७) यदि यह कहा जाय कि इस प्रकार का अनुचित प्रयोग केवल काव्य मे ही दोष होता है, अकाव्य मे नही। और अप्पय दीक्षित ने जहाँ इस प्रकार के वाक्य का प्रयोग किया है वह काव्य नही है अत वहाँ उसे दोष नही मानना चाहिये जैसे श्रुतिकटुत्वादि दोष; तो इसका उत्तर यह है कि यह तो शब्द व्युत्पत्ति मात्र का दोष है। अर्थात् जहाँ भी शाब्द बोध होगा वही इस प्रकार की अव्युत्पत्ति (अनुचित बोध) दोष ही होगा। केवल काव्य का ही दोष मानना अनुचित है।

जहाँ भी शाब्द बोध हो वहीं काव्य है— इस प्रकार शाब्द बोध मात्र में काव्य का अन्तर्भाव भी अनुचित है।[८४]

इस वाक्य रचना की शिथिलता के अतिरिक्त एक दूसरा दोष और है उससे भी यह उदाहरण अन्योन्यालङ्कार का उदाहरण नहीं बन पाता।

वह दोष है अन्योन्यत्व की असिद्धि।

(८) लक्षण में जो 'अन्योन्यत्व' की विवक्षा है वह इस रूप में है कि एक की इष्टसिद्धि दूसरे के ही व्यापार से हो और दूसरे की इष्ट सिद्धि पहले के ही व्यापार से हो। यदि प्रथम व्यक्ति की इष्टसिद्धि अपने कार्य से भी होती हो तथा दूसरे के कार्य से भी होती हो तो वह दूसरे के द्वारा किया गया उपकार चमत्कारी नहीं होता। अन्योन्य में रहने वाला परस्परोपकार तभी चमत्कारी होता है जब उसका फल स्वयं को लेशमात्र भी न मिले अपितु दूसरे को ही मिले। अपनी इष्टसिद्धि दूसरे के व्यापार पर ही निर्भर करती हो। अर्थात् जो व्यापार करे वह उस व्यापार के फल का भोक्ता न हो और जो फल का भोक्ता हो वह उस व्यापार का कर्ता न हो। अपने व्यापार से अपने ही फल की सिद्धि होने पर यदि दूसरे के व्यापार से उस फल की सिद्धि मे सहायता मिले भी तो वह चमत्कारी नहीं होती—तुषार-शिशिरीकरण न्याय के समान।

---

८३. "अत एव–'निजतनुस्वच्छलावण्यवापीसम्भूताम्भोजशोभां विदधदभिनवो दण्डपादो भवान्याः' इत्यत्र दण्डपादगता तनुः प्रतीयते। भवानीगता तु सा अपेक्षिता।' इति व्युत्पन्नशिरोमणि-मम्मटभट्टैः काव्यप्रकाशेऽभिहितम्।" रस०। पृ० ४५१

८४. 'न चेदं श्रुतिकटुत्वादिवदकाव्यमात्रविषयं दूषणमिति वाच्यम्। शाब्दव्युत्पत्तौ काव्यस्या-न्तर्भावात्। मदीयदाररतानामिति, देवदत्तमातुर्भक्त इति च तात्पर्येण प्रागुक्तवाक्यप्रयोक्तु-रनुपहसनीयतापत्तेश्च।" (रस०। पृ० ४५१)

तदनुसार इस उदाहरण मे अन्योन्यत्व सिद्ध नही होता। यहाँ इष्ट फल है चिरकाल दर्शन। प्रपापालिका के पक्ष मे इसकी सिद्धि यद्यपि पथिक के द्वारा अङ्गुली-विरलीकरण से हो रही है तथापि उसके अपने ही व्यापार-धारातनूकरण से भी हो ही रही है। इसी प्रकार पथिक के पक्ष मे प्रपापालिका के धारातनूकरण रूप व्यापार से फल सिद्धि मे सहायता मिल रही है तथापि पथिक के अपने ही व्यापार अङ्गुली-विरलीकरण से भी वह सम्पन्न हो ही रहा है। अतः अपने व्यापार का फल दूसरे के साथ-साथ अपने को भी मिल रहा है। जो व्यापारकर्ता है वही फलभोक्ता भी है। इस कारण यहाँ परस्पर उपकार हो अवश्य रहा है परन्तु चमत्कारी नही है उक्त तुषारशिशिरीकरण न्याय से।

इन दो कारणों से यहाँ अन्योन्यालङ्कार नही है।[८५]

समवलोकन

अन्योन्यालङ्कार मे अलङ्कार के निरूपण से अधिक दीर्घकाय अप्पयदीक्षित का खण्डन है।

अप्पय दीक्षित ने जो अन्योन्य का स्वरूप माना है और पण्डितराज ने जो स्वरूप माना है उनमे कुछ अन्तर है। दीक्षित ने केवल परस्पर उपकार को ही अन्योन्य माना। उसमे यह आवश्यक नही था कि दूसरे व्यक्ति के द्वारा जिस प्रयोजन की सिद्धि हो रही हो उसकी सिद्धि स्वयं अपने द्वारा बिल्कुल न होती हो अथवा स्वयं उसका फल न मिलता हो जबकि पण्डितराज ने वहीं अन्योन्यालङ्कार माना जहाँ एक व्यक्ति के द्वारा की गयी क्रिया का फल पूर्णरूप से दूसरे ही व्यक्ति को मिले स्वयं को न मिले।[८६]

इसी भेद के कारण अप्पयदीक्षित का दिया हुआ पद जगन्नाथ की दृष्टि से अनुदाहरण है।

पण्डितराज ने रचना-शैथिल्य का दोषत्व दिखाते हुए यह कहा है कि 'स्व' पद का अप्पय को जो अर्थ अभीष्ट है वह क्रमशः पथिक और प्रपापालिका है जबकि वास्तव मे विवक्षा इसकी विपरीत है अर्थात् 'स्वमुखावलोकनमभिलषन्त्याः' मे स्व पद प्रपापालिकाबोधक और 'स्वमुखावलोकनमभिलषतः' में स्वपद पथिकबोधक है। पण्डितराज के इस कथन की सत्यता किस सीमा तक है यह विचारणीय है क्योंकि

---

८५. किं च परस्परोपकारो हि स्वव्यधिकरणव्यापारसाध्य एव चमत्कारित्वाल्लक्षणघटक, न तु स्वसमानाधिकरणतत्साध्योऽपि। तत्र हि तुषारशिशिरीकरणन्यायेनान्यव्यापारस्यानावश्यकतया चमत्कारित्वाविरहात्। इह हि धारातनूकरणाङ्गुलीविरलीकरणयोः कर्तृभ्यां स्वस्वकर्तृक-चिरकालदर्शनार्थंप्रयुक्तयोस्तत्तैवोपयोगश्चमत्कारी, नान्यकर्तृकचिरकालदर्शन इत्यनुदाहरण-मेवैतदन्योन्यालङ्कारस्येति सहृदया विचारयन्तु। —रस० पृ० ४५६

८६. "स्वव्यधिकरणव्यापारसाध्य एव चमत्कारित्वाल्लक्षणघटक., न तु स्वसमानाधिकरण एव तत्साध्योऽपि।" रस० पृ० ४५६

'अत्र प्रपापालिकाया ...' इत्यादि के पश्चात् अप्पय दीक्षित ने उसमे प्रयुक्त स्व पद की कोई व्याख्या नही की है। झटिति होने वाले अन्वय बोध मे उससे प्रपा-पालिका और पथिक का ही बोध होता है।

द्वितीय दोष–अन्योन्यत्व की असिद्धि भी साधार नही है क्योकि अप्पयदीक्षित ने स्वय यह स्वीकार किया है कि इसमे पथिक और प्रपापालिका का व्यापार उनके निजी प्रयोजन की सिद्धि मे भी सहायक है तथापि वे परोपकार करते ही हैं इसलिये यहाँ अन्योन्य है।[८७] अतः जब तक कि यह सिद्ध न हो जाये कि व्यापारकर्तृत्व और तज्जन्यफल का व्यधिकरण मात्र ही अन्योन्यालङ्कार का स्थल है तब तक अप्पय दीक्षित के उदाहरण को अनुचित कहना निराधार है।

सारांश यह है कि वाक्य रचना शैथिल्य और अन्योन्यत्व की सिद्धि यह दोनो ही दोष पण्डितराज ने आग्रहपूर्वक प्रदर्शित किये हैं। वास्तव में उसमें एक भी दोष नहीं है।

काव्यलिङ्ग

लक्षण

पण्डितराजकृत लक्षण

'अनुमितिकारणत्वेन सामान्यविशेषभावाभ्यां चानालिङ्गित'
प्रकृतार्थोपपादकत्वेन विवक्षितोऽर्थः काव्यलिङ्गम्।'[८८]

जो अर्थ प्रकृत अर्थ का उपपादक हो किन्तु अनुमिति का कारण न हो तथा उपपाद्य अर्थ के साथ सामान्य-विशेषभाव न रखता हो वह अर्थ काव्यलिङ्ग कहलाता है। अर्थात् जब किसी प्रकृत अर्थ को उपपन्न करने की इच्छा से उपपादक अर्थ के रूप में किसी अर्थ की विवक्षा की जाती है तो वह अर्थ काव्यलिङ्ग कहलाता है। उपपादक होने पर भी यह आवश्यक है कि वह अनुमिति के साधन-हेतु-के समान अथवा सामान्य अर्थ के प्रति विशेष और विशेषार्थ के प्रति सामान्य न होता हो।

उपपादकत्व–उपपादकता का तात्पर्य है उस अर्थ की निश्चयता को उत्पन्न करने वाले ज्ञान का विषय होना (तन्निश्चयजनकज्ञानविषयत्वम्) इस विशेषण को देने से उपमादि अलङ्कारों का वारण हो जाता है।

उपपादक अर्थ भी केवल तभी काव्यलिङ्ग का विषय होता है जब वह सुन्दर और व्यङ्ग्य हो।

---

८७. 'अत्रोभयोर्व्यापाराभ्यां स्वस्वोपकारसद्भावेऽपि परस्परोपकारोऽपि न निवार्यते।" (कुव०। पृ० १६६)

८८. रस. पृ. ४६६

अनुमान और अर्थान्तरन्यास मे अतिव्याप्ति का वारण करने के लिये ही 'अनुमितिकारणत्वेन सामान्यविशेषभावाभ्यां चानालिङ्गित.' पद दिया है।

'उपपादकत्वेन विवक्षितोऽर्थ.' कहने से पञ्चमी विभक्ति के अन्त होने वाले पदो से जो हेतु प्रतिपादित होता है उससे काव्यलिङ्ग का विषय विविक्त हो जाता है।

अप्पयदीक्षिताभिमत लक्षण

अप्पय दीक्षित ने कुवलयानन्द मे काव्यलिङ्ग का लक्षण इस प्रकार किया है—

'समर्थनीयस्यार्थस्य काव्यलिङ्गं समर्थनम् ।'

अर्थात् समर्थन के योग्य अर्थ का समर्थन करना ही काव्यलिङ्ग अलङ्कार है। जो विषय दुर्गम होने के कारण किसी अन्य अर्थ के समर्थन की अपेक्षा रखता हो वह समर्थनीय है।[८९]

पण्डितराजकृत खण्डन

पण्डितराज के अनुसार अप्पय दीक्षित ने काव्यलिङ्ग का जो लक्षण दिया है उसकी अर्थान्तरन्यास मे भी अतिव्याप्ति होती है। क्योकि वहाँ भी एक अर्थ की दूसरे अर्थ से पुष्टि होती है। इसलिये यह कहना आवश्यक है कि काव्यलिङ्ग में जो समर्थ्य-समर्थक वाक्यार्थ है उनमे परस्पर सामान्यविशेषभाव न हो।

अर्थान्तरन्यास की यह विशेषता है कि उसमे सामान्य से विशेष की या विशेष से सामान्य की ही पुष्टि होती है। अतः इस लक्षण में 'सामान्यविशेषभावानालिङ्गित' इतना विशेषण और देना चाहिये।

काव्यलिङ्ग के भेद

काव्यलिङ्ग के पण्डितराज के द्वारा माने गये भेद इस प्रकार हैं—

८९. कुव. पृ। १९५
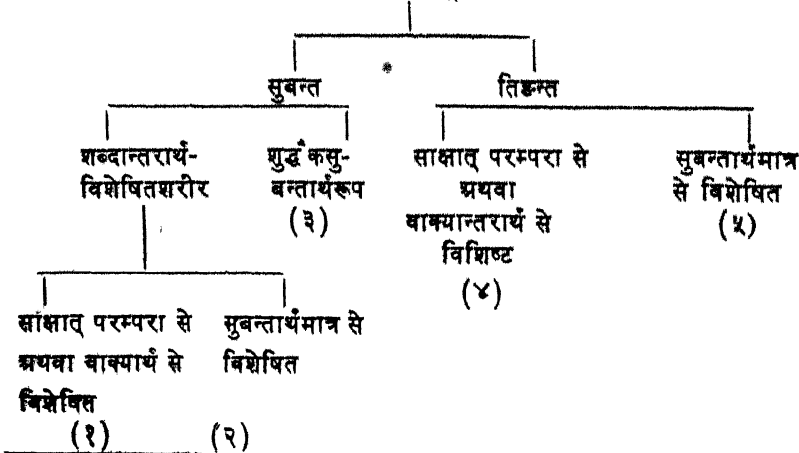
सर्वप्रथम काव्यलिङ्ग के दो भेद होते है । प्रथम भेद वह है जहाँ कोई सुबन्त पद से प्रतिपादित होने वाला अर्थ उपपादक हो और द्वितीय भेद वह है जहाँ कोई तिङन्त पद से प्रतिपादित होने वाला अर्थ काव्यलिङ्ग (उपपादक) हो ।

उक्त दोनो भेदो के पुन: दो-दो भेद हो जाते है – (१) जहाँ वह सुबन्त हेतु किसी अन्य पदार्थ से विशिष्ट हो (२) जहाँ वह सुबन्त हेतु किसी से विशिष्ट न हो, स्वय ही काव्यलिङ्ग हो ।

इनमे से भी प्रथम भेद मे दो स्थितियाँ हो सकती है-(१) जब वह सुबन्तार्थ साक्षात् अथवा परम्परा से किसी अन्य वाक्यार्थ से विशिष्ट हो (२) सुबन्तार्थ से ही विशिष्ट हो । यही दोनो प्रकार तिङन्त काव्यलिङ्ग के भी हो सकते हैं । अर्थात् कही तो हेतुभूत तिङन्त पदार्थ का कोई अन्य वाक्यार्थ साक्षात् अथवा परम्परा से विशेषण बनता हो और दूसरे जहाँ कोई सुबन्त पदार्थ ही तिङन्तार्थ का विशेषण हो । इस प्रकार काव्यलिङ्ग के पाँच भेद होते हैं ।

शुद्धकसुबन्तार्थ की भाँति शुद्धकतिङन्तार्थ रूप काव्यलिङ्ग का भेद नहीं हो सकता क्योकि क्रिया के लिये किसी न किसी कारक को विशेषण होना आवश्यक है ।

उदाहरणार्थ, प्रथम प्रकार का काव्यलिङ्ग इस प्रकार होता है—

अपन्ते तीर्थानि त्वरितमिह यस्योद्धृतिविधौ
कर कर्णे कुर्वन्त्यपि किल कपालिप्रभृतयः ।
इम तं मामम्ब त्वमथ करुणाक्रान्तहृदये
पुनाना सर्वेषामघमथनदर्पं दलयसि ।।[६०]

इसमें सम्पूर्ण तीर्थ स्थानों के दर्प को दलन करने के सामर्थ्य की सिद्धि के लिये स्वात्मपवित्रीकरण को हेतु रूप से निबद्ध किया गया है । एक व्यक्ति को पवित्र करने मात्र में यह सामर्थ्य नहीं है कि वह गङ्गा के दर्प-दलन को सिद्ध कर सके अतएव तीर्थों की लज्जा और महादेवादि का कर्णमुद्रण (कान बन्द कर लेना) यह दो वाक्य विशेषण के रूप में कहे गये हैं । उन विशेषण से विशिष्ट स्वात्म का पवित्रीकरण ही भागीरथी के उस दर्पदलन रूपी कार्य को उपपन्न करता है । अत: परम्परा से, अन्य वाक्यार्थ से विशिष्ट सुबन्तार्थ रूप काव्यलिङ्ग का स्थल है ।

द्वितीय प्रकार का उदाहरण—

विनिन्द्यान्युन्मत्तैरपि च परिहार्याणि पतितै-
रवाच्यानि व्रात्यैः सपुलकमपास्यानि पिशुनैः ।
हरन्ती लोकानामनवरतमेनांसि कियतां
कदाप्यश्रान्ता त्वं जगति पुनरेका विजयसे ।।[६१]

---

६०. रस. पृ. ४६७

६१. रस. पृ. ४६७

इसमे गङ्गा नदी की अद्वितीय उत्कृष्टता का वर्णन किया गया है। परन्तु वह स्वय में अनुपपन्न है अतः उसकी उपपत्ति के लिये निरन्तर सब लोगों के पापों को नष्ट करते हुए भी उसका न थकना उसकी उत्कृष्टता के कारण के रूप में प्रतिपादित किया गया है। इसमे हेतुभूत पद है अश्रान्ता जो सुबन्त है, इसका विशेषण है 'हरन्ती–' यह भी सुबन्त है। अत. यहाँ सुबन्तार्थ मात्र से विशेषित सुबन्तार्थ काव्य-लिङ्ग का स्थल है।

तृतीय प्रकार—

पद्मासनप्रमुखनिर्जरचित्तवृत्ति-
दुष्प्रपपदिव्यमहिमन्भवतो गुणौघान् ।
तुष्टूषतो मम नितान्तविभृङ्खलस्य
मन्तु शिशोः शिव न मन्तुमिहासि योग्यः ।।[६२]

इसमे शिशुत्व (बालकपन) अपराध को क्षमा करने में कारण है और वह शिशुत्व (शिशो.) सुबन्त पद है। इसी प्रकार दिव्यमहिमा का होना, अचिन्त्यमाहात्म्य का होना इत्यादि भी ब्रह्मादि के चित्त के लिये दुर्लभ होने में कारण है। इस प्रकार के माहात्म्य वाले परमेश्वर की स्तुति करना क्रोध के प्रति कारण है और उस स्तुति में हेतु है विश्रृङ्खलता।

शिशुत्व की क्षमा के प्रति कारणता को लेते हुए यह शुद्ध सुबन्तार्थ काव्यलिङ्ग का उदाहरण है।

चतुर्थ प्रकार का उदाहरण यह है—

विश्वास्य मधुरवचनै साधून्ये वञ्चयन्ति नम्रतया ।
तानपि दधासि मातः काश्यपि यातस्तवापि च विवेकः ।।[६३]

यहाँ उपपाद्य अर्थ है पृथ्वी का विवेक समाप्त हो जाना। इस अर्थ को उपपन्न करने के लिये 'दधासि' (धारण करना) रूप हेतु का ग्रहण किया गया है। परन्तु यह धारण करना भी स्वय उस अर्थ को सिद्ध करने में समर्थ नहीं है अतः उसके विशेषण के रूप मे साधुओ को प्रवञ्चित करने वाले लोगों को यह कहा गया। केवल धारण करना अथवा जनसाधारण मात्र का भी धारण करना पृथ्वीनिष्ठ अविवेक को सिद्ध नही कर सकता था। इस प्रकार यह वाक्यान्तरार्थ से परम्परया विशेषित तिङन्तार्थ काव्यलिङ्ग का उदाहरण है। अन्तिम प्रकार का उदाहरण इस प्रकार है–

तवालम्बादम्ब स्फुरदलघुगर्वेण सहसा
मया सर्वेऽवज्ञापुरपथमनीयन्त विबुधाः ।

६२. रस. पृ. ४६७
६३ रस. पृ. ४६८

इदानीमौदाम्य यदि भजसि भागीरथि तदा
निराधारो हा रोदिमि कथय केषामिह पुर. ॥[१४]

यहाँ निराधार इत्यादि अंश से (चतुर्थ चरण से) वक्ता के प्रति सबका विद्वेष अभिव्यक्त होता है उसका कारण है उसके द्वारा सबकी अवज्ञा करना। अर्थात् अनीयन्त है तिङन्त पद तथा उसके विशेषण है 'मया विबुधाः अवज्ञापुरपथम्' यह सुबन्त पद। अतः हेतु है सुबन्त से विशिष्ट तिङन्त पद। इसलिये इसमें पञ्चम प्रकार का काव्यलिङ्ग है।

यह सभी भेद चातुर्य मात्र पर आधारित है वैचित्र्य पर नही। जिस प्रकार मम्मट ने वाक्यार्थ और पदार्थ के भेद से काव्यलिङ्ग के भेद कर दिये है उसी प्रकार यहाँ भी रचना के आधार पर काव्यलिङ्ग के भेद कर दिये गये हैं। वास्तव मे इन भेदों में कोई चमत्कार नहीं है।

अलङ्कारसर्वस्वकार का मत

रुय्यक ने अपने ग्रन्थ अलङ्कारसर्वस्व मे पदार्थरूप काव्यलिङ्ग और वाक्यार्थ रूप काव्यलिङ्ग के दो उदाहरण दिये हैं जो इस प्रकार है—

यत्त्वन्नेत्रसमानकान्ति सलिले मग्नं तदिन्दीवरं
मेघैरन्तरितः प्रिये तव मुखच्छायानुकारी शशी।
येऽपि त्वद्गमनानुसारिगतयस्ते राजहंसा गता-
स्त्वत्सादृश्यविनोदमात्रमपि मे दैवेन न क्षम्यते ॥[१५]

इसमें प्रथम तीन चरण चतुर्थचरण के लिये हेतु रूप है। अतः अनेक वाक्यार्थों के हेतु होने से यह वाक्यार्थरूप काव्यलिङ्ग का उदाहरण है।

मृग्यश्च दर्भाङ्कुरनिर्व्यपेक्षास्तवागतिज्ञं समबोधयन्माम्।
व्यापारयन्त्यो दिशि दक्षिणस्यामुत्पक्ष्मराजीनि विलोचनानि ॥[१६]

यह लङ्का से श्रीसीता के साथ श्रीराम के लौटने पर श्रीराम की श्रीसीता के प्रति उक्ति है। इसमें 'समबोधयन्' (बताया) के हेतु के रूप मे 'व्यापारयन्त्यः' इस पद को दिया गया है जो मृगियों के विशेषण के रूप में उद्धृत है अतः पदार्थहेतुक काव्यलिङ्ग है।[१७]

अप्पयदीक्षित ने भी इसका समर्थन किया है।[१८]

---

१४. रस. पृ. ४६८
१५. अ० स० पृ. २६४
१६. अ. स. पृ. २६४
१७. अ स. पृ. २६४
१८. कुव०।पृ० १६५

पण्डितराजकृत खण्डन

पण्डितराज ने अलङ्कारसर्वस्वकार का उक्त कथन और दीक्षितकृत उसका समर्थन–दोनो को ही अनुचित सिद्ध किया है । उसके लिये आधार यह है:—

(१) अनुमान और अर्थान्तरन्यास मे काव्यलिङ्ग नहीं होता–यह सभी ने माना है । क्योकि इन तीनो का विषय यदि पृथक्-पृथक् नही मानेंगे तो अर्थान्तरन्यास और अनुमान इन दोनो का ही विषय काव्यलिङ्ग मे लुप्त हो जायेगा ।

(२) प्रथम उदाहरण मे काव्यलिङ्ग नही है अपितु अनुमान अलङ्कार है क्योकि इस उदाहरण मे यह स्पष्ट दिख रहा है कि चतुर्थ चरण मे कहे गये दैव मे, पूर्वोक्त चरणत्रय से ज्ञात होने वाले–नायिक के अङ्गो का जिस जिसमें सादृश्य है उस उसको नष्ट कर देना इस अर्थ से, नायिका के अङ्गों के सादृश्य को देखकर होने वाले नायकगत सुख को न सह सकने का अनुमान हो रहा है । अतः यहाँ-पक्ष है दैव, साध्य है नायकाङ्गसादृश्यदर्शनजन्यसुखासहिष्णुत्व और हेतु है तत्तत्सादृश्याधारविघटन । इस प्रकार स्पष्टतया यहाँ अनुमानअलङ्कार का चमत्कार है । काव्यलिङ्ग का नहीं । अनुमान का स्वरूप यह होगा-'दैव नायिका के अङ्गों के सादृश्य को देखकर होने वाले मेरे अभीष्ट सुख के प्रति असहिष्णु है, क्योकि वह नायिका के उन-उन अङ्गो के सादृश्य के आधारो को नष्ट करने वाला है ।'

(३) 'मृग्यश्च-' इत्यादि द्वितीय पद्य में भी अनुमान अलङ्कार ही है क्योकि मृगीनेत्रो के व्यापार का ज्ञान रामनिष्ठ ज्ञान का कारण ही है । यह कारणता वैसी ही है जैसी अनुमिति मे हेतु की साध्य के प्रति होती है ।

दोनो पद्यो के अनुमान अलङ्कार मे भेद इतना ही है कि प्रथम उदाहरण मे वह अनुमिति व्यङ्ग्या है और द्वितीय पद्य मे वह वाच्या है ।

तात्पर्य यह है कि उक्त दोनो उदाहरण वास्तव मे अनुमान अलङ्कार के उदाहरण है, काव्यलिङ्ग के नही । अत. कुवलयानन्दकार कृत समर्थन भी असत् है ।

काव्यलिङ्ग की अनलङ्कारता

अलङ्कार वहीं होता है जहाँ चमत्कार हो और चमत्कार वहाँ होता है जहाँ कवि की प्रतिभा से वर्णित काव्य हो.। काव्यलिङ्ग में कवि प्रतिभा के लिये कोई स्थान नहीं होने से चमत्कृति का अभाव है । दो वस्तुओं में कार्य-कारणभाव (हेतु-हेतुमद्भाव) होने मे कोई वैशिष्ट्य नही है क्योंकि वह स्वभाव-सिद्ध ही है ।

श्लेष आदि का सम्मिश्रण होने से वहाँ भी चमत्कार रहता है अत· काव्यलिङ्ग को भी पृथक् अलङ्कार मान लेना चाहिये–ऐसा भी कहना उचित नहीं है क्योंकि यदि किसी स्थल में श्लेषादि के कारण चमत्कार होता भी हो तो वहाँ श्लेष अलङ्कार ही होगा, काव्यलिङ्ग नही । जिस स्थान पर जिस अलङ्कार के कारण चमत्कार होता है उसी अलङ्कार का वहाँ व्यपदेश होता है । उपस्कार्य और उपस्कारक में से यदि

उपस्कारक की ही चमत्कृति हो तो उपस्कार्य अलङ्कार नही होता । जहाँ उपस्कारक से उपस्कृत होने पर उपस्कार्य से ही चमत्कार होता हो वहीं उपस्कार्य अश को लेते हुए काव्य का व्यपदेश होगा । जैसे हेतूत्प्रेक्षा और फलोत्प्रेक्षा मे अतिशयोक्ति उपस्कारक रहती है तथापि चमत्कारी उत्प्रेक्षा ही होती है अत' वहाँ उत्प्रेक्षा अलङ्कार माना जाता है ।

इस प्रकार से प्राचीन अलङ्कारिको के द्वारा स्वीकृत अनेक अलङ्कार समाप्त हो जायेगे–इस प्रकार की यदि आपत्ति की जाय तो उत्तर यह है कि उसमे अपनी कोई हानि नही होती ।

अतः काव्यलिङ्ग कोई पृथक् अलङ्कार नही है अपितु 'निर्हेतु-' नामक दोष का अभाव मात्र है ।

समवलोकन

पण्डितराज ने प्राचीन दृष्टि से काव्यलिङ्ग का निरूपण करते हुए भी उसमे नवीन भेदो की उद्भावना की है । मम्मट, रुय्यक आदि ने केवल वाक्यार्थ और पदार्थ के भेद से ही काव्यलिङ्ग का विभाजन किया है जबकि पण्डितराज ने उसके अन्य अनेक भेद सुबन्त तिङन्त आदि के आधार पर किये हैं ।

अप्पयदीक्षित के लक्षण में अव्याप्तिदोष देना नितान्त अनुचित है क्योंकि अर्थान्तरन्यास मे इसकी अतिव्याप्ति का निरास करने के लिये अप्पय ने स्वयं उसकी व्याख्या में 'सामान्यविशेषभावानालिङ्गित' विशेषण जोड़ने का सङ्केत कर दिया है । नागेश ने भी अप्पय के ऊपर किये गये इस आक्षेप को अनुचित कहा है ।[९९]

सम्पूर्ण विवेचन के पश्चात् ग्रन्थकार ने इसको पृथक् अलङ्कार स्वीकार न करके निर्हेतु दोष के अभाव मे ही गतार्थ कर देने वालों का भी मत दिया है परन्तु उसके ऊपर स्वय कोई आक्षेप नहीं किया है । इससे आभास यही होता है कि काव्यलिङ्ग की दोषाभाव में गतार्थता पण्डितराज को विशेष मान्य नहीं । इसका दूसरा प्रमाण अर्थान्तरन्यास मे भी मिलता है जहाँ इन्होने रुय्यक प्रदत्त दो अतिरिक्त भेदों में अर्थान्तरन्यास न मानकर काव्यलिङ्ग ही माना है ।[१००]

अनुमान

लक्षण

पण्डितराजकृत लक्षण

'अनुमितिकरणमनुमानम् ।'[१०१] अर्थात् जो अनुमिति का करण हो वह अनुमान है ।

---

९९. रस०। नागेशटीका। पृ. ४६९

१००. रस. पृ. ४७०

१०१. रस. पृ. ४७५

जिस प्रकार सुन्दरता से युक्त सुन्दर होता है वैसे ही अनुमितित्व (अनुमितिता) से युक्त अनुमिति होती है। अनुमितित्व एक जाति है। इस जाति को प्रमाणित करने वाला प्रमाण है 'अनुमिनोमि' 'अनुमिनोमि' इत्याकारक ज्ञान, जो साक्षियो को मानस साक्षात्कार से प्राप्त होता है।[१०२]

अनुमान का क्या आकार होता है इसमें विभिन्न मत है। एक मत के अनुसार व्याप्तिप्रकारक लिङ्गनिश्चय अनुमान है और दूसरे मत के अनुसार व्याप्यत्वेन निश्चय किया जाने वाला लिङ्ग अनुमान है। अस्तु, दोनों ही अनुमान तो समान रूप से हैं ही।

यही अनुमान जब कवि-प्रतिभा से प्रसूत होता है तो अलङ्कार बन जाता है।[१०३]

उदाहरण के लिये—

तस्मिन्मणिव्रातहृतान्धकारे पुरे निशालोपविधानदक्षे।
सद्यो वियुक्ता दिवसावसानं कोकाः सशोकाः कथयन्ति नित्यम् ॥[१०४]

इसमे कथयन्ति पद से प्रतिपादित होने वाले कथन का अर्थ है 'स्पष्ट बोध' और वह स्पष्ट बोध रूप कथन इस पद्य में अनुमित्यात्मक है। अर्थात् अनुमान से उसका बोध हो रहा है। अनुमान मे हेतु है कोक वियोग। 'जब जब कोकवियोग होता है तब तब दिवसावसान होता है' इस व्याप्ति में कोक वियोग रूप व्याप्य और दिवसावसान व्यापक है। अतः कोकवियोग को व्याप्यरूप से जानना ही है लिङ्ग ज्ञान तथा उससे अनुमान होता है दिवसावसान का।

इस अनुमान मे अन्धकार विशेष का अभाव अन्धकार सामान्य के अभाव मे अध्यवसित हो गया है। उस अध्यवसान के होने पर ही 'निशालोप की दक्षता' की सिद्धि होती है। उससे दिवसावसान का अभाव प्रमाणित होता है तत्पश्चात् उस दिवसावसान का ज्ञान कोक-वियोग रूप हेतु से होता है।

यह सम्पूर्ण वर्णन कवि प्रतिभा से उद्भूत है अतः अलङ्कार का विषय है। इसी प्रकार अन्य उदाहरण भी दिये गये हैं एवं उनकी सिद्धि की गयी है।

अनुमान अलङ्कार की विशेषताएँ

(१) जहाँ लिङ्ग-लिङ्गी की उपस्थिति के साथ मन्ये, शङ्के, अवैमि, जाने इत्यादि पदो का प्रयोग होता है वहाँ यह पद अनुमिति के बोधक होते हैं और जहाँ सादृश्य आदि निमित्तो के साथ इनका प्रयोग होता है वहाँ यह पद उत्प्रेक्षा के बोधक

१०२. अनुमितिश्चानुमितित्ववती। अनुमितित्व चानुमिनोमीति मानससाक्षात्कारसाक्षिको जाति-विशेषः। रस. पृ. ४७५

१०३. 'अस्य च कविप्रतिभोल्लिखितत्वेन चमत्कारित्वे काव्यालङ्कारता।' —रस पृ. ४७५

१०४. रस पृ. ४७५

होते है। इस प्रकार मन्ये शङ्के इत्यादि पद अनुमान और उत्प्रेक्षा दोनो के बोधक हो सकते है।

(२) जहाँ यह पद (मन्ये, शङ्के आदि) उपात्त होते हैं वहाँ अनुमान अलङ्कार वाच्य होता है। वक्ति, कथयति और लाक्षणिक पदो को ग्रहण करने पर यह अलङ्कार लक्ष्य हो जाता है और जब इनमे से किसी का भी ग्रहण न हो तो वह अलङ्कार व्यङ्ग्य होता है। तथा जहाँ साध्य का भी कथन नही होता केवल साधन का ही ग्रहण होता है और उसी से साध्य की प्रतीति होती है वहाँ यह अलङ्कार ध्वनि का विषय होता है।

ध्वन्यमान अनुमान का उदाहरण यह है—

'गुञ्जन्ति मञ्जु परितो गत्वा धावन्ति सम्मुखम्।
आवर्तन्ते विवर्तन्ते सरसीषु मधुव्रताः॥'[१०५]

इसमें साध्य है शरदृतु का आगमन। उसका किसी शब्द द्वारा प्रतिपादन नहीं हुआ। केवल भ्रमरों का गुञ्जनादि साधनों का ही वर्णन हुआ है एवं उसी से साध्य का भी अनुमान होता है। यह अनुमान यहाँ ध्वनित हो रहा है।

अनुमान अलङ्कार के इन चारों प्रकारों को समाविष्ट करने के लिये यह आवश्यक है कि अनुमिति को ही अनुमान मानें न कि अनुमिति के करण को। अनुमिति के करण के दो रूप बताये गये हैं—(क) ज्ञायमान लिङ्ग और (ख) लिङ्ग का ज्ञान। प्रथम रूप मानने पर अनुमान केवल वाच्य ही हो सकेगा। लक्ष्य का व्यङ्ग्य नहीं। और दूसरा रूप मानने पर वह केवल व्यङ्ग्य का ध्वन्यमान ही होगा वाच्य नहीं।

अनुमान पद की व्युत्पत्ति अनुमिति के अर्थ में इसलिये सङ्गत हो जायेगी क्योंकि ल्युट् प्रत्यय करण के समान भाव अर्थ में भी आता है।

अप्पयदीक्षित का मत

अप्पय दीक्षित ने मीलित और सामान्य के प्रतिद्वन्द्वी उन्मीलित और विशेषक नामक दो अलङ्कार माने हैं जिनका लक्षण इस प्रकार है—

(१) 'मीलितरीत्या भेदाग्रहे प्राप्ते केनचिद्धेतुना भेदज्ञाने सति मीलितप्रतिद्वन्द्वि उन्मीलितम्।'[१०६] अर्थात् जहाँ मीलित के लक्षण के अनुसार भेद की प्रतीति न हो, वहाँ किसी हेतु से भेद प्रतीति हो जाने पर मीलित का प्रतिद्वन्द्वी उन्मीलित अलङ्कार होता है। जैसे—

'हिमाद्रिं त्वद्यशोमग्नं सुराः शीतेन जानते॥'

---

१०५. रस पृ. ४७९

१०६. रस. पृ. ५१७। कुव. पृ. २४१

इसमे यश से अभिन्न हिमाद्रि को शीतलता के कारण यश से पृथक् किया गया है।

(२) 'सामान्यरीत्या जातिभेदाग्रहे प्राप्ते केनचिद्धेतुना सति वैजात्यग्रहे सामान्यप्रतिद्वन्द्वि विशेषकम् ।'[१०७] अर्थात् सामान्य अलङ्कार की रीति से जाति की भिन्नता का ग्रहण न होने पर भी किसी कारण से जाति की भिन्नता का भान हो जाये तो विशेषक अलङ्कार होता है। जैसे—

'लक्षितान्युदिते चन्द्रे पद्मानि च मुखानि च ।'[१०८]

इसमे चन्द्रोदय से विकसित होने के कारण पद्मत्व और मुखत्व रूप जातियो की भिन्नता ज्ञात हो रही है।

इन दोनों अलङ्कारो मे से उन्मीलित अलङ्कार का एक ऐसा भी प्रकार होता है जिसमे तद्गुण की स्थिति होने के कारण भेद का ग्रहण नहीं होता है।[१०९] जैसे—

नृत्यद्भर्गाट्टहासप्रसरसहचरैस्तावकीनैर्यशोभि-
र्धावल्ये नीयमाने त्रिजगति परितः श्रीनृसिंहक्षितीन्द्र ।
नेहयद्येष नाभीकमलपरिमलप्रौढिमासादयिष्य-
द्देवानां नाभविष्यत्कथमपि कमलाकामुकस्य प्रबोधः ।।[११०]

इसमे विष्णु ने अपने नीलगुण को छोड़कर अपने आपको नृसिंह देव की त्रिलोक मे व्याप्त यश की धवलिमा मे मिला लिया है। इस प्रकार यश तथा विष्णु की भेद प्रतीति के लुप्त होने पर नाभिकमल की सुगन्ध से विष्णु का ज्ञान हो रहा है। अतः तद्गुणाधारित उन्मीलित है।

पण्डितराजकृत खण्डन

इन दोनो अलङ्कारों का अन्तर्भाव अनुमानालङ्कार में हो जाता है। अतः इनको पृथक्-पृथक् अलङ्कार नहीं माना जा सकता।

(१) अनुमिति पद का तात्पर्य है व्याप्तिविशिष्ट पक्षधर्मताज्ञान से जन्य ज्ञान। अर्थात् हेतु के सहचार ज्ञान के साथ पक्षधर्मता का (अर्थात् यह पर्वतरूप पक्ष का धर्म है। इसका) ज्ञान होने पर जो ज्ञान होता है—'वह्निमत्त्व'—वही है अनुमिति।[१११] उन्मीलित और विशेषालङ्कार में विशेष दर्शन है हेतु तथा उससे होने वाला ज्ञान ही है अनुमान। अर्थात् उक्त उदाहरण मे शैत्य आदि ही हेतु है जिनसे होने वाले हिमालय

१०७. रस पृ ५१७।कुव. पृ. २४३
१०८. रस. पृ. ५१७
१०९. 'तद्गुणरीत्यापि भेदानध्यवसायप्राप्तावुन्मीलितं दृश्यते।' (कुव.।पृ. २४४)
११०. रस. पृ. ५१८
१११. "व्याप्तिप्रकारकपक्षधर्मतानिश्चयजन्यज्ञानं वानुमिति।" (रस पृ. ५७५)

आदि का ज्ञान अनुमित्यात्मक ज्ञान है। तथा विशेष के उदाहरण मे पद्म और मुख का विशेषदर्शन है हेतु और उससे पद्म और मुख के विषय मे होने वाला ज्ञान है अनुमान। विशेषदर्शन होने पर वह प्रत्यक्ष ही हो जायेगा, अनुमान नही रहेगा—ऐसा कह नही सकते क्योकि नैयायिको के समान आलङ्कारिको की प्रणाली नही है। अतः प्रत्यक्षता से रहित ही अनुमिति हो—ऐसे किसी नियम को बनाना आवश्यक नही है। प्राचीन मत के विरुद्ध जैसे उन्मीलित और विशेष अलङ्कारो का लक्षण बनाया जा सकता है उसी प्रकार अनुमिति का लक्षण भी प्राचीनो की मान्यता से विरुद्ध बनाने मे कोई हानि नही है।

(२) नैयायिक रीति से, यदि अनुमितित्व से जो युक्त हो वही अनुमिति है ऐसा अनुमिति का लक्षण माने तो भी प्रस्तुत उदाहरण मे प्रत्यक्षरूप प्रतिबन्धक होने के कारण अनुमिति न होने पर भी उसके कारण का अनुमानत्व निर्विघ्नरूप से सिद्ध ही है। क्योकि अग्नि के होने पर भी मणि अथवा मन्त्र आदि से प्रतिबद्ध हो जाने पर यदि दाह न हो तो उसका तात्पर्य यह नही होता कि वहाँ अग्नि का ही अभाव है। अर्थात् प्रकृत उदाहरण मे यदि प्रत्यक्षरूप प्रतिबन्धक के आ जाने से अनुमिति न होती हो तो उसका अर्थ यह नहीं है कि वहाँ अनुमान (अनुमिति का कारण) ही नही है। फलायोगव्यवच्छेद कारणता से प्रयुक्त नहीं होता अपितु व्यापार से प्रयुक्त होता है।

(संक्षप मे, पण्डितराज ने, उन्मीलित और विशेष नामक अलङ्कारों को अनुमान मे अन्तर्भूत करके उनको अलङ्कारान्तर मानना अस्वीकार किया है।)

तद्गुणाधारित उन्मीलित का भी पण्डितराज ने खण्डन किया है। उसके लिये आधार ये हैं—

(१) तद्गुणालङ्कार में दो वस्तुओ के गुणों का अभेदाध्यवसान होता है न कि वस्तुओ का—यह निर्विवाद है। उक्त उदाहरण मे नाभिकमल के परिमल से भगवान् का भगवत्त्वेन बोध होने पर भी विष्णु की नीलिमा (गुण) यश की धवलिमा के साथ अभिन्न हो गयी है। अथवा यह कहा जा सकता है कि विष्णु ने यश के अति उत्कृष्ट होने के कारण उसके गुण धवलिमा को ग्रहण कर लिया है। अतः यहाँ तद्गुण अलङ्कार स्पष्ट ही है। फिर उसमें उन्मीलित मानना व्यर्थ है।

(२) एक वस्तु में सन्निहित वस्त्वन्तर के गुण के कारण उसके अभेद का बोध न होना भी यदि तद्गुण का स्वरूप माना जाय तब भी यहाँ तद्गुण सिद्ध हो जाता है। अर्थात् गुणों में अभेद को तद्गुण न मानकर, एक वस्तुको दूसरी वस्तु के साथ अभेद होने पर तद्गुण मानने पर भी यहाँ तद्गुण अलङ्कार ही सिद्ध होता है, उन्मीलित नहीं। क्योंकि भगवान् श्वेत-भिन्न है—इस ज्ञान के लिये कोई उपाय नहीं है। अर्थात् वस्तुओं का भी अभेद है।

(३) अप्पयदीक्षित के उपजीव्य रुय्यक ने भी इन अलङ्कारों की चर्चा नहीं की है। अतः उनके एव अन्य प्राचीन आलङ्कारिकों के मत के विरुद्ध अन्य अलङ्कार की उद्भावना मात्र के लिये वाचोयुक्ति का प्रयोग करना अनुचित है।

समवलोकन

अनुमान अलङ्कार का लक्षण आलङ्कारिक पण्डितराज ने न करके शुद्ध नैयायिक पण्डितराज ने किया है। 'अनुमिति' की जिस प्रकार सिद्धि की गयी है वह नैयायिक प्रणाली है। उससे अनुमिति की शास्त्रीय सिद्धि अवश्य हो जाये किन्तु अलङ्कार का लक्षण व स्वरूप स्पष्ट नही होता। 'अनुमितिकरणमनुमानम्' अनुमान प्रमाण का लक्षण है, अनुमान अलङ्कार का नही। अनुमान को अलङ्कार बनाने के लिये एक विशेषण की विवक्षा भी की है-कवि प्रतिभाप्रसूतत्व। परन्तु इतने से भी साहृदय का हृदय शान्त एव सन्तुष्ट नहीं होता।

अप्पयदीक्षित के द्वारा माने गये उन्मीलित और विशेषक इन दो अलङ्कारों का अन्तर्भाव अनुमान मे कर दिया है। उसमे जो प्राचीन आलङ्कारिक मम्मट रुय्यक आदि का अननुगमन एक बहुत बडा दोष बताया है वह सुखकर नहीं लगता क्योंकि पण्डितराज ने स्वय सदा प्राचीनो का अनुसरण ही किया हो-ऐसा नहीं है। जो कार्य वह स्वय करते हैं, उसी को अप्पय के करने पर दोष कहते हैं जिससे उनकी अप्पय के प्रति शुद्ध प्रतिद्वन्द्विता ही परिलक्षित होती है।

यथासङ्ख्य

लक्षण

पण्डितराजकृत लक्षण

'उपदेशक्रमेणार्थानां सम्बन्धो यथासङ्ख्यम् ।।'[११२]

अर्थात् जिस क्रम से पदों का कथन हो उसी क्रम से उनके पदार्थों का परस्पर सम्बन्ध हो तो यथासङ्ख्य अलङ्कार होता है।

इस लक्षण मे यथासङ्ख्य पद एक समस्त पद है जिसका असमस्त रूप है 'सङ्ख्याम् अनतिक्रम्य इति यथासङ्ख्यम्।' इसमे अनतिक्रमण का तात्पर्य है अनतिवृत्ति का अर्थ है प्रथम का प्रथम से ही, द्वितीय का द्वितीय से ही, इत्यादि क्रम से पदार्थों का सम्बन्ध होना। इस प्रकार यथासङ्ख्य पद का जो यौगिक अर्थ है वही उसका लक्षण भी है।[११३] इस अलङ्कार का उदाहरण यह है—

---

११२. रस पृ ४७६

११३. 'पदार्थानतिवृत्तिरूपे यथार्थेऽव्ययीभाव'। सङ्ख्याया अनतिवृत्तिश्च प्रथमस्य प्रथमेनैव द्वितीयस्य द्वितीयेनैवेत्यादिक्रमेण सम्बन्धि भवतीति योगार्थ एव लक्षणम्।"
(रस.। पृ ४७६)

यौवनोद्गमनितान्तशङ्किताः शीलशौर्यबलकान्तिलोभिता.।
सङ्कुचन्ति विकसन्ति राघवे जानकीनयननीरजश्रियः ।।[११४]

इसमे जिस रूप मे अन्वय अभीष्ट है उसका रूप यह है–यौवनोद्गमनितान्तशङ्किताः सङ्कुचन्ति, शीलशौर्यबलकान्तिलोभिता विकसन्ति'। इसमे क्रमशः प्रथम कर्त्ता के साथ प्रथम क्रिया की और द्वितीय कर्त्ता के साथ द्वितीय क्रिया की अन्विति हुई है। अतः जिस क्रम से पदो का उल्लेख है उसी क्रम से उनके अर्थों का समन्वय भी है। इसलिये यहाँ यथासङ्ख्य अलङ्कार है। इसी प्रकार दो और उदाहरण दिये गये है।[११५]

अन्वय बोध पर विशेष विचार

इस अलङ्कार के अन्तर्गत होने वाले क्रमिक बोध मे नियामक कौन है अर्थात् किस आधार पर पदों का क्रमशः परस्पर अन्वय होता है–इसी विषय पर यहाँ विचार प्रस्तुत है।

इसके सम्बन्ध में दो मत हैं:—

(१) कुछ विद्वानों के अनुसार योग्यताज्ञान ही इसका नियामक है। योग्यताज्ञान के कारण ही 'वृन्दापितृगहनचरौ' इत्यादि में हरि से श्मशानचारित्व का और हर मे वृन्दावनचारित्व का अन्वय बोध बाधित हो जाता है जिससे हरि के साथ वृन्दावनचारित्व का और हर के साथ श्मशानचारित्व का अन्वय होता है। इसी प्रकार अन्यत्र भी क्रमिक अन्वय बोध होता है।

(२) दूसरा मत प्रथम मत का खण्डन प्राय है। अन्य मतावलम्बी यह कहते हैं कि योग्यता ज्ञान को यदि इसका नियामक मानेंगे तो क्रमभङ्ग नामक कोई दोष नहीं रह जायेगा। क्योंकि पदों का क्रम चाहे जो भी हो योग्यता ज्ञान से उनका अन्वय बोध निर्विघ्न रूप से हो ही जायेगा जैसे 'कीर्तिप्रतापौ मातस्ते सूर्याचन्द्रमसाविव' इसमें प्रताप के साथ सूर्य के सादृश्य का और कीर्ति में चन्द्रसादृश्य का भान हो ही जायेगा। अर्थात् योग्यताज्ञान के बल पर क्रमिक अन्वयबोध मानना उचित नहीं है। इस प्रसङ्ग में पाणिनि के कुछ सूत्रों की भी चर्चा हुई है[११६]

पण्डितराजकृत खण्डन

पण्डितराज स्पष्ट रूप से कहते हैं कि इस अलङ्कार मे क्रमान्वय बोध कैसे होता है कैसे नहीं होता इससे उन्हें कोई प्रयोजन नहीं। मुख्य विचारणीय विषय तो यह है कि यथासङ्ख्य को अलङ्कार कैसे कह दिया गया ?

११४. रस. पृ. ४७७
११५. रस. पृ. ४७७
११६. दे. परि. ख–२०

अलङ्कार वही होता है जहाँ कोई चमत्कार हो और चमत्कार वही होता है जहाँ कवि की प्रतिभा के बल पर कोई वर्णन किया गया हो। क्रमशः अन्वय बोध होने मे कवि की प्रतिभा का तो कोई सहयोग है नही जो उसमें किसी प्रकार की चमत्कृति होती हो। अतः यथासङ्ख्य केवल अपक्रमत्व रूप दोष का अभावमात्र है कोई पृथक् अलङ्कार नही।

अत उपर्युक्त उद्भटमतानुयायियो की सम्मतियां केवल आपातरमणीय ही है तथ्यप्रतिपादिका नहीं।

समवलोकनः—

पण्डितराज ने यथासङ्ख्य को अलङ्कार नही माना है क्योंकि उसमे कवि की कल्पना का कोई योग नही रहता। परम्परा की रक्षा के लिये उसका लक्षणादि किया है जो प्रमुखत व्याकरण पर ही आधारित है।

पर्याय

लक्षण

पण्डितराजकृत लक्षण

'क्रमेणानेकाधिकरणमेकमाधेयकमेकः पर्याय'।
क्रमेणानेकाधेयकमेकमधिकरणमपरः।'[११७]

अर्थात् पर्याय दो प्रकार का है—(१) जहाँ क्रमशः अनेक अधिकरणों में एक ही आधेय का वर्णन किया जाय (२) जहाँ क्रमशः अनेक आधेयों का एक ही अधिकरण में वर्णन किया जाय। यह लक्षण पर्याय के प्रकारो का है। इसका सामान्य लक्षण पृथक् कोई नहीं है अपितु इनमे से अन्यतर का होना ही है।

पर्याय शब्द के व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ[११८]–क्रम प्राप्त का अनतिक्रमण–को पर्याय अलङ्कार का लक्षण नहीं कहा जा सकता क्योकि उसमें अतिव्याप्ति दोष होगा।

पर्याय के प्रथम प्रकार के लक्षण मे प्रयुक्त 'क्रमेण' पद से, पूर्वोक्त विशेषालङ्कार के द्वितीय भेद मे अतिव्याप्ति का वारण होता है। और द्वितीय लक्षण में प्रयुक्त 'क्रमेण' पद से समुच्चयालङ्कार मे अतिव्याप्ति का वारण किया गया है। विशेषालङ्कार के द्वितीय भेद मे एक आधेय का एक साथ अनेक अधिकरणों में वर्णन किया जाता है और समुच्चय मे एक साथ एक आधार मे अनेक क्रियाओं आदि का समन्वय होता है। इन दोनो मे क्रम का अभाव रहता है, यौगपद्य रहता है अतः पर्याय का लक्षण कहीं नहीं जाता।

---

११७. रस. प ४७८

११८ दे. परि. ब–४७

दोनो प्रकार के पर्यायो का उदाहरण क्रमश इस प्रकार है—

मकरालयस्य कुक्षौ स्थित्वा सदनेऽमृताशिना च चिरम् ।
सम्प्रति निर्दोषे ते राजन्वदनाम्बुजे सुधा वसति ।।[११९]

इसमे सुधारूप एक ही आधेय का क्रमश समुद्रादि अनेक आधारो मे वर्णन किया गया है । अतः प्रथम प्रकार का पर्याय है ।

विदूरादाश्चर्यस्तिमितमथ किञ्चित्परिचया–
दुदञ्चच्चाञ्चल्य तदनु परित. स्फारितरुचि ।
गुरूणा सङ्घाते सपदि मयि याते समजनि
अपाघूर्णत्तार नयनयुगमिन्दीवरदृश ।।[१२०]

इसमे नयनरूप एक ही अधिकरण मे आश्चर्य आदि अनेक आधेयो का वर्णन किया गया है । अत. द्वितीय प्रकार का पर्याय है ।

पर्याय का वैशिष्ट्य

(१) पर्याय अलङ्कार की विशेषता यह है कि जिस प्रकार लौकिक जगत् मे पर्याय शब्द का प्रयोग वही किया जाता है जहाँ एक वस्तु के साथ बने सम्बन्ध को छोड़कर अन्य वस्तु के साथ सम्बन्ध होता हो ठीक उसी प्रकार इस अलङ्कार मे भी पूर्व-पूर्व वस्तु के सम्बन्ध का नाश होने पर ही उत्तरोत्तर वस्तु के साथ सम्बन्ध होने पर अलङ्कार की स्थिति होती है । अगामी सम्बन्ध के होने के पूर्व प्रथम सम्बन्ध का समाप्त होना आवश्यक होता है ।

(२) दूसरी विशेषता यह है कि आधार, आधेय और उनके सम्बन्ध के क्रमों मे जहाँ भी कवि की कल्पना अपेक्षित होगी वही यह अलङ्कार होगा । जहाँ वह सब लौकिक जगत् मे सिद्ध होगा वहाँ अलङ्कार नही कहलायेगा । इसमे मम्मट और अलङ्कारसर्वस्वकार के दिये गये उदाहरणो को प्रमाण रूप से ग्रहण किया जा सकता है । मम्मट का उदाहरण यह है—

श्रोणीबन्धस्त्यजति तनुतां सेवते मध्यभाग:
पद्भ्यां मुक्तास्तरलगतय सश्रिता लोचनाभ्याम् ।।[१२१]

तथा रुय्यक (अलङ्कारसर्वस्वकार) का उदाहरण यह है—

'प्रागर्णवस्य हृदये वृषलक्ष्मणोऽथ कण्ठेऽधुना वससि वाचि पुनः खलानाम्'[१२२]

इन दोनों ही उदाहरणों में आधार के भिन्न होने से होने वाली आधेय की भिन्नता को कवि ने अभेदाध्यवसान से एक कर दिया है । अतः आधेयो मे कविकल्पना की

११९. रस. प. ४७९
१२०. रस. प. ४७९
१२१. काव्यप्रकाश में यह उदाहरण दृष्टिगोचर नहीं होता ।
१२२. अ. स.।प. २७९

अपेक्षा होने से यहा अलङ्कार है। आरम्भ मे जो दो उदाहरण दिये गये है उनमे क्रम भी कवि कल्पना से उद्भूत है। अतः सम्पूर्ण अश मे कविकल्पना का साम्राज्य है।

अप्पयदीक्षित का मत

अप्पयदीक्षित के अनुसार—

> बिम्बोष्ठ एव रागस्ते तन्वि ! पूर्वमदृश्यत ।
> अधुना हृदयेऽप्येष मृगशावाक्षि ! दृश्यते ।।

इस पद्य मे एक ही आधेय के प्रति आधार का क्रमश· विकास होने से विकास पर्याय है। तथा 'अधुना पुलिन तत्र यत्र स्रोत. पुराऽजनि।' इसमे एक ही अधिकरण मे भिन्न-भिन्न आधेयो का वर्णन होने से पर्याय का द्वितीय प्रकार है।[123]

पण्डितराजकृत खण्डन

पण्डितराज ने उक्त दोनो उदाहरणो को पर्याय का अनुदाहरण सिद्ध किया है।

प्रथम उदाहरण मे उत्तरोत्तर सम्बन्ध के पूर्व-पूर्व सम्बन्ध का नाश नहीं हो रहा है। यह सम्बन्ध नाश पर्याय अलङ्कार में आवश्यक है यह ऊपर सिद्ध किया ही जा चुका है। अत. जब पर्याय का सामान्य लक्षण ही यहाँ सङ्गत नही हो रहा तो पर्याय का भेद मानना तो दूर की बात है। इस उदाहरण में बिम्बाधर मे रहते हुए हृदय मे भी राग की स्थिति है बिम्बाधर से विच्छिन्न होकर नही।

एवञ्च द्वितीय उदाहरण मे किसी भी अंश मे कवि की कल्पना की अपेक्षा नही दीख पडती। यह वाक्य उसी प्रकार चमत्कार रहित है जिस प्रकार 'यत्र पूर्वं घटस्तत्राधुना पट·' यह लौकिक वाक्य। अतः यहाँ भी कविकल्पना का अभाव होने के कारण पर्याय नही है।

समवलोकन

पर्याय अलङ्कार के लक्षण में पाणिनिसूत्र के अनुसार 'पर्याय' पद का यौगिक अर्थ पर्याय अलङ्कार के लक्षण के अनुकूल कहा है। लौकिक व्यवहार के ही अनुकूल इसका स्वरूप व लक्षण माना है।

पण्डितराज किसी अलङ्कार के सामान्य लक्षण के अभाव को दोष मानते है परन्तु इसी का विरोधी विधान इस अलङ्कार मे प्रतीत होता है क्योंकि उन्होने पर्याय का कोई सामान्य लक्षण न देकर दो भेदों (प्रकारो) के ही लक्षण किये हैं।

पर्याय का मूल वैशिष्ट्य प्रथम बार पण्डितराज ने ही उद्घाटित किया है।

अप्पयदीक्षित के उदाहरणो का खण्डन आग्रह मूलक प्रतीत होता है क्योंकि उनमे भी एक प्रकार का चमत्कार अनुभव में आता है।

---

१२३. कुव.।प. ४८२–४८३ (अप्पय का उक्त सम्पूर्ण मत)

परिवृत्ति

लक्षण

पण्डितराजकृत लक्षण

'परकीययत्किञ्चिद्वस्त्वादानविशिष्ट परस्मै स्वकीय-यत्किञ्चिद्वस्तुसमर्पण परिवृत्तिः।'[१२४]

अर्थात् दूसरे की किसी वस्तु को लेकर उसके लिये अपनी किसी वस्तु का समर्पण ही परिवृत्ति है। इसी को क्रय भी कहा जा सकता है।

जब यह आदान-प्रदान कविकल्पित होता है तभी अलङ्कार का विषय होता है। यदि यह वास्तविक हो तो केवल क्रय ही होगा—अलङ्कार नही। जैसे 'क्रीडन्ति प्रविकचलोचनाः समन्तान्मुक्ताभिर्बदरफलानि यत्र बालाः' इसमे कोई अलङ्कार नही है।

इस अलङ्कार में 'दूसरे के लिये अपनी किसी वस्तु को समर्पित करना'—इतना तक होना आवश्यक है केवल अपनी किसी वस्तु का त्यागमात्र पर्याप्त नही है क्योंकि उसके अभाव मे 'किशोरभावं परिहाय रामा बभार कामानुगुणा प्रणालीम्' इसमे अतिव्याप्ति होगी क्योकि यहाँ दूसरे को कुछ दिया नहीं गया है केवल लिया गया है।

रुय्यक का मत

रुय्यक ने अपने ग्रन्थ मे परिवृत्ति का लक्षण इस प्रकार किया है-'समन्यूनाधिकानां समाधिकन्यूनैर्विनिमयः परिवृत्तिः।'[१२५] इसमें विनिमय का तात्पर्य है एक को छोड़कर अन्य को ग्रहण करना। (किञ्चित्त्यक्त्वा कस्यचिदादानम्।) जैसे—

'किमित्यपास्याभरणानि यौवने धृत त्वया वार्धकशोभि वल्कलम्'[१२६]

इत्यादि में आभरणों का त्याग करके वल्कल को धारण करने से परिवृत्ति है।

पण्डितराजकृत खण्डन

अलङ्कारसर्वस्वकार का यह लक्षण अनुचित है यदि उनके कथनानुसार ही विनिमय का तात्पर्य माना जाय तो। उसमे कारण वही है जो उपर्युक्त विवेचना द्वारा प्रदर्शित किया गया है। अर्थात् यहाँ दूसरे के लिये अपनी वस्तु का समर्पण न होने से अव्याप्ति है। इसी से उक्त उदाहरण भी असङ्गत है।

परिवृत्ति के भेद

परिवृत्ति तीन प्रकार की होती है

---

१२४. रस. पृ. ४८१
१२५. अ० स० पृ० २७८
१२६. रस. पृ. ४८२
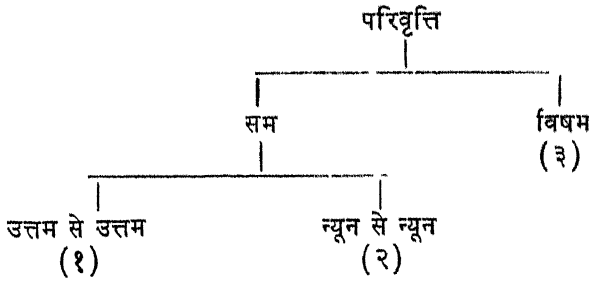
अर्थात् जहाँ समान मूल्य की वस्तु देकर समान मूल्य वाली वस्तु को लिया जाय वहाँ सम परिवृत्ति होती है तथा जहाँ दी जाने वाली वस्तु मे और ली जाने वाली वस्तु मे मूल्य का अन्तर हो वहाँ विषमपरिवृत्ति होती है ।

समपरिवृत्ति के भी दो प्रकार है-(१) जहाँ उत्तम वस्तु को देकर उत्तम वस्तु को ग्रहण किया जाय और (२) जहाँ न्यून वस्तु को देकर न्यून वस्तु को ही ग्रहण किया जाय ।

समपरिवृत्ति के प्रथम भेद का उदाहरण यह है--

> अङ्गानि दत्वा हेमाङ्गि प्राणान्क्रीणासि चेन्नृणाम् ।
> युक्तमेतन्न तु पुनर्लोचनाम्बुरुहद्वयम् ।।[१२७]

इस पद्य के पूर्वार्ध में समपरिवृत्ति है परन्तु उत्तरार्ध में विषम परिवृत्ति भी है ।

इसी प्रकार अन्य अनेक उदाहरण भी दिये गये [१२८] है जिनमें आदान प्रदान कविकल्पित ही है, वास्तविक नही ।

समवलोकन

इस अलङ्कार का निरूपण अत्यन्त सक्षिप्त है अतः विशेष विचारणीय कोई विषय नहीं है ।

इस अलङ्कार मे जिस वैशिष्ट्य पर पण्डितराज ने ध्यान आकर्षित किया है वह है किसी वस्तुको देकर ही किसी वस्तु को लेना । तथा यह आदान-प्रदान भी कवि कल्पित होना ।

अन्य कोई वैशिष्ट्य नही है ।

परिसंख्या

लक्षण

पण्डितराजकृत लक्षण

'सामान्यत. प्राप्तस्यार्थस्य कस्माच्चिद्विशेषाद् व्यावृत्तिः परिसङ्ख्या ।'[१२९] सामान्यत प्राप्त अर्थ का किसी विशेष अर्थ से व्यावर्तन ही परिसंख्या है । (मीमांसा

१२७. रस. पृ. ४८१
१२८. रस. पृ. ४८२
१२९. रस. पृ. ४८२

दर्शन मे दो विधियाँ है- नियम विधि और परिसख्या विधि ।) परिसख्या विधि के आधार पर होने वाले अलङ्कार का जो निरूपण किया गया है उसी निरूपण के द्वारा नियम विधि का भी इसी मे समावेश हो जाता है अर्थात् अलङ्कार शास्त्र मे नियम विधि भी परिसंख्या विधि ही है। पाक्षिक प्राप्ति और युगपत् प्राप्ति रूप जो अवान्तर विशेष है उनकी यहाँ विवक्षा नही रहती। अतएव वैयाकरणो के मत मे नियम भी परिसख्या ही कही जाती है। (परिसंख्या और नियम एक कैसे है इस विषय पर पर्याप्त विस्तार से विचार किया गया है परन्तु इस निबन्ध मे वह अप्रासङ्गिक होने के कारण नही दिया जा रहा है।)[१३०]

परिसख्या के भेद

यह व्यावृत्तिरूप परिसख्या दो प्रकार की होती है शुद्धा और प्रश्नपूर्विका। यह दोनो भी दो-दो प्रकार की होती है शाब्दी और आर्थी। इस प्रकार कुल चार प्रकार की होती है :—
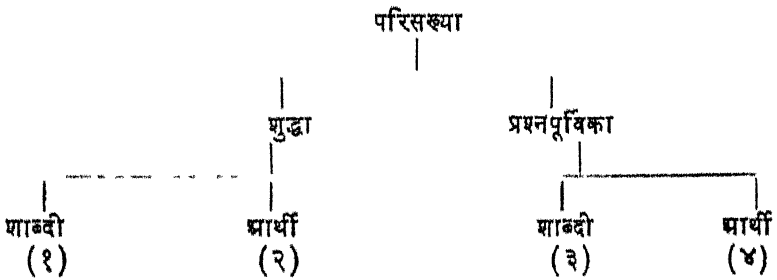
प्रथम प्रकार का उदाहरण यह है:—

तीर्थं गङ्गा तदितरदपा निर्मल सङ्घमात्र
देवौ तस्या: प्रसवनिलयौ नाकिनोऽन्ये वराका: ।
सा यत्रास्ते स हि जनपदो मृत्तिकामात्रमन्य
ता यो नित्य नमति स बुधो बोधशून्यस्ततोऽन्य ॥[१३१]

इसमें 'मात्र' पद का प्रयोग हो जाने से गङ्गा से अतिरिक्त किसी भी तीर्थ की व्यावृत्ति हो जाती है। अत. शाब्दी शुद्धा परिसख्या है।

द्वितीय प्रकार का उदाहरण--

सेवायां यदि साभिलाषमसि रे लक्ष्मीपतिः सेव्यतां
चिन्तायामसि सस्पृह यदि चिरं चक्रायुधश्चिन्त्यताम् ।
आलाप यदि कांक्षसे मधुरिपोर्गाथा तदालप्यताम्
स्वापं वाञ्छसि चेन्निरर्गलसुखे चेतः सखे सुप्यताम् ॥[१३२]

---

१३०. दे० परि० ख-५
१३१. रस. पृ ४८४
१३२. रस. पृ. ४८३

इसमें पुनः पुन. लोट् लकार का प्रयोग होने से अन्य अन्य विषयो में विभिन्न क्रियाओ की व्यावृत्ति उक्त पद के तात्पर्य के रूप मे प्रतीत होती है । कल्पित होने से वह आर्थी है, तथा प्रश्न का अभाव होने से शुद्धा है ।

शब्दी प्रश्नपूर्विका का उदाहरण--

किं मित्रमन्ते सुकृत न लोकाः किं ध्येयमीशस्य पदं न तोकाः ।
किं काम्यमव्याजसुख न भोगाः किं जल्पनीय हरिनाम नान्यन् ।[133]

इसमे प्रश्न किया गया, एव उसके उत्तर मे अन्यव्यावर्त्तक उत्तर दिया गया है । अतः प्रश्नपूर्विका परिसख्या है । 'न' पद के प्रयोग के कारण शाब्दी है ।

आर्थी प्रश्नपूर्विका का स्थल–

किं तीर्थं हरिपादपद्मभजन किं रत्नमच्छा मति
किं शास्त्र श्रवरणेन यस्य गलति द्वैतान्धकारोदय ।
किं मित्र सततोपकाररसिक तत्त्वावबोधः सखे
क शत्रुर्वद खेददानकुशलो दुर्वासनासञ्चय [134]

इसमे परिसख्या का आर्थत्व इसलिये है क्योकि उसकी प्रतीति तात्पर्य रूप से हो रही है, जिसका आकार यह है 'हरिपादभजन आदि ही तीर्थादि है अन्य नहीं ।' प्रत्येक के पूर्व प्रश्न है अतः प्रश्नपूर्विका है ।

परिसख्या सम्बधी कतिपय मत

प्रथम मत

कुछ आलङ्कारिको का मत है कि जब व्यावृत्ति आर्थी हो केवल तभी परिसख्या अलङ्कार होता है । शाब्दी होने पर वह शुद्ध परिसंख्या ही होती है । जिस प्रकार हेत्वलङ्कार यदि आर्थ होता है तभी वह अलङ्कार की श्रेणी मे रहता है, शाब्द होने पर वह शुद्ध हेतु ही हो जाता है । उसी प्रकार परिसंख्या में आर्थ रहने पर ही अलङ्कारत्व होता है । अत. परिसख्या के दो ही भेद होते हैं-आर्थी शुद्धा और आर्थी प्रश्नपूर्विका ।

द्वितीय मत

द्वितीय मत के अनुसार आर्थी होने पर भी यह अलङ्काररूप नही होता क्योंकि 'पञ्च पञ्चनखा भक्ष्या , समे यजेत, रात्सस्य' इत्यादि मे भी परिसख्या की अतिव्याप्ति हो जायेगी । अर्थात् पाँच पञ्चनख भक्ष्य हैं इससे अन्य पञ्चनख भक्ष्य नहीं है यह व्यावृत्ति प्रतीत होती है अतः यहाँ भी परिसख्यालङ्कार हो जायेगा ।[135] अपितु कविप्रतिभा के द्वारा निर्मित जो उस प्रकार की व्यावृत्ति है उसका ही आर्थत्व

१३३. रस. पृ. ४८४
१३४. रस. पृ. ४८३
१३५. दे० परि० ख-५

अलङ्कारत्व होगा । जैसे–'यस्मिंशासति वसुमतीपाकशासने महानसेषु सन्तापः, शरधिहृदयेषु शल्यता, मञ्जीरेषु मौखर्यम्, भेरीषु ताडनम्, कामिनीना कुन्तलेषु कौटिल्यम्, गतिषु मान्द्यम्,'[१३६] इत्यादि मे । इसमे प्रथमान्तो के अर्थों मे कविप्रतिभा के द्वारा एकीकरण कर दिया गया है और इस एकीकरण से उनके प्रतियोगियो की व्यावृत्ति हो जाती है । इसी प्रकार 'सेवायां यदि साभिलाषमसि' इसमे 'अन्य कोई सेव्य नही है' इस अर्थ की प्रतीति होने से परिसख्या भले ही हो परिसंख्यालङ्कार नही हो सकता । क्योकि वहाँ की व्यावृत्ति वास्तविक ही है कविप्रतिभाप्रसूत नही । अतः 'महानसेषु सताप -' इत्यादि ही इसके उदाहरण हैं ।

समवलोकन

इस अलङ्कार का निरूपण मीमासा की भूमिका मे किया गया है । विशेष विचार परिसंख्या की अतिव्याप्ति को लेकर ही किया गया है । तत्सम्बन्धी दो मत देकर उस पर अपनी ओर से कुछ न कहना पण्डितराज की उदासीनता का परिचायक है ।

विकल्प

लक्षण

पण्डितराजकृत लक्षण

'विरुद्धयोः पाक्षिकी प्राप्तिर्विकल्पः ।'[१३७] दो विरुद्ध अर्थों में पाक्षिकी प्राप्ति ही विकल्प है । (पाक्षिकी-जब एक प्राप्त हो तब दूसरा न प्राप्त हो–ऐसी प्राप्ति ।) एक पक्ष की प्राप्ति अथवा एक के अभाव मे दूसरे की प्राप्ति ही विकल्पालङ्कार है । यह पाक्षिकी प्राप्ति शब्दतः तो कथित नहीं होती तथापि अर्थत वह युगपत्प्राप्ति पाक्षिकी प्राप्ति मे पर्यवसित हो जाती है । जब किसी धर्मी में ऐसे दो धर्म वर्णित हों जो अपने-अपने प्रापक प्रमाणों से समान बल वाले हो तो वह एक दूसरे को बाधित नही करेंगे । असमान बलवाले दो पदार्थ ही बाध्यबाधक होते है । बलवत्तर पदार्थ हीनबलवाले को बाध्य कर देता है । परन्तु बाधित न कर सकने पर भी एक ही काल मे उनकी प्राप्ति भी नहीं हो सकती विरोध होने के कारण । अतः बाधकत्व और युगपत्प्राप्ति इन दोनो के अभाव मे अन्तत. वह पाक्षिकी प्राप्ति मे ही पर्यवसित हो जाती है । दोनो अर्थो में विकल्प (option) रहता है ।

---

१३६. रस. पृ. ४८४

१३७. रस. पृ. ४८७

यह अलङ्कार समुच्चयालङ्कार का विपरीत है। जैसे व्यतिरेक उपमा का विपरीत है। यहाँ विकल्प्यमान पदार्थों का सादृश्य ही (जो व्यङ्ग्य है) अलङ्कारता का बीज है। क्योकि उस सादृश्य को लेकर ही विकल्प मे चमत्कार की सृष्टि होती है। सादृश्यप्रतीति के अभाव मे तो केवल विकल्प होता है विकल्पालङ्कार नही। उदाहरण के लिये—

प्राणानर्पय सीता वा गृध्रास्तर्पय वा द्विजान्।
यम भजस्व राम वा यथेच्छसि तथाचर ॥[१३८]

यह पद्य विकल्पालङ्कार का स्थल है। इसमे सादृश्य भी है। प्राण और सीता मे सादृश्य के लिये समान धर्म है–अर्पणक्रिया का फल-पराधीनता, गृध्र और ब्राह्मण का समानधर्म है तर्पणक्रियाफल-तृप्ति और यम तथा रामका समानधर्म है भजन क्रिया का फल सुखी बनाना।

यह विकल्पालङ्कार कही-कही लुप्त समानधर्म को लेकर औपम्य की प्रतीति होने पर भी होता है। जैसे भगवद्गीता मे 'हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गं जित्वा वा मोक्ष्यसे महीम्'-यहाँ पर पृथिवीभोग और स्वर्गप्राप्ति में उत्तमत्वेन औपम्य है। (इस श्लोक मे किस-किस में विकल्प है इस विषयको लेकर मत मतान्तरों का उल्लेख पण्डितराज ने किया है।)[१३९]

इसमे अलङ्कारसर्वस्वकार के द्वारा दिये गये एक उदाहरण का भी खण्डन किया गया है विषय परिष्कार मे अधिक उपयोगी न होने से यहाँ नहीं दिया जा रहा है।[१४०]

समवलोकन

यह अलङ्कार रुय्यकादि के अनुकूल ही प्रतिपादित किया गया है, विशेष वैशिष्ट्य नहीं है।

---

१३८ रस पृ. ४८८

१३९. रस. पृ. ४८८

१४०. भक्तिप्रह्वविलोकनप्रणयिनी नीलोत्पलस्पर्धिनी
ध्यानालम्बनतां समाधिनिरतैर्नीते हितप्राप्तये।
लावण्यस्य महानिधी रसिकतां लक्ष्मीदृशोस्तन्वती
युष्माकं कुरुतां भवार्तिशमनं नेत्रे तनुर्वा हरेः॥
—(रस० पृ० ४८८

समुच्चय

लक्षण

पण्डितराजकृत लक्षण

'युगपत्पदार्थानामन्वयः ।'[१४१]

अर्थात् पदार्थों का एक साथ अन्वय होना ही समुच्चयालङ्कार है ।

इस लक्षण मे 'युगपत्' पद का विवक्षित अर्थ है क्रम का न होना । अत. यह आवश्यक नहीं है कि एक ही क्षण मे सब का अन्वय हो । इस विवक्षा से लाभ यह है कि यदि कुछ समय के अन्तर से भी अन्वय हो तो समुच्चय भङ्ग नही होगा ।

समाधि अलङ्कार से भी यह अलङ्कार पृथक् है क्योकि समाधि मे एक ही निष्पाद्यमान कार्य में आकस्मिक आपतन के द्वारा उसकी सुकरता का वर्णन होता है और समुच्चय मे एक ही कार्य के सम्पादन के लिये अनेक कारण उपस्थित तो होते हैं परन्तु वह खलकपोत न्याय के अनुसार अहमहमिकया आते हैं । परन्तु उनके द्वारा कार्य मे किसी प्रकार का अतिशय नहीं होता ।

समुच्चय के भेद

समुच्चय के भेद इस प्रकार हैं:—
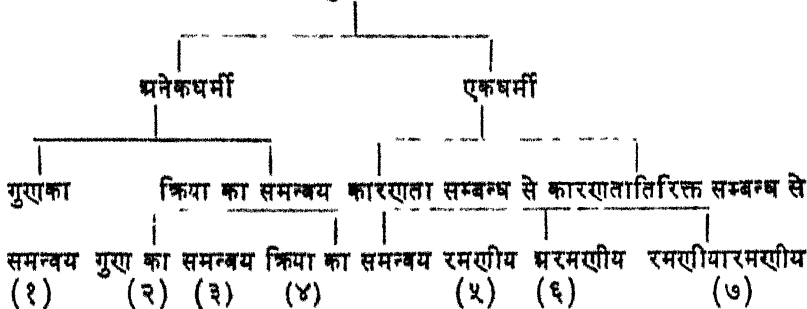
सर्वप्रथम इसके दो भेद होते हैं—(१) अनेक अर्थों का अनेक धर्मियों के साथ अन्वय होना, (२) उनका एकधर्मी के साथ अन्वय होना । एकधर्मी का समन्वय भी कभी कारणता सम्बन्ध से होता है वहीं उससे अतिरिक्त किसी सम्बन्ध से । अर्थात् अनेक धर्मों का एकधर्मी के साथ कारणता सम्बन्ध से समन्वय होना और किसी अन्य सम्बन्ध से अन्वय होना । इस प्रकार द्वितीय भेद दो प्रकार का होता है । इस प्रकार इस त्रिविध समुच्चय के प्रथम दो भेदो मे गुणों का और क्रियाओं का तथा तृतीय भेद में रमणीय, अरमणीय और रमणीयारमणीय अर्थों का समन्वय होता है ।

---

१४१. रस पृ. ४८६

उदाहरण के लिये —

प्रादुर्भवति पयोदे कज्जलमलिन बभूव नभः ।
रक्त च पथिकहृदय कपोलपाली मृगीदृशः पाण्डुः ।।[१४२]

इसमे गुणो का भिन्न-भिन्न धर्मियो के साथ अन्वय हो रहा है । अतः समुच्चय का प्रथम भेद है ।

इसका द्वितीय भेद जैसे—

उदित मण्डलमिन्दो रुदितं सद्यो वियोगिवर्गेण ।
मुदित च सकलयुवजनचूडामणिशासनेन मदनेन ।।[१४३]

इसमें एक ही क्रिया का अनेक धर्मियो के साथ अन्वय है ।

इसी प्रकार जहाँ एक धर्मी के साथ गुण अथवा क्रिया रूप अनेक अर्थों का अन्वय होता है उसका भी उदाहरण दिया गया है ।

रमणीय अर्थों का एक धर्मी के साथ कारणता से अतिरिक्त सम्बन्ध से अन्वय होने पर समुच्चय का उदाहरण यह है—

समुत्पत्ति. पद्मारमणपदपद्मामलनखा-
न्निवास· कन्दर्पप्रतिभटजटाजूटभवने ।
अथायं व्यासङ्गः पतितजननिस्तारणविधे-
र्न कस्मादुत्कर्षस्तव जननि जागर्ति जगतः ।।[१४४]

यहाँ गङ्गा के उत्कर्ष को सिद्ध करने के लिये तीन कारण उपस्थित हैं । यद्यपि इन तीनों में से एक कारण भी उस उत्कर्ष में समर्थ है तथापि वह तीनों उत्कर्ष उत्पन्न करने में स्पृहा से आते हुए रमणीय प्रतीत होते हैं ।

इसी प्रकार अरमणीय अर्थों का अन्वय—

पाटीरद्रुभुजङ्गपुङ्गवमुखोद्भूता वपुस्तापिना
वाता वान्ति दहन्ति लोचनममी ताम्रा रसालद्रुमा. ।
श्रोत्रे हन्त किरन्ति कूजितमिमे हालाहलं कोकिला
बाला बालमृणालकोमलतनुः प्राणान्कथ रक्षतु ।।[१४५]

यहाँ भी जीवन नाश मे कहे गये तीनो कारणो में से प्रत्येक कारण पूर्ण समर्थ है परन्तु उसका अतिशय बनाने के लिये तीनो कारणों का युगपद् अन्वय हो रहा है ।

---

१४२. रस. पृ. ४६०
१४३. रस पृ. ४६०
१४४. रस. पृ. ४६१
१४५· रस पृ. ४६१

रमणीयारमणीय रूप तृतीय भेद के तृतीय भेद मे अर्थात् अन्तिम प्रकार मे कर्मधारय समास का आश्रय लेना चाहिये द्वन्द्व समास का नही। अर्थात् रमणीया-रमणीय का अर्थ 'रमणीय भी जो अरमणीय' अथवा 'अरमणीय भी जो रमणीय' इस प्रकार ग्रहण करना चाहिये 'रमणीय तथा अरमणीय' नही। द्वन्द्व करने से सह-चर भिन्नता होगी।[१४६] कर्मधारय करने से रमणीय और रमणीय दोनो के एक साथ एक कार्य को उत्पन्न करने पर भी समुच्चय हो जायेगा।[१४७] जैसे—

शरीर ज्ञानजनन रोगो विष्णुस्मृतिप्रदः।
विपद् वैराग्यजननी त्रय सुखकर सताम्॥[१४८]

इसमें शरीरादि का रमणीय रूप से वर्णन किया है जबकि स्वभावत' वह अरमणीय होते है। सभी का अन्वय सत्पुरुष रूप एक ही धर्मी से हो रहा है।

अलङ्कार रत्नाकरकार का मत

शोभाकरमित्र ने अन्तिम तीन भेदों को क्रमश' सम अलङ्कार और विषम अलङ्कार में अन्तर्भूत माना है। इसकी दृष्टि से रमणीय अर्थों का तथा अरमणीय अर्थों का अन्वय होने पर सम अलङ्कार तथा रमणीयारमणीय अर्थों का समन्वय होने पर विषम अलङ्कार होता है।[१४९]

पण्डितराजकृत खण्डन

पण्डितराज ने शोभाकर मित्र के उक्त सिद्धान्त का खण्डन किया है। तथा उसमे युक्तियाँ इस प्रकार दी हैं—

समालङ्कार मे सबका योग (युक्तता, अनुकूलता) विवक्षित रहता है और समुच्चय के प्रभेदों मे वह अनुकूलता विवक्षित नहीं रहती अपितु एक ही कार्य को अतिशय रूप में सम्पन्न करने का भाव विवक्षित रहता है। जैसे उपर्युक्त 'समुत्पत्तिः पद्मारमणा–' इत्यादि तथा पाटीरद्रुभुजङ्ग—इत्यादि पद्यों मे हरिचरणनखसम्भूति आदि तीनों कारणो की परस्पर योग-योग्यता अभीष्ट नही है अपितु गङ्गानदी का उत्कर्ष करने के लिये तीनों ही समर्थ हैं—इस प्रकार की विवक्षा है। इसी प्रकार मलयानिलरसालद्रुमकोकिलकूजित आदि का भी योग विवक्षित नही है अपितु तीरों की प्राणनाश के प्रति समर्थता ही अभिप्रेत है। यदि यहाँ समालङ्कार की विवक्षा

---

१४६. रस. पृ. ४६०

१४७. 'रमणीयारमणीयशब्दे कर्मधारय आश्रीयते, न द्वन्द्वः, सहचरभिन्नत्वदोषापत्ते.। एमरमणीयरमणीयानामप्येककार्यजननार्थमापततां समुच्चयः सम्भवति।' रस पृ. ४६१

१४८. रस पृ ४६१

१४९ 'सद्योगासद्योगसदसद्योगैर्न समुच्चयः प्रभेदवान्। समविषमसङ्करेणैवान्यथासिद्धे.।' (रस० पृ. ४६२)

होती तो तीनो का योग उचित होने से 'हन्त' पद के द्वारा खेद की अभिव्यक्ति न होती । अत' विवक्षा भेद होने पर अलङ्कार को एक मानना उचित नही है ।

इसी प्रकार विषमालङ्कार को भी रमणीयारमणीय वाले भेद का आच्छादक नही कहना चाहिये क्योकि उसमे भी विवक्षा भेद है । विषम मे प्रतिकूलता (एक साथ अन्वय न हो सकना) का वर्णन रहता है जबकि समुच्चय मे प्रतिकूलता का भी अनुकूलता के रूप मे वर्णन रहता है ।

समवलोकन

समुच्चय अलङ्कार पर रुय्यक ने पर्याप्त विचार अपने ग्रन्थ मे किया है । उसी का अनुगमन पण्डितराज ने भी किया है । अत' उसमे किसी विशेष का दिग्दर्शन नहीं हुआ है । इतना ही कहा जा सकता है कि उन्होंने रुय्यक के ही मतो को पोषण दिया है ।

दोनो के लक्षण मे एक सूक्ष्म अन्तर है । वह यह कि रुय्यक ने गुण-क्रियाओ की युगपद् अवस्थिति को समुच्चय कहा है[१५०] और पण्डितराज ने केवल पदार्थों का एक साथ अन्वय होना समुच्चय माना है ।

समाधि

लक्षण

पण्डितराजकृत लक्षण

'एककारणजन्यस्य कार्यस्याकस्मिककारणान्तरसमवधानाहितसौकर्यं समाधि: ।'[१५१]

अर्थात् एक कारण से उत्पन्न होने वाले कार्य की, अकस्मात् किसी अन्य कारण के आ जाने से होने वाली सुकरता समाधि है ।

समाधि के भेद

यह सौकर्य दो प्रकार का होता है—(१) जिसमे कार्य की अकस्मात् सिद्धि हो जाये और (२) साङ्ग सिद्धि से सौकर्य हो ।

उदाहरण के लिये—

आयातैव निशा मनो मृगदृशामुन्निद्रमातन्वती
मानो मे कथमेष सम्प्रति निरातङ्को हृदि स्थास्यति ।
ऊहापोहमिमं सरोजनयना यावद्विधत्तेतरां
तावत्कामनृपातपत्रसुषमं बिम्बं बभासे विधो: ।[१५२]

---

१५०. 'गुणक्रियायौगपद्यं समुच्चय ।' — (अ० स० पृ० २१२)

१५१. रस. पृ. ४६२

१५२. रस. पृ. ४६२

यहाँ यद्यपि रात्रि के आने पर ही मान का नाश सिद्ध हो जाता परन्तु अकस्मात् चन्द्रोदय होने से वह स्वय अनायास ही सिद्ध हो गया।

दूसरे भेद का उदाहरण दिया है।

नवप्रसङ्गं दयितस्य लोभादङ्गीकरोति स्म यदानताङ्गी।
श्लथ तदालिङ्गनमप्यकस्माद्घनो निनादैघनता निनाय।[१५३]

यहाँ पर मेघ ध्वनि से आलिङ्गन की साङ्गतासिद्धि हुई है।

इसी प्रकार अन्य उदाहरण भी दिये है।

समवलोकन

इस अलङ्कार का निरूपण रुय्यकादि पूर्वाचार्यों के समान ही है कोई विलक्षणता नही है।

प्रत्यनीक

लक्षण

पण्डितराजकृत लक्षण

'प्रतिपक्षसम्बन्धिनस्तिरस्कृति' प्रत्यनीकम्।'[१५४]

अर्थात् प्रतिपक्ष (शत्रुपक्ष) से सम्बन्धित का तिरस्कार करना ही प्रत्यनीक है। जो अनीक के समान है वह प्रत्यनीक है। (अनीकेन सदृशं प्रत्यनीकम्। अनीकव्यूहरचनाकार सेना।) जगत में शत्रुपक्ष के तिरस्कार के लिये अनीक का प्रयोग होता है। शत्रु के तिरस्कार में समर्थ न होने पर तत्सम्बन्धी किसी भी व्यक्ति का तिरस्कार जब किया जाता है और वह तिरस्कार अनीक के समान प्रयुक्त हुआ हो तो वहाँ प्रत्यनीक अलङ्कार होता है। इसमें प्रतिपक्ष की सबलता और स्वपक्ष की दुर्बलता गम्य रहती है। प्रतिपक्ष का सम्बन्धी भी उपजीव्य-उपजीवक, पाल्य-पालक आदि अनेक सम्बन्धों से हो सकता है।

यह अलङ्कार दोनों पक्षों मे बैर का कथन हो जाने पर शाब्द और कथन न होने पर आर्थ होता है।

उदाहरणार्थ—

जितमौक्तिकसम्पदा रदानां सहवासेन परां मुदं ददानाम्।
विरसादधरीकरोति नासामधुना साहसशालि मौक्तिक ते ॥[१५५]

इसमें शाब्द प्रत्यनीक है क्योंकि उपजीवक का तिरस्कार हुआ है तथा दन्तपंक्ति और नासामौक्तिक का बैर शब्दतः उपात्त हुआ है।

१५३. रस. पृ. ४६३
१५४. रस. पृ. ४६३
१५५. रस. पृ. ४६४

प्रत्यनीक की हेतूत्प्रेक्षा मे गतार्थता

इस अलङ्कार के सम्बन्ध मे पण्डितराज का मत यह है कि हेतूत्प्रेक्षा मे ही गतार्थ हो जाने के कारण इसे पृथक् अलङ्कार मानना अनुचित है। इस अलङ्कार मे हेतु निश्चीयमान होता है और उत्प्रेक्षा मे सम्भाव्यमान अतः दोनों अलङ्कारो मे भिन्नता है ऐसा नही कहना चाहिये क्योकि ऐसा मानने पर तो जहाँ पर हेतूत्प्रेक्षा गम्य होगी वहाँ भी उत्प्रेक्षा का अस्थान हो जायेगा क्योकि वहाँ उत्प्रेक्षा के वाचक इवादि पदो के अभाव मे हेतु की निश्चीयमानता है—ऐसा माना जा सकता है।

अधिक से अधिक यह हो सकता है कि इस अलङ्कार को हेतूत्प्रेक्षा के अवान्तर भेद के रूप मे मान लिया जाय क्योकि हेतूत्प्रेक्षा के बिना इसकी सिद्धि नही हो सकती। हेतूत्प्रेक्षा के दो भेदों मे से एक मे प्रतिपक्षगत बलवत्त्व की और आत्मगत निर्बलत्व की प्रतीति होगी और दूसरे मे इसकी प्रतीति नहीं होगी।

इसी कारण अलङ्कारसर्वस्वकार के दिये गये—

यस्य किञ्चिदपकर्तुमक्षमः कायनिग्रहगृहीतविग्रहः।
कान्तवक्त्रसदृशाकृतिं कृती राहुरिन्दुमधुनापि बाधते ॥[१५६]

तथा अप्पयदीक्षित के द्वारा दिये गये—

मम रूपकीर्तिमहरद्भुवि यस्तदनुप्रविष्टहृदयेयमिति।
त्वयि मत्सरादिव निरस्तदयः सुतरां क्षिणोति खलु तां मदनः ॥[१५७]

इस प्रत्यनीक के उदाहरण में भी हेतूत्प्रेक्षा ही है, प्रत्यनीक नहीं। प्रथम पद्य में उत्प्रेक्षा का स्वरूप है—"मानो, भगवान् से वैर होने के कारण, भगवान् के मुख के सदृश चन्द्र को राहु त्रस्त कर रहा है।" यहाँ उत्प्रेक्षा वाच्य नहीं गम्य है। इसी प्रकार द्वितीय पद्य में भी उत्प्रेक्षांश 'मेरे रूप की कीर्ति को हरण करने वाले में हृदय का प्रविष्ट होना' और हेत्वंश 'मत्सरादिव' यह दोनो ही शाब्द है। अतः यहाँ भी प्रत्यनीक नहीं है।

समवलोकन

प्रत्यनीक का जो लक्षण आदि किया गया है, सर्वस्वकार के लक्षण का ही पुनःकथन है उसमे कोई नावीन्य दृष्टिगोचर नहीं होता।

इसको हेतूत्प्रेक्षा मे अन्तर्भूत करने का पण्डितराज का विचार अथवा आग्रह नागेश को स्वीकार नहीं है।[१५८] हेतूत्प्रेक्षा और प्रत्यनीक में चमत्कार-भेद रहने पर अलङ्कार भेद भी मानना उचित ही है। उत्प्रेक्षा मे हेतु की सम्भावना का चमत्कार अधिक होता है और प्रत्यनीक मे प्रतिपक्ष सम्बन्धी का तिरस्कार।

---

१५६. अ० स० पृ० ३०४
१५७. कुव० पृ० १९२
१५८. रस. नागेशटीका पृ. ४९५

प्रौढ़ोक्ति

लक्षण

पण्डितराजकृत लक्षण

प्रौढोक्ति अलङ्कार का लक्षण पण्डितराज ने इस प्रकार किया है—

'कस्मिंश्चिदर्थे किञ्चिद्धर्मकृतातिशयप्रतिपिपादयिषया
प्रसिद्धतद्धर्मवता ससर्गस्योद्भावन प्रौढ़ोक्ति ।'[१५९]

अर्थात् किसी अर्थ विशेष मे जब किसी गुणविशेष के अतिशय का वर्णन करने की इच्छा से, उस वस्तु का सम्बन्ध किसी ऐसी वस्तु के साथ कहा जाय जिसमे वह गुण रहता हो तो प्रौढोक्ति अलङ्कार होता है । अर्थात् एक वस्तु को उत्कृष्ट बताने की इच्छा से दूसरी वस्तु से सम्बन्धित रूप मे कल्पित करना ही प्रौढोक्ति है ।

प्रौढ़ोक्ति के भेद

प्रौढ़ोक्तिगत उक्त सम्बन्ध दो प्रकार का हो सकता है—वास्तविक या काल्पनिक । यह दोनो प्रकार दो प्रकार से निबद्ध हो सकते है–साक्षात् या परम्परया । इस आधार पर प्रौढ़ोक्ति के चार भेद माने जा सकते हैं ।
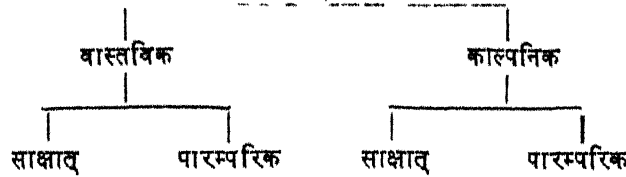
अवास्तविक अर्थात् कल्पित सम्बन्ध का उदाहरण यह है—

वल्मीकोदरसम्भूतकपिकच्छूसहोदरा:
हा पीडयित्वा निघ्नन्ति सज्जनान्दुष्टदृष्टय: ।।[१६०]

इसमे दुष्टदृष्टि मे पीड़ाजनकत्व का अतिशय दिखाने के लिये कपिकच्छू के साथ उसका सम्बन्ध कल्पित है । (इसी प्रकार अन्य उदाहरण भी दिये गये हैं जिनमे कविप्रतिभा के बल पर सम्बन्ध का वर्णन किया गया है)[१६१]

समालङ्कार से प्रौढ़ोक्ति का वैलक्षण्य

इस अलङ्कार में एक वस्तु का (धर्मी का) दूसरे वस्तु के साथ वर्णन करने पर जो एक वस्तु मे किसी धर्म विशेष का अतिशय ज्ञात होता है वह व्यञ्जना से ज्ञात होता है । तथा सम अलङ्कार मे वह धर्मातिशय वाच्य होता है । जैसे—

१५९. रस. पृ. ४६७
१६०. रस. पृ. ४६८
१६१. रस० पृ० ४६८

त्वत्तो जन्म हिमांशुशेखर ननु ज्योत्स्नानिमग्नात्मनो
दुग्धाम्भोनिधिमुग्धवीचिवलयैः साकं परिक्रीडनम् ।
सवासः सुरलोकसिन्धुपुलिने वादः सुधांशोः करैः
कस्मान्नोज्ज्वलिमानमञ्चतितमां देव त्वदीयं यशः ।।[१६२]

इसमें यश की धवलता का अतिशय दिखाने के लिये जो तत्तद्धर्मियों के साथ सम्बन्ध वर्णित किया है वह 'साकम्' पद से वाच्य होने के कारण समालङ्कार का विषय हो गया है तथा उत्तरार्ध मे राजागत धवलता का अतिशय प्रदर्शित करने के लिये जो सम्बन्ध दिखाया गया है वह व्यङ्ग्य होने से प्रौढ़ोक्ति का विषय है ।

प्रौढ़ोक्ति में मिथ्यावसिति नामक अलङ्कार का अन्तर्भाव

इस प्रकार प्रौढ़ोक्ति का स्वरूप निश्चित हो जाने पर, अप्पय आदि के द्वारा मिथ्याध्यवसिति नामक जो अलङ्कार माना गया है,[१६३] वह इसी में गतार्थ हो जाता है ।

मिथ्यध्यावसिति नामक अलङ्कार वहाँ होता है जहाँ किसी एक वस्तु को असत्य सिद्ध करने के लिये किसी अन्य असत्य वस्तु की कल्पना की जाती है । इसमें एव प्रौढ़ोक्ति की कल्पना मे केवल प्रकार का भेद है । यदि इस भेद से अलङ्कार में ही भेद माना जायेगा तो सत्याध्यवसिति भी एक भिन्न अलङ्कार हो जायेगा । एवं च प्रत्येक अलङ्कार के भेद-प्रभेद पृथक्-पृथक् अलङ्कार कहलाने लगेंगे । अतः इसको प्रौढ़ोक्ति का एक भेद मात्र ही मानना चाहिये, पृथक् अलङ्कार नहीं ।

समवलोकन

इस अलङ्कार में कोई सूक्ष्म विचार नहीं किया गया है । सरलरूप में यथाभिमत लक्षण एवं उदाहरण दे दिया गया है । अन्त में अप्पयदीक्षित सम्बन्धी मिथ्याध्यवसिति का अन्तर्भाव इसी में कर दिया है ।

प्रमुखता कविकल्पनाप्रसूत होने को दी है ।

प्रहर्षण

लक्षण

पण्डितराजकृत लक्षण

'साक्षात्तदुद्देश्यकयत्नमन्तरेणाप्यभीष्टार्थलाभः प्रहर्षणम् ।'[१६४]

अर्थात् साक्षात् रूप से उद्देश्य के लिये किये हुए यत्न के बिना भी अभीष्टार्थ की प्राप्ति होना ही है प्रहर्षणालङ्कार ।

१६२. रस. पृ. ४९८
१६३. 'किञ्चिन्मिथ्यात्वसिद्ध्यर्थं मिथ्यार्थान्तरकल्पनम् ।' (कुव० पृ० २१२) रस. पृ. ४९९
१६४. रस. पृ ५०४

प्रहर्षणालङ्कार के भेद

प्रहर्षणालङ्कार तीन प्रकार का होता है—(१) अकस्मात् अभीप्सित अर्थ की प्राप्ति हो जाये, (२) वाञ्छित अर्थ की सिद्धि के लिये किये गये यत्न के द्वारा वाञ्छित अर्थ से भी अधिक अर्थ का लाभ हो जाये और (३) उपाय की सिद्धि के लिये किये जाने वाले यत्न से साक्षात् फल का लाभ। क्रम से इसके उदाहरण इस प्रकार हैं—

प्रथम उदाहरण—

तिरस्कृतो रोषवशात्परिष्वजन्प्रियो मृगाक्ष्या शयित. पराङ्मुख
किं मूर्च्छितोऽसाविति कान्दिशीकया कयाचिदाचुम्व्य चिराय सस्वजे ॥[१६५]

इसमे यत्न सामान्य के न होने पर भी अभीष्ट की प्राप्ति है।

द्वितीय उदाहरण—

लोभाद्वराटिकाना विक्रेतुं तक्रमानिशमटन्त्या।
लब्धो गोपकिशोर्या मध्येरथ्यं महेन्द्रनीलमणिः ॥[१६६]

इसमे गोपकिशोरी को तक्रविक्रय रूप अभीष्ट की सिद्धि के लिये किये गये अटन रूप कार्य से वांञ्छितार्थ से अधिक-इन्द्रनीलमणिरूप भगवद्दर्शन की प्राप्ति हो गयी। अतः द्वितीय प्रकार का प्रहर्षण है।

तृतीय प्रकार है—

तद्दर्शनोपायविमर्शनार्थं मया तदालीसदनं गतेन
तत्रैव सालक्ष्यत पक्ष्मलाक्षी दाक्षायणीमर्चयितुं प्रयाता ॥[१६७]

इसमें उसके दर्शन के लिये उपाय करते हुए साक्षात् उसका दर्शन लाभ हो जाने से तृतीय प्रकार का प्रहर्षण है।

भेद सम्बन्धी अप्पयदीक्षित का मत

प्रहर्षण का दूसरा भेद वहाँ होता है जहाँ वांञ्छित वस्तु से अधिक वस्तु की प्राप्ति हो जाती है। 'वांञ्छितादधिकार्थस्य ससिद्धिश्च प्रहर्षणम्' उदाहरण यह है—

चातकस्त्रिचतुरान् पय·कणान् याचते जलधरं पिपासया।
सोऽपि पूरयति विश्वमम्भसा हन्त हन्त महतामुदारता ॥[१६८]

इसमे चातक का अभीष्ट है तीन चार बूँद जल किन्तु उससे अधिक उसको प्राप्ति हो रही है। अतः प्रहर्षण अलङ्कार है–यह अप्पय दीक्षित ने कहा है।

---

१६५. रस. पृ. ५०४
१६६. रस. पृ. ५०४
१६७. रस. पृ. ५०५
१६८. कुव. पृ. २२०

पण्डितराजकृत खण्डन

पण्डितराज का कहना है कि द्वितीय प्रहर्षण के लक्षण मे जो संसिद्धि पद है उसे केवल निष्पादन मात्र मे तात्पर्य वाला नही कहा जा सकता। क्योंकि ऐसा भी हो सकता है कि निष्पत्ति हो जाने पर भी इच्छुक को उसकी प्राप्ति न हो और उससे सतोष का आधिक्य न हो। उस स्थिति मे प्रहषण शब्द का जो अर्थ-विशेष हर्ष-है वही सङ्गत नही होगा। अर्थात् वाञ्छा करने वाले को उसके लाभ से प्रसन्नता ही नही होगी। उस दशा मे वहाँ प्रहर्षणालङ्कार नही होगा। अत. ससिद्धि का तात्पर्य है लाभ से होने वाले अतिशय सतोष मे। उसके अनुसार इस पद्य मे चातक को अभीष्ट से अधिक की प्राप्ति के अभाव मे उस सतोषातिशय का लाभ तो हो नहीं रहा अत' यहाँ प्रहर्षण अलङ्कार कैसे हो सकता है। यह अवश्य है कि इच्छा से अधिक दे देने के कारण दाता की उदारता व्यक्त होती है। अतः 'हन्तहन्त' इत्यादि पद से अर्थान्तिरन्यास से उसी का (दाता के उत्कर्ष का ही) पोषण होता है।

समवलोकन

प्रहर्षण एक ऐसा अलङ्कार है जो प्राचीन अलङ्कार पथ मे अगण्य, कुवलयानन्दकार के ही द्वारा उद्भावित नवीन अलङ्कार है। पण्डितराज द्वितीय आलङ्कारिक है, जिनके द्वारा इसको प्रतिष्ठा मिली।

दीक्षित और जगन्नाथ के लक्षणो मे तथा भेदो मे वैलक्षण्य विशेष नहीं है।

द्वितीय भेद के अप्पयदीक्षित के लक्षण को खण्डित किया गया है जिसका आधार है 'ससिद्धि' पद। संसिद्धि का अर्थ निष्पादन मानकर पण्डितराज अप्पयदीक्षित पर प्रहार कर बैठे हैं जबकि कुवलयानन्द में ऐसा कहीं सङ्केत नहीं मिलता क्योंकि उन्होने स्वयं उसकी कोई व्याख्या नहीं की है। अपितु प्रथम लक्षण में प्रयुक्त संसिद्धि पद[१६६] का जो प्राप्ति अर्थ किया गया है वही द्वितीय में भी लगता है। अतः अप्पयदीक्षित का खण्डन सरासर मनोरथ सिद्धि ही है सत्यता नहीं।

अतः वास्तव मे अप्पय का ही अनुसरण पण्डितराज ने किया है।

विषादन

लक्षण

पण्डितराजकृत लक्षण

'अभीप्दार्थविरुद्धलाभो विषादनम्।'[१७०]

अर्थात् अभीष्ट अर्थ से विरुद्ध अर्थ की प्राप्ति विषादन अलङ्कार है। अभीष्ट अर्थ की प्राप्ति के लिये कारण का प्रयोग जहाँ नहीं किया गया है केवल इच्छा मात्र

१६६. 'वाञ्छिताद्यधिकार्थस्य संसिद्धिश्च प्रहर्षणम्।' रस. पृ. ५०५

१७०. रस. पृ. ५०६

की गयी है और उसी से विरुद्ध लाभ हो जाता है वही विषादन अलङ्कार होता है। जहाँ इष्टार्थ के कारण के प्रयुक्त होने पर भी उससे विरुद्ध लाभ नही होता अपितु अपने ही किसी कारण से वह विरुद्धार्थ प्राप्त हो जाता है वहाँ विषादन अलङ्कार नही होता। जहाँ इष्टार्थ के लिये प्रयुक्त कारण से ही विरुद्धार्थ का लाभ होता है वहाँ उस प्रकार के कारण मे और विरुद्धार्थ मे उत्पाद्य उत्पादक भावरूप सम्बन्ध अनुरूप न होने के कारण विषमालङ्कार होता है। और इष्ट वस्तु से विरुद्धार्थ की प्राप्ति होने से विषादन अलङ्कार भी होता है इस प्रकार इसमे सङ्कर होता है। परन्तु इस सङ्कर के कारण इसे विषमालङ्कार के भेदो के अन्तर्गत ही नही मान लेना चाहिये क्योकि विषमालङ्कार से रहित भी इसका स्थल प्राप्त है।

इस अलङ्कार के सम्बन्ध मे मुख्य विषय यह है कि विषम और विषादन का परस्पर न तो अन्तर्भाव है न विरोध। दोनो साथ-साथ भी रह सकते हैं और पृथक् पृथक् भी। 'विरुद्ध अर्थ की प्राप्ति'—इतना अंश विषादन का और 'विरुद्धार्थ का लाभ तथा इष्टार्थ के प्रति किया गया प्रयत्न इन दोनो मे ससर्ग की अनुरूपता का' अभाव–इतना अंश विषमालङ्कार का विषय है। अतः उस स्थल मे विषम और विषादन का सङ्कर मानना चाहिये।[१७१]

विषम से रहित विषादन अलङ्कार का उदाहरण यह है—

स्वस्वव्यापृतिमग्नमानसतया मत्तो निवृत्ते जने
चञ्चूकोटिनिराकृतार्गल इतो यास्याम्यहं पञ्जरात्।
एवं कीरवरे मनोरथमयं पीयूषमास्वादय-
त्यन्तः सम्प्रविवेश वारणकराकार फणिग्रामणी.॥[१७२]

इसमें इष्ट की प्राप्ति के लिये कोई यत्न नही किया गया है इसलिये विषमालङ्कार का अंश नहीं है। अतः अप्रस्तुतप्रशंसा के घटक के रूप मे विषादन अलङ्कार ही यहाँ है।

इसी प्रकार एक दूसरा उदाहरण भी दिया गया है, जहाँ विषम नही है विषादन ही है।

समवलोकन

यह अलङ्कार भी अप्पय द्वारा निर्मित और जगन्नाथ द्वारा परिपोषित अलङ्कार है। स्वरूपादि में कोई भेद नहीं है। विशेषता केवल यही है कि अप्पय ने मात्र लक्षण और उदाहरण दिया जब कि पण्डितराज ने विषम से इसके सूक्ष्म भेद को स्पष्ट कर इसे स्वच्छ रूप में पृथक् आसन प्रदान किया। विषादन की यह निर्मलता-प्रतिपत्ति पण्डितराज की देन है।

---

१७१. रस. पृ. ५०६
१७२. रस. पृ. ५०६

उल्लास

लक्षण

पण्डितराजकृत लक्षण

दूसरे के गुण दोष के कारण किया गया दूसरे के गुण-दोष का आधान (प्रतिपादन) उल्लासालङ्कार कहलाता है।

'अन्यदीयगुणदोषप्रयुक्तमन्यस्य गुणदोषयोराधानमुल्लासः।'[१७३]

उल्लासालङ्कार के भेद

यह अलङ्कार चार प्रकार का होता है—

(१) अन्य के गुण से अन्य के गुण का या (२) अन्य के गुण से अन्य के दोष का आधान और (३) अन्य के दोष से अन्य के दोष का अथवा (४) अन्य के दोष से अन्य के गुण का आधान होने से।

इस अलङ्कार मे आधान का तात्पर्य है तद्वत्ता बुद्धि। अर्थात् 'उससे युक्त है' इस प्रकार का बोध। अतः किसी दूसरे के गुण या दोष के कारण जब किसी अन्य मे तद्गुणदोष की बुद्धि हो तो उल्लास अलङ्कार होता है।

उदाहरणार्थ—

अलभ्य सौरभ्यं हरति सततं यः सुमनसा
क्षणादेव प्राणानपि विरहशस्त्रक्षतहृदाम्।
त्वदीयानां लीलाचलितलहरीणा व्यतिकरा-
त्पुनीते सोऽपि प्रागहह पवमानस्त्रिभुवनम्॥[१७४]

इसमे लहरों की अत्यन्त पवित्रता से वायु का पावनत्व रूप गुण वर्णित हुआ है। अतः गुण से गुण का आधान रूप प्रथम भेद है। इसी प्रकार अन्य सभी भेदों के उदाहरण दिये गये हैं—

अन्य मत

कुछ विद्वानो के अनुसार यह अलङ्कार काव्यलिङ्ग में ही अन्तर्भूत हो जाता है, इसका कोई पृथक् अस्तित्व नही है और दूसरे कतिपय विद्वानो का कहना है कि इस अलङ्कार में होने वाली प्रतीति (तद्वत्ता बुद्धि) लौकिक प्रतीति है अतः उसमे कविप्रतिभा का कोई योग न होने से अलङ्कार ही नहीं है।

समवलोकन

उल्लास अलङ्कार का लक्षण और विभाजन कुवलयानन्द में प्राप्त लक्षण और विभाजन का ही अनुसरण है। यह अलङ्कार रुय्यक-मम्मट आदि ने स्वीकार

१७३. रस. पृ ५०७
१७४. रस. पृ ५०७

नही किया है। अतः इसको न मानने वाले आलङ्कारिक कौन है यह निश्चित नही कहा जा सकता।

अवज्ञा

लक्षण

पण्डितराजकृत लक्षण

'तद्विपर्ययोऽवज्ञा।'[१७५]

अर्थात् उल्लास का विपरीत अवज्ञा है। पर्यवसित अर्थ हुआ–अन्य के गुण दोष से प्रयुक्त अन्य के गुण दोष के आधान का अभाव अवज्ञा है।

अवज्ञा के भेद

इसके दो भेद होते हैं उल्लास के विपर्यय से। (१) एक के गुण के कारण दूसरे के गुण का अलाभ, (२) एक के दोष के कारण दूसरे के दोष का अलाभ। यह शाब्द और आर्थ दोनो प्रकार का होता है।

उदाहरणार्थ—

निष्णातोऽपि च वेदान्ते वैराग्य नेति दुर्जनः।
चिरं जलनिधौ मग्नो मैनाक इव मार्दवम् ॥[१७६]

इसमे वेदान्तगत गुणवर्णन से दुर्जनगतगुणवर्णन का अभाव है अतः अवज्ञालङ्कार का उदाहरण है। (अन्य उदाहरण भी दिये हैं)

अन्य मत

अन्य लोगो के अनुसार इसका अन्तर्भाव अतिशयोक्ति मे भी हो जाता है। पण्डितराज ने इस मत का कोई खण्डन मण्डन नहीं किया है।

समवलोकन

यह भी अप्पय के द्वारा ही माना गया अलङ्कार है। जिसका पण्डितराज ने यथावत् समर्थन कर दिया है। दोनों के निरूपण मे कोई भेद नही है। अन्तर्भाव के विषय में कुछ न कहना उसकी अमहत्ता को ही दर्शाता है।

लेश

लक्षण

पण्डितराजकृत लक्षण

'गुणस्यानिष्टसाधनतया दोषत्वेन, दोषस्येष्टसाधनतया गुणत्वेन च वर्णनं लेशः।'[१७७]

---

१७५. रस. पृ. ५०८
१७६. रस० पृ. ५०६
१७७. रस. पृ. ५१२

अर्थात् गुण का अनिष्टसाधन के रूप में दोष के समान और दोष का इष्टसाधन के रूप में गुण के समान वर्णन करना ही है लेश । उदाहरणार्थ—

अपि बत गुरुगर्वं मा स्म कस्तूरी यासी-
रखिलपरिमलानां मौलिना सौरभेण ।
गिरिगहनगुहायां लीनमत्यन्तदीन
स्वजनकममुनैव प्राणहीनं करोषि ।।[१७८]

इसमे गुण का दोषत्वेन वर्णन किया गया है । इसके पश्चात् एक ऐसे उदाहरण को लेकर विचार किया गया है जिसमें व्याजस्तुति और लेश दोनों का सङ्कर है । उस विचार का सार भी यही है कि व्याजस्तुति के द्वारा लेश को अन्तर्भूत नही कर देना चाहिये अपितु दोनों का अस्तित्व पृथक्-पृथक् है ।[१७९]

समवलोकन

यह अलङ्कार भी काव्यप्रकाश और अलङ्कार सर्वस्व आदि प्राचीन ग्रन्थों में उपलब्ध नही होता । अप्पय ने अनेक नवीन अलङ्कारो की कल्पना की है उनमे से यह भी एक है । पण्डितराज ने इसको पूर्णरूप से दृढ़ स्वरो मे स्वीकार किया है । अर्थात् अप्पयदीक्षित का ही अनुगमन किया है ।

इस अलङ्कार की पृथक्विषयता पर भी अप्पय के द्वारा पर्याप्त विचार हुआ है, उसी का पुट इनके विचार में भी है ।

तद्गुण

लक्षण

पण्डितराजकृत लक्षण

'स्वगुणत्यागपूर्वकं स्वसन्निहितवस्त्वन्तरसम्बन्धिगुणग्रहणं तद्गुणः ।'[१८०]

अर्थात् अपने गुण का त्याग करके अपने समीप स्थित दूसरी वस्तु से सम्बन्धित गुण का ग्रहण करना तद्गुणालङ्कार है । जैसे—

नीतो नासान्तिकं तन्व्या मालत्याः कुसुमोत्करः ।
बन्धूकभावमानिन्ये रागेणाधरवर्तिना ।।[१८१]

---

१७८. रस. पृ. ५१२

१७९. 'स्खलन्ती स्वर्लोकादवनितलशोकापहृतये
जटाजूटग्रन्थौ यदसि विनिबद्धा पुरभिदा ।
अये निर्लोभानामपि मनसि लोभं जनयतां
गुणानामेवायं तव जननि दोषः परिणतः ।।' (रस. पृ. ५१२)

१८०. रस. पृ. ५१३

१८१. रस. पृ. ५१३

इसमे अधरसन्निहित मालती पुष्प के द्वारा अपमे गुण-श्वेतिमा-का त्याग करके अधर के गुण-लालिमाका ग्रहण कर लिया गया है। अतः तद्गुणालङ्कार है। इसी प्रकार दूसरा उदाहरण भी दिया गया है।[१८२]

उल्लास व तद्गुण मे भेद

उल्लास मे भी अन्य के गुण से अन्य के गुण का आधान होता है तथापि इसमे और उल्लास मे अन्तर है। वह अन्तर दो उदाहरणो से स्पष्ट किया है-जैसे चूने आदि की क्षारता के कारण उसमे हरिद्रा का मिश्रण लालिमा को उत्पन्न कर सकता है वैसे ही उल्लास मे एक वस्तु का गुण दूसरी वस्तु को गुणशाली बना देता है। तद्गुण मे जपाकुसुम का लौहित्य जिस प्रकार स्फटिक मे सङ्क्रान्त हो जाता है उसी प्रकार अन्यदीय गुण अन्यत्र सङ्क्रान्त हो जाता है।

द्वितीय उदाहरण मे तद्गुण की जो स्थिति है उसे अप्पयदीक्षित पूर्वरूप नामक अलङ्कार मानते हैं।

समवलोकन

तद्गुण का स्वरूप मम्मटादि द्वारा निर्धारित स्वरूप के अनुकूल ही पण्डितराज ने स्वीकार किया है। परोक्ष रूप से अप्पय द्वारा माने गये पूर्वरूप[१८३] का भी इसी मे अन्तर्भाव कर दिया है।

अतद्गुण

लक्षण

पण्डितराजकृत लक्षण

अतद्गुण तद्गुण का विपरीत अलङ्कार है। इसका अभिमत लक्षण है 'तद्विपर्ययोऽतद्गुणः'[१८४] तद् का अभिप्राय तद्गुण से है क्योंकि अतद्गुण का पूर्ववर्ती अलङ्कार वही है। अपनी समीपस्थ वस्तु के गुण का ग्रहण न करना ही अतद्गुण है।

उदाहरण

कुचाभ्यामालीढ सहजकठिनाभ्यामपि रमे
न काठिन्यं धत्ते तव हृदयमत्यन्तमृदुलम्।
मृगाङ्कानामन्तर्जननि निवसन्ती खलु चिर
न कस्तूरी दूरीभवति निजसौरभ्यविभवात्॥[१८५]

---

१८२. अधरेण समागमाद्रदानामरुणिम्ना पिहितोऽपि शुक्लभाव।
हसितेन सितेन पक्ष्मलाक्ष्याः पुनरुल्लासमवाप जातपक्ष॥ रस. पृ. ५१३

१८३. कुव. पृ. २३६

१८४. रस. पृ. ५१४

१८५. रस. पृ. ५१४

इसमे पूर्वार्ध मे दूसरे के गुण का अग्रहण शाब्द है और अपने गुण का त्यागाभाव आर्थ है।

अवज्ञा व अतद्गुण मे पार्थक्य

इसमें और अवज्ञा मे एकता नही माननी चाहिये क्योकि अवज्ञा उल्लास का विपरीत है और अतद्गुण तद्गुण का। इस प्रकार प्रतियोगिभेद से ही इसके भेद की सिद्धि हो जाती हैं।

अतद्गुण के भेद

(१) रुय्यक का मत–सर्वप्रथम सर्वस्वकार का मत है कि अतद्गुण दो प्रकार का होता है गुण का ग्रहण न करने वाले की अपेक्षा समीपस्थ गुणवान् वस्तु की उत्कृष्टता और समता होने से। न्यूनत्व होने से तीसरा भेद इस कारण नही माना क्योंकि अपकृष्ट वस्तु के गुण का ग्रहण न करना किसी वैचित्र्य का कारण नहीं है अतः उसमे अलङ्कारता नहीं है।[१८६]

(२) अन्य द्वितीय मत–कुछ अन्य विद्वान् यह दो भेद भी नहीं मानते। उत्कृष्टत्व और अपकृष्टत्व के अवान्तर चमत्कार मे कोई ऐसा वैशिष्ट्य नहीं है कि पृथक् भेद माना जाय।[१८७]

(३) अप्पयदीक्षित का मत–दूसरे आलङ्कारिक यह भी मानते हैं कि अतद्गुण और कुछ नही केवल विशेषोक्ति का ही एक रूप है। विशेषोक्ति है कारण के रहते हुये भी कार्य का अभाव। अतद्गुण मे उत्कृष्ट गुण सन्निधान रूप गुणग्रहण का हेतु रहते हुए भी गुणग्रहण का अभाव रहता है।[१८८]

समवलोकन

पण्डितराज स्वयं अतद्गुण को पृथक् अलङ्कार ही मानने के पक्ष में है क्योंकि आरम्भ मे अवज्ञा से इसका पार्थक्य सिद्ध किया है परन्तु इसको न मानने वाले आलङ्कारिकों का मत भी निष्पक्ष भाव से दे दिया है।

अन्य कोई वैचित्र्य नही है।

---

१८६. 'अत्र गुणाग्राहकापेक्षया सन्निहितस्य गुणवत् उत्कृष्टत्वसमत्वाभ्यां द्वैविध्यम्।'—इति सर्वस्वकार.। (रस. पृ. ५१४)

१८७. अन्ये तु 'अवान्तरचमत्कारविशेषस्याभावाद्वैविध्यमपि न'—इति वदन्ति। रस. पृ. ५१४

१८८. अन्ये तु 'सति गुणग्रहणहेतावुत्कृष्टगुणवस्तुसन्निधाने तद्गुणग्रहणरूपकार्याभावात्मकोऽयमतद्-गुणो विशेषोक्तेरवान्तरभेदः।'–इत्यप्याहुः। रस. पृ. ५१४

मीलित

लक्षण

पण्डितराजकृत लक्षण

'स्फुटमुपलभ्यमानस्य कस्यचिद्वस्तुनो लिङ्गैरतिसाम्याद्भिन्नत्वेनागृह्यमाणाना वस्त्वन्तरलिङ्गाना स्वकारणानुमापकत्व मीलितम् ।'[१८६]

अर्थात् स्पष्ट रूप से प्राप्य किसी वस्तु का चिह्नो की अत्यन्त समानता से भिन्नत्वेन प्रतीत न होने वाली अन्य वस्तुओ के चिह्नो द्वारा अपने कारण का अनुमान न करना मीलित अलङ्कार है । इसी का सङ्ग्रह इस कारिका में किया गया है—

भेदाग्रहेण लिङ्गानां लिङ्गैः प्रत्यक्षवस्तुन ।
अप्रकाशो ह्यनध्यक्षवस्तुनस्तन्निमीलितम् ।।[१६०]

अर्थात् प्रत्यक्ष वस्तु के लिङ्गों का अन्य लिङ्गो से भेद न ग्रहण कर सकने के कारण अप्रत्यक्ष (अनध्यक्ष) पदार्थ की अननुमिति (अप्रकाश) निमीलित या मीलिता-लङ्कार कहलाता है ।

सामान्य अलङ्कार का निवारण करने के लिये अनध्यक्ष पद कहा । सामान्य अलङ्कार में प्रत्यक्ष वस्त्वन्तर का ही अग्रहण होता है । तद्गुणालङ्कार में भी वस्त्व-न्तर के गुणों का भिन्नत्वेन अग्रहण होने पर भी वस्त्वन्तर का तो ग्रहण होता ही है अत: उसमे भी मीलितालङ्कार का लक्षण नहीं जाता ।

उदाहरण—

जलकुम्भमुम्भितरस सपदि सरस्या समानयन्त्यास्ते ।
तटकुञ्जगूढसुरत भगवानेको मनोभवो वेद ।।[१६१]

इसमें सुरत के गमक (अनुमापक) स्वेद, कम्प, निश्वास आदि (चिह्नों) की जलपूरित घट को लाने की शीघ्रता से उत्पन्न उन-उन चिह्नों से भिन्नता नही प्रतीत होती । अत: सुरत रूप अप्रत्यक्ष वस्तु का प्रकाश नहीं होता ।

समवलोकन

मीलित अलङ्कार का लक्षण मम्मट, रुय्यक दीक्षित आदि आलङ्कारिकों के ही अनुरूप है अत: उसमे कोई वैशिष्ट्य नहीं है ।

सामान्य अलङ्कार से इसका पार्थक्य सिद्ध कर इस अलङ्कार की स्वतन्त्रता पर विशेष बल दिया गया है ।

---

१८६. रस. पृ ५१५
१६०. रस. पृ ५१५
१६१. रस. पृ. ५१५

सामान्य

लक्षण

पण्डितराजकृत लक्षण

'प्रत्यक्षविषयस्यापि वस्तुनो बलवत्सजातीय-
ग्रहणकृतं तद्भिन्नत्वेनाग्रहणं सामान्यम् ।'[१६२]

अर्थात् प्रत्यक्ष का विषय बनी हुई भी वस्तु का, बलवान् सजातीय वस्तु का ग्रहण करने के कारण, उससे भिन्नतया ग्रहण न कर पाना ही सामान्यालङ्कार है ।

मीलित और सामान्य में यही भेद है कि मीलित में किसी छिपी हुई वस्तु का प्रत्यक्ष नहीं होता और सामान्य मे प्रत्यक्ष वस्तु का बोध नही होता । उदाहरणार्थ—

यस्मिन्हिमानीनिकरावदाते चन्द्रांशुकैवल्यमिव प्रयाते ।
पुच्छाश्रयाभ्यां विकला इवाद्रौ चरन्ति राकासु चिरश्चमर्यः ।।[१६३]

कुछ विद्वानों के अनुसार इस अलङ्कार के लक्षण में 'भिन्नत्वेनाग्रहणम्' के स्थान पर 'भिन्नजातीयत्वेनाग्रहणम्' होना चाहिये जिससे व्यक्तिभेद का ग्रहण न होने पर भी सामान्य अलङ्कार रहे । (इसका एक उदाहरण भी दिया है)[१६४]

मीलित, सामान्य व तद्गुण का पार्थक्य

दूसरा प्रश्न सम्मुख आता है कि जब मीलित, सामान्य और तद्गुण इन तीनो मे ही 'भेद का अग्रहण' समान रूप से रहता है तो इन्हें तीन पृथक्-पृथक् अलङ्कार मानने की अपेक्षा एक ही अलङ्कार क्यों न मानें ? इनके अवान्तर भेदों को लेकर इनका पार्थक्य सिद्ध करना भी उचित नहीं है क्योंकि इस प्रकार से पूर्णोपमा लुप्तोपमा आदि भी पृथक्-पृथक् अलङ्कार सिद्ध हो जायेंगे । इसलिये भेदाग्रह के ही मीलितादि तीन भेद हैं यह कहना चाहिये । परन्तु इस प्रकार कहने में भी यौक्तिकता नही है क्योंकि इस प्रकार मानने में फिर यह भी मानना पड़ेगा कि अभेद एक पृथक् अलङ्कार है और रूपक, अतिशयोक्ति आदि उसी के अवान्तर भेद हैं । अत. इनको पृथक् अलङ्कार मानना ही ठीक है क्योंकि इन सब में विच्छित्ति भेद है ।

समवलोकन

सामान्य अलङ्कार के निरूपण के पश्चात् उसका मीलित और तद्गुण से विषय का विविक्त कर देना पण्डितराज का विशेष कार्य है । उससे विषय की स्वच्छता में सहायता मिलती है ।

---

१६२. रस. पृ ५१६
१६३. रस. पृ. ५१६
१६४ रस पृ ५१६

उत्तर

लक्षण

पण्डितराजकृत लक्षण

'प्रश्नप्रतिबन्धकज्ञानविषयीभूतोऽर्थ उत्तरम् ॥'[१९५]

अर्थात् प्रश्न के प्रतिबन्धकज्ञान का विषयीभूत अर्थ है उत्तर। इस प्रकार उत्तर का लक्षण किया उत्तरालङ्कार का नही। अब 'प्रश्न' की व्याख्या करते है। प्रश्न है ज्ञीप्सा अर्थात् कुछ जानने की इच्छा। वह ज्ञीप्सा है ज्ञान विषयक इच्छा। वह ज्ञीप्सा उत्तर वाक्य के विषयीभूत ज्ञान के होने पर निवर्तित हो जाती है। (फलत प्रश्न शब्द का अर्थ हुआ–जानने की इच्छा और वह इच्छा उत्तर ज्ञात हो जाने पर शान्त हो जाती है।)

(इस प्रसङ्ग मे एक दीर्घ विवेचन है जिज्ञासा के स्वरूप आदि को लेकर। यहाँ अप्रयोजक होने से उपादेय नही है)।[१९६]

उत्तरालङ्कार के भेद

उत्तर दो प्रकार का होता है—(१) निबद्ध प्रश्न और (२) उन्नीत प्रश्न। उन्नीत प्रश्न वह होता है जिसमे प्रश्न का कथन न हो, उत्तर के आधार पर उसका कथन हो। निबद्ध प्रश्न वह होता है जिसमें प्रश्न भी उत्तर के साथ-साथ कथित हो। (क्रमशः इसके उदाहरण दिये है।)[१९७]

प्राचीन आलङ्कारिक का मत

प्राचीन आचार्यों के अनुसार उन्नीत प्रश्न मे एक बार दिया गया उत्तर सुन्दर होता है और निबद्ध प्रश्न में अनेक बार प्रश्न का उत्तर सुन्दर लगता है। उत्तरालङ्कार के यह दोनों भेद भी उत्तर और प्रश्न का साभिप्रायत्व होने से चार चार प्रकार के होते हैं। (प्रश्न का साभिप्रायत्व, उत्तर का साभिप्रायत्व, दोनों का साभिप्रायत्व और दोनो का निरभिप्रायत्व) इस प्रकार उत्तरालङ्कार कुल आठ प्रकार का होता है।

---

१९५. रस. पृ. ५१९

१९६. रस पृ. ५१९

१९७. (क) 'त्वमिव पथिक. प्रियो मे विटपिस्तोमेषु गमयति क्लेशान् ।
किमितोऽप्यत्कुशलं मे सम्प्रति यत्पान्थ जीवामि ॥' (रस. पृ. ५१९)
(ख) किमिति कृशासि कृशोदरि किं तव परकीयवृत्तान्ते ।
कथय तथापि मुदे मम कथयिष्यति या हि पान्थ तव जाया ।" (रस. पृ. ५२०)
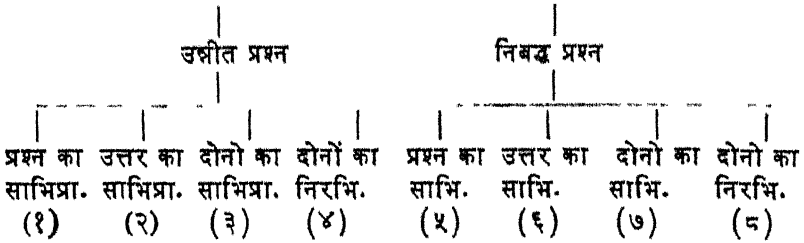
साभिप्रायोन्नीत प्रश्न उत्तरालङ्कार का उदाहरण देते हैं—

प्रियो हृदयवर्ती मे न मां मुञ्चति जातुचित् ।
उत्तरे नावकाशोऽस्ति दूरतस्ते मनोरथ: ।।[१९८]

इसमें किसी पथिक के द्वारा किसी साध्वी के प्रति किया गया 'तुम्हारा प्रिय कहाँ है ?' यह प्रश्न उन्नीत हुआ है । प्रिय के समीप होने पर छल से और दूर होने पर स्वेच्छा से हम दोनों का विलास सम्भोग होगा यह अभिप्राय तदन्तर्भूत है । उत्तर मे स्पष्टत. ही कोई निरभिप्रायगर्भित है ।

उन्नीत प्रश्न मे साभिप्राय उत्तर का उदाहरण यह है—

सुवर्णस्य कृते तन्वि देश देशमटाम्यहम् ।
तस्य दुष्प्रापताहेतोश्चिन्ताक्रान्त मनो मम ।।[१९९]

इसमे 'तुम्हारा चित्त किसलिये चिन्तित है' इस प्रकार किसी ग्रामीणा के द्वारा पूछे गये प्रश्न पर किसी नागरिक का दिया हुआ उत्तर है । 'यदि तुम मुझे रूप दे दो तो मेरी चिन्ता दूर हो जायेगी' यह अभिप्राय उसके उत्तर में निविष्ट है ।

इसी प्रकार अन्य भेदों के उदाहरणों की भी ऊहा कर लेनी चाहिये ।

पण्डितराजकृत खण्डन

उत्तरालङ्कार सम्बन्धी प्राचीन मत के विषय मे पण्डितराज का विशेष मत इस प्रकार है—

इस अलङ्कार में प्रश्न और उत्तर का अनेक बार निबन्धन होना ही प्राण है । क्योंकि उसी से चमत्कार की उत्पत्ति होती है । इस विश्लेषण के अनुसार उपर्युक्त प्राचीन मत में जो उन्नीत प्रश्न के सम्बन्ध में यह कहा गया कि एक बार का प्रश्नोत्तर चमत्कारी होता है, वह ठीक नहीं है । अर्थात् वहाँ उत्तरालङ्कार का स्थल नहीं होगा । उस दृष्टि से उन्नीत प्रश्न ही उत्तरालङ्कार के बाहर हो जायेगा । परन्तु पण्डितराज इसका समाधान करते हैं कि इस प्रकार इसको सङ्कीर्ण नहीं कर

१९८. रस. पृ. ५२०
१९९. रस पृ. ५२०

देना चाहिये क्योंकि प्रश्नगत उन्नीतत्व से यहाँ यह नही समझना चाहिये कि उत्तर से उस प्रश्न का आक्षेप होता है। अपितु उसका तात्पर्य है यह कि पहले सुने गये उत्तर से उसकी उत्पत्ति हो। इसको एक उदाहरण देकर समझाया है—

> श्याम यज्ञोपवीत तव किमिति मषीसङ्क्रमात् कुत्र जात.
> सोऽय शीतांशुकन्यापयसि कथमभूत्तज्जल कज्जलाक्तम्।
> व्याकुप्यन्नूरदीनक्षितिरमणरिपुक्षोणिभृत्पक्ष्मलाक्षी-
> लक्षाक्षीणाश्रुधारासमुदितसरिता सर्वत सङ्गमेन ।।[२००]

इसमे 'कुत्र जात.' यह प्रश्न 'मषीसङ्क्रमात्' इस पूर्व कथित उत्तर के श्रवण से उत्पन्न हुआ है। इस प्रकार इस मत मे पहले दिखाये गये अनुन्नीत प्रश्न वाले उदाहरण अनुदाहरणीय है। इस अलङ्कार का द्वैविध्य भी उन्नीत प्रश्न और निबद्ध प्रश्न को लेकर नहीं होगा। बल्कि उन्नीत प्रश्न और अनुन्नीत प्रश्न को लेकर होगा।

वास्तव मे तो प्रश्न और उत्तर दोनो का साभिप्रायत्व होने पर उससे ही चमत्कार हो जाता है और फिर पुनः पुनः प्रश्नोत्तर के उपादान की अपेक्षा नहीं रहती। जहाँ साभिप्रायत्व नहीं रहता वहाँ पर निबद्ध प्रश्न मे अनेक बार प्रश्नोत्तर के उपादान से ही चमत्कार होता है। आक्षिप्त प्रश्न मे यदि सहृदयजन प्रश्न के आक्षेप से चमत्कार की उत्पत्ति मानते हैं तब एक बार के प्रश्नोत्तर के उपादान में भी अलङ्कारता हो सकती है। प्रकारान्तर से भी इसके भेद हो सकते हैं—प्रश्न और उत्तर के पद्य में रहने पर पद्य के बाहर रहने पर दो भेद हैं। फिर उसमें प्रथम भेद के दो प्रकार हैं—अभिन्न वाक्य से उच्चारण होने पर और भिन्न वाक्य के उच्चारण होने पर। आगे इसके अन्य भी अनेक भेद हो सकते हैं। इन भेदो मे से एक भेद का उदाहरण दिया है और उसके पश्चात् ग्रन्थ ही अपूर्ण छोड दिया।

समवलोकन

उत्तर अलङ्कार रसगङ्गाधर का अपूर्ण और अन्तिम अलङ्कार है।

आरम्भ मे व्याकरण शास्त्र के अनुसार 'प्रश्न' की व्याख्या की गयी है।[२०१] तत्पश्चात् भेदो के सम्बन्ध मे पण्डितराज ने अपना विशेष मत सम्मुख रखकर अलङ्कार शास्त्र के अध्येताओं के लिये नवीन दृष्टि प्रदान की है।

इस प्रकरण मे सबसे बड़ा दोष यह है कि वास्तव में उत्तर अलङ्कार का लक्षण न करके 'उत्तर' मात्र का ही लक्षण किया गया है। लक्ष्य है उत्तर अलङ्कार न कि उत्तर। अतः मुख्य विषय से पण्डितराज हट गये हैं। अलङ्कार की अपूर्णता से इस सम्भावना का अनुमान किया जा सकता है कि 'उत्तर' पर विचार करने के पश्चात् शायद वह उत्तरालङ्कार पर वह विचार करते।

---

२००. रस. पृ. ५२१

२०१. रस. पृ. ५२१

१

शैली

अलङ्कार शास्त्र के अनुपम एव अद्वितीय ग्रन्थ रसगङ्गाधर के प्रणेता पण्डित-राज जगन्नाथ की ग्रन्थ निर्माण शैली भी उनकी कीर्ति-ज्योत्स्ना को आभासित करने में तत्पर है।

रसगङ्गाधर की रचना उस काल में हुई थी जबकि सभी दर्शन, सभी शास्त्र और अलङ्कार शास्त्र के अन्तर्गत सभी सम्प्रदाय अपने अपने क्षेत्र में पूर्णतः विकास प्राप्त कर चुके थे। अतः पण्डितराज को न किसी नवीन विषय की खोज ही करनी थी और न किसी सम्प्रदाय का आरम्भ। प्रत्येक दिशा में उनके विचार के लिये पूर्ण सामग्री उपस्थित थी। अतएव उनका एकमात्र उद्देश्य था परम्परा से चली आने वाली मान्यताओं को युक्तियो के आधार पर प्रमाणित कर उनके परिष्कृत और परिमार्जित रूप मे उन्हे प्रस्तुत करना। फलतः वह स्वयं किसी भी सम्प्रदाय विशेष के अनुसरण मे प्रवृत्त नही दिखायी पड़ते।

परम्परागत विचारों के ऊहापोह के साथ-साथ ही प्रखर मेधायुक्त पण्डितराज की यह भी इच्छा थी कि वह कोई नवीन दृष्टि या नवीन सिद्धान्त भी सम्मुख रखें। उनकी प्रेरणा के ही अनुसार उनके पाण्डित्य-मन्दराचल ने अलङ्कार-सागर का मन्थन कर उसका सारामृत लोक मे वितरित किया। यही कारण है अन्तिम अलङ्कारशास्त्री होने पर भी इनको काव्य-शास्त्र में वही स्थान एव सम्मान प्राप्त हुआ जो आनन्द-वर्धन और मम्मट को प्राप्त हुआ था।

नैयायिक भाषा का अवलम्बन

अपने उद्देश्य को देखते हुए पण्डितराज ने न्याय की भाषा को ही अपने ग्रन्थ का माध्यम बनाया। इस भाषा का सबसे बड़ा गुण है वक्तव्य की स्पष्टता और सूक्ष्मातिसूक्ष्म विवेचन के आधार पर सिद्धान्त की प्रामाणिकता। इसी भाषा के कारण पण्डितराज ऐसे अनेक विषयों का निरूपण करने में समर्थ हुए हैं जिनकी ओर पूर्वाचार्यों ने कोई ध्यान नहीं दिया था।

सदुपयोग के साथ ही साथ इस भाषा का कहीं-कहीं दुरुपयोग भी किया गया है जो ग्रन्थकार के दोष के रूप में सम्मुख आकर उनके यशः सौरभ में किञ्चित् कटुता उत्पन्न कर देता है।

नैयायिक भाषा का प्रयोग विशेष-विशेष स्थल पर हुआ हो ऐसा नही है। आद्योपान्त न्याय के ही ताने-ताने मे रसगङ्गाधर बुना हुआ है।

गद्यात्मकता

रसगङ्गाधर की द्वितीय विशेषता है उसकी गद्यात्मकता। काव्य-शास्त्र के ग्रन्थो की दो श्रेणियाँ है—पहली वह जिनकी रचना पद्य मे (कारिकाओ के रूप मे) हुई है और दूसरी वह जिनकी रचना गद्य मे (सूत्रो के रूप मे) हुई है। अधिकाश प्रथम श्रेणी मे ही आते है परन्तु रसगङ्गाधर द्वितीय श्रेणी का ग्रन्थ है। इसमे सूत्र रूप मे लक्षणो का निर्माण हुआ है तथा उसके पश्चात् उसकी सुदीर्घ विवेचना व व्याख्या।

अपने सम्मुख उपस्थित अनेक मत मतान्तरो का निष्कृष्ट और परिशिष्ट रूप सम्मुख रखने मे यह भी सहायक है क्योकि जहाँ कारिका का अर्थ अपनी बौद्धिक क्षमता के अनुसार टीकाकारो के द्वारा भिन्न-भिन्न हो जाता है वहाँ गद्यात्मक भाषा में अर्थ-वैभिन्न्य की कोई सम्भावना नहीं रहती।

शैली के अन्तर्गत दो चीजें आती हैं—

(१) विषय को प्रतिपादित करने की रीति (लेखन शैली) और

(२) वह विषय जिनका प्रतिपादन किया गया है (लिखित विषय)

लेखन शैली

रसगङ्गाधर की लेखन शैली में मुख्य रूप से छः चरण दिखायी देते हैं—

(क) **लक्षण**—विवेच्य विषय का लक्षण।

(ख) **पदकृत्य**—प्रतिनिष्ठित लक्षण की शब्दत एवं अर्थतः विषय के साथ सङ्गति।

(ग) **परमत-खण्डन**—प्रतिपाद्य विषय से सम्बन्धित अन्य विद्वानों के मतो का खण्डन।

(घ) **उदाहरण**—विषय को बुद्धिगत करने मे सहायता देने के लिये तत्सम्बन्धी उदाहरणो को प्रस्तुत करना।

(ङ) **शाब्द-बोध**—प्रकृत विषय में होने वाले शाब्द-बोध के आकार पर विचार तथा

(च) **तदीय-बोध**—उस विषय के स्वरूप को नष्ट करने वाले तत्वों का विवेचन।

रसगङ्गाधर में प्रत्येक विषयका विचार इसी सोपान से हुआ है।

लक्षण

उपर्युक्त षट्सूत्री-कार्यक्रम मे सर्वप्रथम स्थान है लक्षण का। रसगङ्गाधर मे प्रत्येक विषय को आरम्भ करने के पूर्व उसका एक निश्चल लक्षण किया गया है। उदाहरण के लिये सर्वप्रथम काव्य का लक्षण किया है:—

'रमणीयार्थप्रतिपादकः शब्दः काव्यम्।'[१]

इसमे आपाततः न्याय का बाहुल्य नही प्रतीत होता किन्तु इसके परिष्कारमे पूर्ण नैयायिक भाषा का परिचय मिलता है—

'इत्थ च चमत्कारजनकभावनाविषयार्थप्रतिपादकशब्दत्वम्, यत्प्रतिपादितार्थ-विषयकभावनात्व चमत्कारजनकतावच्छेदकं तत्त्वम्, स्वविशिष्टजनकतावच्छेदकार्थ-प्रतिपादकतासंसर्गेण चमत्कारत्ववत्त्वमेव वा काव्यत्वम्।'[२]

नैयायिकों की यह क्लिष्ट भाषा अनेक बार सहज-बोध्य विषय को भी दुरूह बना देती है किन्तु उससे विषय का अन्तस्तल सुस्पष्ट हो जाता है इसमे कोई सन्देह नही।

पण्डितराज के बनाये हुए लक्षण कही न्याय-प्रधान, कहीं व्याकरण-प्रधान, कही मीमासाप्रधान और कहीं वेदान्तादि-दर्शन प्रधान है। यथा:—

न्याय-प्रधान-लक्षण

इसके अन्तर्गत अनुमानालङ्कार का लक्षण 'अनुमितिकरणमनुमानम्'[३]

अथवा स्मरण अलङ्कार का लक्षण—'सादृश्यज्ञानोद्बुद्धसस्कारप्रयोज्य स्मरणं स्मरणालङ्कारः'[४] लिया जा सकता है। यह लक्षण देखकर अध्येता को भ्रम होता है कि वह न्याय के प्रमाण खण्ड का अध्ययन कर रहा है अथवा काव्य के अलङ्कार भाग का। इन लक्षणों मे क्रमशः अनुमान प्रमाण का और स्मृतिरूप ज्ञान का स्वरूप छिपा हुआ है।

व्याकरण-प्रधान-लक्षण

इसी प्रकार व्याकरण के सिद्धान्तों से अनुगर्भित लक्षण का दृष्टान्त यह है:—

'उपदेशक्रमेणार्थाना सम्बन्धो यथासंख्यम्।'[५]

यथासख्य अलङ्कार के इस लक्षण मे 'अर्थों के सम्बन्ध का क्या तात्पर्य है' यह व्याकरण से परिचय होने पर ही जाना जा सकता है क्योंकि इसकी सम्पूर्ण व्युत्पत्ति 'यथासङ्ख्य' पद के समासविग्रह पर ही निर्भर करती है।

---

१. रस पृ ४
२. रस. पृ. ४-५
३. रस पृ. ४७५
४. रस पृ. २१६
५ रस. पृ. ४७६

पर्याय अलङ्कार के लक्षण को भी उदाहरणरूप मे लिया जा सकता है।

मीमासा-प्रधान-लक्षण

मीमासा की आधार पीठिका पर निर्मित लक्षण परिसङ्ख्या का है:-

'सामान्यत प्राप्तस्यार्थस्य कस्माच्चिद्विशेषाद्व्यावृत्ति परिसङ्ख्या।'[६]

इसमें 'परिसङ्ख्या' का प्रयोग जिस सन्दर्भ मे किया गया है उसका परिचय इसी लक्षण की अनुगामी व्याख्या से मिलता है। मीमासा दर्शन सम्बन्धी परिसङ्ख्या विधि को ही इस लक्षण मे सङ्केतित किया है।

वेदान्त-प्रधान-लक्षण

रस प्रकरण मे प्रमुख-प्रमुख सभी रस-सिद्धान्त किसी न किसी दर्शन पर ही आधारित हैं। वेदान्त पर आधारित रस-व्याख्या देखिये

"समुचितललितसन्निवेशचारुणा काव्येन समर्पितै' सहृदयहृदय प्रविष्टैस्तदीयसहृदयतासहकृतेन भावनाविशेषमहिम्ना विगलितदुष्यन्तरमणीत्वादिभिरलौकिकविभावानुभावव्यभिचारिशब्दव्यपदेश्यैः शकुन्तलादिभिरालम्बनकरणै, अश्रुपातादिभिः कार्यैः चिन्तादिभिः सहकारिभिश्च, सम्भूय प्रादुर्भावितेनालौकिकेन व्यापारेण तत्कालनिवर्तितानन्दांशावरणेनात एव प्रमुष्टपरिमितप्रमातृत्वादिनिजधर्मेण प्रमात्रा स्वप्रकाशतया वास्तवेन निजस्वरूपानन्देन सह गोचरीक्रियमाणः प्राग्विनिविष्टवासनारूपो रत्यादिरेव रस'।'[७]

इसमे स्वप्रकाश चैतन्य के द्वारा बाह्यपदार्थों का विषय बनाना, चैतन्य का अनावृत्त होना इत्यादि सभी वैदान्तिक सिद्धान्तो के अनुसार ही रसको स्वीकार किया गया है।

शास्त्रीय पीठिका पर अनाधारित लक्षण

उपर्युक्त विभिन्न शास्त्रो पर आधारित लक्षणों से अतिरिक्त ऐसे भी लक्षण हैं जो किसी अन्य सिद्धान्त या शास्त्र पर आधारित नहीं हैं। जैसे-

'पङ्क्तिरूपेण निबद्धानामर्थानां पूर्वपूर्वस्योत्तरस्मिन्, का उत्तरोत्तरस्य वा पूर्वपूर्वस्मिन्संसृष्टत्वं शृङ्खला।)[८]

यह शृङ्खला का लक्षण बताया हैं जिसमे किसी अन्य शास्त्र का आश्रय नहीं लिया है। दूसरा भी दृष्टान्त लिया जा सकता है.

'विषयिणा विषयस्य निगरणमतिशयः। तस्योक्तिः।'[९]

यह लक्षण भी केवल अलङ्कारशास्त्र की ही शब्दावली मे परिनिबद्ध है।

---

६. रस. पृ. ४८२
७. रस. पृ २१
८. रस. पृ. ४६१
९. रस. पृ. ३०७

खण्ड्यमान रीति से किया गया लक्षण

कहीं कहीं खण्ड्यमान रीति से भी लक्षण किया गया है । अर्थात् पहले प्रवृत्त विषय के सम्भव लक्षणों का निर्माण कर उनका खण्डन करके अन्त में सभी दोषों से रहित एक सुनिश्चित लक्षण दिया गया है । यह नैयायिकों की शैली है । उदाहरण के लिये प्रतिवस्तूपमालङ्कार का लक्षण लिया जा सकता है:-

.... 'अथ किमस्या लक्षणम्–'वाक्यार्थगतोपमात्वम्' इति चेत् प्रागुक्त वाक्यार्थोपमायामतिव्याप्ते. । न चार्थत्वेन तद्विशेषणीयमिति वाच्यम् । दृष्टान्तालङ्कारे तथाप्यतिप्रसङ्गात् । वस्तुप्रतिवस्तुभावापन्नसाधारणधर्मकत्वेनापि तद्विशेषणीयमिति चेत् तथापि–

'तावत्कोकिल विरसान्यापय दिवसान्वनान्तरे निवसन् ।
यावन्मिलदलिमाल कोऽपि रसालः समुल्लसति ।।'

इत्यप्रस्तुतप्रशंसायामतिप्रसङ्गादिति । मैवम् । अप्रस्तुतप्रशंसायां वस्तुप्रतिवस्तु-भावस्य भिन्नशब्दोपात्तैकप्रतिपाद्यरूपस्यासम्भवात् । एव च–
'वस्तुप्रतिवस्तुभावापन्नसाधारणधर्मकयावाक्यार्थयोरार्थयोरार्थमौपम्य प्रतिवस्तूपमा ।'[10]

इसमें आरम्भ में स्वयं ही एक लक्षण का निर्माण किया है और उसमें दोषों का उद्घाटन किया । क्रमशः दोष-निवारण करते हुए अन्त में प्रकृष्ट मत का स्थापन किया है ।

कहीं कहीं अपने लक्षण के पूर्व ही अन्य आलङ्कारिकों के मतों को प्रतिपादित कर दिया है । आक्षेप अलङ्कार का निरूपण इसी कोटि का है ।

इस प्रकार लक्षण-निर्माण में रसगङ्गाधर वैविध्यपूर्ण और विलक्षण हैं ।

पदकृत्य

लक्षण के पश्चात् पदकृत्य का स्थान आता है । न्याय का पण्डितराज के ऊपर इतना भरपूर प्रभाव था कि कहीं भी वह अपने को उससे मुक्त नहीं कर सके । लक्षणगत प्रत्येक पद की स्वयं सार्थकता तथा सप्रयोजनता सिद्ध करना उनके ग्रन्थ का महत्वपूर्ण अङ्ग है । काव्यलक्षण से लेकर उत्तरालङ्कार के लक्षण तक यही रीति अपनायी गयी है ।

पदकृत्य में भी स्वमतसिद्धि के अनुकूल यथावश्यक शास्त्र का सहारा लिया गया है । अर्थात् कहीं न्याय की भूमिका में किसी पद की सार्थकता दिखायी गयी है तो कहीं व्याकरण के अनुसार उसे सटीक सिद्ध किया है । अनेक स्थलों पर यह पदकृत्य अतिदीर्घ हो जाने से विषय में विशृङ्खलता भी उत्पन्न करने लगता है ।

उदाहरण के लिये विषमालङ्कार का पदकृत्य लिया जा सकता है:– ('अननुरूपसंसर्गो विषमम्'-यह उसका लक्षण है ।)

---

१०. रग.पृ ३३०

"अनुरूपमिति योग्यतायामव्ययीभाव । अनुरूप यत्र न विद्यते इति विगृहीतेन बहुव्रीहिना योग्यतारहितमुच्यते । योग्यता च युक्तमिदमिति लौकिकव्यवहारगोचरता । ससर्गश्च तावद्द्विविध. उत्पत्तिलक्षरण. सयोगादिलक्षरणश्च । तत्रोत्पत्तिलक्षरणस्य ससर्गस्यायोग्यत्व कारणात्स्वगुणविलक्षणगुणकार्योत्पत्त्या । इष्टसाधनतया निश्चिताकारणादनिष्टकार्योत्पत्तिभि संयोगादिलक्षरणस्यापि ससर्गिणोरन्यतरगुणस्वरूपतिरस्कायन्यितरगुणस्वरूपतया अयोग्यत्वम् । एव चाननुरूपससर्गत्वेन सामान्येनोक्ता वक्ष्यमारणाश्च सर्वे प्रभेद सङ्गृह्यन्ते ।"[11]

इस पदकृत्य से विषमालङ्कार की सूक्ष्म व्याख्या तो की ही गयी है साथ ही उसके सब भेदो का समावेश भी इस लक्षरण मे ही सिद्ध कर दिया गया है। स्फुट ही है कि यहाँ व्याकरण के आधार पर पदो की सार्थकता प्रदर्शित की गयी है।

न्यायाधारित पदकृत्य का उदाहरण देखिये—

"तडिदिव तन्वी भवती भवतीवेय तडिल्लता गौरी इत्यत्र परस्परोपमायामतिव्याप्तिवाररणाय भूतान्तम् । तत्र तानवगौरिमभ्यामनुगामिधर्माभ्यां प्रयोजितमुपमाद्वय न तृतीय सदृश व्यवच्छिनत्ति । एकेन धर्मरणैकप्रतियोगिके परानुयोगिके सादृश्ये निरूपितेऽपरप्रतियोगिकस्यैकानुयोगिकस्यापि तेन धर्मेण सादृश्यस्यार्थत: सिद्धतया शब्देन पुनस्तदुक्तिः स्वनैरर्थक्यपरिहाराय तृनीयसदृशव्यवच्छेदमाक्षिपति प्रकृते चैकेन तानवरूपेण धर्मेण तडित्प्रतियोगिके कामिन्यनुयोगिके सादृश्ये निरूपिते तेनैव धर्मेण कामिनीप्रतियोगिकस्य तडिदनुयोगिकस्य सादृश्यस्यार्थत सिद्धावपि न गौरत्वेन धर्मेण सिद्धिरिति तदर्थमुपात्तस्य द्वितीयसादृश्यवचनस्य न तृतीयसदृशव्यवच्छेदफलकत्वम् ।" इत्यादि ।[12]

इस पदकृत्य में अनुयोगी-प्रतियोगी की नैयायिक भाषा का प्रयोग कर कवि ने इसे नैयायिक रूप प्रदान कर दिया है। इसी के आधार पर उपर्युक्त उदाहरण 'तडिदिव तन्वी–' इत्यादि का अयुक्तत्व भी सिद्ध हो सका है तथा अपने बनाये हुए लक्षरण की अव्याप्ति-अतिव्याप्ति आदि दोषों से रिक्तता की भी सिद्धि हुई है।

पदकृत्य का प्रयोग स्वमत सिद्धि के साथ-साथ परमत खण्डन के लिये भी हुआ है। उदाहरण के लिये अन्योन्य अलङ्कार में किया गया दीक्षित के मत का खण्डन लिया जा सकता है।

इस प्रकार पदकृत्य का अधिकाशत प्रयोग हुआ है—कहीं निजी लक्षरण की सिद्धि के लिये और कहीं परमत दोष-दर्शन के लिये। (पदकृत्य का उत्कृष्ट उदाहरण है उपमालङ्कार का पदकृत्य)[13]

---

११. रस. पृ. ४४३–४४४

१२. रस. पृ. १६६

१३. रस. पृ. १५७

परमत खण्डन

परमत खण्डन तृतीय चरण है। अलङ्कार ग्रन्थों मे विलक्षण है रसगङ्गाधर और रसगङ्गाधर की विलक्षणता है परमत खण्डन।

जैसा कि आरम्भ में कहा गया है कि पण्डितराज का मुख्य उद्देश्य था अलङ्कार जगत मे चली आने वाली विभिन्न मतधाराओं मे से किसी एक का उत्कर्ष सिद्ध करना और विभिन्न मतो का परिष्कार करना, तदनुसार ही उनके ग्रन्थ मे यह अङ्ग प्रमुख बन पडा है।

अस्पष्टताओं के निराकरण के अतिरिक्त नैयायिक का भी यह फल हो सकता है कि पण्डितराज ने किसी पूर्व निश्चित मत का अनुसरण न कर तर्क-निष्कर्ष पर परख कर ही किसी सिद्धान्त को स्वीकार किया है। जो भी हो, दूसरो के मत को यथावत् स्वीकार न कर, आलोचनात्मक दृष्टि से स्वच्छ करना रसगङ्गाधर का वैशिष्ट्य है।

यद्यपि पण्डितराज के समुख प्रतिद्वन्द्वी थे अप्पय दीक्षित और उपजीव्य थे मम्मट और आनन्दवर्धन, तथापि आलोचना के क्षेत्र मे यह पूज्यभाव लुप्त हो गया है। समकालीन अप्पय और प्राचीन आलङ्कारिक मम्मटादि प्रतिद्वन्द्विता मे समान रूप से गोचर हुए हैं। दोनों का खण्डन करते समय पण्डितराज की भाषा में भेद स्पष्ट रूप से परिलक्षित होता है। अप्पय दीक्षित के खण्डन में भाषा कटु, कटाक्षपूर्ण एवं कहीं-कहीं असुन्दर हो जाती है जबकि मम्मटादि के खण्डन में वही भाषा विनम्रता और आदर से युक्त रहती है।

मम्मट के मत का खण्डन

उपजीव्य होने पर भी सर्वप्रथम मम्मट पर ही प्रहार हुआ है—

"यत्तु प्राञ्चः 'अदोषौ सगुणौ सालङ्कारौ शब्दार्थौ काव्यम्' इत्याहुः, तत्र विचार्यते शब्दार्थयुगलं न काव्यशब्दवाच्यम्, मानाभावात्। काव्यमुच्चैः पठ्यते, काव्यादर्थोऽवगम्यते, काव्य श्रुतं अर्थो न ज्ञात', इत्यादि विश्वजनीनव्यवहारत. प्रत्युत शब्दविशेषस्यैव काव्यपदार्थत्वप्रतिपत्तेश्च।"""""" " गुणालङ्कारादिनिवेशोऽपि न युक्तः।" इत्यादि—[१४]

उक्त खण्डन मे काव्यलक्षण के विशेष्यविशेषणांश का पृथक्-पृथक् युक्तिपूर्ण खण्डन किया गया है।

विश्वनाथ के मत का खण्डन

काव्य लक्षण के प्रसङ्ग मे विश्वनाथ सम्मत लक्षण की भी आलोचना की गयी है।

१४ रस. पृ. ५–६

'यत्तु रसवदेव काव्यम्, इति साहित्यदर्पणे निर्णीतम् तन्न । वस्त्वलङ्कार-प्रधानानां काव्यानामकाव्यत्वापत्तेः ।.........[15] इत्यादि से प्रारम्भ कर एक सूक्ष्म किन्तु अर्थगर्भित आलोचना की है ।

आनन्दवर्धन पर आक्षेप

आनन्दवर्धन पर भी आक्षेप करने मे रसगङ्गाधरकार नही चूके हैं—

"—'आनन्दवर्धनाचार्यास्तु—' प्राप्तश्रीरेष कस्मात् पुनरपि— इत्यादौ रूपकाश्रयेण काव्यचारुत्वव्यवस्थापनाद्रूपकध्वनिः' इत्याहु । तच्चिन्त्यम् । अत्र च जलधिकम्पहेतुत्वेन विकल्पत्रय कल्प्यते । तच्च प्रकृते राजविशेष्यिका जलनिधिगता-मनाहार्यविष्णुतादात्म्यज्ञानरूपा भ्रान्तिमेवाक्षिपति, न रूपकम् । तज्जीवातोराहार्य-विष्णुतादात्म्यनिश्चयस्य कम्पाजनकत्वात् । कविजलधिगतत्वेन वैयधिकरण्याच्च । अज्ञातमेव केवलं विष्णुतादात्म्य जलधे' कम्पेऽनुपयुक्तमेव । चमत्कारिण्यपि चात्र भ्रान्ति-रेवेति ध्वनिरपि तस्या एव युक्तः ।"[16]

आनन्दवर्धनाचार्य के द्वारा एक पद्य मे रूपक ध्वनि की सिद्धि को अयुक्त सिद्ध कर उसमे भ्रान्तिमान् को सिद्ध किया गया है। भाषा शिष्ट, सुष्ठु एवं सन्तुलित है ।

रुय्यक के मत का खण्डन

मम्मट और आनन्दवर्धन के पश्चात् रुय्यक का स्थान आता है । मम्मटादि के समान इनको भी कहीं प्रतिवादी और कहीं प्रमाण के रूप मे उद्धृत किया गया है तथापि अधिकतर खण्डन के लिये ही इनका ग्रहण हुआ है । अलङ्कारसर्वस्वकार की प्रामाणिकता अप्पय दीक्षित के प्रति स्वीकार की गयी है । समकालीन होते हुए भी रुय्यक के साथ अप्पय की अपेक्षा उन का विरोध कम था । उदाहरण के लिये यह अंश लिया जा सकता है—

"............इत्यलङ्कारसर्वस्वकारादिभिरुक्त तत्र विचार्यते–विरोधमूला हि विभावनाद्यलङ्काराः । विरोधस्यैव विद्युत्प्रभावदापातत प्रतिभासमानस्य चमत्कारबीज-त्वात् । अत्र ह्यासवभिन्नत्वविशिष्टं मदकारणत्वं यौवनस्योक्तम् । एवञ्च यौवनस्य मदकारणतायाः शब्देनैवोपात्तत्वात् यागे व्रीहियवयोरिव मदे यौवनासवयोः परस्पर-निरपेक्षकारणत्वावगतेर्विरोधस्य लेशतोऽप्यप्रतिभानाद्विभावनैव नास्ति । कुतः पुनरुक्त-निमित्ता विभावना ?........." इत्यादि ।[17]

रुय्यक के खण्डन मे भाषा कटु अथवा अनुचित नहीं है ।

---

१५. रस. पृ. ७

१६. रस पृ. २४७-२४८

१७. रस. पृ. ४१५-४१६

अप्पयदीक्षित के मत का खण्डन

पण्डितराज के प्रमुख प्रतिद्वन्द्वी थे अप्पय दीक्षित। अलङ्कारसर्वस्वकार तक को उन्होंने कहीं-कहीं प्रामाणिक आचार्य के रूप मे स्वीकार किया है किन्तु अप्पय दीक्षित को सर्वत्र अप्रामाणिक ही घोषित किया है। सम्पूर्ण ग्रन्थ मे कहीं उनका अनुमोदन प्राप्त नहीं होता।

मम्मट रुय्यक आदि के खण्डन के समय जिस भाषा का प्रयोग किया गया है तथा दीक्षित के खण्डन मे जो भाषा प्रयुक्त हुई है उन दोनों मे बहुत अन्तर है। यथा, मम्मटादि के लिये 'तच्चिन्त्यम्' अथवा 'तत्र विचार्यते' इत्यादि इस प्रकार के वाक्यो का प्रयोग हुआ है, अधिक से अधिक बढ़े हैं तो 'तदपि न रमणीयम्' तक गये हैं। परन्तु दीक्षित के लिये सर्वाधिक शिष्ट वाक्य हैं 'तदसत्' अथवा 'तत्तुच्छम्'। इनके अतिरिक्त 'किमुक्तं द्रविडपुङ्गवेन' तथा 'केनापि आलङ्कारिकम्मन्येन प्रतारितस्य दीर्घश्रवस उक्तिरश्रद्धेयैव' इत्यादि जैसे व्यङ्ग्य भी कसे गये हैं। पण्डितराज की दृष्टि मे अप्पय दीक्षित अलङ्कारशास्त्र, व्याकरणशास्त्र आदि अन्य सभी शास्त्रों से अनभिज्ञ, मात्र सर्वस्वकार के अनुवादक रहे हैं। उनका कोई भी मत केवल अमान्य अथवा अरमणीय ही नही अपितु उपेक्षणीय रहा है। उक्त प्रसङ्ग में प्रयुक्त पण्डितराज की भाषा देखिये—

"एवं च दीपकालङ्कारप्रकरणे प्राचीनैरस्यलक्षणाद्दीपकविशेषोऽयमिति न भ्रमितव्यम्, तस्य सादृश्यगर्भतायाः सर्वालङ्कारिकसिद्धत्वात्। इह च शृङ्खलावयवानां पदार्थानां सादृश्यमेव नास्तीति कथङ्कारं दीपकतावाचं श्रद्धधीमहि। तेषां प्रकृताप्रकृतात्मकत्वविरहाच्च। विवेचित चेदं सोदाहरणं दीपकप्रकरणेऽस्माभिरिति नेहालीवायस्यते। एतेन 'दीपकैकावलीयोगान्मालादीपकमिष्यते' इति यदुक्तं कुवलयानन्दकृता तद् भ्रान्तिमात्रविलसितमिति सुधीभिरालोचनीयम्।"[१८]

एकावली अलङ्कार के निरूपण के समय अप्पय के मत भ्रान्तिमात्र कहकर उपेक्षित किया है। द्वितीय दृष्टान्त, जिसमें उन्हें ध्वनि मार्ग का अज्ञानी घोषित किया गया है, इस प्रकार है—

"यत्तु चित्रमीमांसायां—'वागर्थाविव सम्पृक्तौ इत्यत्र रसध्वनिः। निरतिशयप्रेमशालित्वाव्यञ्जनात्' इति, तद्ध्वनिमार्गानाकलननिबन्धनम्। पार्वतीपरमेश्वरविषयकरतौ प्रधाने निरतिशयप्रेम्णो गुणीभावात्। न हि गुणीभूतस्य रत्यादेः रसध्वनिव्यपदेशहेतुत्व युक्तम्। भिन्नो रसाद्यलङ्कारादलङ्कार्यतया स्थितः इति सिद्धान्तात्।"[१९]

अप्पयदीक्षित के सिद्धान्त की तीव्र एव कटु आलोचना का अन्योन्यालङ्कार अच्छा उदाहरण है। अप्पय के मत को अक्षरशः उद्धृत कर उसकी वाक्य संरचना

---

१८. रस. पृ. ४६४

१९. रस. पृ. ३४

के द्वारा ही व्युत्पत्ति शैथिल्य प्रमाणित कर दिया है। सम्पूर्ण अन्योन्यालङ्कार मे खण्डन ही प्रधान है। अतिदीर्घ होने से उसे उद्धृत नही किया जा रहा है। (जिज्ञासा होने पर रस० पृ० ४५५–४५६ देखा जा सकता है)

परोक्ष आक्षेप

परमत खण्डन मे पण्डितराज ने कही-कही परोक्ष रूप से भी आक्षेप किया है उपर्युक्त सभी आक्षेप साक्षात् रूप से किये गये हैं। परोक्ष आक्षेप का उदाहरण यह है—

"यत्तु अप्पयदीक्षितो वृत्तिवार्त्तिके प्राचामुदाहरणं निराकुर्वन्नाह–रामार्जुनपदयोर्वध्यघातक भावविरोधाद्भार्गवकार्तवीर्ययोरभिधा नियम्यते" इति तदयुक्तम्। रामपदस्याभिधानियमने सति तद्विरोधप्रतिसन्धानेनार्जुनपदस्य कार्तवीर्येऽभिधानियमनम्, तस्मिंश्च सति तद्विरोधप्रतिसन्धानेन रामपदस्येत्यन्योन्याश्रयापत्तेः। तस्मादन्यतरपदस्य व्यवस्थितार्थत्व एव स्मृततद्विरोधप्रतिसन्धानान्नानार्थपदस्याभिधानियमनमिति रामरावणयोरित्युदाहरणं भवितुमर्हति इति।" तत्र तावद्रामरावणयोरिति व्यवस्थितार्थान्यतरपदकमुदाहरणं विरोधितायां नियामकत्वस्य न युक्तम्। रामलक्ष्मणयोरित्यत्रेवात्रापि साहचर्यस्यैव नियामकत्वात्। न च लक्ष्मणसाहचर्यं रामस्य प्रसिद्धम्, न तु रावणसाहचर्यमिति वाच्यम्। प्रसिद्धतत्सम्बन्धकत्वस्यैव तत्साहचर्यपदार्थत्वात्। पितृभ्रातृजायाऽपत्यभृत्यनगरीणां सम्बन्धस्येव रिपोः सम्बन्धस्यापि लोकप्रसिद्धत्वात्। एवं च स्थितेऽपि विरोधितायाः पृथग्गणने मित्रत्वादेरपि गणनापत्तेः। तस्मात्प्राचीनोदाहरणमिव त्वदुक्तमुदाहरणमप्यशुद्धमेव।"[20]

यहाँ पर पण्डितराज ने अप्पयदीक्षित के माध्यम से मम्मट पर प्रहार किया है।

खण्डन के आधार

पण्डितराज के द्वारा दूसरों के मत का खण्डन प्रायः दो आधारों पर किया गया है—(१) किसी शास्त्र, ग्रन्थ अथवा परम्परा से विरोध दिखाकर, (२) अनुभव के द्वारा अप्रमाणित सिद्ध करके। यह अनुभव लोकानुभव (लोक व्यवहार) भी हो सकता है और सहृदयानुभव भी और इस प्रकार जहाँ जिस प्रमाण से अर्थसिद्धि हुई वहाँ उसी को अपना लिया है। शास्त्र और लोकव्यवहार दोनों को एक साथ प्रमाण मानने का स्थल यह है—

(१) लोक व्यवहार और शास्त्र विरोध

"शब्दार्थयुगलं न काव्यशब्दवाच्यम्, मानाभावात्। काव्यमुच्चैः पठ्यते, काव्यादर्थोऽवगम्यते, काव्यं श्रुतमर्थो न ज्ञातः इत्यादि विश्वजनीनव्यवहारतः प्रत्युत

२०, रस. पृ. १२०–१२१

शब्दविशेषस्यैव काव्यपदार्थत्वप्रतिपत्तेश्च ।—अपि च काव्यपदप्रवृत्तिनिमित्तं शब्दार्थयोर्व्यासक्तम्, प्रत्येकपर्याप्तं वा ?—"[21] इत्यादि ।

(२) सहृदयानुभव

सहृदयानुभव के आधार पर किया गया खण्डन देखिये—

"केचिदिमानपि चतुरो भेदानगणयन्त. उत्तममध्यमाधमभावेन त्रिविधमेव काव्यमाचक्षते । तत्रार्थचित्रशब्दचित्रयोरविशेषणाधमत्वमयुक्तं वक्तुम्, तारतम्यस्य स्फुटमुपलब्धेः । को ह्येवं सहृदय. सन् 'विनिर्गतं मानदमात्ममन्दिरात्', 'स च्छिन्नमूलः क्षतजेन रेणुः' इत्यादिभिः काव्यैः 'स्वच्छन्दोच्छलद्' इत्यादीना पामरश्लाघ्यानामविशेष ब्रूयात् । सत्यपि तारतम्ये यद्येकभेदत्वं कस्तर्हि ध्वनिगुणीभूतव्यङ्ग्ययोरीषदन्तरयोर्विभिन्नभेदत्वे दुराग्रहः ।" इत्यादि ।[22]

(३) प्राचीन वचन

यद्यपि रसगङ्गाधरकार प्राचीन परम्परा के अनुयामी नहीं थे, प्रकाण्ड तार्किक थे, तथापि कभी-कभी प्राचीन परम्परा के प्रति उनकी अद्भुत आस्था दृष्टिगोचर होती है जिसके अनुकूल न होने पर वह किसी अन्य आलङ्कारिक का मत स्वीकार नहीं करते जैसे—

"यदि तु प्राचीनसङ्केतसेतुं निर्भिद्य स्वरुचिरमणीया सरणिराद्रियते तदा निवेश्यतां सर्वेऽपि व्यङ्ग्यप्रकारा गुणीभूतव्यङ्ग्यप्रकारा वा अलङ्कारोदरेषु । निवेश्यतां वा व्याजस्तुतिरपि योगार्थालीढत्वादप्रस्तुतप्रशंसायां निरस्यतां च कार्यकारणादिविषयकत्वदुराग्रहस्तस्या इति बहुवैयाकुली स्यात् ।"[23]

इसी प्रकार रस सख्या के विषय मे भी 'रसानां नवत्वगणना च मुनिवचननियन्त्रिता भज्येत, इति यथाशास्त्रमेव ज्यायः ।'[24] यह कह कर स्वयं परम्परा का दृढ़ समर्थन किया है ।

(४) तर्क

तर्क के आधार पर भी अनेक स्थानों पर खण्डन किया है । उदाहरण के लिये विभावना अलङ्कार मे किया गया अप्पयदीक्षित का खण्डन देखा जा सकता है ।[25]

विभिन्न शास्त्रों जैसे न्याय, व्याकरण आदि के सिद्धान्तों की प्रसङ्गति होने पर भी दूसरे के मत की उपेक्षा की गयी है । यत्र तत्र अनेक उदाहरण सरलता से ही दृष्टिगोचर हो जाते हैं ।

---

२१. रस पृ. ५–६
२२. रस. पृ. २०
२३. रस. पृ. ४१६
२४. रस. पृ. ४१
२५. रस पृ. [illegible]

इस अङ्ग (परमत खण्डन) के अन्तर्गत भामह से लेकर अप्पयदीक्षित तक सभी आचार्यों के ऊपर यथावसर आक्षेप किया गया है। सर्वाधिक मस्तकमण्डन अप्पय दीक्षित का ही हुआ है।

सूक्ष्म निरीक्षण करने पर यह समझना कठिन हो जाता है कि वास्तव मे पण्डितराज 'आधुनिक आलङ्कारिक' है या 'प्राचीन आलङ्कारिक।' दोनों ही रूपो मे वह समान रूप से सम्मुख आते हैं।

उदाहरण

पण्डितराज में भावयित्री प्रतिभा का जितना उत्कर्ष दिखायी पडता है उससे अधिक कारयित्री प्रतिभा का उल्लास उदाहरणो के माध्यम से अभिव्यक्त होता है।

इस सम्बन्ध मे ग्रन्थ के आरम्भ मे की गयी पण्डितराज की यह प्रतिज्ञा—

'निर्माय नूतनमुदाहरणानुरूप
काव्य मयाऽत्र निहितं न परस्य किञ्चित्।
किं सेव्यते सुमनसां मनसापि गन्धः
कस्तूरिकाजननशक्तिभृता मृगेण।'[२६]

ग्रन्थ मे सर्वत्र सत्य सिद्ध हुई है। वास्तव मे सच्चा कवि ही सच्चा आलोचक हो सकता है। पण्डितराज की अन्य कृतियां भी हैं परन्तु प्रतिभा–द्वयका जैसा समन्वय इस ग्रन्थ में दिखायी पड़ता है वैसा अन्य किसी में नही दिखता।

अन्य किसी ग्रन्थ का उद्धरण उधार लेने की आवश्यकता नही हुई। केवल वही उदाहरण दूसरों के हैं जिनका खण्डन किया गया है। अपने मत को स्पष्ट करने के लिये ही उदाहरणो का निर्माण नहीं किया गया है अपितु मम्मट, आनन्दवर्धनाचार्य आदि अन्यान्य आलङ्कारिको के मत के अनुसार भी जो उदाहरण दिये गये हैं वह अनेक स्थानों पर पण्डितराज के द्वारा ही रचित हैं।

उदाहरणों की मौलिकता भी रसगङ्गाधर की एक ऐसी विशेषता है जो अलङ्कारजगत् में उसे विशेष सम्मान के योग्य बनाती है। स्वय पण्डितराज को भी अपने इस वैशिष्ट्य का बोध है क्योंकि ग्रन्थ के मध्य मे भी वह यदा कदा इसका इङ्गित दे देते हैं। यथा—

'इदं च पद्यं मन्निर्मितप्रबन्धगतत्वेन पूर्वसाकांक्षमिति दिङ्मात्रेण व्याख्यायते–'[२७]

अथवा

'उदाहरणान्यत्र प्रायशो मदीयानि सर्वाण्येव पद्यानि।'[२८]

---

२६. रस. पृ. १
२७. रस. पृ. १२
२८. रस. पृ. ६५

ध्वनि और प्रसादगुण के संदर्भ मे कहे गये उक्त दोनों वाक्य क्रमशः उनकी रचनाओ की श्रेष्ठता को भी सूचित करते चलते हैं।

उदाहरणों का बाहुल्य

स्वरचित होने के कारण रसगङ्गाधर मे उदाहरणों का बाहुल्य है। किसी प्राचीन आलङ्कारिक का समर्थन हो अथवा खण्डन, अपने मत का प्रतिपादन हो अथवा परमत का परिमार्जन, उदाहरणो की बहुलता से कठिन विषय भी बालसुगम हो गया है।

उदाहरणों के प्रकार

प्रकार की दृष्टि से रसगङ्गाधर में गद्यात्मक और पद्यात्मक दोनों प्रकार के उदाहरण मिलते है। उनमे भी गद्यात्मक उदाहरण दो प्रकार के हैं—शास्त्रीय और लौकिक। इन उदाहरणो के माध्यम से दुरूह-विषय-बोध मे यथेष्ट सहायता मिलती है।

शास्त्रीय उदाहरण

शास्त्रीय उदाहरण का स्थल यह है :—

'अपह्नुत्युत्प्रेक्षादीनां बाधकत्वात्तत्परिगृहीतविषयातिरिक्तो रूपकस्य 'मुखचन्द्रः' इत्यादिर्विषयः स्यात्। यथा 'शरमयं बर्हिः' इत्येतद्विषयातिरिक्तः 'कुशमयं बर्हिः' इत्यस्य। यथा वा वसादेशविषयातिरिक्तो विषयः सिवः।"[29]

इस उदाहरण में ग्रन्थकार ने मीमांसा और व्याकरण शास्त्र का आधार लिया है।

रस एवं स्थायिभाव के भेद को स्पष्ट करने के लिये न्याय शास्त्र के उदाहरण का आश्रय लिया है :—

"रसेभ्यः स्थायिभावानां घटादेर्घटाद्यवच्छिन्नाकाशादिव प्रथमद्वितीययोर्मतयोः, सत्यरजतस्यानिर्वचनीयरजतादिव तृतीये, विषयस्य (रजतादेः) ज्ञानादिव चतुर्थे भेदो बोध्यः।"[30]

इसी प्रकार पर्यायोक्त अलङ्कार में यह अंश उदाहरणीय है जिसमे मीमासानय के सिद्धान्त विशेष को उदाहरण के रूप मे दिया है—

"विशेषणमर्यादालभ्यस्य च धर्मस्य किञ्चिदर्थाङ्गतास्पर्शे सत्यपि न स काव्यमार्गे गण्यते। असुन्दरत्वात्। अन्विताभिधाने प्रतिविशेषवपुष इव सामान्यरूपाणां पदार्थानामन्वये।" इत्यादि।[31]

---

२९. रस. पृ. २३०

३०. रस. पृ. ३०

३१. रस. पृ. ४१२

अन्विताभिधानवाद का इतनी सरलता से उद्धरण देकर उससे प्रकृत विषय का विशदीकरण अत्यन्त सटीक रूप मे किया है।

शास्त्रीय उदाहरण की उपस्थिति सम्पूर्ण ग्रन्थ मे व्याप्त है जो ग्रन्थ निर्माता के शास्त्रीय ज्ञान को घोषित करने के साथ-साथ उनके ग्रन्थ को परिमार्जित एवं तत्त्ववित्-श्लाघ्य बनाकर उच्च स्थान प्रदान करती है।

लौकिक उदाहरण

शास्त्रीय उदाहरण के ही समान लौकिक उदाहरण भी कम नही है। उदाहरण के लिये—

लोकेऽपि यथा 'ब्राह्मणेभ्यो दधि देयम्' 'तक्रं कौण्डिन्याय' इत्यत्र तक्रसम्प्रदानातिरिक्तं दध्नः सम्प्रदानमिति वाच्यम्।"[32]

उत्प्रेक्षा, अपह्नुति आदि अलङ्कारों से रूपक का पार्थक्य सिद्ध करने के लिये इससे अधिक सरल उदाहरण क्या हो सकता था?

शास्त्रीय उदाहरण से जिस प्रकार व्युत्पत्तिमन् व्यक्ति की बुद्धि मे विषय का निर्मलीकरण हो जाता है उसी प्रकार लोक में प्रचलित व्यवहार पर आधारित सामान्य उदाहरणों से सामान्य बुद्धिमान् व्यक्ति को विषय स्पष्ट हो जाता है।

इसी प्रकार कारणमाला अलङ्कार मे होने वाले कथितपदता दोष के दोषत्व को निराकृत करते हुए कहा है कि एक ही अर्थ को प्रतिपादित करने वाले दो पर्यायवाची शब्दों का प्रयोग करने से द्वितीय शब्द से होने वाले बोध में यह झटिति आभास नहीं होता कि यह उसी अर्थ का वाचक पद है जिस अर्थ का वाचक प्रथम शब्द था। अर्थात् शब्द भेद हो जाने पर अर्थ की समानता होते हुए भी वह प्रथमदृष्ट्या अनुभूत नहीं होती। इसको सिद्ध करने के लिये नैयायिक सिद्धान्तों का दीर्घ विवेचन हुआ है परन्तु एक अत्यन्त सरल उदाहरण ने उस विषय को अत्यन्त सुकर बना दिया है।

"प्रत्युत पदान्तरेण तस्यार्थस्योक्तौ रूपान्तरेण स्थितस्य नटस्येव प्रत्यभिज्ञाप्रतिरोधकत्वाद्विवक्षितार्थसिद्धेरकुण्ठितत्वविरहाद्दोष. स्यात्।"[33]

ग्रन्थ के आरम्भ मे ही, प्रथमानन मे करुणरसादि की सुखात्मकता को स्पष्ट करते हुए एक छोटा-सा उदाहरण दिया है—

'इष्टस्याधिक्यादनिष्टस्य च न्यूनत्वाच्चन्दनद्रवलेपनादाविव प्रवृत्तेरुपपत्तेः।'[34]

इसी प्रकार सम्पूर्ण ग्रन्थ में यत्र-यत्र लौकिक उदाहरणो से विषय का सुसम्पादन होता गया है। यह उदाहरण अत्यन्त साधारण एवं छोटे होने के कारण

३२. रस. पृ. २३०
३३. रस. पृ. ४६२
३४. रस. पृ. २१

किसी अध्येता का ध्यान विशेष रूप से आकर्षित नहीं करते किन्तु अज्ञात रूप से ही निबिड एव गहन रात्रि के अन्धकार में तारक समूह की भाँति मार्ग प्रकाशित करते रहते है। और सम्पूर्ण मार्ग उसी मद्धिम प्रकाश मे पूर्ण हो जाता है। इन खद्योतसम उदाहरणो का मूल्य इनके अभाव मे ही ज्ञात होता है।

उदाहरण की व्याख्या एवं औचित्य

उदाहरण देने के पश्चात् उस उदाहरण की व्याख्या सहित अनुकूलता प्रतिपादित करना भी पण्डितराज का कार्य रहा है। उदाहरण के लिये—

"वस्तुतस्तु प्रथमस्याप्रस्तुतप्रशसाप्रकारस्य नानाविधत्वं सम्भवति। यत्रात्यन्तमप्रस्तुतेन वाच्येन प्रस्तुतं गम्यते स प्रकारो निगदित एव। यत्र च स्थलविशेषे वृत्तान्तद्वयमपि प्रस्तुतं सोऽप्येकः। यथा जलक्रीडाप्रकरणे भ्रमरकमलिन्यादिषु पुरः स्थितेषु, नायके च स्वनायिकायामननुरक्ते पार्श्ववर्तिनि नायिकासख्याः कस्याश्चिदुक्तौ 'मलिनेऽपि रागपूर्णा—' इत्यादि प्रागुदाहृते पद्ये।"[३५]

इसमें केवल इतना ही स्पष्ट हुआ है कि किस परिस्थिति मे किस उदाहरण के द्वारा प्रतिपाद्य विषय का प्रसङ्ग सम्पादित होगा। इसके पश्चात् यह भी विविक्त रूप से बताया गया है कि यहाँ अप्रस्तुतप्रशसा किस प्रकार होगी।

इसी प्रकार अतिशयोक्ति के उदाहरण की समञ्जसता देखिये—

"अत्र तमालेन भगवतो निगरणे कलिन्दनन्दिनीत्यादीनि त्रीणि चरणत्रयगतानि विशेषणानि तदनुग्रहार्थं विषयविषयिणोः साधारणधर्मतया साक्षादुपात्तानि। चतुर्थमपि चतुर्थचरणगतमवैयाकरणानां दर्शने। वैयाकरणानां तु उपात्तया तमालाभिन्नकर्तृकया श्रमहरणक्रिययोच्चैस्तं तादृशकर्तृत्वं तथा तयोः स्थितम्। द्वितीये चरणे चोच्चावचयोनिसञ्चरणस्य पथ्यादिना, तृतीयेऽपि लताभिर्गोपीनां निगरणम्, तस्मिन्नेवानुग्राहकतया। एवं सावयवेयमतिशयोक्तिः।"[३६] इत्यादि।

इसी प्रकार अन्य अनेक उदाहरणों को प्रसङ्गानुसार अनुकूल सिद्ध किया गया है।

उदाहरणों के समान ही आवश्यकतानुसार प्रत्युदाहरणो का भी निर्माण किया गया है।

किं बहुना, काव्य के सूक्ष्म विश्लेषण के समय उत्तम, मध्यम, अधमादि काव्य, विभिन्न रस, भावादि विभिन्न ध्वनियाँ, व्यञ्जना के नाना स्थल तथा सत्तर अलङ्कारों के निरूपण में प्रत्येक पग पर नवीन उदारण की रचना करना स्वयं ही यह सिद्ध करता है कि ग्रन्थकर्त्ता को किस कोटि की कवि-प्रतिभा की भगवद्दया से प्राप्ति थी।

---

३५. रस, पृ. ४०६

३६. रस. पृ ३०८

काव्य का प्रत्येक प्रकार इस ग्रन्थ मे उपलब्ध है। पण्डितराज की अन्य काव्यात्मक कृतियों मे यह कृति अधिक वैविध्यपूर्ण है। काव्य के प्रत्येक प्रकार को अपनाते हुए काव्य की रचना करने मे उनकी विशाल योग्यता का अद्भुत परिचय मिलता है।

अपने प्रतिपाद्य विषय को सुस्पष्ट एव सुबोध्य बनाने के लिये उदाहरणों को देना सभी आलङ्कारिकों का सामान्य रूप से कार्य रहा है परन्तु वही कार्य रसगङ्गाधर मे कुछ विशिष्ट बन पडा है आलङ्कारिक की निजी प्रतिभा से उद्भूत होने के कारण। उसी से रसगङ्गाधर एक ही साथ लक्षण ग्रन्थ और काव्य का समन्वित रूप हो गया है। सम्पूर्ण रसगङ्गाधर के कुल उदारण आठ सौ के लगभग हैं। इस अश के निकाल देने पर ग्रन्थ का कलेवर अर्धांश शेष ही रह जायेगा।

शाब्दबोध

उदाहरण के बाद क्रमशः प्राप्त है शाब्द बोध। अन्य अलङ्कार ग्रन्थो मे यह अश नहीं के समान ही प्राप्त है अतः इसकी अपनी अनन्य विशेषता इसमें किया गया शाब्दबोध विचार ही है।

शाब्द बोध का प्रयोग दो प्रकार की परिस्थिति में किया गया है—(क) प्रदत्त उदाहरण की समन्विति के लिये, (ख) परकीय उदाहरण के खण्डन के लिये। इसके अतिरिक्त सामान्य विषय को लेकर भी शाब्द बोध पर विचार किया गया है यथा उपमा मात्र मे, अथवा रूपक मात्र मे शाब्दबोध किस प्रकार होता है, इत्यादि। सामान्य रूप से किया गया शाब्द बोध दीर्घकाय होने से विषय विवेचन में विशृङ्खलता उत्पन्न कर देता है। अतः उन सबका सङ्ग्रह एक परिशिष्ट के रूप में अन्त में दिया गया है। शेष दो स्थितियो में किया गया शाब्द बोध यथासम्भव यहाँ निर्दिष्ट किया जा रहा है।

शाब्द बोध नैयायिक और वैयाकरण दोनों दृष्टियो से किया गया है। जैसे—

"कलिन्दजानीरभरेऽधर्मग्ना बकाः प्रकामं कृतभूरिशब्दाः।
ध्वान्तेन वैराद्विनिगीर्यमाणा क्रोशन्ति मन्ये शशिनः किशोराः॥'

अत्र प्रथमान्तविशेष्यकबोधवादिनामभेदससर्गेण कलिन्दजानीरार्धमग्नकृतभूरिशब्दोभयविशिष्टेषु बकेषु विषयेषु ध्वान्तकर्तृवैरहेतुनिगरणकर्माभिन्नोत्प्रेक्षितशशिकिशोरतादात्म्योत्प्रेक्षणपूर्वकं 'क्रोशनकर्तृत्वं धर्मं उत्प्रेक्ष्यते। तत्र तादात्म्योत्प्रेक्षणे धर्म्युत्प्रेक्षायां साधारणो धर्मः, सम्बन्धान्तरेणोत्प्रेक्षणे धर्मोत्प्रेक्षायां तत्समानाधिकरणो धर्मस्य विषयगतो निमित्तमिति स्थिते प्रकृते क्रोशन-कर्तृत्वरूपधर्मोत्प्रेक्षाया तत्समानाधिकरणनिगरणकर्मत्वरूपधर्मस्य विषयगतत्वसिद्धयेऽनुवाद्यतया शशिकिशोरतादात्म्यमनुपात्तवैस्यनिमित्तकमुत्प्रेक्ष्यते। तत्र यथा विशिष्टोपमायामुपमानोपमेयविशेषणतद्विशेषणानामार्थमौपम्यम्, एवमत्रापि विषयकबकविशेषणतद्विशेषणयोरर्धमज्जनयमुनाजलयोर्मूलोत्प्रेक्षाविषयमियमिकिशोरविशेषणतद्विशेषणाभ्यां निगरण-

ध्वान्ताभ्यामभेद आर्थः । ततश्च ध्वान्तकर्तृकनिगरणे सिद्ध मुख्योत्प्रेक्षानिर्वाहः क्रोशनशब्दयोरपि बिम्बप्रतिबिम्बभावेनाभेदः । तेन कलिन्दजानीरार्थमग्नकृतभूरिशब्दो-भयाभिन्ना बका ध्वान्तनिगीर्यमाणशशिकिशोरोभयाभिन्नाः क्रोशनक्रियानुकूलव्यापारवन्त इव इति बोधकारः ।[३७]

इसी प्रकार यत्र तत्र दूसरो के मतो का परीक्षण करने के लिये भी शाब्दबोध पर विचार किया गया है । अपने दिये उदाहरणादि का भी इस दृष्टि से विश्लेषण किया है ।

तदीय-दोष

शाब्द बोध के पश्चात् अन्तिम अंश है दोष-निरूपण (प्रकृत विषय से सम्बन्धित दोषों का कथन) । मम्मट ने भी अपने काव्य-प्रकाश मे रस के काव्य के दोषों को एक उल्लास में बताया है तथा ग्रन्थ के अन्त में अलङ्कार सम्बन्धी दोषों का भी उल्लेख किया है परन्तु पण्डितराज ने इस प्रकार सब दोषों का एकत्र विवेचन न कर यथावसर यत्र-तत्र दिग्दर्शन किया है ।

गुण निरूपण के पूर्व अत्यन्त संक्षेप में रस-दोषों का निरूपण किया गया है । किस दोष का क्या स्वरूप है इसको निश्चित शब्दों में सुबद्धरूप में सम्मुख रखा है । यथा—

'व्यङ्ग्यस्य वाच्यीकरणे सामान्यतो वमनाख्यदोषस्य वक्ष्यमाणत्वात् । आस्वाद्यतावच्छेदकरूपेण प्रत्ययाजनकतया रसस्थले वाच्यवृत्तेः कापेयकल्पत्वेन विशेषदोषत्वाच्च...... ' इत्यादि ।[३८]

उपमालङ्कार के प्रकरण में जो दोष निरूपण हुआ है वह दर्शनीय है:—

'अथास्य चमत्कारापकर्षकं यावत्सर्वमपि दोषः । कविसमयप्रसिद्धिराहित्यम्, उपमानोपमेययोजात्या प्रमाणेन लिङ्ग-सङ्ख्याभ्यां चाननुरूप्यं, बिम्बप्रतिबिम्बभावे धर्माणामुपमानोपमेयगतानां न्यूनाधिक्यम्, अनुगामितायामनुपपद्यमानकालपुरुषविध्या-द्यर्थकत्वम्, एवमादि ।' इत्यादि ।[३९]

उपमा में दोष मात्र का सामान्य रूप में कथन कर उसके विशेष दोषों का कथन हुआ है । इसके बाद प्रत्येक दोष का सोदाहरण स्पष्टीकरण भी हुआ है । इसी प्रकार आगामी अन्य अलङ्कारों में भी बहुतों के दोष बताये हैं । उपमा के अन्तर्गत ही उनका इतने विस्तार से वर्णन हो गया है कि लगभग अलङ्कार मात्र के दोषों का परिचय पूर्ण हो जाता । तदतिरिक्त किसी अलङ्कार विशेष में यदि कोई नवीन दोष है तो उसका पृथक् रूप से कथन हुआ है ।

---

३७. रसं. पृ. २५६

३८. रस. पृ. ६०

३९. वही पृ. १६१

दोष भी कहीं दोष नहीं होते अथवा उस दोष का निवारण कैसे किया जा सकता है इसको भी उदाहरण देकर समझाया गया है—

"……"वामाकल्पितवामाङ्गो भासते भाललोचन।
शम्पया सम्परिष्वक्तो जीमूत इव शारदः ॥'

अत्र जीमूतगतो भालस्थलोचनप्रतिबिम्बो नोपात्त इति न्यूनत्वम्। 'भगवान्भव' इति कृते तु बिम्बस्यैवाभावात् न प्रतिबिम्बापेक्षेति साधु।[40]

तथा

'एव च कविसमयसिद्धतया प्रकारान्तरेण वा प्रागुक्ताना दोषाणां चमत्कारानपकर्षकत्वे नास्त्येव दोषत्वम्।

यथा—

'नवाङ्गनेवाङ्गणेऽपि गन्तुमेष प्रकम्पते।
इयं सौराष्ट्रजा नारी महाभट इवोद्भटा ॥'

एवमन्यत्रापि बोध्यम्। शेष स्मरणालङ्कारप्रकरणे विकल्पप्रकरणे च वक्ष्यामः।'[41]

इस प्रकार यत्र-तत्र दोषनिरूपण करते हुए विषय का परिमार्जन करते जाना ही पण्डितराज की शैली है।

उपर्युक्त षडङ्गों के अतिरिक्त कतिपय अन्य विशेषताएँ भी हैं जो ग्रन्थकार की अद्वितीयता को सपोषित करती रहती हैं।

दीर्घ एवं लघु वाक्यों से युक्त भाषा

ग्रन्थ की रचना गद्य मे होने से वाक्यो की रचना कहीं अतिक्लिष्ट एवं कहीं अतिसरल हुई है। समस्त पदयुक्त दीर्घशब्दावलि से मण्डित दुर्गम वाक्य का उदाहरण देखिये—

'अथ स्वरूपतादात्म्याविशेषेऽपि हेतुफलाविशेषणकशुद्धस्वरूपोत्प्रेक्षाया हेतुफलविशेषणकस्वरूपोत्प्रेक्षायामस्ति हेतुफलकृत एव भेद इति चेत् 'तनयमैनाकगवेषणलम्बीकृतजलधिजठरप्रविष्टहिमगिरिभुजायमानाया भगवत्या भागीरथ्याः सखी' इति प्रागुदाहृतायां स्वरूपोत्प्रेक्षायां तनयमैनाकगवेषणरूपस्य फलस्योत्प्रेक्ष्यविशेषणकोटिप्रविष्टत्वात्फलोत्प्रेक्षात्वापत्तेः, उत्प्रेक्ष्ये साक्षाद्विशेषणताया अप्रयोजकत्वात्।[42]

इसके विपरीत अत्यन्त लघु वाक्यों का उदाहरण देखिये—

'अयमुपात्त एव भवति। अर्थमयोऽनुपात्तश्चापि भवति। 'यथा द्विनेत्र इव वासवः' जगदीश्वरत्वादिः।' इत्यादि।[43]

---

४०. रस. पृ. १६२
४१. रस पृ. १६५
४२. रस. पृ. ३०३–३०४
४३. रस पृ. ३०५

कहीं-कहीं दीर्घ वाक्य रचना के अनुरूप उसका अर्थ कठिन न होकर अत्यन्त सरल रहता है और लघु वाक्यों का अर्थ उनके आकार की अपेक्षा दुरूह। क्रमशः उदाहरण इस प्रकार हैं—

'अत्र पर्यन्ते प्रतीयमानस्य रवितुरगादिपरिसङ्ख्यातपदार्थातिरिक्तसकलवस्तुदानरूपस्य गुणस्य दोषत्वेनावर्णनात्, तत्त्वेन वर्ण्यमानस्य च रवितुरगाद्यदानस्यागुणत्वाद्गुणदोषयोर्भिन्नविषयत्वेनावस्थानेन लेशस्पर्शरहिता व्याजस्तुतिरिति स्फुटमेव सावकाशत्वम्।'[४४]

तथा—

'प्रश्नश्च ज्ञीप्सा। भावे नञो विधानात्। सा ज्ञानविषयेच्छा। सा चोत्तरवाक्याद्विषयीभूते ज्ञाने जाते निवर्तते। ननु जिज्ञासा ज्ञानेष्टसाधनताज्ञानसाध्या।'........ इत्यादि।[४५] अथवा

"तदेवं संक्षेपतस्त्रिविधः। वाग्भङ्गीनां तु पर्यालोचने एकस्मिन्नेव विषयेऽनन्तप्रकाराः सम्पद्यन्ते, किमुत विषयभेदे। यथा-'इह भवद्भिरागन्तव्यम्' इति विषये 'अयं देशोऽलङ्कर्तव्य' इति, 'पवित्रीकर्त्तव्यः' इति, 'सफलजन्मा कर्त्तव्यः' इति, 'प्रकाशनीय' इति, देशस्यास्य भाग्यान्युज्जीवनीयानि', इति 'तमांसि तिरस्करणीयानि' इति, 'अस्मन्नयनयो. सन्तापो हरणीय.' इति, 'मनोरथः पूरणीयः' इत्यादिः।'[४६]

नैयायिक भाषा होने से अधिकतर भाषा दुर्बोध हो गयी है। सरल विषय के प्रतिपादन में भी उसी भाषा का प्रयोग हुआ है।

व्याख्यादि से रहित मात्र लक्षण

सामान्यतः पण्डितराज ने लक्षणों की दीर्घ व्याख्या, पदकृत्य आदि स्वयं किया है परन्तु कहीं-कहीं ऐसा भी लक्षण है जो किसी भी प्रकार की व्याख्या या स्पष्टीकरण से रहित है। जैसे उत्साह, विस्मय, हास और भय नामक स्थायिभावों का लक्षण है:—

'परपराक्रमदानादिस्मृतिजन्मा औन्नत्याख्य उत्साहः॥
अलौकिकवस्तुदर्शनादिजन्मा विकासाख्यो विस्मयः॥
वागङ्गादिविकारदर्शनजन्मा विकासाख्यो हासः॥
व्याघ्रदर्शनादिजन्मा परमानर्थविषयको वैक्लव्याख्यः स भयम्॥' इति।[४७]

चारों के लक्षण निरन्तर हैं तथा उनके पश्चात् न कोई व्याख्या है न उदाहरण।

---

४४. रस. पृ. ५१३
४५. रस. पृ. ५१८
४६. रस. पृ. ४१६
४७. रस पृ. ३२

खण्डितविषय का अन्यत्र अन्तर्भाव

परमतखण्डन के अन्तर्गत जो विलक्षण वैशिष्ट्य है वह यह कि जिस वस्तु का खण्डन किया जाता है (विशेषरूप से उदाहरण आदि) उसका अन्यत्र कहाँ अन्तर्भाव होगा अथवा उसको निर्दुष्ट बनाने के लिये उसकी सरचना किस प्रकार होनी चाहिये यह भी सदा बताया गया है। उदाहरणार्थ---

"तत्र 'विद्वानेव हि जानाति' इति पद्य भवतु नाम यथाकथञ्चिद् वैधर्म्यस्योदाहरणम्, 'यदि सन्ति' इति तु न युक्तम्। वैधर्म्योदाहरण हि प्रस्तुतधर्मिविशेषोपारूढार्थदार्ढ्याय स्वाक्षिप्त-स्वव्यतिरेकसमानजातीयस्य धर्म्यन्तरारूढस्याप्रकृतार्थस्य कथनम्। प्रकृते च यदि सन्ति तदा स्वयमेव प्रकाशन्त इत्यर्थस्य प्रस्तुतस्य व्यतिरेकस्तु असन्त उपायान्तरेणापि न प्रकाशन्त इति। न ह्यत्र द्वितीयार्धेन तत्सजातीयोऽर्थो निबध्यते। निबध्यते च स्वय प्रकाशन्ते, न परेणेत्यस्य प्रस्तुतस्यैव सजातीय.। शपथेन न विभाव्यते, किन्तु स्वयमेवेति प्रकृतार्थानुरूपतयैव पर्यवसानात्। न हि वैधर्म्ये प्रकृतानुरूप्य जातुचिद्घटते व्याघातात्। तस्मात् साधर्म्येणैवेदमुदाहरण सङ्गतम्, न वैधर्म्येण।.... यदि तु 'यदि सन्ति' इति पद्यस्य 'नहि कस्तूरिका-' इत्याद्युत्तरार्धं दूरीकृत्य' वाचा वाचस्पतेर्व्योम्नि विलसन्ति न वल्लयः' इति क्रियते, तदा वैधर्म्यं प्रकृतविपरीतार्थघटनायुक्तम्।"[४८]

इसी प्रकार बहुधा विषय की उचित व्यवस्था की गयी है।

विषय का संक्षेप

विस्तृत विवेचन करना पण्डितराज की प्रमुख विशेषता है। परन्तु विषय का संक्षेप करने मे भी ग्रन्थकार की कुशलता दर्शनीय है। उदाहरण के लिये अनुज्ञा अलङ्कार को लिया जा सकता है। उपमा-उत्प्रेक्षा आदि मे जहाँ शाब्दबोध की चर्चा कई पृष्ठों तक चलती है वहाँ अनुज्ञालङ्कार की समाप्ति कुछ पङ्क्तियों में ही हो जाती है। यह है पण्डितराज के विस्तार और संक्षेप की सीमा।

एक ही उदाहरण मे थोड़ा-थोड़ा अंश परिवर्तित कर उसमे अनेक उदाहरणों की स्थिति बना देना भी सक्षिप्तीकरण मे सहायक हुआ है। उदाहरणार्थ—

स्वत्प्रतापमहादीपशिखाविपुलकज्जलै।
नूनं नभस्तले नित्यं नीलिमा नूतनायते॥

अत्र नीलिमसमानाधिकरण्येनोत्प्रेक्षितस्य हेतुत्वेनोत्प्रेक्षणम्। कज्जललेपनैः इति कृते इयमेव क्रियाहेतूत्प्रेक्षा।'[४९] इसमें हेतूत्प्रेक्षा तथा क्रिया-हेतूत्प्रेक्षा दोनों का उदाहरण संक्षेप में दिया गया है।

---

४८. रस. पृ. १११-११४

४९. रस. पृ. २६२

अन्ततोगत्वा यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि सम्पूर्ण रसगङ्गाधर में एक विशेष क्रम से विषयों का विवेचन हुआ है। पण्डितराज की वैविध्यपूर्ण मौलिक लेखन शैली ने स्वत इस ग्रन्थ को विशेष यश का भागी बनाया है।

लेखन विषय

शैली के अन्तर्गत दूसरा प्रमुख क्षेत्र है लेखन विषय (CONTENTS)। पण्डितराज स्वयं न किसी सम्प्रदाय के अनुवर्तक थे न प्रवर्तक। इनकी दृष्टि मुख्य रूप से तीन ओर थी—(१) विषय का परिष्कार हो, (२) प्रतिपाद्य विषय का युक्तिकरण हो अर्थात् प्रमाणिक आधारों पर सिद्धान्तो की स्थापना हो और (३) कुछ नवीन बातें कहे, मौलिक देन हो। यह तीनों दृष्टियाँ रसगङ्गाधर में पूर्ण रूप से परिपुष्ट हुई हैं।

विषय परिष्कार

परिष्कार करते समय ग्रन्थकार ने परम्परा से आते हुए बहुत से सिद्धान्तों का निराकरण बहुतों का पुनःस्थापन और बहुतों का विश्लेषण किया है। उदाहरण के के लिये उपमा के और ध्वनि के अगणित भेदों को बिल्कुल समाप्त कर दिया। मम्मट ने ध्वनि के असंख्य भेद गिनाये हैं जबकि पण्डितराज ने उसका उल्लेख तक नहीं किया। सलक्ष्यक्रम ध्वनि के भेदों को भी काट-छाँट कर कम कर दिया है। लुप्तोपमा के भेदों का सोदाहरण निरूपण अवश्य किया है किन्तु अन्त में मुखर रूप से उन्हें अमान्य घोषित कर दिया।

अलङ्कारों का जितना सूक्ष्म एवं मर्मभेदी विवेचन पण्डितराज ने किया है उतना अन्य किसी भी ग्रन्थकार ने नहीं किया है। सहोक्ति में चमत्कारी तत्त्व क्या है, वास्तव में उसमें चमत्कार किस अंश के कारण होता है, विशेषोक्ति-विभावना में कार्य-कारण का विरोध क्यों होता है किस अंश मे होता है और किस प्रकार होता है इत्यादि अत्यन्त मार्मिक आलोचना कर आलङ्कारिक समाज में अद्भुत प्रकाश डाला है। इस प्रकार का तत्त्व-प्रकाशन पण्डितराज ने एक विषय में नहीं अनेक विषयों में किया है। ध्वनि और गुणीभूतव्यङ्ग्य मे उत्पन्न अव्यवस्था का निराकरण इन्हीं के हाथो हुआ।[५०]

इस उद्देश्य को पूर्ण करने में न्याय की भाषा पण्डितराज के लिये बहुत सहायक सिद्ध हुई है। न्याय की भाषा का ही नहीं अपितु उसके सिद्धान्तों का भी यत्र-तत्र प्रयोग किया है। उसके अतिरिक्त व्याकरण, मीमांसा, धर्मशास्त्र, वेदान्त-दर्शन, सांख्य, योग आदि शास्त्रों के भी प्रकाण्ड विद्वान् होने के कारण उसका भी पर्याप्त प्रयोग हुआ है।

न्याय की भाषा से विषय का परिमार्जन देखिये—

---

५०. रसगङ्गाधर–एक समीक्षात्मक अध्ययन पृ. १६६–२८१–२८६

"अत्र तल्पनिद्रयो. स्मरण यद्यपि न तल्पनिद्रासादृश्यदर्शनोद्बुद्धसंस्कार-प्रयोज्यम्, तथापि सैन्यगतपयोधिसादृश्यदर्शनोद्बुद्धपयोधिविषयकसंस्कारप्रयोज्यम् । न हि सादृश्ये स्मर्यमाणसम्बन्धित्वं विवक्षितम् । एव वाच्ययोस्तल्पनिद्रास्मरणयो', एतत्कारणतया आक्षिप्तस्य पयोधिस्मरणस्य चाविशेषेण सङ्ग्रहाय लक्षणे जन्यत्व-मपहाय प्रयोज्यत्वमुपात्तम् ।"[५१] इत्यादि ।

अत्यन्त साधारण विषय को भी नैयायिक रीति से कहकर उसमे उत्कर्ष का प्रत्यायन करवाने मे पण्डितराज सिद्धहस्त हैं ।

नैयायिक सिद्धान्त के पुट से युक्त विषय प्रतिपादन देखिये—

"परे तु 'व्यञ्जनाव्यापारस्यानिर्वचनीयख्यातेश्चानभ्युपगमेऽपि प्रागुक्तदोषम-हिम्ना स्वात्मनि दुष्यन्तादितादात्म्यावगाही शकुन्तलादिविषयकरत्यादिमदभेदबोधो मानसः काव्यार्थभावनाजन्मा विलक्षणविषयताशाली रसः ।....' इत्यपि वदन्ति ।"[५२]

इसमे रस की व्याख्या नैयायिकों की अन्यथा ख्याति को आधार बनाकर की गयी है । पुनर्कथन से बचने के लिये यहाँ इतना ही कह देना पर्याप्त होगा कि परि-शिष्ट 'ख' के अन्तर्गत उल्लिखित न्याय के सभी स्थल इसी के उदाहरण है ।

न्याय के पश्चात् स्थान है व्याकरण का । उसका प्रयोग देखने के लिये यह उदाहरण लिया जा सकता है—

"..........'लिम्पतीव तमोऽङ्गानि' इत्यत्रापि लेपनादिकर्तृत्वं तम आदिषु विषयेषु उत्प्रेक्ष्यत इत्येव युक्तम् । अनुकूलव्यापारात्मकस्य कर्तृत्वस्यैवाख्यातार्थ-त्वात् । तस्य च प्रथमान्ते विशेष्ये आश्रयतासंसर्गेणान्वयान्न दोषः । भावप्रधान-माख्यातम्' इत्यस्य 'भावो व्यापारस्तदर्थकमाख्यात तिङ्' इत्यर्थकरणान्न विरोधः । 'सत्त्वप्रधानानि नामानि' इत्युत्तरवाक्यगतस्य प्रधानशब्दस्याभिधेयपरत्वात् ।" इत्यादि ।[५३]

पर्याय अलङ्कार के पदकृत्य को भी इसी कोटि मे रखा जा सकता है—

'एतदन्यान्यत्वं च सामान्यलक्षणम्, न तु योगार्थमात्रम् । अतिप्रसक्तेः । परावनुपात्यय इणः इति पाणिनि स्मृत्या अनुपात्ययमात्रस्य घञुपाधित्वेनोक्तेः ।'[५४] इत्यादि ।

कारणमाला में आने वाले कथितपदता दोष का निराकरण भी व्याकरण के आधार पर ही हुआ है—

५१. रस. पृ. २१७
५२. रस० पृ० २७
५३. रस. पृ. २८९–२९९
५४. रस. पृ. ४७९

'शब्दादुपस्थितेऽर्थे प्रवृत्तिनिमित्तमिव शब्दोऽपि विशेषणतया भासते। तथा चोक्तम् न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके यः शब्दानुगमादृते।'[५५] इत्यादि।

इस प्रकार न्याय के समान ही व्याकरण को आधार बनाकर भी यत्र-तत्र अनेक विषयों का स्पष्टीकरण कर उनको परिष्कृत रूप मे सम्मुख उपस्थित किया है।

मीमांसा-नय का उपयोग देखने के लिये परिसङ्ख्यासङ्कार का यह अंश सर्वोत्तम उदाहरण है—

"पूर्वतन्त्रे तु नियमपरिसङ्ख्ययोर्भेदेन परिभाषणम्। यदाहुः—
'विधिरत्यन्तमप्राप्तौ नियमः पाक्षिके सति।
तत्र चान्यत्र च प्राप्ते परिसंख्येति गीयते।।'

विधिः—'स्वर्गकामो यजेत' इत्यादिः। यागादेः प्रकरणान्तरेणाप्राप्तेः। नियमः—'व्रीहीनवहन्ति, समे देशे यजेत' इत्यादि.। पुरोडाशनिर्माणफलोपधायकतयावच्छेदककोटिप्रविष्टाया वितुषताया सम्पादकत्वेनावहननस्य प्राप्तेर्नखविदलनसमवधानकालावृत्तित्वेन, यागाधिकरणतया समदेशप्राप्तेर्विषमदेशसमधानकालावृत्तित्वेन च पाक्षिकत्वात्। परिसंख्या—'इमामगृभ्णन्रशनामृतस्येत्यश्वाभिधानीमादत्ते', 'पञ्च पञ्चनखा भक्ष्याः' इत्यादिः। रशनाग्रहणलिङ्गेनाश्वाभिधानीगर्दभाभिधान्योरादानस्य युगपत्प्राप्तत्वात्।'[५६]

इस अंश को देखकर आपातदृष्टि में यह भ्रम होता है कि किसी मीमांसा दर्शन के ग्रन्थ का अवलोकन हो रहा है अथवा अलङ्कार शास्त्र के ग्रन्थ का। तथापि, विभिन्न-विभिन्न स्थानो पर उससे सम्बन्धित विषय को परिमार्जन प्राप्त हुआ है इसमें कोई सन्देह नहीं।

शुद्ध अद्वैत वेदान्त पर आधारित सिद्धान्त—स्थापन का उत्तम दृष्टान्त रस-प्रकरण मे मिलता है—

'काव्ये नाट्ये च कविना नटेन च प्रकाशितेषु विभावादिषु व्यञ्जना व्यापारेण दुष्यन्तादौ शकुन्तलादिरतौ गृहीतायामनन्तरं च सहृदयतयोल्लासितस्य भावना विशेषस्य दोषस्य महिम्ना कल्पितदुष्यन्तत्वावच्छादिते स्वात्मन्यज्ञानावच्छिन्ने शुक्तिकाशकल इव रजत—खण्ड समुत्पद्यमानोऽनिर्वचनीयः साक्षिभास्यशकुन्तलादिविषयकरत्यादिरेव रसः।'[५७]

इसमें अद्वैत वेदान्त की अनिर्वचनीय ख्याति ही सम्पूर्ण सिद्धान्त की आधार शिला है।

इस प्रकार विभिन्न शास्त्रों का आश्रय लेकर तथा न्याय की मँजी हुई भाषा को माध्यम बनाकर पण्डितराजकृत विषम निरूपण अद्वितीय हो गया है।

५५. रस. पृ. ४६२
५६. रस. पृ. ४८३
५७. रस. पृ. २५

(२) युक्तिकरण

दूसरा प्रमुख कार्य, जो पण्डितराज ने किया, वह था युक्तिकरण अर्थात् विभिन्न सिद्धान्तो को युक्तियो के बल पर प्रमाणित करना।

काव्य क्या है इसके सम्बन्ध मे अबाध्य रूप से दो सिद्धान्त चले आ रहे थे। कुछ लोग केवल शब्द को काव्य मानते थे, कुछ लोग शब्द और अर्थ दोनों को। दोनो सम्प्रदायों मे परस्पर न कोई विरोध था न प्रतिद्वन्द्व। दोनो का स्वतन्त्र प्रवाह था। पण्डितराज ने भी इनमे से ही एक धारा को ग्रहण किया किन्तु अन्यतर धारा का युक्ति के आधार पर खण्डन भी किया। अर्थात् शब्द को ही काव्य माना जाय, शब्दार्थयुगल को नहीं इसको उन्होने शास्त्र और अनुभव के बल पर प्रमाणित करके भी दिखाया।

रसों के अन्तर्गत शान्त रस की स्थापना, भक्ति रस आदि की अमान्यता भी इसी कोटि के उद्धरण हैं।

अलङ्कारों में यह दृष्टि प्रमुख रूप से सम्मुख आती है। परमत खण्डन के पश्चात् स्थिर किये गये सिद्धान्त इसी का परिणाम हैं। अर्थात् स्वाभिमत लक्षण की श्रेष्ठता तथा तदपेक्षाकृत अन्य मतों का दोषत्व सप्रमाण सिद्ध किया गया है।

युक्तिकरण को देखकर उनके पाण्डित्य की प्रगाढ़ता का परिचय मिलता है। प्रकाण्ड नैयायिक होने के साथ-साथ वह कुशल आलङ्कारिक, प्रतिभासम्पन्न कवि, पटु वैयाकरण और उच्च कोटि के दार्शनिक भी थे।

(३) मौलिक विचार-(देन)

तीसरा वैशिष्ट्य है—पण्डितराज की देन। रसगङ्गाधर केवल दूसरों के मतों का परिष्कृत और प्रमाणित रूप ही हो ऐसा नहीं है अपितु अनेक नवीन विचारों का आकर भी है।

काव्य क्षेत्र में अलक्षित तत्वों का लक्षण करना

काव्य शास्त्र में ऐसे अनेक तत्त्व थे जो सबके द्वारा स्वीकृत होते हुए भी किसी के द्वारा लक्षणबद्ध नहीं किये गये थे। उनके स्वरूप निर्धारण की ओर किसी का ध्यान नहीं गया था। उदाहरण के लिये चमत्कारत्व, प्रतिभात्व, दोष, अलङ्कार, सादृश्य, विच्छित्ति, विरोध, शृङ्खला आदि अनेक तत्वो का स्वरूप निर्धारण पण्डितराज के ही द्वारा हुआ।

चमत्कारत्व— "लोकोत्तरत्वं चाह्लादगतश्चमत्कारत्वापरपर्यायोऽनुभवसाक्षिको जातिविशेषः। कारणं च तदवच्छिन्ने भावनाविशेषः पुनः पुनरनुसन्धानात्मा।"[५८]

---

५८. रस. पृ. ४

प्रतिभात्व—"तद्गत च प्रतिभात्वं काव्यकारणतावच्छेदकतया सिद्धो जातिविशेष उपाधिरूपं वाखण्डम् ।"[५९]

दोष—"चमत्कारापकर्षकत्वाभावत्वं दोषाभावत्वम् ।"[६०]

उक्त वाक्य परिकर अलङ्कार के प्रकरण मे कहा गया है, जिससे चमत्कारापकर्षकत्वं दोषत्वम्' यह स्पष्ट दोष का लक्षण ज्ञात हो जाता है। उपमालङ्कार के मध्य भी 'अस्य चमत्कारापकर्षकं यावत्तत्सर्वमपि दोष ' कहने से उपर्युक्त लक्षण का ही पोषण होता है। (दोषो का निरूपण करते हुए दोष का कोई लक्षण न करके यत्र-तत्र प्रसङ्गतः उसको कह देना इसको द्योतित करता है कि विशेष रूप से उनके लक्षण निर्माण में उनकी प्रवृत्ति नहीं थी पर यथावसर उसको स्पष्ट कर देना भी उनका स्वभाव था)

अलङ्कार—इसका भी कोई सामान्य लक्षण मुखर रूप से नहीं किया गया है। उपमालङ्कार के पूर्वलिखित एक पंक्ति से उसका परिचय मिलता है—

'अथास्य प्रागभिहितलक्षणस्य काव्यात्मनो व्यङ्ग्यस्य रमणीयताप्रयोजका अलङ्कारा निरूप्यन्ते ।'[६१]

अर्थात् काव्यात्मभूत व्यङ्ग्यार्थ को रमणीय बनाने वाले जो हों वह अलङ्कार हैं।

सादृश्य—सादृश्य क्या है—इस पर तो रसगङ्गाधर में जितना विचार किया गया है उतना अन्य किसी भी ग्रन्थ मे उपलब्ध नही होता। मीमांसक, नैयायिक और आलङ्कारिक—तीनों की ही दृष्टि से यह विचार हुआ है।[६२]

आलङ्कारिक की दृष्टि से उपमान और उपमेय में रहने वाले पृथक्-पृथक् किन्तु समान, धर्मों का परस्पर अभेदाध्यवसाय ही है सादृश्य।

विच्छित्ति—विच्छित्ति चमत्कार का ही दूसरा नाम है। चमत्कार का लक्षण पहले किया जा चुका है किन्तु वह केवल नैयायिक रीति से उसकी शाब्दी सिद्धिमात्र है। आलङ्कारिको के मनस्तोष के लिये किया गया लक्षण यह है—

'अलङ्काराणां परस्परविच्छेदस्य वैलक्षण्यस्य हेतुभूता जन्यतासंसर्गेण काव्यनिष्ठा कविप्रतिभा तज्जन्यत्वप्रयुक्ता चमत्कारिता वा विच्छित्तिः।'[६३]

५९. रस पृ ८
६०. रस. पृ. ३८६
६१. रस पृ. १५६
६२. वै० परि० का०३
६३. रस. पृ. ४६६

विरोध का स्वतन्त्र निरूपण विरोधालङ्कार के प्रकरण मे आरम्भ मे किया गया है। उसके विभिन्न प्रकार और अलङ्कार के रूप मे उसकी स्थिति का विविक्त वर्णन अत्यन्त सुन्दर रूप मे हुआ है।

इसी प्रकार शृङ्खला का निरूपण देखिये—

'पङ्क्तिरूपेण निबद्धानामर्थाना पूर्वपूर्वस्योत्तरोत्तरस्मिन्, उत्तरोत्तरस्य वा पूर्वपूर्वस्मिन् संसृष्टत्वं शृङ्खला।'[१४]

शृङ्खला मात्र का ऐसा लक्षण अलङ्कार जगत् मे इसके पूर्व नही मिलता। कहीं यह शृङ्खला कारणमाला का रूप धारण करती है और कहीं एकावली का, इसका निरूपण अपूर्व रीति से रसगङ्गाधर मे हुआ है।

विषय का विविक्त निरूपण

इसी प्रकार बिम्बप्रतिबिम्बभाव और वस्तुप्रतिवस्तुभाव का भेद, अतिशय और अतिशयोक्ति का भेद, शुद्ध सादृश्य और अलङ्कारात्मक सादृश्य का भेद, शुद्ध अभेद और अलङ्कार रूप अभेद, इत्यादि अनेक विषयो का स्पष्टीकरण किया है जिससे बुद्धि मे निर्मलता आ जाती है।

अनेक अलङ्कारों का अन्तर्भाव

अपनी विवेचन शक्ति से ही उन्होंने अनेक अलङ्कारों का अन्तर्भाव अन्यत्र कर दिया है। जैसे उपमेयोपमा और प्रतीप का उपमा में, दीपक का तुल्ययोगिता में, प्रस्तुताङ्कुर का अप्रस्तुतप्रशंसा मे, मालादीपक का एकावली में, वर्धमानक का सार में, विकस्वर का अर्थान्तरन्यास मे, यथासंख्य का अपक्रमत्वदोष के अभाव मे, मिथ्याध्यवसिति का प्रौढोक्ति में, ललित का निदर्शना में इत्यादि। और इस अन्तर्भाव के द्वारा निर्विघ्न रूप से बढ़ती जा रही अलङ्कारों की संख्या पर पण्डितराज ने एक बाँध बना दिया।

अप्रचलित अलङ्कारों की स्वीकृति

इसके अतिरिक्त कुछ ऐसे भी अलङ्कार हैं जिनको प्राचीन आलङ्कारिकों ने विशेष महत्त्व नहीं दिया किन्तु पण्डितराज ने उन्हे संयुक्तिक स्वतन्त्र स्वीकार किया है। जैसे—असम, उदाहरण, विचित्र, अर्थापत्ति, प्रहर्षण, विषादन उल्लास, अवज्ञा, अनुज्ञा, तिरस्कार और लेश। इनमें से कोई भी अलङ्कार मम्मट ने नहीं माना है, रुय्यक ने भी विचित्र और अर्थापत्ति के अतिरिक्त अन्य किसी का उल्लेख नहीं किया है। केवल अप्पय दीक्षित के ग्रन्थ में ही इनका वर्णन प्राप्त होता है। तिरस्कार नामक अलङ्कार कुवलयानन्द में भी नहीं है, यह पण्डितराज का स्वोद्भावित अलङ्कार है।

---

१४. रस. पृ. ४६१

अलङ्कारों का अन्तर्भाव अथवा पृथक् रूप मे स्वीकरण दोनो ही सप्रमाण सम्मुख आए हैं, युक्तिरहित रूप मे नहीं।

किसी विषय पर शास्त्रार्थ करने के पश्चात् उसका निष्कर्ष 'इदं तु बोध्यम्–' कहकर देने की परिपाटी न्याय की परिपाटी है जिसका निर्वाह रसगङ्गाधर मे भी पूर्णतः हुआ है।

अलङ्कार-जगत् मे पण्डितराज की कृति ही एकमात्र ऐसी कृति है जो अलङ्कारों की सूक्ष्मता और विश्लेषण मे प्रवृत्त दिखायी पड़ती है। अलङ्कारो के साथ साथ उदाहरणों तक का इसमे सूक्ष्म विश्लेषण किया गया है।[६५] अतः यदि यह कहा जाय कि अलङ्कार वाले अंश को लेकर रसगङ्गाधर अद्वितीय ग्रन्थ है तो अनुचित नहीं होगा।

परमतखण्डन के अन्तर्गत भी केवल लक्षण अथवा किसी सिद्धान्त का ही खण्डन नहीं किया है अपितु अनेक स्थानों पर उदाहरण को भी अनुचित सिद्ध किया है।

पण्डितराज की शैली के दोष

उपर्युक्त सभी विशेषताओं के साथ-साथ पण्डितराज की शैली में कतिपय दोष भी हैं जो अनायास ध्यान आकर्षित कर लेते हैं।

किसी भी एक आलङ्कारिक को सर्वत्र प्रामाणिक न मानना

पण्डितराज स्वयं एक आधुनिक आलोचक हैं किन्तु अनेक स्थानों पर उनका प्राचीन आलङ्कारिक का रूप भी दिखायी पड़ता है। अर्थात् कहीं पूर्वजों का पूर्णतः खण्डन किया है और कहीं उनको ही प्रमाण के रूप में उद्धृत किया है। समकालीन आलङ्कारिकों के खण्डन के समय जो मम्मट प्रमाण रूप बन जाते हैं वही मम्मट कुछ क्षण पश्चात् ही प्रतिवादी के रूप में सम्मुख आते हैं और उस समय उनका कोई भी सिद्धान्त प्रमाणस्वरूप नही रह जाता। उदाहरण के लिये स्मरण अलङ्कार में अप्पय दीक्षित का खण्डन करते समय मम्मट के कथन को सिद्धान्त मानकर मम्मट की प्रामाणिकता प्रदर्शित की है।

"न हि व्यङ्ग्यत्वालङ्कारत्वयोर्विरोध इति वक्तुं शक्यम्। नित्यव्यङ्ग्यानां रसभावादीनामपि पराङ्गतायामलङ्कारत्वाभ्युपगमात्। प्रधानव्यङ्ग्यव्यावृत्त्यर्थं पुनरुपस्कारकत्वं सर्वेष्वलङ्कारलक्षणेषु देयमिति प्रागेवावेदितम्। यदप्युक्तं 'अत्युच्चाः परितः स्फुरन्ति गिरयः' इत्यत्र स्मृतेः सञ्चारिभावस्य भूभृद्विषयरतिभावाङ्गत्वात्प्रेयोऽलङ्कार इति, तन्न। भावस्य हि भावाद्यङ्गतायां प्रेयोऽलङ्कारत्वम्। न चात्र स्मृतिर्भावः।

६५. रस. पृ. ११३–११४

तस्या स्मरतिना वाचकेनाभिधानात् । न हि वाच्यस्य व्यभिचारिणो भावत्व वक्त्ं युक्तम् । 'व्यभिचार्यञ्जितो भावः' इति सिद्धान्तविरोधात् ।"[६६]

यही मम्मट काव्यलक्षण के प्रसङ्ग में प्रतिवादी होकर पूर्णतः अप्रामाणिक हो गये हैं :—

"....'काव्यमुच्चैः पठ्यते,' 'काव्यादर्थोऽवगम्यते,' 'काव्यं श्रुतमर्थो न ज्ञातः,' इत्यादि विश्वजनीनव्यवहारत' प्रत्युत शब्दविशेषस्यैव काव्यपदार्थत्वप्रतिपत्तेश्च । व्यवहार (शब्दमात्रे लक्षणयोपपादनीय इति चेत्, स्यादप्येव, यदि काव्यपदार्थतया पराभिमते) शब्दार्थयुगले काव्यशब्दशक्तेः प्रमापक दृढ़तर किमपि प्रमाण स्यात् । तदेव तु न पश्यामः । विमतवाक्य त्वश्रद्धेयमेव ।"[६७]

इस प्रकार के विरोध का एक और उदाहरण देखिये—

"श्लेषः ओजस आद्याश्चत्वारो भेदाश्च, वैचित्र्यमात्ररूपा न गुणान्तर्भावमर्हन्ति, अन्यथा प्रतिश्लोकमर्थवैचित्र्यवैलक्षण्याद्गुणभेदापत्तेः । अनधिकपदत्वात्मा प्रसादः, उक्तिवैचित्र्यवपुर्माधुर्यम्, अपारुष्यशरीर सौकुमार्यम्, अग्राम्यरूपोदारता, वैषम्याभावलक्षणा समता, साभिप्रायत्वात्मकः पञ्चम ओजसः प्रकारः, स्वभावस्फुटत्वात्मिकाऽर्थव्यक्तिः, स्फुटरसत्वरूपा कान्तिश्च, अधिकपदत्वानवीकृतत्वामङ्गलरूपाश्लीलग्राम्यभङ्गप्रक्रमापुष्टार्थरूपाणां दोषाणां निराकरणेन स्वभावोक्त्यलङ्कारस्य रसध्वनिरसवदलङ्कारयोश्च स्वीकरणेन च गतार्थानि । समाधिस्तु कविगतः काव्यस्य कारणं न तु गुणः प्रतिभाया अपि काव्यगुणत्वापत्तेः । अतस्त्रय एव गुणा इति मम्मटभट्टादयः ।"[६८]

इस अंश का सार यही है कि पण्डितराज ने अर्थगुणों को भी (जो वामनादि के द्वारा दस माने गये थे) मुख्य तीन गुणों में माधुर्य, ओजस् व प्रसाद में, काव्यगत दोषों में तथा अन्य तत्त्वों में अन्तर्भूत कर तीन ही मुख्य गुण स्वीकार किये हैं और अपने इस मत को सबल एवं पुष्ट करने के लिये मम्मट भट्ट को अपने पक्ष में उद्धृत किया है । इसके विपरीत उपमा के लक्षण की आलोचना करते समय मम्मटोक्ति को ही अरमणीय कह दिया—

"एवं काव्यप्रकाशोक्तमपि 'साधर्म्यमुपमा भेदे' इति लक्षण नातीव रमणीयम् । व्यतिरेके निषेधप्रतियोगिनि सादृश्येऽतिव्यापनात् ।"[६९]

इस प्रकार का विरोध एक दो स्थानों पर ही नहीं सम्पूर्ण ग्रन्थ में यत्र-तत्र दृष्टिगोचर होता है । सूत्ररूप में यह कहा जा सकता है कि रुय्यक या अप्पयदीक्षित

६६. रस. पृ. २२०
६७. रस. पृ. ५
६८. रस. पृ. ६१
६९. रस. पृ. १६१

आदि किसी समकालीन आलङ्कारिक का मत खण्डित करते समय मम्मट व आनन्द-वर्धन आदि सभी प्रामाणिक आलङ्कारिक हो जाते हैं तथा उनके ही मत को खण्डित करते समय वह नितान्त अप्रामाणिक बन जाते हैं। इस प्रकार के अनेक उदाहरण दिये जा सकते हैं।[७०]

आनन्दवर्धन के प्रति भी पूज्य और प्रतिद्वन्द्विभाव दिखायी पड़ता है। मम्मट और आनन्दवर्धन तक का परस्पर विरोध दिखाया गया है। अतः यह निश्चय करना कठिन हो जाता है कि पण्डितराज को मम्मटादि प्राचीनों का अनुमन्ता माना जाय या प्रति-द्वन्द्वी। अतः यह कहा जा सकता है कि वह जितने आधुनिक हैं उतने ही प्राचीन भी।

अपने मत को स्पष्ट रूप से न कहना

कुछ स्थान ऐसे भी हैं जहाँ पण्डितराज का अपना क्या मत है यह अनुमान लगाना कठिन हो जाता है। वह किसी अन्य आलङ्कारिक के मत का उल्लेख मात्र करके स्वयं कोई खण्डन-मण्डन नहीं करते। जैसे अतद्गुण के अन्तिम अंश में

"अन्ये तु–'अवान्तरचमत्कारविशेषस्याभावाद्वैविध्यमपि न' इति वदन्ति। अन्ये तु 'सति गुणग्रहणहेतावुत्कृष्टगुणवस्तुसन्निधाने तद्गुणग्रहणरूपकार्याभावात्मकोऽयमतद्गुणो विशेषोक्तेरवान्तरभेद', न त्वलङ्कारान्तरम्। कार्यकारणभावो नात्र विवक्षितः। किन्तु सन्निधानेऽपि तद्गुणग्रहणाभाव इत्येतावन्मात्रम्। अतो विशेषोक्तेरतद्गुणो भिन्न इति तु न युक्तम्। सन्निधानेऽपीत्यादिना विरोधोऽपि विवक्षित इति गम्यते। अन्यथा जीवतोरभावादलङ्कारतैव न स्यात्। स च कार्यकारणभावविवक्षणे न भवतीति कथमुच्यते न विवक्षित इति' इत्यप्याहुः।"[७१] इत्यादि।

इसमें दो मतों का उल्लेख किया गया है किन्तु तत्सम्बन्धी आलोचना का अभाव है। इसी प्रकार उल्लास अलङ्कार में भी अन्त में दो मतों का उल्लेख किया है--

"–'काव्यलिङ्गेन गतार्थोऽयं, नालङ्कारान्तरत्वभूमिमारोहति' इत्येके। 'लौकिकार्थमयत्वादनलङ्कार एव' इत्यपरे।"[७२]

इससे, स्वयं पण्डितराज को क्या स्वीकार है यह कहना कठिन है। इस प्रकार के अनेक स्थल प्राप्त होते हैं। अतः इस प्रकार के स्थलों में ऐसा प्रतीत होता है कि जैसे वह स्वयं अपने मन में यह निश्चय नहीं कर पाये थे कि क्या माना जाय–प्राचीन मत या नवीन मत। इसी प्रकार ललित अलङ्कार में भी सन्देह बना रहता है।

---

७०. रस. पृ. २२–२१
७१. रस० पृ ५१४–५१५
७२. रस. पृ. ५०८

अनेक बार ऐसा भी होता है कि पण्डितराज ने किसी अन्य मत को अपनी भाषा मे कहते हुए अपनी ओर से भी उसमे कुछ सशोधन किया है । अत: वहाँ उनके अपने मत से मिश्रित परमत एक व्यामिश्र उत्पन्न कर देता है और दोनो का मत पृथक् पृथक् स्पष्ट करने मे काठिन्य आ जाता है । उदाहरण के लिये रसप्रकरण मे भट्टनायक का मत लिया जा सकता है । 'नव्या.' करके जिस मत का प्रतिपादन हुआ है वह भी किसका मत है–पण्डितराज का अथवा अन्य किसी आलङ्कारिक का–यह पता ही नही लगता है । इसके अतिरिक्त श्लेष अलङ्कार का शब्दालङ्कारत्व या अर्थालङ्कारत्व, श्लेष का अन्य अलङ्कार के प्रति बाधकत्व या बाध्यत्व या सङ्कीर्णत्व, आक्षेप का लक्षण, इत्यादि विषयो पर किया गया विचार भी इसी कोटि मे रखने योग्य है ।

नैयायिक होने के नाते पण्डितराज को जो कुछ कहना अथवा सशोधन करना था उसको अत्यन्त स्पष्ट और पृथक् रूप से करना चाहिये था । स्पष्टता का अभाव उनका दोष बन गया है ।

तत्त्व निरूपण में अस्पष्टता

कहीं-कहीं ऐसा भी हुआ है कि पण्डितराज ने किसी विषय विशेष का निरूपण तो किया है परन्तु उसमें अस्पष्टता बनी रही है । जैसे भावना का जो स्वरूप प्रारम्भ मे बताया है (पुनः पुनरनुसन्धानात्मा) वही अन्य अभिनव आदि के रस सम्बन्धी सिद्धान्तों मे भी है या नहीं इसका निश्चय करना कुछ कठिन हो जाता है । अर्थात् भावना से वास्तव मे उनका क्या अभिप्राय था यह अस्पष्ट ही है ।

पण्डितराज की अपनी ही मान्यताओं मे विरोध दिखाई देता है । विषय की सूक्ष्मता को कहीं तो भेदों का आधार माना है और कहीं उसी को बाधक माना है । उदाहरणार्थ अलङ्कारों के प्रकारों को प्रदर्शित करते हुए कहा कि यदि प्रत्येक उक्ति वैचित्र्य के सूक्ष्म भेद को लेकर नवीन अलङ्कार माना जायेगा तो अलङ्कार अनन्त हो जायेंगे क्योंकि वाग्भङ्गी अनन्त हैं । उसी सूक्ष्मता का प्रसङ्ग जब काव्य के भेद करते समय आया तो कह दिया कि यदि शब्दालङ्कार और अर्थालङ्कार मे होने वाले व्यङ्ग्यार्थ के चमत्कार के सूक्ष्म भेद को न मानकर केवल अलङ्कारत्व के आधार पर दोनों को अधम काव्य कहना इष्ट हो तो ध्वनि और गुणीभूतव्यङ्ग्य के सूक्ष्म भेद को भी नहीं मानना चाहिये । इत्यादि । इसी प्रकार अन्य स्थल भी दिखाई पड़ते हैं ।

एक विषय का अनेक बार कथन

एक दूसरा दोष जो रसगङ्गाधर में दिखायी पड़ता है वह यह कि एक ही विषय का अनेक बार कथन हुआ है । जैसे अलङ्कार की उपस्कारकता, चमत्कारिता, सादृश्य क्या है ? इत्यादि । एक विषय पर किया गया विचार एक स्थान पर सुव्यव-

स्थित रूप से न करके यत्र-तत्र प्रसङ्गतः कर दिया गया है जिसको एकत्रित कर समन्वित करना अध्येता का कार्य हो जाता है। वास्तव में सामान्य रूप से कहीं उसका उल्लेख करके पश्चात् स्थान-स्थान पर उसकी उपयुक्तता दिखा देना दोष नहीं होता परन्तु पण्डितराज ने अलङ्कार सामान्य का कहीं निरूपण नहीं किया है, केवल अनेक स्थानो मे उसके विशेषणों का बहुधा उल्लेख मात्र है। निपात सम्बन्धी विचार भी ऐसा ही विचार है।

एक विषय का निरूपण एक स्थान पर न करना

इसके विपरीत, एक अन्य दोष यह भी है कि किसी-किसी विषय के बारे मे जो भी कुछ कहना है वह एक ही बार कहा है परन्तु एक स्थान पर नहीं कहा है। विकीर्ण रूप में उसका निरूपण किया गया है। जैसे निदर्शना के सम्बन्ध में आर्थी निदर्शना का विचार निदर्शना में न करके ललितालङ्कार में किया है—

'इदं च श्रौत्या निदर्शनाया लक्षणम्। आर्थीसाधारणं लक्षणं तु ललितालङ्कारप्रकरणे वक्ष्यते।'[७३]

अर्थात् निदर्शना के प्रकरण मे केवल श्रौती निदर्शना का ही निरूपण किया है और आर्थी निदर्शना का ललितालङ्कार में। अपने पाण्डित्य के प्रतिकूल ग्रन्थकार ने इस शैली का आश्रय लिया है क्योंकि यथान्याय एक साथ, एक ही स्थान पर सम्पूर्ण विचार समाप्त हो जाना चाहिये था। दोष आदि का विचार भी इसका उदाहरण है।

पाण्डित्य के कारण दुराग्रह

पाण्डित्य के प्रमाद के कारण पण्डितराज कहीं-कहीं दुराग्रह भी कर बैठे हैं। यह अधिकतर अप्पयदीक्षित के मत में दृष्टिगोचर होता है। वास्तव में अप्पय का जो मत है उसे ठीक रूप में न कह कर अपने खण्डन के अनुरूप बनाकर खण्डित करना पण्डितराज का वैशिष्ट्य रहा है। विशेष रूप से जहाँ अप्पय ने स्वयं किसी प्रकार की व्याख्या नही की है वहाँ तो पण्डितराज को पूरी छूट मिली है अपने मनोनुकूल अर्थ-योजना बनाने की। दीक्षित के अनेक उदाहरणों का खण्डन केवल किसी पद विशेष को व्याकरण की दृष्टि से दुष्ट बताकर कर दिया गया है। जैसे—

'यदपि तेनैवोदाहृतम्—'भक्ष्याशया हि मञ्जूषां दृष्ट्वाखुस्तेन भक्षितः।' इति। अत्र क्त्वा प्रकृतिक्रियाकर्तृकर्तृकोत्तरकालवर्तिक्रियान्तरस्याप्रयुक्तत्वादगम्यमानत्वाच्च प्रविष्ट इति पदाकांक्षितया न्यूनपदत्वम्।"[७४]

---

७३. रस. पृ. ३४०

७४. रस. पृ ४४७

अथवा—

"यत्तु कुवलयानन्दकृता—
'उच्चैर्गजैरटनमर्थयमान एव
त्वामाश्रयन्निह चिरादुषितोऽस्मि राजन् ।
उच्चाटन त्वमपि लम्भयसे तदेव
मामद्य नैव विफला महतां हि सेवा ॥'

इत्युदाहृत्य, 'अत्र व्याजस्तुतौ यद्यपि स्तुत्या निन्दाभिव्यक्तिविवक्षाया विषमालङ्कारः, तथापि प्राथमिकस्तुतिवाच्यकक्षाया समालङ्कारो न निवार्यते' इत्युक्तं तत्रोदाहरणे 'मामुच्चाटन लम्भयसे' इति द्विकर्मकं कथम् 'गति–' आदि सूत्रस्य प्राचीनरीत्या नियमविधित्वपक्षे लभेरण्यन्तकर्तुः कर्मत्वस्य व्यावर्तनात् । यदा तु—

'परत्वादन्तरङ्गत्वादुपजीव्यतयापि च ।
प्रयोज्यस्यास्तु कर्तृत्वं गत्यादेर्विधितोचिता ।'

इति नवीनरीत्या अपूर्वविधित्वमुच्यते श्रौत णिजन्तार्थक्रियाया प्राधान्यमुत्सृज्यार्थं पूर्वक्रियाया एव प्राधान्यमनुरुध्यते तदा त्वप्रसक्तिरेवेति । उच्चाटनं मया लम्भयसे इति तु भाव्यम् ।"[७५]

इन खण्डनों में तत्त्व विचार की दृष्टि से कोई वैशिष्ट्य नहीं है केवल अप्पय-मस्तक-मण्डन ही प्रमुख है । इस प्रकार के एक नहीं अनेक उदाहरण हैं जहाँ अप्पय दीक्षित के मत के खण्डन को देखकर यह स्पष्ट प्रतीत हो जाता है कि इसमें वैरभाव अथवा पाण्डित्य प्रमाद ही प्रमुख है, लक्ष्य स्थापन गौण ।

परमत खण्डन में सबसे अधिक खण्डन अप्पय का ही हुआ है और उसमें भी वास्तविक खण्डन की अपेक्षा प्रामादिक खण्डन अधिक है ।

अपशब्द का प्रयोग

अप्पय दीक्षित के लिये असकृत् अपशब्द का भी प्रयोग किया गया है । भाषा की यह असुन्दरता प्रौढ़ बुद्धि जगन्नाथ की अशोभनीय मनोवृत्ति को प्रकाशित करती है—

'………अलङ्कारशास्त्रतत्त्वानवबोधनिबन्धनम् ।'[७६]

तथा–'………द्रविडशिरोमणिभि. ।'[७७]

तथा–'……केनापि आलङ्कारिकंमन्येन प्रतारितस्य दीर्घश्रवस उक्तिरश्रद्धेयैव।'[७८]

---

७५. रस. पृ. ४५१

७६. चि. पृ. ११

७७. रस. पृ. १८०

७८, रस. पृ. २१६

तथा—"……सहृदयैराकलनीयं किमुक्तं प्रविडपुङ्गवेनेति ।"[७९]

इत्यादि अनेक दृष्टान्त उपस्थित किये जा सकते हैं ।

मतवादी का नामानुल्लेख

पण्डितराज स्वय एक बहुत बडे पण्डित थे, नाना शास्त्रो के ज्ञाता थे, ज्ञान के अक्षय भण्डार थे, उनके लिये यह उचित नही प्रतीत होता कि वह किसी का मत उद्धृत करें किन्तु मतवादी का नाम न दें । रुय्यक और कुवलयानन्दकार को छोड़कर अधिकतर उन्होने केचित्तु, अपरे तु इत्यादि सर्वनामो का प्रयोग करके ही अन्य मतों का उल्लेख किया है । जैसे— रस प्रकरण मे अन्तिम सात मत तथा गुणों के अन्तर्गत यह अंश—

"तत्र शृङ्गारे संयोगाख्ये यन्माधुर्यं ततोऽतिशयितं करुणे, ताभ्यां विप्रलम्भे, तेभ्योऽपि शान्ते । उत्तरोत्तरमतिशयितायाश्चित्तद्रुतेर्जननात्' इति केचित् ।

'संयोगशृङ्गारात्करुणशान्तयोस्ताभ्यामपि विप्रलम्भे इत्यपरे ।

'संयोग शृङ्गारात्करुणविप्रलम्भशान्तेष्वतिशयितमेव न पुनस्तत्रापि तारतम्यम्' इत्यन्ये । तत्र प्रथमचरममतयोः 'करुणे विप्रलम्भे तच्छान्ते चातिशयान्वितम्' इति प्राचां सूत्रमनुकूलम् । " अद्भुतहास्यभयानकानां गुणद्वययोगित्वं केचिदिच्छन्ति, अपरे तु प्रसादमात्रम् ।"[८०]

इस प्रकार के स्थलो मे कही तो मतवादी का नाम ज्ञात करना सरल होता है किन्तु कहीं वह अज्ञेय ही बना रहता है ।

इस प्रकार का प्रयोग ग्रन्थ में अनेक बार हुआ है जो ग्रन्थकार के ज्ञानवैशद्य का परिचायक होते हुए भी श्लाघ्य तथा शोभनीय नहीं प्रतीत होता ।

अपने मत को पुष्ट करने के लिये यदि नवीन कल्पना का आश्रय भी लेना पड़े तो पण्डितराज सङ्कोच नहीं करते । यथा व्यतिरेक अलङ्कार में 'रक्तस्त्वम् ……' इत्यादि पद्य में व्यतिरेक अलङ्कार को प्रसिद्ध करने के लिये उपमा का अभाव' (अलङ्कार का अपसारण) चमत्कारी कल्पित किया है ।

'रस्याद्यनुकूलतया कुतश्चिदङ्गाद्भूषणापसारणं यथा शोभाविशेषाय भवति, एवं प्रकृते उपमालङ्कारदूरीकरणमात्रमेव रसानुगुणतया रमणीयम्, न व्यतिरेकः ।'[८१]

इस कल्पना में प्रामाणिकता किस अंश तक है यह विचारणीय है—

शब्दाडम्बर

रसगङ्गाधर में केवल शब्दाडम्बर भी मिलता है । जैसे काव्यलक्षण के प्रसङ्ग में की गयी लक्षण की त्रिधा व्याख्या—

---

७९. रस. पृ. ४२०

८०. रस. पृ. ३३

८१. रस. पृ. ३५४

"इत्थं च चमत्कारजनकभावनाविषयार्थप्रतिपादकशब्दत्वम्, यत्प्रतिपादितार्थविषयकभावनात्व चमत्कारजनकतावच्छेदक तत्त्वम्, स्वविशिष्टजनकतावच्छेदकार्थप्रतिपादकतासंसर्गेण चमत्कारत्ववत्वमेव वा काव्यत्वमिति फलितम् ।"

इसमें नैयायिक भाषा का खेल ही प्रधान है। विषय परिष्कार की दृष्टि से यह न्यून है। इस प्रकार के बहुत से स्थल हैं जो नैयायिक शब्दावली मे प्रस्तुत किये जाने से अत्यन्त दुरूह हो गये हैं। जबकि तत्त्वत उनमे कोई काठिन्य नही है। इस प्रकार कही-कही शब्दाडम्बर रूप दोष से भी ग्रन्थकार ग्रस्त हो गये हैं।

पण्डितराज का एक और दोष, जो बहुधा दृष्टिगोचर होता है, यह है कि वह अवान्तर विषय की चर्चा भी कभी-कभी इतनी दीर्घ कर देते हैं कि विषय मे विशृङ्खलता आ जाती है। जैसे उपमा के प्रकरण मे सादृश्य का विचार, रूपक मे शाब्द बोध[८२], सहोक्ति मे अप्रधान भाव का शाब्दत्व व आर्थत्व विचार[८३]—इत्यादि। अपने ज्ञान-वैशद्य मे डूबे ग्रन्थकार यह भूल बैठते हैं कि विषयान्तर हो गया है। एव निर्विघ्न रूप से यथेच्छ विवेचन करते रहते हैं।

अपने प्रज्ञान का रस रूप में भी पण्डितराज ने दुरुपयोग किया है कि किसी-किसी पदार्थ का निश्चय नैयायिकों की प्रणाली से ही कर दिया गया है। वास्तव मे उसका निश्चय हो पाया है कि नहीं—यह विचारणीय है। यथा—

चमत्कार को चमत्कारत्वविशिष्ट कहा तथा चमत्कारत्व को सहृदयानुभवसाक्षिक जाति विशेष। ("लोकोत्तरत्वं चाह्लादगतश्चमत्कारत्वापरपर्यायोऽनुभवसाक्षिको जातिविशेषः।") चमत्कार का स्वरूप इस न्याय-कलेवर में प्रस्तुत कर देने पर सन्तोषजनक नहीं प्रतीत होता। केवल शाब्दी सिद्धिमात्र ही प्रतीत होती है।

इसी प्रकार अनुमान अलङ्कार मे भी अनुमिति का निरूपण इसी ढङ्ग से हुआ है। नैयायिको के स्वरूप सिद्धि का यह एक विशेष ढङ्ग है जिसको जहाँ-तहाँ लागू कर करके पण्डितराज ने पदार्थों का निरूपण कर दिया है।

न्याय के समान ही व्याकरण, मीमांसा, आदि अन्य शास्त्रो का भी खण्डन करते समय यत्र-तत्र दुरुपयोग हुआ है।

भाषा की क्लिष्टता

न्याय की भाषा को अपने ग्रन्थ का माध्यम बना कर जितने विषय परिष्कार मे पण्डितराज सफल हुए हैं उतना ही वह ग्रन्थ भाषा के ही कारण कठिन हो गया है। जहाँ नैयायिक भाषा मे वक्तव्य की स्पष्टता होने का एक बहुत बड़ा गुण है वहीं उसकी क्लिष्टता उसका एक बहुत बड़ा दोष है। अतः साधारण सामान्य विषय के

८२. दे. परि. क ७
८३. दे. परि. क ८

प्रतिपादन में यह भाषा अनुकूल नहीं प्रतीत होती, सैद्धान्तिक विषयों में ही अनुकूल लगती है।

उपर्युक्त कतिपय दोष होते हुए भी पण्डितराज का कीर्ति सौरभ उसी प्रकार व्याहत नहीं होता जिस प्रकार पङ्क मे उत्पन्न होने पर भी पद्म का रूप सौन्दर्य। प्रत्युत गुणाधिक्य दोषों की ओर ध्यान नहीं जाने देता। ग्रन्थकार ने ग्रन्थ के प्रारम्भ में जिस वैशिष्ट्य का उल्लेख किया है, ग्रन्थ समाप्ति पर पुनः वही स्मृति-गोचर होता है और पूर्णतः उसका दर्शन भी—

निमग्नेन क्लेशैर्मननजलधेरन्तरुदर
मयोन्नीतो लोके ललित रसगङ्गाधरमणि ।
हरन्नतर्ध्वान्तं हृदयमधिरूढो गुणवता-
मलङ्कारान्सर्वानपि गलितगर्वान्रचयतु ।।
परिष्कुर्वन्त्वर्थान्सहृदयधुरीणाः कतिपये
तथापि क्लेशो मे कथमपि गतार्थो न भविता ।
तिमीन्द्राः संक्षोभं विदधतु पयोधेः पुनरिमे
किमेतेनायासो भवति विफलो मन्दरगिरेः ।।

उपसंहार

रसगङ्गाधर में दिये गये विषयों का पृथक्-पृथक् विस्तारपूर्वक विवेचन किया गया। पण्डितराज के विभिन्न रूप—प्रकाण्ड पण्डित, नाना शास्त्रो के विज्ञाता, विषय के तलस्पर्शी, एव विवेचना-प्रवीण इत्यादि, दृष्टि के सम्मुख आ चुके हैं। सम्प्रति उन सभी विवेच्य विषयों पर यदि एक विहङ्गम दृष्टिपात कर दिया जाय तो ग्रन्थ-सार को हृत्स्थ करने मे सुकरता होगी।

रसगङ्गाधर में जिस प्रकार विषयो का क्रम अपनाया गया है वह मम्मट का ही अनुकरण प्राय है। अतः स्पष्ट रूप से न कहने पर भी यह आभास मिल ही जाता है कि पण्डितराज ध्वनि सम्प्रदाय के समर्थको मे से ही हैं। परन्तु एक विरोधी स्थिति भी सम्मुख आती है जिससे उनकी अलङ्कारप्रियता भी छिपी नहीं रहती। वह यह कि उन्होंने अलङ्कारों का जितनी सूक्ष्मता से निरूपण किया है उतना अन्य विषयो—काव्य के गुण, दोष, ध्वनि के भेद इत्यादि पर नहीं किया है। विशेष रूप से गुण, दोष तथा वृत्ति-विचार तो ऐसे विषय हैं जिन पर केवल प्रसङ्गतः विचार कर दिया गया है, कोई विशेष अवसर नहीं दिया गया है। अस्तु, जिस विषय पर जितना विचार किया गया है तदनुसार ही उसे यहां सङ्गृहीत करना अपेक्षित है।

सर्वप्रथम काव्यलक्षण पर विचार किया गया है। प्राचीनकाल से लेकर पण्डितराज के समय तक चली आने वाली तत्सम्बन्धी दो धाराएँ प्रमुख थीं—(१) शब्द और अर्थ दोनों को काव्य मानना, जिसके समर्थक हैं रुद्रट, भामह, आनन्दवर्धन, मम्मट आदि तथा (२) शब्द मात्र को काव्य मानना, जिसके प्रमुख आचार्य हैं अग्निपुराणकार, दण्डी, पीयूषवर्ष, विश्वनाथ तथा पण्डितराज इत्यादि। इस प्रकार अग्निपुराण से लेकर पण्डितराज तक की शताधिक वर्षों की दीर्घ अवधि में दोनों धाराएँ परस्पर अबाधित होकर प्रवाहित हो चुकी थी। कतिपय एक धारा को अपनाते थे तो अन्य विद्वान द्वितीय धारा को। अलङ्कार शास्त्र के इस प्रौढ़ जगत में पण्डितराज वह प्रथम मनीषी हुए जिन्होंने इन दोनो धाराओं मे एक धारा को केवल अपनाया ही नहीं अपितु यह भी बताया कि इस धारा को ही अपनाना क्यों अनिवार्य है। पूर्वाचार्यों ने कभी इस बात पर वाद विवाद करना उचित नही समझा कि केवल शब्द को अथवा शब्द और अर्थ दोनों को ही काव्य मानना क्यों आवश्यक है।

उपर्युक्त दो मान्यताओं में से एक का उत्कर्ष अर्थात् शब्द को काव्य मानने का उत्कर्ष स्पष्ट करके तथा शब्द और अर्थ दोनों को काव्य मानने में विभिन्न

आपत्तियों का दिग्दर्शन करके रसगङ्गाधरकार ने अलङ्कारशास्त्र में अपना विशेष आसन स्थापित कर दिया है।

द्वितीय विलक्षणता का परिचय भी आरम्भ में ही मिल जाता है, वह यह कि पण्डितराज स्वयं न तो प्राचीनों के अन्धानुकरण में विश्वास करते थे न प्राचीनों के खण्डन मात्र करने वाले अन्धपाण्डित्य में। अप्पय दीक्षित आदि का खण्डन करते समय जहाँ वह मम्मट आदि को ही प्रामाणिक आलङ्कारिक के रूप में उपस्थित करते हैं वहाँ वही पण्डितराज ग्रन्थ में सर्वप्रथम मम्मट का ही खण्डन करते हैं, काव्य-लक्षण के प्रसङ्ग में। इसी प्रकार का व्यवहार ध्वनिकार आनन्दवर्धन एवं अन्य पूर्वाचार्यों के साथ भी हुआ है। प्रत्येक प्रौढ़ आलङ्कारिक के मत का यथासम्भव मन्थन करके अन्त में ग्रन्थकार ने अत्यन्त दृढ़ शब्दों में यह घोषणा कर दी है कि शब्द मात्र को ही काव्य मानना न्यायसङ्गत है शब्द और अर्थ उभय को नहीं।

द्वितीय चरण है—काव्य का हेतु। यद्यपि हेतु निरूपण में विषयगत कोई नावीन्य नहीं है। वही प्रतिभा जो पूर्वाचार्यों ने काव्य-कारण के रूप में स्थिर की थी, पण्डितराज को भी काव्य-हेतु के रूप में मान्य है तथापि उसके प्रस्तुतिकरण एवं काव्य के साथ उसके सम्बन्ध स्थापन में नावीन्य है। पण्डितराज के पूर्व अधिकांश आचार्यों ने प्रतिभा के साथ ही साथ व्युत्पत्ति और अभ्यास को भी कारण माना था परन्तु पण्डितराज ने मात्र प्रतिभा ही काव्य का कारण माना तथा प्रतिभा के दो कारण माने—देवता अथवा महापुरुष का प्रसाद तथा व्युत्पत्ति और अभ्यास। देवता अथवा महापुरुष के प्रसाद को ही एक शब्द में अदृष्ट कहा है। इस प्रकार अदृष्ट से उत्पन्न प्रतिभा और व्युत्पत्ति तथा अभ्यास से उत्पन्न प्रतिभा में से कोई भी प्रतिभा काव्य का कारण हो सकती है।

दोनों प्रतिभाओं को कारण मानकर पण्डितराज ने प्रतिभा को अर्जित ही सिद्ध कर दिया है। उससे उन्होंने कवित्व को मनुष्य के अधीन भी बना दिया।

काव्य-हेतु के पश्चात् प्रस्तुत ग्रन्थ में काव्य के भेदों पर दृष्टिपात किया गया है। उस क्षेत्र में तो यह सभी आचार्यों के द्वारा निस्संदिग्ध रूप में मान्य है कि पण्डित-राज ने काव्य को चतुर्धा विभक्त करके काव्य-क्षेत्र में नितान्त नवीन दृष्टिकोण प्रस्तुत किया है।

उत्तमोत्तम, उत्तम, मध्यम और अधम-काव्य की यह चार कोटियाँ हैं। चार श्रेणियों को स्वीकार न करके तीन ही श्रेणी स्वीकार की जायें यह उचित नहीं है क्योंकि शब्दालङ्कार से और अर्थालङ्कार से होने वाले चमत्कार में विभिन्नता स्पष्ट है। यदि उस सूक्ष्म चमत्कार भेद को अनवहित कर दिया जाय तो उत्तमोत्तम और उत्तम काव्य को भी पृथक्-पृथक् भेद मानना व्यर्थ हो जायेगा, उन्हें भी एक ही कोटि में समाविष्ट कर देना पड़ेगा क्योंकि वहाँ भी अत्यन्त सूक्ष्म-भेद ही विभाजन

का आधार है। अत: काव्य को चार भागों में बाँटना मात्र मनोरथ-ललित नहीं है अपितु दृढ़ कारणों पर आधारित है।

काव्य का प्रमुख भेद है—उत्तमोत्तम काव्य। यही भेद ध्वनि नाम से भी अभिहित होता है। ध्वनि के भी प्रमुख तीन प्रकार होते हैं—रस, अलङ्कार और वस्तु। रस ध्वनि ही है रस का स्थल। अत: काव्य के प्रकारो मे सर्वोच्च प्रकार हुआ रसध्वनि, इस रस ध्वनि का भी प्राणभूत तत्व है रस।

रस-प्रकरण मे रसगङ्गाधर मे जितना विचार हुआ है उसमे कही भी स्पष्ट रूप से इसका उल्लेख नही किया गया कि पण्डितराज की अपनी क्या मान्यता थी। जिस प्रकार मम्मट के द्वारा उल्लिखित रस-सिद्धान्त-चतुष्ट्य मे यह परिलक्षित हो जाता है कि उन्हें भी अभिनवगुप्त का ही मत स्वीकार्य है उसी प्रकार रसगङ्गाधर-कार के प्रति भी यह अनुमान होता है कि उन्हें भी अभिनवगुप्त का मत ग्राह्य है। अत: उक्त रस के सम्बन्ध मे अभिनवगुप्त की मान्यता के अनुकूल ही पण्डितराज की मान्यता भी है।

मान्यताओ के समान होने पर भी उसके उपस्थापन मे भेद है। अभिनव गुप्त की जो दार्शनिकता उनके रस-सिद्धांत मे प्रकट हुई है वही दार्शनिकता पण्डित-राज के द्वारा किये गये उसके पुन: स्थापन में और अधिक सूक्ष्म हो गयी है। उसके कारण अभिनव के निजी मत मे और पण्डितराज द्वारा प्रस्तुत किये उनके मत में कुछ वैलक्षण्य आ गया है। उसका निरूपण रस सम्बन्धी अध्याय मे किया जा चुका है अत: पुन: उसका कथन चर्वित-चर्वण मात्र ही होगा।

सकल रूप से एकादश मतों का प्रस्तुत ग्रन्थ मे उल्लेख हुआ है जिनमे से नव्य-मत एवं नैयायिक मतों के अतिरिक्त अन्य सभी की ऐतिहासिक सत्ता है। उक्त मत-द्वय केवल पण्डितराज के ही द्वारा प्रकाश मे लाये गये हैं, अन्य किसी ग्रन्थ में वह उपलब्ध नहीं होते। इससे यह प्रमाणित होता है कि यह दोनो नवीन मत पण्डित-राज की मौलिक रस-व्याख्यायें हैं जिनका कारण उनके समय तक अद्वैत-वेदान्त और न्याय दर्शन का विकास हो जाना ही प्रतीत होता है।

मूल ग्रन्थ मे ये एकादश मत ऐतिहासिक क्रम से न देकर माहात्म्य क्रम से दिये गये हैं किन्तु प्रस्तुत ग्रन्थ नें उन्हें ऐतिहासिक क्रम से सजा दिया गया है—विचार-प्रौढ़ता की दृष्टि से। अन्तिम पांच मतों को मतवादियो का ज्ञान न होने के कारण कोई क्रम निर्धारित करना कठिन था अत: वह यथावत् प्रस्तुत कर दिये गये हैं।

रस-निष्पत्ति पर उक्त विभिन्न दृष्टियों से विचार करने के पश्चात् रस के भेदों पर ध्यान केन्द्रित हुआ है। इस सम्बन्ध में विद्वानों के मध्य केवल शान्त रस को लेकर ही मतभेद रहा है, शेष रसों को सभी ने निर्विवाद रूप से स्वीकार किया

है। पण्डितराज शांतरस को स्वीकार करने वालो मे है। अपनी अन्य मान्यताओं के समान ही इस मान्यता के लिये भी उन्होने उचित तर्क दिये हैं। भक्ति-रस, वात्सल्य रस आदि को क्यों नहीं मानना चाहिये, शृङ्गार रस के द्विविध प्रकारों का सूक्ष्म निदर्शन, वीर रस के भेदो की प्रसिद्धि आदि अत्यन्त सुन्दर ढङ्ग से किया गया है।

इसी प्रसङ्ग में रस के व्यञ्जक-पद, वर्ण, रचना आदि तथा रस-विरोध पर भी दृष्टिपात किया गया है।

रस की सलक्ष्यक्रमता को लेकर पण्डितराज ने पर्याप्त विचार किया है। आनन्दवर्धनादि को रसादि असलक्ष्यक्रम और सलक्ष्यक्रम दोनो प्रकार का स्वीकार था परन्तु पण्डितराज ने केवल असंलक्ष्यक्रम ही स्वीकार किया है। डा० प्रेम स्वरूप गुप्त के अनुसार पण्डितराज भी रस को संलक्ष्यक्रम मानने के पक्ष में प्रतीत होते हैं। संलक्ष्यक्रम मानने पर अर्थशक्तिमूल ध्वनि के द्वादश भेदों की सिद्धि नहीं हो पाती अतः उनके मत में असङ्गति की आपत्ति होती है। इसका स्पष्ट उल्लेख करते हुए भी पण्डितराज को ध्वनिकार का अनुयायी मानने में गुप्त जी का क्या अभिप्राय है यह जानना किञ्चित् कष्टकर है।[1]

रस का निकटतम तत्त्व है भाव। तदनुसार ही रसोपरान्त भाव का सूक्ष्म विचार द्रष्टव्य है। भाव का लक्षण विभिन्न कल्प-विकल्पों के पश्चात् निश्चित किया है। इसी प्रकार रसाभास, भावाभास, भावशांति, भावोदय, भावसन्धि, भाव-शबलता आदि का पृथक्-पृथक् लक्षणादि निर्देश किया है। परन्तु अन्त में यह स्पष्ट रूप से कह दिया है कि यह सम्पूर्ण विवेचन मात्र प्राचीन परम्परा के अनुरोध से किया गया है, वास्तव में यह सभी ध्वनियाँ भावध्वनि के ही अन्तर्गत हैं। आस्वाद्य-मान हैं भाव न कि भाव की नाना अवस्थायें। भावोदय आदि भाव की ही विभिन्न अवस्थायें मात्र हैं। अन्त में स्थायीभाव, अनुभाव, व्यभिचारिभावादि का भी संक्षेप में सङ्केत किया है।

रस और भाव के पश्चात् प्राप्त है वृत्ति-विचार। पण्डितराज स्वयं नैयायिक थे अत: यत्र-तत्र उनके अन्तर के न्याय-संस्कार मुखरित हो उठे हैं। वृत्तिविचार के अन्तर्गत केवल अभिधा और लक्षणा का ही विवेचन किया गया है व्यञ्जना का नहीं—यह अपने आप में न्याय-बुद्धि का पर्याप्त प्रबल उदाहरण है। आलङ्कारिक होने के नाते यह उचित था कि वह व्यञ्जना का भी स्वरूप निर्धारण करते। नैयायिकों की भांति व्यञ्जना को स्वीकार ही न किया हो ऐसा नहीं है क्योंकि व्यङ्ग्यार्थ की चर्चा पग-पग पर हुई है। अतः पण्डितराज जैसे प्रवर पण्डित के लिये यह शोभा नहीं देता कि किसी तत्त्व विशेष को स्वीकार करके भी उसके प्रति नेत्र निमीलन कर लें।

अभिधा और लक्षणा का जो लक्षण किया है वह मुक्तावली मे कहे गये लक्षणो की ही पुनरावृत्ति है। मध्य-मध्य में दिये गये नैयायिकों, मीमांसकों, वैयाकरणों के मतभेद भी मुक्तावली के ही विचारांश हैं। निस्सन्दिग्ध रूप से यह कह सकते हैं कि वृत्ति विवरण के समय ग्रंथकार यह विस्मरण कर बैठे हैं कि वह एक अलङ्कार ग्रंथ की रचना कर रहे है अथवा न्याय-ग्रंथ की।

अभिधा का विश्लेषण जितने विस्तार से हुआ है उतना लक्षणा का नही हुआ। अभिधा के भेदो मे भी न्याय-सङ्गत विभाजन ही सम्मुख रखा गया है। अतः उन्हे अभिधा और लक्षणा के वही रूप मान्य हैं जो मुक्तावलीकार को।

व्यञ्जना का वर्णन नहीं हुआ है तथापि शब्दशक्तिमूल ध्वनि के अन्तर्गत नानार्थक शब्दो के शक्ति नियामक तत्वो को विस्तार से निरूपित किया है जिन्हें इस ग्रंथ मे व्यञ्जना विचार के अन्तर्गत रख दिया गया है। 'सयोगो विप्रयोगश्च' इत्यादि कारिका वाक्यप्रदीप की है जो वैदिक अर्थों के नियामको की सङ्ग्राहिका है। यही नियामक अलङ्कार शास्त्र में कहां तक उपादेय हो सकते हैं इस ओर पण्डितराज का ध्यान नहीं गया है। 'स्वरादि' कहकर जिन नियामकों का संग्रह किया गया है वे केवल वेदो मे ही सङ्गत हो सकते हैं क्योंकि लौकिक संस्कृत में स्वर-भेद होता ही नहीं। अतः ऐसा प्रतीत होता है कि इस विषय में बिना किसी विशेष अवधान के प्राचीन परिपाटी के अनुसार निर्वचन कर दिया गया है।

रसगङ्गाधर का अन्तिम और प्रधानतम अङ्ग है—अलङ्कार प्रकरण। जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है कि अलङ्कारों की यह दीर्घ विवेचना पण्डितराज की अलङ्कारप्रियता की द्योतिका है। परन्तु इसमे लेशमात्र भी संदेह नही है कि अलङ्कारों का निरूपण रसगङ्गाधर में जितना स्वच्छ, निर्मृष्ट व परिमार्जित हो पाया है उतना अन्य किसी ग्रन्थ में नहीं हुआ है। रसगङ्गाधर स्वयं एक अपूर्ण ग्रंथ है तथापि, उसमे भी आधे से अधिक भाग में अलङ्कार ही अलङ्कार हैं। शेष में सभी विषयों का विवेचन हुआ है।

प्रस्तुत प्रबन्ध में सर्वप्रथम स्फुट सादृश्यमूलक अलङ्कारो का वर्णन है। इस श्रेणी में वे अलङ्कार दिये गये हैं जो सादृश्य प्रधान तो हैं ही, उनका वह सादृश्य स्फुट रूप से प्रतीत भी होता है। उनमें प्रथम एव सर्वव्यापी अलङ्कार है उपमा। उपमा के विशद विवेचन में पूर्ववर्ती अनेक आचार्यों के लक्षण तर्क की कसौटी पर कसे गये हैं। पर्याप्त सूक्ष्मावलोकन के पश्चात् उसका निष्कृष्ट मत सम्मुख रखा है।

अप्पयदीक्षित के मत की परिदीर्घ आलोचना करके उनके रचित लक्षण को पूर्णतः अनुचित सिद्ध कर दिया है। उस खण्डन में कुछ आधार उचित है किन्तु कुछ आधार आग्रह मात्र ही प्रतीत होते हैं। सम्प्रति उन्हें पुनरुल्लिखित करना अनावश्यक है। प्रबन्ध में देखा जा सकता है।

पण्डितराज के मत में सादृश्य और साधर्म्य में विशेष अन्तर परिलक्षित नहीं होता और सादृश्य भी उपमान व उपमेय के समान प्रतीत होने वाले धर्मों का अभेदाध्यवसान है।

उपमा या सादृश्य वास्तव में क्या है इस पर नैयायिक और मीमांसक दोनों दृष्टियों से विचार किया गया है परन्तु उन दोनों में से पण्डितराज को क्या मान्य है, इसका कोई संकेत नहीं है। उक्त मतद्वयानुसार उपमा के स्थल मे शाब्द-बोध का क्या आकार रहेगा यह भी पूर्ण निश्चितता से बताया गया है। इस प्रबन्ध मे वह विचार परिशिष्ट के अन्तर्गत है।

अलङ्कार विचार का द्वितीय भाग है अस्फुट सादृश्याधारित अलङ्कार। इन अलङ्कारों मे यद्यपि सादृश्य ही मूल रूप में विद्यमान रहता है तथापि उस सादृश्य की झटिति प्रतीति नहीं होती। उदाहरण के लिये तुल्ययोगिता, दीपक, व्यतिरेक आदि अलङ्कारों मे उपमेयोपमान का सादृश्य प्रमुख न रहकर समान पदार्थ से उनका अन्वय तथा वैधर्म्य ही प्रथमतः प्रतीत होता है।

तृतीय भेद है विरोध मूलक अलङ्कार। विरोध क्या है, यह विरोध अलङ्कार के आरम्भ मे ही कवि ने स्पष्ट कर दिया है। उसी विरोध पर आधारित जितने अलङ्कार हैं वह इस श्रेणी के अन्तर्गत रखे गये हैं। इसके अतिरिक्त इसी मे द्वि-अर्थ प्रधान अलङ्कार भी हैं।

अन्तिम भेद है—शृङ्खलामूलक एवं अन्य अलङ्कारों का। शृङ्खला का विवेचन भी अलङ्कारों के आरम्भ में दे दिया गया है। शृङ्खलामूलक अलङ्कार तीन ही हैं—कारणमाला, एकावली और सार। इसके अतिरिक्त उन सभी अन्य अलङ्कारों का निवेश हुआ है जो उक्त श्रेणियों में नहीं आते।

अलङ्कार भाग में मुख्य रूप से अलङ्कार के लक्षण और उससे सम्बन्धित अन्य मतान्तरों के खण्डनों पर बल दिया गया है। अलङ्कार भाग को देखने से स्पष्ट हो जाता है कि पण्डितराज ने सर्वाधिक प्रहार अप्पय दीक्षित पर ही किया है। प्रत्येक अलङ्कार के अन्त में दिये गये समवलोकन अंश में इस खण्डन की प्रामाणिकता-अप्रामाणिकता पर यथासंभव निजी मत भी दिया है।

प्रबन्ध का अन्तिम अध्याय है—शैली। रसगङ्गाधर पर सर्वाङ्गीण दृष्टिपात करने के पश्चात् पण्डितराज का जो व्यक्तित्व हृदय के सम्मुख चित्रित होता है उसका परिपूर्ण चित्रण ही इस अध्याय का ध्येय है। तत्सम्बन्धी निष्कर्ष सार रूप में इस प्रकार ग्रहण किया जा सकता है—

(१) पण्डितराज प्रखर नैयायिक-संस्कार युक्त विभिन्न शास्त्रों के ज्ञाता थे। न्याय मीमांसा, व्याकरण, अद्वैत, योग, सांख्य, धर्मशास्त्र, अलङ्कार शास्त्र के आद्योपान्त विज्ञाता थे।

(२) उनका मुख्य ध्येय था–विषयो का परिष्कार (Clarification), प्रमाणीकरण (Rationalization) और कुछ नवीन तत्वो को सम्मुख रखना (Contribution)। अपने ध्येय के अनुसार वह सफल भी हुए है। इसका विवेचन शैली के अन्तर्गत ही विस्तार से किया जा चुका है। सदियो से एक के ऊपर एक जमने वाली मतमतान्तरो की पर्तों को खोलकर उसका मूल तत्व प्रकाश मे ले आना इसी कविप्रवर की शक्ति का परिणाम है।

(३) लेखन शैली मे–नैयायिक भाषा का प्रयोग, उदाहरणो का बाहुल्य और षट्सूत्री कार्यक्रम का अन्त तक निरपवाद रूप से निर्वाह हुआ है।

अनेक गुणो से युक्त होते हुए भी पण्डितराज कहीं-कहीं अपनी दुर्बलताओ के वशीभूत भी हो गए हैं। खण्डन करते समय प्रासङ्गिक विषयो की मुख्य विषय से अधिक लम्बी चर्चा करना प्रमुख दोष है। इसके अतिरिक्त अनुचित सूक्ष्मताओं के आधार पर किसी मत को असिद्ध करने मे भी वे नहीं झिझकते हैं जिसके कारण अनेकत्र वे आग्रही भी हो उठे हैं।

उन्होंने विद्वानो का मत नाम निर्देश दिये बिना दिया जो उनकी विस्तृत अध्ययनशीलता के अनुरूप नहीं प्रतीत होता।

दूसरे के मत मे अपनी ओर से किया गया परिष्कार भी दुग्ध जलवत् मिश्रित सा हो गया है। कम से कम अपनी नैयायिकता के नाते उन्हें इस पार्थक्य का ध्यान रखना चाहिये था। अस्तु।

गुणों व दोषों से तो मानवमात्र आवेष्टित है। इनमें से किसी एक का बाहुल्य ही उसके 'गुणवान्' या 'दोषवान्' अभिधान में हेतु होता है। तदनुसार यह निस्सन्दिग्ध है कि रसगङ्गाधर अनेक शताब्दियों के दीर्घकाल से चले हुए अलङ्कार शास्त्र का अन्तिम ग्रन्थ होते हुए भी किसी अन्य प्रामाणिक एवं प्रसिद्ध ग्रंथ से कम महत्वपूर्ण नहीं है।

तथापि निष्कर्ष रूप मे यही कहना होगा कि अलङ्कार जगत् में रसगङ्गाधर अनेक क्षेत्रों मे नवीन तत्त्वों का प्रकाशक एक दीप्तिमान् ग्रंथ है। विषय विवेचन की सूक्ष्मता के साथ ही ग्रन्थकार की प्रौढ़ बुद्धि एव शास्त्र के विस्तृत और गहन अध्ययन का सूचक एक अद्वितीय ग्रंथ है जिस पर इस प्रकार की आलोचना करना एक दुस्साहस के समान नहीं तो अति कठिन अवश्य है।

शाब्द बोध

(१)
उत्प्रेक्षागत शाब्दबोध

उत्प्रेक्षालङ्कार के अंतर्गत एक उदाहरण दिया गया है :—

'कलिन्दजानीरभरेऽर्धमग्ना बकाः प्रकामं कृतभूरिशब्दाः ।

ध्वान्तेन वैराद्विनिगीर्यमाणाः क्रोशन्ति मन्ये शशिनः किशोराः ।।'

इसमें नैयायिक और वैयाकरणों के अनुसार शाब्द बोध पृथक्-पृथक् है । उसके कारण क्रमशः उत्प्रेक्षाओं में भी अन्तर हो जाता है ।

नैयायिकों के अनुसार अभेद सम्बंध से कलिन्दजानीरार्धमग्न और कृतभूरि-शब्द-उभय विशेषणों से विशिष्ट बकसमूहरूप विषय में ध्वान्तकर्तृक, वैरहेतुक, निगरणकर्माभिन्न रूप में उत्प्रेक्षित जो शशिकिशोर उनके तादात्म्य की उपेक्षा पर आधारित क्रोशनकर्तृत्वरूप धर्म की उत्प्रेक्षा की गयी है । अतः यहाँ धर्म्युत्प्रेक्षा-मूलक-धर्मोत्प्रेक्षा है ।

इनमें अभेदसम्बन्ध से की गयी धर्म्युत्प्रेक्षा में साधारण धर्म तथा सम्बंधान्तर से की गयी धर्मोत्प्रेक्षा में विषयगत तत्समानाधिकरण धर्म यदि उत्प्रेक्षा का निमित्त माना जाय तो क्रोशनकर्तृत्वरूपधर्मोत्प्रेक्षा में तत्समानाधिकरण निगरणकर्मत्वरूप धर्म की विषयनिष्ठता सिद्ध करने के लिये अनुवाद्य रूप से शशिकिशोराभेद की उत्प्रेक्षा आवश्यक है जो वैरत्वरूप अनुक्त धर्म पर आधारित है । जिस प्रकार विशिष्टोपमा में विशेषणों के विशेषणों का औपम्य आर्थ होता है वैसे ही इस उत्प्रेक्षा में भी विशेषणों के विशेषणों का अभेद आर्थ होता है । अतएव बकरूप विषय के विशेषण अर्धमज्जन और उसके विशेषण यमुनाजल का मुख्य उत्प्रेक्षा के विषयी—शशिकिशोरों के विशेषण-निगरण और उसके विशेषण—ध्वान्त के साथ अभेद आर्थ है । और इस प्रकार ध्वान्तकर्तृक निगरण सिद्ध होता है जिससे मुख्य उत्प्रेक्षा की स्थिति बनती है । क्रोशन और शब्द में भी बिम्बप्रतिबिम्बभाव होने के कारण अभेद है । अनेन प्रकारेण बोध का आकार यह होता है—'कलिन्दजानीरार्धमग्नकृतभूरिशब्दोभयाभिन्ना बका ध्वान्तनिगीर्यमाणशशिकिशोरोभयाभिन्नाः क्रोशनक्रियानुकूलव्यापारवन्त इव ।'

वैयाकरणों के अनुसार अभेद सम्बन्ध से क्रोशन क्रिया की उत्प्रेक्षा है । अर्थात् शब्दनक्रिया में क्रोशनक्रिया का अभेदेन सम्भावन होने पर यहाँ धर्म्युत्प्रेक्षा है । बककर्ताओं में शब्दन रूप क्रिया का अध्यवसान हो जाने के कारण शब्दन रूप विषय

प्रतीयमान है, वाच्य नहीं। उस शब्दन मे क्रोशन क्रिया की सम्भावना की गई है। क्रोशन क्रिया के प्रति तादृश बक विशेषण हैं और तादृश बकों मे अभेद सम्बन्ध से तादृश शशिकिशोर न कि शशिकिशोर साक्षात् क्रोशन क्रिया के विशेषण हैं। विषय और विषयी के विशेषणों का पूर्ववत् बिम्बप्रतिबिम्बभाव होने से अभेद बोध होता है।

(२)

उत्प्रेक्षागत विषय–विषयी का सम्बन्ध

उत्प्रेक्षा के अन्तर्गत किस सम्बन्ध से उत्प्रेक्षा होती है इस पर भी विशद विचार हुआ है। वह विचार प्राचीन और अर्वाचीन मतो को सम्मुख रखकर आलोचनात्मक रीति से किया गया है। क्रम की दृष्टि से सर्वप्रथम प्राचीन मत का प्रतिपादन तथा उसका खण्डन, तत्पश्चात् अर्वाचीन का प्रतिपादन और उसका खण्डन तथा अन्त में निष्कृष्ट मत दिया गया है। वह सब इस प्रकार है :—

प्राचीन मत :—

विषय मे विषयी की उत्प्रेक्षा सदा अभेद सम्बन्ध से ही होती है, भेद सम्बन्ध से नहीं। अतः 'मुखं चन्द्रं मन्ये' इस धर्म्युत्प्रेक्षा में चन्द्र का मुख में अभेद है और 'अस्यां मुनीनामपि मोहमूहे–' इत्यादि पद्य मे, धर्मोत्प्रेक्षा मे मुनि सम्बन्धी दूसरे धर्म रूप विषय में दमयन्तीविषयक मोहरूप विषयी का अभेद है। इस उदाहरण में विषय का कथन नहीं हुआ है। परन्तु उत्प्रेक्षा में साध्यवसान अवश्य रहता है अतः उसकी सङ्गति हो जाती है। निमित्त धर्म है तत्तदङ्गों में मन की आसक्ति। (इसी प्रकार अन्य अनेक उदाहरणों में भी, जो विभिन्न उत्प्रेक्षाओं के हैं, अभेद सम्बन्ध से ही सम्भावना (उत्प्रेक्षण) की स्थिति दिखाई गयी है।

प्राचीनमत का खण्डन :—

सर्वत्र अभेद सम्बन्ध से ही उत्प्रेक्षण होता है–इसमें कोई प्रमाण नहीं है, भेद सम्बन्ध से भी उत्प्रेक्षा के उदाहरण दृष्टिगोचर होते हैं। 'अस्यां मुनीनामपि मोहमूहे–' इत्यादि में ही मुनिसम्बन्धी धर्मविशेष में मोह का अभेद सम्बन्ध से सम्भावन नहीं हुआ है अपितु समवाय सम्बन्ध से हुआ है। जब भेद सम्बन्ध से उत्प्रेक्षण होने में कोई बाधा नहीं है तब अभेद से ही उत्प्रेक्षा की कल्पना करना निरर्थक है। यह कोई वेद के द्वारा दी गयी आज्ञा नहीं है कि जो इसे स्वीकार करना आवश्यक हो। लक्षण बनाना तो मनुष्य के ही अधीन है। (इसके पश्चात् व्याकरण के आधार पर प्राचीन मत में उद्धृत अन्य उदाहरणों का दीर्घ खण्डन कर यह प्रदर्शित किया गया है कि उनमें भी अभेद सम्बन्ध से नहीं अपितु भेद सम्बन्ध से ही उत्प्रेक्षा की गयी है) अतएव, प्राचीन मत का अनुसरण करते हुए अप्पयदीक्षित का यह कथन कि

धर्मस्वरूपोत्प्रेक्षा के हेतूत्प्रेक्षा फलोत्प्रेक्षा और स्वरूपोत्प्रेक्षा में भी तादात्म्य से ही सम्भावन होता है, अनुचित सिद्ध हो जाता है।

अर्वाचीन मत :—

इस मत को स्पष्ट करने के लिये पण्डितराज ने अलङ्कारसर्वस्वकार रुय्यक का मत दिया है तत्पश्चात् उसका खण्डन किया है। वह इस प्रकार है—

अलङ्कारसर्वस्वकार का मत :—

विषय का निगरण हो जाने से जो विषयी का विषय के साथ अभेद प्रतीत होता है वही है अध्यवसाय। यह अध्यवसाय दो प्रकार का होता है—सिद्ध और साध्य।

उक्त साध्यवसाय के दो रूपों में से द्वितीय रूप मे व्यापार मुख्य रहता है अर्थात् निगरण करने की क्रिया प्रधान होती है और यही उत्प्रेक्षा का स्थल है।

इसका तात्पर्य यह है कि सिद्ध अध्यवसाय वहाँ होता है जहाँ वर्ण्यविषय विषयी के द्वारा निगीर्ण हो चुकता है, और साध्य अध्यवसाय वहाँ रहता है जहाँ विषय का निगरण हो रहा होता है (क्रियमाण रहता है।) सिद्ध अध्यवसाय में विषयी प्रधान रहता है और साध्याध्यवसाय मे व्यापार का अर्थात् अध्यवसान (निगरण) की क्रिया का प्राधान्य रहता है। उदाहरण के लिये अतिशयोक्ति मे सिद्ध अध्यवसाय रहता है तथा विषयी का प्राधान्य रहता है और उत्प्रेक्षा मे व्यापार प्रधान रहता है। यह अभेदगर्भित उत्प्रेक्षा का लक्षण है।

सैषा स्थली यत्र विचिन्वता त्वां
भ्रष्टं मया नूपुरमेकमुर्व्याम्।
अदृश्यत त्वच्चरणारविन्द-
विश्लेषदुःखादिव बद्धमौनम्॥

इसमें नूपुर में रहने वाली मौनिता (मौनी रहना) का तात्पर्य है शब्दहीनता अतः इस निःशब्दता के साथ मौनिता का तादात्म्य हो गया है यही तादात्म्य (अध्यवसाय) उत्प्रेक्षा का निमित्त (नींव) है क्योंकि तभी यहाँ पर नूपुर मे रहने वाले मौन के कारण के रूप मे दुःख रूप गुण की उत्प्रेक्षा (सम्भावना) की गयी है।

इसी प्रकार—

'लिम्पतीव तमोऽङ्गानि वर्षतीवाञ्जनं नभः' इत्यादि में लेपनक्रिया के कर्तृत्व की सम्भावना तमस् मे की गयी है जिसका निमित्त है व्यापन आदि। व्यापन का अर्थ है व्याप्त होना और फैलाना। इन दोनो मे अभेदाध्यवसान होने से ही यहाँ उत्प्रेक्षा की स्थिति है।

अर्वाचीन मत का खण्डन

रुय्यक का यह कहना कि उत्प्रेक्षा सदा अभेदगर्भित ही होती है, ठीक नही है। अभेदगर्भित उत्प्रेक्षा के लक्षण के पश्चात् जो दो उदाहरण दिये है वह भी वास्तव मे अभेदगर्भित उत्प्रेक्षा के उदाहरण नहीं है क्योंकि जिस अश मे अभेद है उस अश मे उत्प्रेक्षा नही है और जिस अंश मे उत्प्रेक्षा है उस अंश मे अभेद नही है। इसके लिये तर्क इस प्रकार है—

(१) 'सैषा स्थली यत्र-' इत्यादि मे उत्प्रेक्षा का अश है दुःख रूप गुण की हेतु के रूप मे सम्भावना। इस अश में कहीं अभेदाध्यवसाय नही है। अध्यवसाय है मौन अश मे क्योंकि वहाँ निःशब्दत्व और मौनिता में अभेद हो गया है। परन्तु वह अध्यवसाय साध्य नही है अपितु सिद्ध है। जहाँ अध्यवसाय सिद्ध होता है वहाँ अतिशयोक्ति होती है उत्प्रेक्षा नहीं।

यदि मौनांश मे अध्यवसाय को साध्य भी मानें तो भी वह उत्प्रेक्षा अलङ्कार नहीं कहला सकता क्योंकि वह उत्प्रेक्षा का निमित्त है उत्प्रेक्षा नहीं।

इसी प्रकार-'लिम्पतीव' इत्यादि मे भी लेपनांश में ही अध्यवसाय है, उत्प्रेक्षांश में नहीं, और वह अध्यवसाय भी सिद्ध है साध्य नहीं है अतः अतिशयोक्ति का ही विषय है। तथा पूर्वोक्त पद्य के समान यहाँ भी यह अध्यवसाय लेपनकर्तृत्व की उत्प्रेक्षा का निमित्त ही है।

(२) दूसरे रुय्यक ने यह स्वयं ही कहा है कि यदि व्यापनादि को लेकर ही यहाँ उत्प्रेक्षा मानी जाय तो उसका निमित्त कोई और खोजना पड़ेगा। अतएव निमित्तांश को लेकर ही उत्प्रेक्षा का व्यपदेश कर दिया जाय यह सम्भव नही।

(३) निमित्तांश में अध्यवसाय को लेकर उत्प्रेक्षा का अभेद–अध्यवसानमूलक-रूप में व्यपदेश इसलिये भी नहीं किया जा सकता क्योंकि निमित्त तो अन्य भी अनेक अलङ्कारो मे अध्यवसित रहता है। जैसे 'मुखं चन्द्र इव आह्लादयति' इस उपमा में निमित्त है आह्लादकता। वह आह्लादकता चन्द्र और मुख मे वस्तुतः भिन्न-भिन्न है परन्तु उन दोनों का एकाध्यवसान कर दिया जाता है और तब उसको साधारणधर्म के रूप मे मानकर उपमा की स्थिति बनती है।

(४) धर्मिस्वरूपोत्प्रेक्षा में, 'नूनं मुखं चन्द्रः' इत्यादि मे भी अध्यवसान नहीं है क्योंकि यहाँ मुख और चन्द्र दोनों का पृथक्-पृथक् उपादान हुआ है। पृथक् उपादान होने से यहाँ निगरण ही नहीं है और निगरण के अभाव में अध्यवसान नहीं कहा जा सकता। इसके उत्तरमें यदि यह कहा जाय कि 'जहाँ अध्यवसाय सिद्ध होता है वहाँ विषय विषयी के उदर में चला जाता है अर्थात् पृथक् रूप से उपात्त नहीं होता परन्तु जहाँ अध्यवसाय साध्य रहता है वहाँ विषय का स्वतन्त्र रूप से कथन होता है' अतः नूनं मुखं

चन्द्रः में साध्याध्यवसान होने से अध्यवसायमूलकता है ही,' तो इसका उत्तर यह है कि वास्तव में साध्य अध्यवसान को ही स्वीकार करने में कोई प्रमाण नहीं है तो उस पर आधारित उत्प्रेक्षा को कैसे माना जाय ।

यदि साध्याध्यवसान को मान भी लें तो रूपकादि में भी अध्यवसानगर्भत्व की आपत्ति होगी क्योंकि उसमे भी विषय-विषयी दोनों का उपादान रहने से वहाँ भी साध्याध्यवसान माना ही जा सकता है ।

इसके अतिरिक्त अध्यवसान लक्षणा का एक प्रकार है । उत्प्रेक्षा मे विधेयांश मे (सम्भावना के अंश में) लक्षणा नहीं होती अपितु आहार्य (कल्पित) बोध होता है । अर्थात् उपमेय की उपमान के रूप में सम्भावना इसलिये नहीं करनी पड़ती कि मुख्यार्थ का बाध होता है जिससे लक्षणा प्रवृत्त होती है । अपितु वह सम्भावना कल्पना के आधार पर होती है ।

इस प्रकार प्राचीन और अर्वाचीन दोनों के ही मत–अभेद मात्र से उत्प्रेक्षा होती है–अनुचित सिद्ध होते हैं ।

निष्कृष्ट मत

उपर्युक्त मतों की आलोचना करने से सिद्धान्त यही स्थिर होता है कि धर्म्युत्प्रेक्षा में तो सर्वत्र अभेद सम्बन्ध से ही उत्प्रेक्षा होती है–इसमें कोई विवाद है ही नहीं ।

'सैषा स्थली यत्र–' इत्यादि हेतूत्प्रेक्षा में (गुणस्वरूप हेतूत्प्रेक्षा) पञ्चमी विभक्ति का अर्थ होता है हेतु और अभेद होता है विभक्त्यर्थ और प्रकृत्यर्थ का संसर्ग, अतः इस प्रकार पञ्चमी का अर्थ होता है–विश्लेषदु:खाभिन्नहेतु । तथा इव पद से, प्रयोज्यता संसर्ग से उसकी सम्भावना का बोध होता है । (इस पक्ष में बोध का आकार होगा– 'विश्लेषदु:खाभिन्नो यो हेतुस्तत्प्रयोज्यमिव' मौनं नूपुरस्य ।)

जो लोग पञ्चमी का अर्थ प्रयोज्यत्व तथा प्रकृति-प्रत्ययार्थ का सम्बन्ध निरूपितत्व तथा आश्रयता संसर्ग से उत्प्रेक्षण मानते हैं उनके अनुसार बोध का आकार होगा–'विश्लेषदु:खनिरूपित–प्रयोज्यताश्रयमौनसम्भावनाविषयो नूपुरः'–यह ।

दोनों ही पक्षों में पञ्चमी का अर्थ ही उत्प्रेक्षा है क्योंकि उसी के साथ इवादि पदों के अर्थ का अन्वय होता है ।

इसमे निमित्त है–उत्प्रेक्ष्यतावच्छेदक सम्बन्ध से उत्प्रेक्ष्य का समानाधिकरण धर्म निश्चलत्व जो अतिशयोक्ति के द्वारा मौन से अभिन्नत्वेन अध्यवसित हो गया है । विषय है बद्ध मौन । मौन के द्वारा बद्धमौन की प्रयोज्यता यहाँ सम्भावित है । इस प्रकार जहाँ धर्म उत्प्रेक्षा के द्वारा प्रयोज्य होता है वहाँ सर्वत्र ही धर्म को माध्यम बनाकर ही पञ्चमी के अर्थ का अन्वय होता है । (जैसे यहाँ पहले निःशब्दत्व से अभिन्नत्वेन अध्यवसित मौन की सम्भावना की गयी है तब इस प्रकार के धर्मी में

(बद्धमौन नूपुर मे) पञ्चमी के अर्थ–हेतु का मौन द्वारा अन्वय होता है। अर्थात् उत्प्रेक्ष्य हेतु का पहले धर्म मे अन्वय होता है, तब उस धर्म का धर्मी के साथ अन्वय होता है।

जहाँ धर्म ही किसी अन्य धर्म से अभिन्नत्वेन अध्यवसित होकर विषय बन जाता है वहाँ विषयतावच्छेदक धर्म उस उत्प्रेक्षा का निमित्त होता है। जैसे 'सैषा स्थली-' मे ही 'विश्लेषदु खादिव मौनमस्य' ऐसा पाठ कर देने पर मौनत्व निमित्त हो जायेगा। इसी प्रकार तृतीया विभक्तिक स्थलों मे भी समझना चाहिये।

फलोत्प्रेक्षा मे 'तुमुन्' आदि प्रत्ययो का अर्थ होता है फल और हेतूत्प्रेक्षा के ही समान ही यहाँ भी प्रकृत्यर्थ और प्रत्ययार्थ का सम्बन्ध होता है अभेद। वह फल साधनता सम्बन्ध से अन्वित होता है अतः उसी सम्बन्ध से उत्प्रेक्षा (सम्भावना) की जाती है और जिसमें यह सम्भावना की जाती है उसमे विशेषणरूप से प्रतीत होने वाला धर्म ही उसका निमित्त होता है। वह धर्म धर्मी रूप विषय में अभेदेन अध्यवसित धर्म होता है अथवा तादृश्य धर्म रूप विषय में विशेषणीभूत कोई अन्य धर्म–यह पृथक् विषय है।

एवं च, जहाँ समास अथवा प्रत्यय से विषय गौण हो जाता है और उसके कारण हेतु और फल का उसमे साक्षात् अन्वय नहीं होता वहाँ प्रधान विषय में ही तादृश विशेषण को द्वार करके प्रयोज्यत्व और प्रयोजकत्व ससर्गों से क्रमशः हेतु और फल की उत्प्रेक्षा समझनी चाहिये। यद्यपि विशेषण में भी यथाकथञ्चित् हेतु व फल का अन्वय होने से विशेषण का विषयत्व भी उचित है (अर्थात् विशेषण को भी विषय कहा जा सकता है तथापि विषय और विषयी में उद्देश्य-विधेय भाव के प्रतीत होने के कारण उक्त मार्ग अपनाया गया है। यदि वह उद्देश्यविधेय-भाव स्वीकार न करें तो प्राचीन आचार्यों की प्रणाली ही (अभेद सम्बन्ध से उत्प्रेक्षा मानना) ठीक है।

(प्राचीनों के अनुसार अभेद सम्बन्ध से उत्प्रेक्षा मानने पर विषय-विषयी का उद्देश्य–विधेयभाव तो समाप्त होगा ही, दूसरा भी दोष आयेगा कि) हेतूत्प्रेक्षा और फलोत्प्रेक्षा में जिस कार्य का हेतु और जिस कारण का फल उत्प्रेक्षित होता है उन कार्य और कारण रूप विषयों के निगीर्ण होने पर ही उत्प्रेक्षण होने से स्वरूपोत्प्रेक्षा मे ही उन दोनो उत्प्रेक्षाओ का भी अन्तर्भाव हो जायेगा और इस प्रकार उनकी ही विभागव्यवस्था उच्छिन्न हो जायेगी।

इस पर यदि यह कहा जाय कि स्वरूप और तादात्म्य से अविशिष्ट होने पर भी हेतु और फल को विशेषण न बनाने वाली शुद्धस्वरूपोत्प्रेक्षा का हेतु और फल से विशिष्ट स्वरूपोत्प्रेक्षा से हेतुफलकृत ही भेद है तो भी ठीक नहीं है क्योंकि 'तनय-मैनाकगवेषणलम्बीकृतजलधिजठरप्रविष्टहिमगिरिभुजायमानाया भगवत्या भागीरथ्याः सखी' इस स्वरूपोत्प्रेक्षा में तनयमैनाक–गवेषणरूप फल की उत्प्रेक्ष्य कोटि में गणना

होने से फलोत्प्रेक्षा का ही व्यपदेश होने लगेगा। उत्प्रेक्ष्य-भुजा का गवेषण रूप फल साक्षात् विशेषण नही हैं अतः फलोत्प्रेक्षा नहीं होगी यह भी नही कह सकते क्योंकि साक्षात् विशेषण होना उत्प्रेक्षा का प्रयोजक नही है।

सारांश यह है कि प्राचीनो के अनुसार यदि सर्वत्र अभेद सम्बन्ध से ही उत्प्रेक्षा मानी जाय ता एक तो स्वरूप, हेतु, फल इत्यादि उत्प्रेक्षा के भेद सम्भव नही होते दूसरे विषय-विषयी का उद्देश्य-विधेय भाव भी सिद्ध नही होता। अतः सिद्धान्त यही स्थिर होता है कि धर्म्युत्प्रेक्षा मे अभेद सम्बन्ध और धर्मोत्प्रेक्षा मे भेद सम्बन्ध से उत्प्रेक्षा होती है।

(३)

उदाहरणस्थलीय-शाब्दबोध

अमितगुणोऽपि पदार्थो दोषेणैकेन निन्दितो भवति।
निखिलरसायनराजो गन्धेनोग्रेण लशुन इव ।।

इस पद्य में वैयाकरणो के अनुसार शाब्द बोध का आकार इस प्रकार रहता है—

'अमितगुणपदार्थकर्तृकमेकदोषहेतुकं निन्दाविषयीभवनं निखिलरसायनराजलशुनकर्तृकोग्रगन्धहेतुकनिन्दाविषयीभवनावयवकमिति।'

तथा नैयायिकों के अनुसार बोध का आकार यह होता है—'उग्रगन्धहेतुकनिन्दाविषयीभवनाश्रयताहशलशुनावयवकस्ताहशपदार्थ एकदोषहेतुकनिन्दाविषयीभवनाश्रयः।' इसमे भी, विशेष वाक्यार्थ में (लशुनवाक्यार्थ में) उग्रगन्ध रूप हेतु के अन्वय के लिये 'निन्दितो भवति' (निन्दन) रूप क्रिया की दो बार आवृत्ति होती है। यदि एक ही बार क्रिया का अन्वय हो—रसायनराजलशुनावयवक-अमितगुणपदार्थकर्तृकम् एकदोषहेतुक निन्दाविषयीभवनम्' तो एकदेश (अवयव) घटित वाक्य मे क्रिया का अन्वय न होने से पूर्ण वाक्यार्थ की उपपत्ति नहीं होगी।

उपकारमेव कुरुते विपद्गतः सद्गुणो नितराम्।
मूर्च्छा गतो मृतो वा निदर्शनं पारदोऽत्र रसः ।।

इसमें 'विपद्गताभिन्न सद्गुण-उपकारानुकूलवृत्तिमानिति' यह प्रथमार्ध का अर्थ है तथा 'अत्रास्मिन्नर्थे मूर्च्छा गतो मृतो वा पारदो निदर्शनमेकदेशः' यह उत्तरार्ध का अर्थ है। प्रथमार्धार्थ प्रधान तथा उत्तरार्धार्थ अप्रधान है—ऐसा नैयायिकों का मत है।

वैयाकरणों के अनुसार 'विपद्गताभिन्नसद्गुणकर्तृकोपकारक्रिया' यह पूर्व वाक्यार्थ है और 'मूर्च्छा गतो मृतो वा पारदः निदर्शनम्'—यह उत्तर वाक्यार्थ उसी का एकदेश (अवयव) रूप है। क्योंकि प्रधान अवयव के समान ही अप्रधान अवयव भी

विशिष्टार्थ का अवयव हो जाता है। जैसे 'घटमानय' इस वाक्य मे अवयव है घट उसी प्रधान घट मे समाविष्ट होने के कारण अप्रधान नील गुण भी अवयव हो जाता है।

(४)

सादृश्य-विचार

(उपमास्थलीय-शाब्दबोध)

सादृश्य के सम्बन्ध मे मीमासक और नैयायिक दो मत है। मीमासको के अनुसार सादृश्य सप्त पदार्थों से अतिरिक्त एक अन्य पदार्थ है और नैयायिको के अनुसार वह कोई अतिरिक्त पदार्थ नही है अपितु दो वस्तुओ में रहने वाला परस्पर समान धर्म ही सादृश्य है। उदाहरण के लिये 'मुख चन्द्र.' इसमे मुख और चन्द्र इन दोनों मे रहने वाले सौन्दर्य आदि समान धर्म को ही सादृश्य नाम से अभिहित किया जायेगा। परन्तु मीमांसको की दृष्टि मे वह गुणी मे रहने वाला गुण नही अपितु एक अतिरिक्त पदार्थ होगा।

सादृश्य बोध का विचार इन दोनो दृष्टियो से प्राप्त है। पहले मीमासको के अनुसार उसे पृथक् पदार्थ मानकर विचार किया गया है तत्पश्चात् नैयायिको के अनुसार विचार किया गया है। शाब्द बोध का आकार भिन्न-भिन्न स्थलो में (शब्दानुपूर्वी में) भिन्न-भिन्न होगा। वह निम्नलिखित है—

मीमासकों के अनुसार शाब्दबोध

(१) 'अरविन्दसुन्दरम्'-इस प्रकार का प्रयोग होने पर 'अरविन्दवत् सुन्दरम्' यह प्रतीति होती है परन्तु सादृश्यवाचक किसी शब्द के श्रवणाभाव के कारण सादृश्य अर्थ में उसकी लक्षणा मानी जाती है। (अर्थात् अरविन्द पद के वाच्यार्थ के साथ सुन्दर पद के वाच्यार्थ का अन्वय नहीं हो सकता और अन्वयानुपपत्ति से ही लक्षणा की प्रवृत्ति होती है और उससे लक्ष्यार्थ का बोध होता है—अरविन्द निरूपित सादृश्य प्रयोजक-यह।) यह लक्ष्यार्थ सुन्दर पद के अर्थ के एक अंश-सौन्दर्य के साथ अभिन्नतया अन्वित होता है। अभिन्न होने के कारण जो अरविन्द निरूपित सादृश्य का प्रयोजक है वही सौन्दर्य है, अर्थात् सौन्दर्य मे और सादृश्य प्रयोजक मे अभेद है, यह बोध होता है। ऐसे सौन्दर्य से युक्त जो है वही है अरविन्दसुन्दर। अर्थात् बोध का आकार नहीं—अरविन्दनिरूपितसादृश्यप्रयोजकाभिन्नसौन्दर्यवान्।

निपातों से अतिरिक्त शब्दो के अर्थों में (प्रातिपदिकार्थों में) भेदेन अन्वय अनुपपन्न होने के कारण यहाँ अभेद सम्बन्ध मानना पड़ता है।

एकदेशान्वय (सौन्दर्य के साथ अन्वय) 'देवदत्तस्य नप्ता' इत्यादि वाक्यों के समान ही यहाँ समझना चाहिये।

अथवा अरविन्द पद ही सम्पूर्ण अर्थ का लक्षणा से बोध करवाता है व सुन्दर पद को केवल तात्पर्य ग्राहक ही मानना चाहिये ।

वैयाकरणों का यह मत है कि अखण्ड पद की अखण्ड पदार्थ में शक्ति होती है । तदनुसार 'अरविन्दसुन्दरम्' इस सम्पूर्ण समस्त पद की अखण्ड रूप से अरविन्द-निरूपितसादृश्यप्रयोजकाभिन्न सौन्दर्यवान् इस अर्थ में शक्ति है । इसमें अरविन्द और सुन्दर आदि शब्द खण्ड नहीं है ।

(२) 'अरविन्दमिव सुन्दरम्'—इसमें 'इव' शब्द के वाच्यार्थ–सादृश्य–मे अरविन्द का निरूपितत्व सम्बन्ध से अन्वय होता है और निरूपितत्व सम्बन्ध से अरविन्द के साथ अन्वित सादृश्य का प्रयोजकता सम्बन्ध से सौन्दर्य मे अन्वय होता है । इस प्रकार बोध का आकार यह बनता है— 'अरविन्दनिरूपितसादृश्यप्रयोजकाभिन्न-सौन्दर्यवदभिन्नम् ।'

(३) 'अरविन्दमिव'— इसमें 'अरविन्दनिरूपित सादृश्यवान्' यह बोध होता है ।

निपातजन्य उपस्थिति से होने वाली जो प्रकारता, तन्निरूपित जो विशेष्यता अथवा निपातजन्य उपस्थिति से होने वाली जो विशेष्यता (निपातजन्योपस्थितिप्रयोज्यप्रकारतानिरूपितविशेष्यता अथवा निपातजन्योपस्थितिप्रयोज्यविशेष्यता) इन दोनों से भिन्न जो विशेष्यता उस विशेष्यता के सम्बन्ध से (संसर्ग से) जो नामार्थप्रकारक बोध होता है, तादृश बोध में ही विशेष्यता का विभक्ति से उपस्थित होना कारण होता है अतः नञर्थ के समान ही इवार्थ की भी भेद संसर्गेण विशेष्यता या विशेषणता होने में कोई दोष नहीं है । अर्थात् 'अरविन्दमिव' तथा 'अरविन्दमिव सुन्दरम्' में जो विशेष्यताएँ हैं वे उपर्युक्त दोनों विशेष्यताओं से भिन्न नहीं है, वही हैं । अतः जिस प्रकार नञर्थ नामार्थ का विशेषण या विशेष्य बन जाता है उसी प्रकार यहाँ पर इवार्थ–सादृश्य–का भी भेद संसर्ग से नामार्थ के प्रति विशेष्यता अथवा विशेषणतया बोध होने में कोई दोष नहीं है ।

(४) 'अरविन्दमिव भाति'—इसमें अरविन्दनिरूपितसादृश्य का प्रकारता-सम्बन्धेन धात्वर्थ में अन्वय होने से अरविन्दसादृश्यप्रकारकधी–(बोध)–विशेष्यक बोध होता है । अर्थात् अरविन्द निरूपितसादृश्यप्रकारक–भानविशेष्यक बोध होता है । अरविन्दसादृश्य है विशेषण और भान है विशेष्य ।

(५) 'सौन्दर्येणारविन्दमिव भाति'—ऐसा प्रयोग करने पर तृतीया विभक्ति के प्रयोज्यत्व (कारणत्व) रूप अर्थ का धातु के 'भान' रूप अर्थ के साथ अथवा इव के सादृश्यरूप अर्थ के साथ अन्वय होगा । अतः सौन्दर्यप्रयोज्यारविन्दनिरूपितसादृश्य-प्रकारक धीविशेष्यक बोध होता है ।

(६) 'अरविन्दतुल्यो भाति'—इसमें किस प्रकार बोध होगा यह एक समस्या है क्योंकि तुल्य पद का अर्थ निपातार्थ से भिन्न है अर्थात् नामार्थ है, और नामार्थ का

धात्वर्थ मे भेदेन अन्वय हो नही सकता। इसके उत्तर में यदि यह कहा जाय कि 'अरविन्दतुल्य' यह सम्पूर्ण समस्त पद कर्ता के चरणादि का विशेषण है अतः वह उद्देश्यतावच्छेदक है, भाति से केवल भानमात्र का विधान होता है और इस प्रकार 'विधेयेन भाति' इसके साथ तुल्य का अन्वय आवश्यक नहीं है तो उचित नहीं है, क्योंकि 'अरविन्दतुल्यो भाति' ऐसा प्रयोग किये जाने पर तुल्यता से अनन्वित भानमात्र में तात्पर्य की प्रतीति नही होती। इसलिये अभेदान्वय के अनुरोध से तुल्य पद की तुल्यत्वप्रकारक तुल्य विशेष्यक इसमे से तुल्यत्वप्रकारक मात्र मे लक्षणा माननी पड़ती है, और यह लक्ष्यार्थ अभेद सम्बन्ध से भानरूप धात्वर्थ मे अन्वित होता है। इस प्रकार 'अरविन्दनिरूपित-तुल्यत्वप्रकारकाभिन्न भानम्' यह शाब्द बोध होता है।

क्रिया विशेषण होने के कारण-'अरविन्दतुल्य' पद की नपुंसकता भी नहीं कहनी चाहिये क्योंकि व्याकरण सिद्धानुवादक है (लोक में जो व्यवहार होता है उसी को कहने वाला है) अतएव क्रिया और अव्यय के विशेषणों की नपुंसकता का नियम 'स्तोक पचति' इत्यादि प्रसिद्ध स्थलों में ही लागू होता है यहाँ नहीं।

नैयायिकों के अनुसार तो धातु की ही लक्षणा से सम्पूर्ण बोध हो जाता है, 'अरविन्दतुल्यम्' पद केवल तात्पर्यग्राहक है।

(७) 'अरविन्दवत् सुन्दरम्'—इसमें 'वत्' की 'तेन तुल्यम्'—इस विहित सादृश्यवदर्थक सादृश्य में लक्षणा है। उस सादृश्य का सुन्दर पद के अर्थ के एक देश सौन्दर्य के साथ अन्वय होने से 'अरविन्दमिव सुन्दरम्' यह अर्थ प्रतीत होता है। अर्थात् तादृशसादृश्य का पदार्थान्तरैकदेश सौन्दर्य से प्रयोज्य-प्रयोजक भाव सम्बन्ध से अन्वय होने के कारण 'अरविन्दमिव सुन्दरम्' इसी के समान अरविन्दनिरूपित सादृश्यप्रयोजक-सौन्दर्यवदभिन्नम् (मुखम्) यह बोध होता है।

अन्तर यही है कि अरविन्दमिव सुन्दरम् में सादृश्य का वाचक इव होने से उपमा श्रौती है और अरविन्दवत्सुन्दरम् में सादृश्य का लक्षक पद-वत्-का प्रयोग होने से वह आर्थी है।

(८) अरविन्दवन्मुखम्—इससे 'अरविन्दनिरूपितसादृश्यवदभिन्न' एतदाकारक बोध होता है।

(९) 'अरविन्दवत्सौन्दर्यमस्य'—इसमें अरविन्द शब्द की अरविन्दसौन्दर्य में लक्षणा होती है जिससे 'अरविन्दसौन्दर्यनिरूपितसादृश्याधिकरणमेतत्सम्बन्धिसौन्दर्यम् इस प्रकार मुख और अरविन्द के सौन्दर्यों में शाब्द सादृश्य-बोध होता है। उन दोनों मे अभेदाध्यवसाय होने के कारण बाद में मुख और अरविन्द में भी अभिन्नधर्ममूल सादृश्य-प्रतीति होती है।

इसमें साधारण धर्म है सौन्दर्य, उपमेय है 'यह' (अस्य पद का अर्थ) तथा उपमान है अरविन्द। इन सबका सम्बन्ध स्पष्ट रूप से ही प्रतीत होता है।

(१०) 'अरविन्देन तुल्यम्'—यहाँ तृतीया का अर्थ है निरूपितत्व। अर्थात् 'अरविन्देन' पद का वाच्यार्थ है 'अरविन्दनिरूपित' (अरविन्द है नामार्थ और निरूपितत्व है विभक्त्यर्थ) इसका सादृश्य मे अन्वय होता है जिससे अरविन्दनिरूपितसादृश्याश्रयाभिन्न–यह बोध होता है।

(११) 'सौन्दर्येणारविन्देन तुल्यम्–' ऐसा कर देने पर 'अरविन्दनिरूपित-सौन्दर्यप्रयोज्यसादृश्यवदभिन्नम्' इस आकार से बोध होगा क्योंकि तृतीया का अर्थ होगा प्रयोज्यत्व।

(१२) 'अरविन्दमाननञ्च समम्'—इसमे पहले शब्दतः 'सादृश्यवदभिन्नम्' यह बोध होने पर फिर मानसी अथवा वैयञ्जनिक प्रतीति होती है परस्परनिरूपित सादृश्य की अथवा प्रसिद्ध निरूपित सादृश्य की। तदनन्तर किसी एक के सादृश्य मे विनिगमक न होने से परस्पर सादृश्य की अर्थात् कमल मे मुख के सादृश्य की और मुख में कमल के सादृश्य की प्रतीति व्यञ्जना से या मानसी प्रतीति होती है। अथवा मुख का अरविन्दप्रयोज्यसादृश्य प्रसिद्ध है। अतः इस प्रसिद्धि को विनिगमक मानकर अरविन्द के सादृश्य की मुख मे प्रतीति होती है।

जहाँ साधारण धर्म बिम्बप्रतिबिम्बभावापन्न हो, जैसे—

'कोमलातपशोणाभ्रसन्ध्याकालसहोदर ।
कुङ्कुमालेपनो याति काषायवसनो यतिः ।।'

इत्यादि में, वहाँ 'कुङ्कुमालेपनादि से विशिष्ट यति कोमलातपादिविशिष्ट-सन्ध्याकालसदृश से अभिन्न' यह अभिधा शक्ति से बोध होता है। उसके पश्चात् सादृश्य प्रयोजक धर्म की आकांक्षा होने पर श्रुत कोमल आतप आदि उपमानों और उपमेयों के विशेषणों का सादृश्यमूल अध्यवसान होने से साधारणत्व की निष्पत्ति होती है।

इसी पद्य के उत्तरार्ध में यदि 'कुङ्कुमालेपकाषायवसनाभ्यामयं यतिः' यह पाठ कर दिया जाय तो कुङ्कुम व आलेप के साधारण होने पर भी साधारणत्व के ज्ञान के जनन के द्वारा (साधारणत्वज्ञानजनन द्वारा) कल्पनीयसादृश्यनिष्पत्ति का प्रयोजकत्व होने के कारण प्रयोज्यत्वेन सादृश्य में अन्वय होगा।

एकदेशान्वय का यहाँ पुनः अगतिक रूप से आश्रय लेना पड़ता है।

नैयायिकों के अनुसार शाब्दबोध

नैयायिकों के अनुसार सादृश्य को पृथक् पदार्थ न मानकर शाब्द बोध इस प्रकार होगा—

मोटे तौर पर मीमासक मत में मुख और अरविन्द में सादृश्य रूप धर्म की प्रतीति होती है और नैयायिको के मत में अरविन्द और मुख मे सौन्दर्यात्मक सादृश्य की प्रतीति होती है।

(१) सादृश्य को समान धर्म मानने पर 'अरविन्दसुन्दर वदनम्' (अरविन्द-सुन्दरम्, इस प्रथम स्थल में) लक्षणावृत्ति से अरविन्द पद का अरविन्दवृत्तिसमानधर्म रूप अर्थ उपस्थित होता है, तत्पश्चात् उसका सौन्दर्य के साथ अभेद सम्बन्ध से अन्वय होता है। (सौन्दर्य है सुन्दर पदार्थ का एक देश) अतः बोध का आकार होता है— 'अरविन्दवृत्तिसमानधर्माभिन्नसौन्दर्यवदभिन्न मुखम्।' (नैयायिको के अनुसार सौन्दर्य रूप समान धर्म ही है सादृश्य और मीमासको के अनुसार समानधर्म है सौन्दर्य, तत्प्रयोज्य है सादृश्य जो अरविन्द निरूपित है अरविन्द वृत्ति नही है। यही दोनों मे भेद है।)

(२) द्वितीय स्थल 'अरविन्दमिव सुन्दरम्' मे अरविन्द रूप पदार्थ का आधेय रूप सम्बन्ध से इव पद के अर्थ—समान धर्म—के साथ अन्वय होता है। उसका अभेदेन सौन्दर्य के साथ अन्वय होता है और पूर्ववत् अरविन्दवृत्तिसमानधर्माभिन्नसौन्दर्यवद-भिन्नं वदनम्' इत्याकारक बोध होता है।

(३) सौन्दर्येणारविन्देन समम् (तुल्यम्) इस वाक्य में सौन्दर्य के पश्चात् प्रयुक्त तृतीया का 'धान्येन धनी' इत्यादि स्थलो के समान अभेद अर्थ होता है। अरविन्द पद के आगे आने वाली तृतीया विभक्ति के द्वारा निरूपितत्व अर्थ होने से 'सौन्दर्याभिन्नमरविन्दनिरूपितं यत्सादृश्य तद्वदभिन्नम्' इस प्रकार का बोध होता है।

इसी प्रकार अन्य स्थलों में भी शाब्द बोध की ऊहा कर लेनी चाहिये।

लुप्तोपमा में शाब्द बोध

लुप्तोपमा के अन्तर्गत क्यङ्गता उपमा मे क्यङ् प्रत्यय का अर्थ होता है आचार, वही समान धर्म भी होता है। उसका (आचाररूप अर्थ का) उपमान पद ही लक्षणा से उपस्थित तन्निरूपित सादृश्य, प्रयोजकता सम्बन्ध से अथवा अभेद सम्बन्ध से, विशेषण होता है। विशेष्य होता है उपमेय और संसर्ग होता है आश्रयता।

क्यज्गता उपमा में भी क्यच् प्रत्यय का अर्थ आचार ही होता है परन्तु उसमे अनुरूप क्रियादि रूप से आचार की प्रतीति होती है।

इस प्रकार विभिन्न स्थलो मे शाब्दबोध का दिङ्मात्र निर्देश किया गया।

(५)

नानार्थक शक्ति स्थल में शाब्दबोध

शब्दशक्तिमूल ध्वनि के अन्तर्गत, जहाँ अनेक अर्थों के प्रतिपादक एक पद का ही उपादान होता है वहाँ, उस पद के बल से प्रकृत और अप्रकृत अर्थों की प्रतीति कैसे होती है—इस सम्बन्ध में पण्डितराज ने तीन मतों का उल्लेख किया है। ये तीन मत हैं—मम्मट का, ध्वनिकारानुयायी का और एक तृतीय मत। उनका संक्षिप्त आकार यह है—

मम्मट का मत	ध्वनिकारानुयायी का मत	तृतीय मत
१—शब्द-श्रवण | पद-ज्ञान	१—शब्द-श्रवण | पद-ज्ञान	१—शब्द-श्रवण | पद-ज्ञान
२—नानार्थों की उपस्थिति | सबका शाब्द-बोध में भान	२—नानार्थों की उपस्थिति | केवल प्राकरणिक अर्थ का शाब्द-बोध	२—नानार्थों की उपस्थिति
३—तात्पर्य-निर्णय	३—व्यञ्जना से अन्य अर्थ का बोध	३—अभिधा से प्राकरणिक अर्थ का बोध
४—प्राकरणिक अर्थ की पुनः उपस्थिति | अन्वय-बोध		४—अभिधा से ही अप्राकरणिक अर्थ बोध
५—अप्राकरणिक अर्थ का व्यञ्जना से बोध		५—व्यञ्जना से अर्थद्वय के औपम्य आदि का बोध

(१) मम्मट का मत

सर्वप्रथम नानार्थवाची शब्द का श्रवण होता है, श्रवण मात्र से उसके सभी अर्थों की उपस्थिति होती है क्योंकि श्रोता का शक्तिग्रह सब अर्थों में समान रूप से रहता है। तत्पश्चात् उसके हृदय में यह सन्देह होता है कि इनमे से किस अर्थ में कवि का तात्पर्य है ? तब वह प्रकरण आदि का पर्यालोचन करता है, पर्यालोचन करने पर जब निर्णय हो जाता है तब पुन: वही शब्द एक अर्थ को उपस्थित करता है—जो प्रकरणादि से प्राप्त है। (पुनः उपस्थापन की इसलिये आवश्यकता होती है क्योंकि तब तक प्रथम बार का शाब्द बोध समाप्त हो जाता है) उस अर्थ का ही शाब्द बोध में अन्वय होता है।

प्रथम पदार्थोपस्थिति जिस प्रकार नानार्थक होती है उसी प्रकार तात्पर्य निर्णय के पश्चात् होने वाली द्वितीय पदार्थोपस्थिति भी नानार्थक क्यों नहीं होती ? इसका उत्तर यह है कि प्रकरण आदि का ज्ञान अथवा प्रकरण ज्ञान के कारण होने वाला तात्पर्य-निर्णय ही अप्राकरणिक पदार्थों की उपस्थिति में बाधक हो जाता है। यदि इस प्रकार का प्रतिबध्यप्रतिबन्धकभाव नहीं मानेंगे तो शाब्द बोध में भी नानार्थविषयता की आपत्ति होगी। इसलिये कहा गया है–'अनवच्छेदे विशेषस्मृतिहेतव:।' अनवच्छेदे–तात्पर्यसन्देह होने पर, विशेषस्मृति–एकार्थमात्रविषया स्मृति।

इस प्रकार 'सुरभिर्मांस भक्षयति' इत्यादि वाक्य से होने वाली द्वितीय प्रतीति गौ आदि की उपस्थिति के बिना कैसे होगी ? इसके उत्तर के लिये ही व्यञ्जना व्यापार को मानना आवश्यक है ।

अर्थात् सुगन्धरूप प्राकरणिक अर्थ मे अभिधा नियन्त्रित हो जायेगी अतः गौ रूप अर्थ की उपस्थापिका वृत्ति कौन सी होगी इसके उत्तर मे कहा गया व्यञ्जना । अभिधा से प्राकरणिक अर्थ का बोध हुआ और व्यञ्जना से अप्राकरणिक अर्थ का।

यदि ऐसा माना जाय कि एक अभिधा से प्राकरणिक अर्थ की उपस्थिति होती है और द्वितीय अभिधा से द्वितीय अर्थ की उपस्थिति होती है, तो ठीक नही है क्योंकि प्रकरणादि प्रतिबन्धक तो द्वितीय अर्थ की उपस्थिति के समय भी विद्यमान रहेंगे ही । प्रकरणादि की प्रतिबन्धकता को यदि नहीं माना जायेगा तो प्राकरणिक अर्थोपस्थिति में अप्राकरणिक अर्थ की भी विषयता हो जायेगी अर्थात् प्रथम अभिधा से ही दूसरे अर्थ की भी उपस्थिति मानी जा सकेगी ।

जब प्रकरण आदि प्रतिबन्धक वहाँ विद्यमान रहते ही हैं तो जैसे प्राकरणिक अर्थोपस्थापन के समय उनसे प्रतिबन्ध होता है वैसे ही व्यञ्जना से होने वाली अर्थोपस्थिति के समय भी प्रतिबन्ध होगा । अतः अप्राकरणिक अर्थ की उपस्थिति नहीं हो सकती ।–ऐसी शङ्का भी नहीं करनी चाहिये क्योंकि सहृदयानुभाव प्रमाण से यह प्रमाणित है कि अभिधा के प्रति ही प्रकरण आदि की प्रतिबन्धकता है व्यञ्जना के प्रति नहीं । अर्थात् व्यङ्ग्यार्थ के प्रति प्रकरणादि प्रतिबन्धक नहीं होते । अथवा यह माना जा सकता है कि प्रकरणादिज्ञान से अप्राकरणिक अर्थ की उपस्थिति प्रतिबद्ध हो जाती है किन्तु व्यञ्जनाजन्यज्ञान उसका उत्तेजक होता है अतः उस अर्थ की उपस्थिति में बाधा नहीं होती । इसी सबको ध्यान में रखते हुए कहा गया है—

'अनेकार्थस्य शब्दस्य वाचकत्वे नियन्त्रिते ।
संयोगाद्यैरवाच्यार्थधीकृद्व्यापृतिरञ्जनम् ।।'

नियन्त्रण का अर्थ है द्वितीय अर्थ के उपस्थापन में प्रतिबन्ध होना ।

(मम्मट मत का संक्षेप यह है कि अभिधा से प्रकृत अर्थ की ही उपस्थिति होती है अप्रकृत अर्थ की नहीं । अप्रकृतार्थ की उपस्थिति व्यञ्जना से होती है क्योंकि उसकी उपस्थिति में प्रकरणादि प्रतिबन्धक रहते हैं जो अभिधा को प्रतिबद्ध कर देते हैं ।)

(२) ध्वनिकारानुयायी का मत

इनके अनुसार नानार्थक शब्द से उत्पन्न शाब्दबोध में तात्पर्यनिर्णय कारणरूप में अनिवार्यरूपेण मान्य होने के कारण पहले नानार्थक शब्द से अनेक अर्थों के उपस्थित होने पर भी, प्रकरणादि तात्पर्य-निर्णय के हेतुओं से, उन उपस्थित अर्थों में से जिस

अर्थ में तात्पर्य निर्णय होता है उसी अर्थ का अन्वय बोध होता है अन्य अर्थ का नहीं। अर्थात् सब अर्थों की समानरूप से उपस्थिति होने पर भी शाब्द-बोध मे प्राकरणिक अर्थ का ही भान होता है अन्य अप्राकरणिक अर्थों का नही।

इस सरणि को मानने पर प्रथम सरणि की अपेक्षा लाघव होता है क्योंकि एक तो एकार्थविषया स्मृति की अपेक्षा नही रहती, दूसरे, अन्य अप्राकरणिक अर्थों के उपस्थापन के समय प्रकरणादि की प्रतिबन्धकता की भी कल्पना नही करनी पड़ती। इस प्रकार 'सुरभिमांस भक्षयति' इत्यादि उपर्युक्त नानार्थस्थल मे प्रकरणादिज्ञान के अधीन होने के कारण, तात्पर्यनिर्णय होने से प्राकरणिक अर्थ का ही शाब्द बोध होता है तथापि अतात्पर्यविषयक बोध भी उसी शब्द से होता ही है परन्तु व्यञ्जना व्यापार से, अभिधा से नहीं। अभिधा से उसका बोध इसलिये नहीं होता क्योंकि उससे होने वाले बोध के प्रति तात्पर्य-निर्णय कारण होता है। व्यङ्ग्यार्थ बोध के प्रति तात्पर्य-ज्ञान होना आवश्यक नहीं है।

एकार्थमात्रविषयकस्मृति मे प्रकरणादि की अपेक्षा नहीं होने पर मम्मट का 'विशेषस्मृतिहेतवः' यह कथन असङ्गत हो जायेगा। अथवा प्रकरणादिज्ञान का दूसरे अर्थों की उपस्थिति मे प्रतिबन्धकत्व न होने से, संयोगादि के द्वारा अनेकार्थक शब्द की वाचकता मे (अभिधा मे) नियन्त्रण होता है–यह कहना सम्भव नहीं हो सकेगा ऐसी शङ्का यदि की जाय तो इसका उत्तर यह है कि स्मृति शब्द को निश्चयपरक मानकर विशेषस्मृति पद से विशेष विषय में तात्पर्य निर्णय ग्रहण करना चाहिये। संयोगादि के द्वारा अभिधा का नियन्त्रण और एकार्थमात्रविषयकतात्पर्यनिर्णयजनन द्वारा शाब्द बोध अनुकूल ही होगा। अर्थात् संयोगादि हेतु तात्पर्यनिर्णय में भी हेतु है ही अतः उनका हेतुत्व तो निर्विघ्न ही है।

अवाच्यार्थ का अर्थ है अतात्पर्यार्थ। अतः मम्मट के मत मे असङ्गति नहीं होती। (इस मत के अनुसार 'संयोगो विप्रयोगश्च–' इत्यादि कारिका का अर्थ इस प्रकार होगा–शब्दार्थ के अनवच्छेद अर्थात् तात्पर्य सदेह के होने पर संयोग, विप्रयोग आदि विशेषस्मृति अर्थात् विशेष विषय के तात्पर्यनिर्णय में कारण होते हैं)

अब सन्देह यह होता है कि प्राकरणिक अर्थबोध के पश्चात् तादृश पदज्ञान के समाप्त हो जाने पर, व्यञ्जनावादी के द्वारा भी (प्रस्तुत मतवादी के अनुसार) दूसरे अर्थ का बोध कैसे होगा ? इसके उत्तर में तीन मत सम्मुख आते हैं–

(क) प्रथम अर्थ की प्रतीति का व्यापार विद्यमान रहने से वैयञ्जनिक बोध हो जायेगा।

(ख) अर्थ प्रतीति में शक्यतावच्छेदक के समान पद का भी विशेषणतया भान होता रहता है। अतः प्राथमिक शक्यार्थ-बोध से ही पदज्ञान भी होगा और उससे व्यङ्ग्यार्थ का भान हो जायेगा। (यह वैयाकरणों का मत है)

(ग) (पदज्ञान की) आवृत्ति करने से भी पदज्ञान सुलभ हो जाता है ।

इस मत का साराश इतना ही है कि अभिधा से उपस्थिति तो सभी अर्थों की होती है परन्तु शाब्द-बोध का विषय प्रकृत अर्थ ही होता है क्योंकि तात्पर्य निर्णय उसमे हेतु है । द्वितीय अर्थ व्यञ्जना का विषय हो जाता है ।

(३) तृतीय मत

ये लोग उपर्युक्त मत को नही मानते है-यह जो कहा गया है कि एकार्थ-मात्रविषया पदार्थोपस्थिति अन्वयबोध के लिये अपेक्षित है–वह निस्सार है क्योकि एक तो, नानार्थक शब्द से दो अर्थों की उपस्थिति होने पर प्रकरणादिज्ञान के अधीन तात्पर्यनिर्णय की महिमा से ही विवक्षित अर्थ की शाब्दी धी उपपन्न हो जाती है, एकार्थमात्र उपस्थिति की अपेक्षा में कोई प्रमाण नही है; दूसरे, द्वितीयार्थ की उपस्थापक सामग्री-पदज्ञान--के रहने पर उसकी उपस्थिति उचित भी है । प्रकरण आदि का ज्ञान अथवा उसके अधीन तात्पर्य-निर्णय द्वितीयार्थ के उपस्थापन मे प्रतिबन्धक नहीं मानने चाहिये क्योंकि संस्कार और उसके उद्बोधक के रहने पर यह असम्भव है कि स्मृति न हो ।

इस पर यदि कहें कि अन्यत्र इस प्रकार का प्रतिबध्य-प्रतिबन्धक भाव न हो पर यहाँ स्मृति में इस प्रकार का प्रतिबध्य-प्रतिबन्धक भाव माना जाता है, तो भी उचित नहीं है क्योंकि इस कल्पना से कोई विशेष लाभ नहीं है तथा इसमें किसी का अनुभव प्रमाण भी नहीं है । अतः यह निश्चित ही है कि नानार्थक पद के श्रवण से उसके सभी अर्थों का बोध होता है ।

दूसरी बात, जो उपर्युक्त मत मे यह कही गयी कि प्रकरणादि के ज्ञान से तात्पर्यविषयतया प्राकरणिक अर्थ का निर्णय होने पर उसका शाब्द बोध होने के बाद द्वितीय अर्थ का बोध व्यञ्जना से होता है, वहाँ भी यह विचारणीय है कि अप्राकरणिक अर्थ का इस प्रकार का बोध, नानार्थकस्थल मे सर्वत्र व्यञ्जना से होता है या कहीं-कहीं ?

इसमें से यदि प्रथम स्थिति स्वीकार की जाय अर्थात् सर्वत्र व्यञ्जना का उल्लास माना जाय तो तात्पर्यज्ञान को कारण मानने की कल्पना व्यर्थ हो जाती है क्योंकि जब प्राकरणिक और अप्राकरणिक दोनों अर्थों का शाब्द बोध सर्वत्र ही होता है तब अप्राकरणिक अर्थ के प्रति तात्पर्यज्ञान को कारण मानने से क्या लाभ ?

इसके प्रत्युत्तर में यह कहना भी ठीक नहीं है कि अभिधाजन्य बोध के प्रति प्रकरण-ज्ञान की कारणता कल्पित है, व्यञ्जनाजन्य बोध तो तात्पर्यज्ञान के बिना भी हो जाता है अतः अभिधाजन्य बोध का वारण करने के लिये तात्पर्यज्ञान की कारणता कल्पित होती है, क्योंकि जब अतात्पर्यार्थ का बोध सर्वत्र ही होता है तो उसे अभिधा-जन्य मानने में भी कोई बाधा नहीं है ।

अथ, नानार्थकशब्द से दोनों अर्थों की उपस्थिति होने पर प्रकरण आदि के द्वारा एक अर्थ में तात्पर्यनिर्णय होने के बाद उसी अर्थ का शाब्दबोध पहले होता है, दूसरे का नहीं–इस नियम की रक्षा के लिये शक्ति से होने वाले प्राकरणिक अर्थ में शाब्द-बोध में तात्पर्यज्ञान को कारण माना जाता है। अन्यथा तात्पर्यविषयतया निर्णीत-अर्थ (प्राकरणिक अर्थ) के समान अप्राकरणिक अर्थ का भी शाब्द बोध प्रथमतः हो जायेगा। तदनन्तर अर्थात् तात्पर्य-विषयार्थ बोध के पश्चात् अतात्पर्य-विषयार्थ बोध भी होता है अतः तात्पर्यार्थज्ञान-अन्यतावच्छेदक कोटि मे शक्तिजत्व का निवेश किया जाता है। (अर्थात् अभिधा से तात्पर्यार्थज्ञान ही उत्पन्न होता है)–ऐसा यदि कहा जाय तो भी उचित नहीं है क्योंकि 'सोऽव्याविष्टभुजङ्गहारवलयस्त्वां सर्वदोमाधवः' इत्यादि श्लिष्ट काव्य के समान यहाँ भी (अन्य नानार्थक स्थलों मे भी) प्रकृत और अप्रकृत अर्थों के बोध को स्वीकार करने में कोई बाधक नहीं है।

दृष्टान्त (श्लेषकाव्य) में दो अर्थ रहने पर भी प्रकरणसाम्य से तात्पर्यज्ञान होता है इस प्रकार एक साथ दोनों का बोध हो जाता है और दार्ष्टान्तिक (नानार्थ-स्थल) में तो एक ही अर्थ मे प्रकरणवश बोध होता है अतः दोनों अर्थों का एक साथ बोध नहीं होता।–यह भी कहना ठीक नहीं है क्योंकि तात्पर्यज्ञान की कारणता ही जब सिद्ध नहीं है तो एक साथ दोनों अर्थों का बोध नहीं होता यह कहना आपातर-मणीय मात्र है। तात्पर्यज्ञान की कारणता के प्रमाणित होने पर ही ऐसा कहा जा सकता था।

अब यह प्रश्न उठाया जा सकता है कि तब प्रकरण ज्ञान का उपयोग कहाँ होगा ? इसका उत्तर यह है कि 'इस अर्थ में यह शब्द प्रमाण है, यह अर्थप्रमाणबोध्य है' इत्यादि निर्णयों में, जो प्रवृत्ति के लिये उपयोगी है, इस प्रकरण ज्ञान की उपयोगिता है।

इस प्रकार निष्कर्ष यह निकला कि नानार्थस्थल में भी तात्पर्यनिर्णय की कारणता शिथिल हो जाने के कारण अतात्पर्यार्थ का शाब्द-बोध सम्पन्न करने के लिये व्यञ्जना को स्वीकार करना अनुचित है क्योंकि अभिधा से ही दोनों बोध उपपन्न हो जाते हैं।

यदि कहीं-कहीं व्यञ्जना का उल्लास स्वीकार करें तो भी ठीक नहीं है क्योंकि उसमें कोई कारण प्राप्त नहीं है। अर्थात् कहाँ व्यञ्जना प्रवृत्त हो कहाँ प्रवृत्त न हो इसके लिये कोई कारण ज्ञात नहीं है अतः द्वितीय पक्ष मानना भी उचित नहीं है।

व्यङ्ग्यार्थविषयक कवि के तात्पर्य का बोध कराना ही यदि कारण माना जाय तो भी सङ्गति नहीं होती क्योंकि व्यङ्ग्यार्थ बोध के प्रति तात्पर्यज्ञान को आपके द्वारा ही अकारण माना गया है तथा जहाँ अश्लील दोष होता है वहाँ भी अप्राकरणिक अर्थ का बोध तो अनुभवसिद्ध ही है जब कि कवि का तात्पर्य उसमें नहीं रहता।

अब यदि प्रतिपक्षी यह कहे कि श्रोता की सूक्ष्म अर्थ को ग्रहण करने की शक्तिविशेष व्यञ्जना की प्रवृत्ति मे कारण है और वह शक्ति चमत्कारी अर्थ मे ही व्यञ्जना का उल्लास करती है, अचमत्कारी अर्थ मे नहीं, अत. कहीं-कहीं व्यञ्जना का उल्लास सिद्ध हो गया–तो भी ठीक नहीं है क्योंकि इस प्रकार वह शक्ति नियन्त्रित शक्ति (अभिधा) की ही उल्लासिका होगी। अत. नानार्थस्थल मे व्यञ्जना की कल्पना व्यर्थ हो जायेगी।

उपर्युक्त युक्ति स्वीकार न करें तो दूसरी भी एक आपत्ति उठती है, वह यह कि 'उल्लास्य कालकरवाल' इत्यादि पद्य मे–नानार्थव्यञ्जकस्थल में, जिस व्यक्ति को द्वितीय अर्थ मे शक्तिग्रह नहीं है अथवा जो द्वितीयार्थ मे शक्तिग्रह भूल गया है, उसको तो सर्वथा ही व्यञ्जना से द्वितीय अर्थ का बोध नहीं होगा। परन्तु आपके अनुसार चमत्कारी होने के कारण उसे द्वितीयार्थ का व्यञ्जना से बोध हो जाना चाहिये।

जिस शब्द से जो अर्थ व्यङ्ग्य होता है उस शब्द का उस अर्थ में शक्तिग्रह व्यङ्ग्यार्थ बोध के प्रति कारण होता है–यह भी नहीं कहा जा सकता क्योंकि 'निश्शेष-च्युत' इत्यादि पद्य में रमणादि की व्यञ्जना नहीं हो सकेगी। अधम पद की शक्ति का ग्रहण रमण में किसी को नहीं होता। यदि होगा भी, तो शक्ति से ही उस रमणादि अर्थ का बोध हो जायेगा, व्यञ्जना की आवश्यकता ही नहीं होगी। नानार्थस्थल में ही उक्त कार्यकारणभाव माना जाय तो भी नवीन कल्पना करने से गौरव दोष होता है।

अथवा अप्राकरणिक अर्थ का बोध अभिधा से ही हो परन्तु केवल वहीं जहाँ वह बाधित नहीं हो। जहाँ वह बाधित होगा वहाँ उसका बोध अभिधा से उसी प्रकार नहीं होगा जिस प्रकार 'जैमिनीयमलं धत्ते रसनायामयं द्विजः' इत्यादि में जुगुप्सित अर्थ का अथवा 'वह्निना सिञ्चति' इत्यादि में वह्निकरणक सेक का। अर्थात् वहाँ व्यञ्जना को स्वीकार करना पड़ेगा। बाधनिश्चय के होने पर तद्वत्ता ज्ञान नहीं होता यह सभी के अनुभव से सिद्ध है। और बाधित अर्थ का व्यञ्जना द्वारा बोध होना सहृदयानुभव सिद्ध है। अत: व्यञ्जनावादी का मत निर्दोष है।–यह रीति भी उपयुक्त नहीं है क्योंकि 'गामबलीणां सत्यं सरस्वतीयं पतञ्जलिव्याजात्।' 'सौधानां नगरस्यास्य मिलन्त्यर्केण मौलय.' इत्यादि में वाच्यार्थ के अन्वय बोध को उत्पन्न करने के लिये अनुसरणीय यत्न के द्वारा नानार्थस्थल में भी बाधित अर्थ का बोध हो जायेगा। यदि यह स्वीकार नहीं करेंगे तो प्राय: सभी अलङ्कारों में वाच्यार्थ बोध के लिये व्यञ्जना को स्वीकार करना पड़ेगा।

अत: नानार्थस्थल में प्राकरणिक अर्थ में व्यञ्जना रहती है यह मम्मटादि का मत अनुचित है। प्राकरणिक और अप्राकरणिक अर्थों में परस्पर औपम्य का बोध करने के लिये व्यञ्जना स्वीकार्य हो सकती है।

इस तृतीय मत का सारांश यह है कि नानार्थस्थल मे प्राकरणिक और अप्राकरणिक दोनों अर्थों का बोध अभिधा से ही होता है और उन दोनो अर्थों मे जो उपमा रूप सम्बन्ध है वह व्यञ्जना से ज्ञात होता है।

(४) निष्कर्ष

इस प्रकार भी, योगरूढि स्थल मे, रूढिज्ञान से योगार्थ का बाध होने के कारण, रूढि से पृथक् योगशक्ति से प्रतिपादित होने वाले द्वितीय अर्थ की प्रतीति तो व्यञ्जना के बिना असम्भव है। इसी प्रकार यौगिक रूढि स्थल मे भी व्यञ्जना का आश्रय नान्तरीयक है। इस प्रकार के स्थलों में (योगरूढि अथवा यौगिकरूढि में) लक्षणा से भी निर्वाह नहीं हो सकता क्योंकि लक्षणा का बीज है तात्पर्यानुपपत्ति अतः जब तक तात्पर्यबोध नहीं होगा तब तक उसका बाध भी सम्भव नहीं है। तात्पर्यार्थ बोध तब तक नहीं होता जब तक द्वितीयार्थ की बुद्धि न हो और द्वितीयार्थ के बोध के लिये ही व्यञ्जना को स्वीकार किया गया है। अतः लक्षणा वहीं होती है जहां अन्वयबोध के पूर्व ही प्रकारान्तर से वक्ता का तात्पर्य ज्ञात रहे।

योगरूढि या यौगिक रूढि स्थल में अप्रकृत अर्थ की प्रतीति ही नहीं होती-ऐसा कहना केवल उन्हीं के लिये सम्भव है जो केवल अभिधा शक्ति तक ही सीमित ज्ञान वाले हैं, शब्दार्थ के गहन ज्ञान वाले नहीं। इसकी सङ्ग्राहकारिका इस प्रकार है—

> योगरूढस्य शब्दस्य योगे रूढ्या नियन्त्रिते।
> धियं योगस्पृशोऽर्थस्य या सूते व्यञ्जनैव सा॥

अर्थात् योगरूढ की योग शक्ति जब रूढि शक्ति के द्वारा नियन्त्रित अर्थात् बाधित कर दी जाती है तो जिस व्यापार से योगार्थ का बोध होता है वह व्यञ्जना ही है।

इस प्रकार स्थित हो जाने पर, नानार्थ स्थल में प्राकरणिक और अप्राकरणिक अर्थों में रहने वाली उपमा की प्रतिपत्ति के लिये अवश्य कल्प्य व्यञ्जना के ही द्वारा अप्राकरणिक अर्थ की भी अभिव्यक्ति हो जायेगी इस क्लिष्ट कल्पना को न करना पड़े इसके लिये अप्राकरणिक नानार्थों की व्यञ्जकता जो मम्मटादि ने कही है वह भी दूषित नहीं है।

उपर्युक्त तीनों मतों मे से प्रथम दो मत तो निश्चित रूप से मम्मट और प्रदीपकारानुयायी के हैं क्योंकि उसका स्पष्ट उल्लेख हुआ है। तृतीय मत किसका है इसका कोई सङ्केत पण्डितराज ने नहीं दिया। अन्तिम मत प्रथम और द्वितीय मत की मीमांसा है अतः अनुमान यही होता है कि यह ग्रन्थकार का निजी मत है।

पण्डितराज का मत संक्षेप रूप में यह है कि जहाँ एक शब्द की अनेक अर्थों में शक्ति होती है वहाँ तो प्राकरणिक और अप्राकरणिक अर्थों का बोध अभिधा से

तथा उनमें रहने वाली उपमा का बोध व्यञ्जना से होता है तथा वहाँ एक शब्द योगरूढ़ अथवा यौगिक रूढ़ होने के कारण अनेकार्थवाची होता है वहाँ रूढार्थ का बोध अभिधा से और योगार्थ का बोध व्यञ्जना से होता है।

(६)

परिणाम-स्थलीय शाब्द-बोध

परिणाम अलङ्कार के अंतर्गत जो उदाहरण दिये गये है उनका भी शाब्द-बोध संक्षेप मे निर्दिष्ट है। (उन उदाहरणो को पूर्णरूप मे यहां उद्धृत नही किया जा रहा है क्योकि उससे ग्रंथ मे पुनरुक्ति होगी।)

'अपारे ससारे विषमविषयारण्य—' इत्यादि मे 'हरिनवतमाल' इस अंश में निर्विवादरूप से 'भगवदभिन्न तमाल' ऐसा बोध होता है। तथा 'श्रावं श्रावं वचः-सुधाम्' (महर्षेर्व्यासपुत्रस्य—इत्यादि पद्य मे) इस अंश में—विशेषणसमासगतपरिणाम मे—'वचनाभिन्नां सुधाम्' यह बोध होता है।

'पाय पाय वचः सुधाम्' एक रूपक मे 'वाङ्निष्ठ अभेद प्रतियोगिनी सुधा को' (वचोनिष्ठाभेदप्रतियोगिनी सुधाम्) यह बोध होता है। अर्थात् परिणाम और रूपक के बोध मे अन्तर है।

इसी प्रकार 'वदनेन्दुना तन्वी शिशिरीकुरुते दृशौ' इस असमस्त (व्यस्त) परिणाम में तथा 'वदनेनेन्दुना तन्वी शिशिरीकुरुते दृशौ' इस व्यस्तरूपक में भी बोध-वैलक्षण्य है।

'अहीनचन्द्रा लसताननेन ज्योत्स्नावती चापि शुचिस्मितेन' इस व्यधिकरण-परिणाम में तृतीया का अभेद अर्थ होने से 'लसदाननाभिन्नहीनेतरचन्द्रयुक्त.' यह बोध होता है।

(७)

रूपकस्थलीयशाब्दबोध

रूपक अलङ्कार में शाब्दबोध किस प्रकार होता है इस संबंध मे प्राचीन और नवीन दो दृष्टियों से विचार किया गया है।

प्राचीन मत—

विषयि-वाचक-पद से सारोपा-लक्षणा के द्वारा विषयिवृत्तिगुणवान् की उपस्थिति होने पर विषय में उसका अभेद संबंध से विशेषणतया अन्वय होता है। और इस प्रकार 'मुखं चंद्रः' इसमें 'चन्द्रवृत्तिगुणवदभिन्न मुखम्' यह बोध होता है। अर्थात् चन्द्र में रहने वाले जो गुण, उनसे युक्त जो चन्द्र, उससे अभिन्न मुख—यह प्रतीति होती है।

इस रीति से शाब्द बोध मानने पर यह आपत्ति हो सकती है कि उपमा और रूपक मे कोई भेद नहीं रह जायेगा क्योंकि उपमा में भी विषय और विषयी में भेद होने पर भी सादृश्य के बल पर 'उसके गुणों से युक्त' इस प्रकार का बोध होता ही है। जब उपमा और रूपक दोनो मे एक ही आकार का बोध होगा तो दोनो के चमत्कार में भी कोई विलक्षणता नही होगी तथा विलक्षणता न होने पर अलङ्कार भेद भी अनुपपन्न हो जायेगा। शब्द वृत्ति को भेद का हेतु मानना अकिञ्चित्कर है (अर्थात् उपमा मे अभिधा से वह बोध होता है और रूपक में लक्षणा से, इस आधार पर दोनो में भेद मानना ठीक नहीं है।) इसका उत्तर यह है कि उपमा और रूपक में जो भेद है वह यह है कि उपमा मे अभेद बोध साक्षात् होता है और रूपक में वही अभेद बोध लाक्षणिक बोध के प्रयोजन के रूप में होता है। प्रयोजनवती लक्षणा में प्रयोजन मानना आवश्यक होता है। इसलिये उस अभेद को प्रयोजन मानना भी अनिवार्य ही है क्योंकि रूपक में रूढ़ लक्षणा नहीं होती, प्रयोजनवती लक्षणा ही होती है।

यह अभेद-बोध भी बाध-निश्चय (उपमानोपमेय के भेद ज्ञान) के द्वारा बाधित हो जायेगा ऐसा भी कहना उचित नहीं है क्योंकि व्यञ्जना से होने वाला बोध बाधक से प्रतिबाधित नहीं होता।

नवीन मत :

दो प्रातिपदिकार्थों का अन्वय अभेद संबंध से ही होता है—यह व्युत्पत्ति सिद्ध है इसलिये 'चन्द्राभिन्नं मुखम्' यह बोध लक्षणा के बिना ही हो जाता है। जब फल की सिद्धि लक्षणा को माने बिना भी हो जाती है तो उसके लिये लक्षणा को मानना ठीक नहीं है।

यदि रूपक में लक्षणा मानें ही तो 'मुखं चंद्रः' इसमें उपमित समासों में उत्तर पद की लाक्षणिकता समान होने से एक को उपमा और एक को रूपक कहना बाधित होगा'। अपि च, 'मुखं न चन्द्रसदृशं अपितु चंद्र.' इत्यादि में सादृश्य और व्यतिरेक से मिश्रित सादृश्य बुद्धि का भी योग नहीं होगा। अर्थात् चन्द्रः का अर्थ चन्द्रसदृश होगा तब 'तथा न अपितु चन्द्र' का अर्थ होगा 'चन्द्रसदृश न अपितु चन्द्रसदृशं' जिससे बोध की कदर्थना होती है। और इसी प्रकार 'देवदत्तमुखं चंद्र एव यज्ञदत्तमुखं तु न तथा, अपितु चन्द्रसदृशम्' इत्यादि में नञर्थ के लाक्षणिक चंद्र-सदृशम्रूप अर्थ के साथ अन्वित होने से 'न चंद्रसदृशमचंद्रसदृशम्' इस प्रकार का असङ्गत अर्थ बोध होगा।

नञर्थ का फलीभूत ज्ञान के विषय—अभेद—के साथ अन्वय होता है—यह भी नहीं कह सकते क्योंकि उसका अन्वय करते समय अभेद रूप व्यङ्ग्यार्थ की उपस्थिति

ही नही होती । दूसरे, एक के वाच्यार्थ और दूसरे के व्यङ्ग्यार्थ का अन्वय नही हो सकता । तादृश अभेद बोध को यदि आहार्य कहे तो बाधबुद्धि से उसका प्रतिबन्ध नहीं होगा । अथवा आहार्यान्यत्व के समान शाब्दान्यत्व का भी बाधनिश्चयप्रतिबध्य-तावच्छेदक की कोटि मे निवेश कर लिया जाय और बाधनिश्चय होने पर तद्वत्ता शाब्दबुद्धि उत्पन्न नही होगी क्योकि योग्यताज्ञान का अभाव रहेगा। जहा वह योग्यता ज्ञान आहार्य होगा वहा वह बोध हो सकता है । अतएव योग्यता ज्ञान बाधनिश्चय से पराहत होने पर भी शाब्दबोध मे कारण है ।

इस प्रकार रूपक मे अभेद बोध को आहार्य मानकर अथवा अभेद बोध की उपपत्ति के लिये आवश्यक योग्यताज्ञान को आहार्य मानकर ही सर्वत्र बोध की सिद्धि हो जायेगी, लक्षणा को मानने की आवश्यकता नही है ।

प्राचीन मतानुसार लक्षणा को स्वीकार करने पर दूसरी समस्या यह भी सम्मुख आती है कि चन्द्रगत आह्लादकता का बोध होने पर चन्द्र के साथ अभेद का फल रूप मे बोध कैसे होगा ? क्योकि साधारण धर्म से युक्त वस्तु के साथ अभेद ज्ञान यदि रहता है तो साधारणधर्मवान् के साथ ही अभेद बोध होगा न कि उन उन असाधारणधर्मवान् के साथ । साधारणधर्म से युक्त (अवच्छिन्न) अभेद ज्ञान तत्तद-साधारणधर्मावच्छिन्नाभेदज्ञान मे कारण नहीं होता । जैसे घट और पट में द्रव्यत्वेन अभेदग्रह होने पर भी घटत्वादि रूप से भेदग्रह रहता ही है । दोनों मे अभेद-बुद्धि रहने पर ही उस धर्म विशेष की फलरूप में प्रतीति हो सकती है, जैसे प्रवाह से अभिन्न रूप में तट का बोध होने पर ही शैत्यपावनत्वादि धर्मों की फलतया प्रतीति होती है ।

उपर्युक्त दोनों दृष्टियो को अपनाते हुए विशेष-विशेष स्थलो में किस प्रकार अभेद बोध होगा यह उदाहरण के रूप में इस प्रकार समझना चाहिये—

'गाम्भीर्येण समुद्रोऽयं सौन्दर्येण च मन्मथः' इसमे प्राचीन सिद्धांत के अनुसार समुद्रादि के लक्ष्यार्थ–समुद्रसदृश के एक अंश–सादृश्य–के साथ तृतीया के प्रयोज्यता अथवा अभेद इन दोनों मे से किसी भी अर्थ का अन्वय होता है जिसके 'गाम्भीर्य-प्रयोज्यसमुद्रसादृश्यवदभिन्नोऽयम्'–यह अथवा 'गाम्भीर्याभिन्नसमुद्रवृत्तिधर्मवदभिन्नोऽयम्' यह बोध होता है ।

लक्षणा के बिना ही अभेद का सम्बन्ध रूप में बोध मानने वाले नवीनमत के अनुसार वह बोध इस प्रकार होगा—कवि के द्वारा स्वेच्छा से ही कल्पित किये गये, असत्य होते हुए भी अन्तःकरणपरिणामरूप (काल्पनिक) अर्थों का–मुखचन्द्रादि का–उपनिबन्धन होता है । उन अर्थों में साधारण धर्म ही प्रयोजक होता है क्योंकि उसी धर्म को देखते हुए वह कल्पना की गयी होती है । अतः 'गाम्भीर्याभिन्नप्रयोज्यसमुद्रादि

से अभिन्न'–यह बोध निर्विघ्न रूप से हो ही जायेगा अथवा, ज्ञानजन्य–ज्ञानप्रकारत्व तृतीया का अर्थ है क्योंकि 'वह्निमान् धूमात्' इत्यादि मे पञ्चमी के अर्थ के समान ही उसकी कल्पना की गयी है - यह यदि माना जाय तो 'गाम्भीर्यादिज्ञानजन्यज्ञानप्रकार-समुद्राभिन्न' यह बोध होगा ।

इस प्रकार यह रूपक विषय और विषयी का एक ही अधिकरण मे रहने वाला सम्बन्ध है किसी पद का अर्थ नही है । अर्थात् समानविभक्ति वाले दो पदो का (विषय-विषयी का) संसर्ग ही अभेद है, किसी पद का अर्थ नही ।

जहाँ विषय-विषयी समान विभक्ति वाले नही होते हैं वहा यह अभेद किसी शब्द के द्वारा प्रतिपादित रहता है । यह अभेद कही विशेष्य और कही विशेषण होता है । जैसे—

> कैशोरे वयसि क्रमेण तनुतामायाति तन्व्यास्तना–
> वागामिन्यखिलेश्वरे रतिपतौ तत्कालमस्याज्ञया ।
> आस्ये पूर्णशशाङ्कता नयनयोस्तादात्म्यमम्भोरुहां
> किञ्चासीदमृतस्य भेदविगमः साचिस्मिते तात्त्विक. ।।

यहाँ शशाङ्कता-तादात्म्य-भेदविगमादि शब्दो के द्वारा कहा गया अभेद प्रथमान्तविशेष्यक बोध मानने वाले नैयायिको के अनुसार विशेष्य रूप है । आख्यातप्रधान बोध मानने वाले वैयाकरण के मत मे भी, यदि किं चासीत् के स्थान पर 'सम्पन्नो हि' इस निष्ठान्त क्रिया को रख दिया जाय तो, वह अभेद विशेष्य हो जायेगा ।

> अविचिन्त्यशक्तिविभवेन सुन्दरि प्रथितस्य शम्बररिपोः प्रभावतः ।
> विधुभावमञ्चतितमां तवानन नयन सरोजदलनिर्विशेषताम् ।।

इसमें द्वितीया विभक्ति के अर्थ के प्रति विशेषणीभूत विधुत्वादि बिम्बभेद रूप से (बिम्बभेदात्मकतया) रूपक है । अर्थात् विधुत्वादि का लक्ष्यार्थ है बिम्बभेद । यह अभेद कर्मकारक के प्रति विशेषण है । अतः यहाँ अभेद (रूपक) विशेषण रूप है ।

(८)

समासोक्ति स्थलीय शाब्दबोध

समासोक्ति अलङ्कार मे एक पद्य विशेष को लेकर शाब्द-बोध विचार किया गया है, जो इस प्रकार है—

> विबोधयन्करस्पर्शैः पद्मिनी मुद्रिताननाम् ।
> परिपूर्णानुरागेण प्रातर्जयति भास्करः ।।

इसमे 'किरणस्पर्शकरणक मुकुलित–पद्मिनीकर्मकविकासानुकूलव्यापारवदभिन्नो भास्करो जयति' यह वाक्यार्थ अभिधा शक्ति से ज्ञात होता है, यह सहृदयानुभव द्वारा प्रमाणित है । तथा 'हस्तस्पर्शकरणक–नायिकाविशेषकर्मकानुनयानुकूलव्यापारवदभिन्नः'

इत्यादि रूप जो द्वितीय अप्रस्तुत अर्थ अभिधा, व्यञ्जना अथवा द्वितीय अभिधा से प्रतीत होता है (द्वितीय अर्थ की उपस्थापिका कौन सी शक्ति है इस सम्बन्ध मे तीन मत है जिनका उल्लेख नानार्थशक्तिस्थल मे किया गया है। बोध का उपर्युक्त आकार नैयायिक मतानुसार है।) इन दोनो अर्थों को यदि गोविषाणवत् अत्यन्त असम्बद्ध माने तो भगवान् भास्कर की नायक रूप मे और पद्मिनी की नायिका के रूप मे जो सबको प्रतीति होती है वह असिद्ध हो जायेगी और दूसरे दोनो का ही प्राधान्य होने के कारण वाक्य भेद भी होगा।

द्वितीय दोष का परिहार करने के लिये यदि यह कहा जाय कि द्वितीय अर्थ का प्रकृत कर्ता पर ही आरोप कर दिया जाता है जिससे 'कमलिनीविकासकर्ता नायिकानुनयकर्ता च सूर्यः' यह एक ही स्थान पर दो प्रकार का विलक्षणविषयताशाली बोध होता है तथापि प्रथम दोष तो तदवस्थ ही रहता है।

यदि श्लेषमूलाभेदाध्यवसान के द्वारा कमलिनी आदि का नायिकादि रूप मे बोध उपपन्न किया जाय तब भी अश्लिष्ट पदो के द्वारा उपस्थित भगवान् की तो नायक रूप मे प्रतीति असम्भव ही है। 'पद्मिनी' शब्द के स्थान पर 'नलिनी' शब्द को रख देने पर नायिका की भी प्रतीति दुष्कर हो जायेगी। अत विशेषण साम्य के कारण प्रतीत होने वाला अप्रकृत वाक्यार्थ अपने अनुकूल नायिकादि अर्थ का आक्षेप करके, उससे परिपूर्ण विशिष्ट शरीर होकर, अपने अवयवो के अभेद से युक्त होकर रहता है। एव च परिणाम अलङ्कार की भाँति यह प्रकृत रूप मे कार्योपयोगी और अप्रकृत रूप मे रसोपयोगी होता है।

प्रस्तुत पद्य मे वाक्यार्थ से सम्बन्धित अप्रकृतार्थ का पृथक् शब्दो से उपादान न होने के कारण रूपक से वैलक्षण्य है। अर्थात् रूपक मे अप्रकृतार्थ का वाचक शब्द भी उपात्त होता है और समासोक्ति मे उसका ग्रहण नही होता अतः दोनो के 'अभेद' मे अन्तर है। पदार्थ रूपक से तो भेद स्पष्ट ही है—अप्रकृत और प्रकृत अर्थ के वाचक पदो का उपादान न होने से। (पदार्थ रूपक पदनिष्ठ होता है और समासोक्ति वाक्यनिष्ठा।)

इस प्रकार समासोक्ति मे शक्ति (अभिधा) और आक्षेप से ही सम्पूर्ण अर्थ का निर्वाह हो जाता है—यह भामह, उद्भट आदि प्राचीनाचार्यों का मत है।

उपर्युक्त प्राचीन मत को मानने पर—'निशामुख चुम्बति चन्द्र एष' इत्यादि मे निशा और चन्द्र शब्दों के श्लिष्ट न होने के कारण मुखचुम्बनमात्र पुत्रादि मे भी होने के कारण नायक का नियमतः आक्षेप कैसे होगा ? आक्षेप हो भी जाये तो आक्षिप्त नायकादि का निशा चन्द्र में ही अभेदान्वय कैसे होगा ? भेदेन तो चुम्बनादि में अन्वय

हो नहीं सकता क्योंकि तब नायक रूप अर्थ केवल अप्रकृतार्थ में ही अन्वित होगा, प्रकृतार्थ में नहीं जिससे रसोद्बोध में बाधा होगी ।

इसका उत्तर यह है कि 'निशामुखं चुम्बति चन्द्रिकेयं' और 'अहमुखं चुम्बति चण्डभानु' इत्यादि मे प्रतीत न होने वाला नायकत्व प्रकृत अर्थ मे टाप् प्रत्यय और प्रथमा विभक्ति (चन्द्रिका) से प्रतिपादित प्रकृत्यर्थ (चन्द्रमस्) के रूप मे स्त्रीत्व और पुंस्त्व के द्वारा स्वाधिकरण मे ही अभिव्यक्त होता है । (स्वाधिकरण अर्थात् स्त्रीत्व पुंस्त्व रूप अधिकरण) और इस प्रकार निशा और शशि मे नायकत्व की सिद्धि अर्थात् अप्रकृत अर्थ का बोध, श्लिष्ट विशेषणों से अथवा व्यञ्जना से ही (आक्षेप से नहीं) होती है अभिधा से नहीं क्योंकि अभिधा का प्रकरण आदि के द्वारा प्रकृतार्थ मे नियन्त्रण हो जाता है ।

अतः व्यञ्जना की महिमा से ही अप्रकृत वाक्यार्थ से अभिन्न होकर प्रकृत वाक्यार्थ उपस्थित होता है । और इस प्रकार यह गुणीभूतव्यङ्ग्य का ही एक प्रकार है ।

पण्डितराज ने उद्भट आदि प्राचीन आचार्यों का मत उद्धृत अवश्य किया है किन्तु उसे यथावत् स्वीकार नहीं किया । प्राचीन मत मे शक्ति और आक्षेप से समासोक्ति में सर्वार्थ निर्वाह स्वीकार किया है और पण्डितराज ने शक्ति और व्यञ्जना अथवा श्लेष मे सम्पूर्ण अर्थ की सिद्धि अङ्गीकार की है ।

(६)

'सहोक्तिगत अप्रधान भाव का शाब्दत्व'

सहोक्ति अलङ्कार के दो अंश होते हैं—सहार्थ सम्बन्ध और अप्रधान भाव । इनमें से अप्रधान भाव के विषय में वहाँ यह विचार हुआ है कि वह शाब्द होता है या आर्थ । सिद्धान्त पक्ष मे वह शाब्द ही है पूर्वपक्ष उसे आर्थ मानता है । दोनों मतों के मध्य जो शास्त्रार्थ हुआ है वह इस प्रकार है—

सिद्धान्ती—सहोक्ति मे अप्रधान भाव सदा वाच्य ही रहता है क्योंकि सह पद का उपादान न होने पर भी सहभाव में विहित तृतीया विभक्ति से वह अभिहित हो जाता है ।

पूर्वपक्षी (वैयाकरण)—अप्रधानभाव शाब्द ही होता है यह कहना उचित नहीं है । यह आर्थ भी होता है । इस रूप से विचार करना चाहिये—यह अप्रधानभाव किंरूप है ? क्रियाद्यन्वयिता रूप या पदार्थान्तर रूप ? प्रथम रूप मानने पर यह सखण्ड अप्रधानत्व होगा और पदार्थान्तर मानने पर वह अखण्ड होगा । (क्रियाद्यन्वयिता मे दो खण्ड हैं—क्रियात्व और अन्वयित्व । अतः वह सखण्ड है ।) दोनों में से

कोई भी रूप मानने पर (सखण्ड और अखण्ड) वह शाब्द नहीं होगा क्योंकि उसका वाचक शब्द तो वहाँ कोई रहता नही ।

सि०--यह कहना ठीक नहीं है । प्रधानत्व चाहे सखण्ड हो या अखण्ड, उसमे कोई विवाद नही है । वह तो निश्चित है कि प्रधानत्व कुछ है जिसके कारण 'अयमस्मिन्नगरे प्रधान मुख्यः' इत्यादि व्यवहार आपामर व्यक्तियो को प्रसन्न करते है ।

उस प्रधानत्व के अभाव रूप अप्रधानत्व मे 'सहयुक्तेप्रधाने–' इत्यादि शास्त्र के द्वारा तृतीया की शक्ति कही जाने पर उसको अशाब्द कैसे कह सकते हैं ? अर्थात् उक्त सूत्र का अर्थ जब यह है कि 'तृतीया विभक्ति अप्रधानत्व की वाचिका है' तब अप्रधान भाव को अशाब्द कहना अनुचित है ।

पूर्व०---'सहयुक्तेऽप्रधाने–' इत्यादि सूत्र का अर्थ यह नही है कि तृतीया विभक्ति अप्रधानत्व की वाचिका है अपितु यह है कि जो सहार्थ से सम्बन्धित हो और वस्तुगत्या अप्रधान हो उसमे तृतीया होगी । अतः यह कहना अनुचित है कि तृतीया विभक्ति से अप्रधानभाव शाब्द हो जाता है ।

सिद्धा०---यदि 'सहयुक्तेऽप्रधाने–' इत्यादि का पूर्वपक्षी सम्मत अर्थ किया जायेगा तो 'अप्रधाने' पद व्यर्थ हो जायेगा क्योंकि 'पुत्रेण सहागतः पिता' इत्यादि मे पिता के साथ अन्तरङ्गत्व होने से प्रथमा विभक्ति ही उचित है और 'पुत्रेण सह पितुरागमनम्' इसमे 'उपपदविभक्तेः कारकविभक्तिर्बलीयसी' इस नियम से कारक विभक्ति की ही प्रबलता होगी । अतः 'अप्रधाने' पद का प्रयोग किये बिना ही पुत्र मे तृतीया प्राप्त हो ही जायेगी । यदि ऐसा नहीं मानेंगे तो 'षष्ठी शेषे' सूत्र में भी 'अप्रधाने' विशेषण का ग्रहण करना पड़ेगा (अर्थात् सम्बन्ध मात्र की विवक्षा होने पर षष्ठी होती है । सम्बन्ध द्विनिष्ठ होता है अतः दोनों सम्बन्धियों मे समान रूप से षष्ठी का ग्रहण हो सकता है परन्तु यहाँ भी अप्रधान पद का ग्रहण किये बिना ही दोनों सम्बन्धियों मे से अप्रधान सम्बन्धी में ही षष्ठी प्राप्त होती है । यदि यह प्राप्ति न होती तो 'षष्ठी शेषे' सूत्र मे भी 'अप्रधाने' पद देना आवश्यक हो जाता ।)

अतः जिस प्रकार 'हेतौ तृतीया' इत्यादि सूत्र हेतु में तृतीया की शक्ति का ग्राहक है वैसे ही 'सहयुक्तेऽप्रधाने' भी अप्रधान मे तृतीया की शक्ति का ग्राहक है । एवं च जैसे 'हेतौ तृतीया' मे प्रकृत्यर्थ का विभक्त्यर्थ से अभेदेन अन्वय होता है वैसे ही 'सहयुक्ते०–' मे भी प्रकृत्यर्थ और विभक्त्यर्थ मे अभेद सम्बन्ध होता है ।

धर्मी में (अप्रधान में) शक्ति होने पर भी कर्मत्वादि के समान अप्रधानत्व का भी शाब्दत्व अव्याहत है । षष्ठी के स्थल मे अप्रधान पद का ग्रहण न होने से अप्रधानत्व वाच्य नहीं है । यह दोनों में अन्तर है ।

पूर्व० 'पुत्रेण सहागत पिता' इत्यादि मे 'पुत्राभिन्नाप्रधानसहित' इस प्रकार का बोध प्रामाणिक नही है अत उपर्युक्त कथन की कि अप्रधानत्व व्याप्य है, सिद्धि नहीं होती ।

सिद्धा०-ऐसा नही कहना चाहिये क्योंकि 'दण्डेन घट:' इत्यादि मे 'दण्डजन्यतावान् घट:' इत्याकारक सार्वजनीन बोध मे 'हेतौ तृतीया' इस पाणिनिसूत्र का अवलम्ब लेकर 'दण्डाभिन्नहेतुको घट.' इत्याकारक बोध को बतलाते हुए आपके द्वारा ही यह सरणि दिखाई गई है । तथा 'भावप्रधानमाख्यातम्' इत्यादि अनेक मुनिवचनों से स्थल-स्थल पर आपके द्वारा किया हुआ विपरीत बोध भी अनुपपन्न है ।

अत. निष्कर्ष यही निकला कि अप्रधान भाव शाब्द ही होता है आर्थ नही ।

(यहां ध्यान देने योग्य बात यह है कि पूर्वपक्षी के मत मे अप्रधानत्व था क्रियान्वयित्वरूप या पदार्थान्तररूप और सिद्धान्ती (पण्डितराज) ने उसे माना है प्रधानत्वाभावरूप । दोनो के अनुसार अप्रधानत्व का स्वरूप भिन्न-भिन्न है । पण्डितराज का कौशल अवधेय है ।)

(१)

जाति, जाति के बाधक तत्त्व तथा उपाधि

न्याय :

जाति–विश्व भर की समस्त गो व्यक्तियों (गायों को) देखकर सभी को एक सा ही ज्ञान होता है कि 'यह गो है' (इयं गो) । इस ज्ञान के लिये उसे प्रत्येक गो को पृथक्-पृथक् रूप से यह बताने की आवश्यकता नही होती की 'यह गो है' । किसी एक गो के विषय में 'गो' करके बोध हो जाने पर स्वत: ही अन्य सब गो के विषय में उसे समान बोध हो जाता है । ठीक इसी प्रकार घट, पट आदि अन्य पदार्थों के साथ भी होता है । इस समान बोध का क्या कारण है, इसके उत्तर मे ही नैयायिकों ने जाति नामक पदार्थ को माना है । गो व्यक्तियों मे रहने वाली गोत्व नामक जाति है जिसके कारण 'इयं गौ:' करके सब गो के प्रति बोध होता है । घट में घटत्व जाति है जिसके आधार पर 'अय घट:' करके एक समान बोध होता है । अर्थात् किसी वस्तु में रहने वाला वह धर्म जिसके कारण वह वस्तु वह है जाति कहलाता है ।

नैयायिकों की इसी प्रणाली के द्वारा पण्डितराज ने अनेक आलङ्कारिक तत्वो का निर्णय किया है यथा चमत्कार, प्रतिभा, अनुमिति इत्यादि ।

चमत्कार है चमत्कारत्वविशिष्ट । चमत्कारत्व है एक जाति जिसकी सिद्धि सहृदयों की 'चमत्कार: चमत्कार.' इत्याकारक समान रूप से होने वाली प्रतीति है ।

अनुमिति है अनुमितित्वविशिष्ट । अनुमितित्व है एक जाति जिसकी सिद्धि 'अनुमिनोमि' इत्याकारक होने वाली समान प्रतीति से होती है ।

प्रतिभा है प्रतिभात्वविशिष्ट । प्रतिभात्व जाति है या उपाधि इसका कोई निर्णय नही दिया गया है अपितु विचारान्तर्गत मानकर विकल्पात्मक स्थिति मे छोड दिया है ।

किसी वस्तु को सिद्ध करने की यह शास्त्रीय पद्धति है । अलङ्कार शास्त्र जैसे अनुभूतिप्रधान विषय मे इसका उपयोग विशेष सहायक नही है तथापि ग्रंथकार के द्वारा निश्चिन्तभाव से उसका उपयोग किया गया है ।

इस जाति का लक्षण है- 'नित्यमेकमनेकानुगत सामान्यम्' । अर्थात् जो नित्य हो, एक हो और अनेक मे रहने वाली हो वह जाति होती है । किसी भी जाति मे यह तीन वस्तुएँ माननी आवश्यक है । इसमे से एक का भी अभाव होने पर वह जाति नही हो सकती ।

नित्य का तात्पर्य है जो अविनाश्य हो । जिस वस्तु मे रहे उसमें नित्य सम्बन्ध से रहे तथा समवाय सम्बन्ध से रहे । वह समुदाय मे अर्थात् अनेक मे रहे ।

जाति केवल द्रव्य, गुण और कर्म मे रहती है । (द्रव्यादि तीन पदार्थ द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, समवाय, अभाव-इन सात पदार्थों मे से तीन हैं ।) पर तथा अपर रूप से यह दो प्रकार की होती है-

'सामान्यं द्विविधं प्रोक्तं परं चापरमेव च ।
द्रव्यादित्रिकवृत्तिस्तु सत्ता परतयोच्यते ।।'

अपर जाति वह है जो पर मे भिन्न है 'परभिन्ना च या जातिः सैवापरतयोच्यते ।

जाति के बाधक तत्त्व :

जाति के बाधक कुछ तत्त्व हैं जिनके होने पर जाति नही मानी जा सकती । वे सब इस प्रकार सङ्गृहीत है—

व्यक्तेरभेदस्तुल्यत्वं सङ्करोऽथानवस्थितिः ।
रूपहानिरसम्बन्धो जातिबाधकसंग्रहः ।।

अर्थात् एक व्यक्ति मे रहना, व्यक्तियो की तुल्यता, पारस्परिक सङ्कर, जाति में जाति के मानने से अनवस्था होना, स्वरूप की हानि, समवाय सम्बन्ध का न बनना—ये सब वे कारण है जिनके कारण जाति नहीं बनती ।

(१) जो धर्म केवल एक ही व्यक्ति में रहता हो वह जाति नहीं कहलाता । जैसे किसी स्त्री में रामीयमातृत्व हो तो रामीयत्व को जाति नहीं कह सकते क्योंकि वह केवल उसी स्त्री विशेष में रहने वाला धर्म हैं ।

(२) जो धर्म पृथक्-पृथक् प्रतीत होते हों किन्तु एक ही व्यक्ति में रहते हों तो वह भी अनेक जातियों के नाम से अभिहित नहीं होंगे ।

(३) किसी वस्तु में पाये जाने वाले ऐसे दो धर्म जाति नहीं बना सकते जिनमें परस्पर सङ्कर हो अर्थात् जहाँ उन दोनों मे से एक के न रहने पर दूसरा रहे । (सङ्कर

का निरूपण इस प्रकार हुआ है–परस्परात्यन्ताभावसमानाधिकरणयोर्धर्मयोरेकत्र समावेश.। जहाँ एक के अभाव मे दूसरे की सत्ता प्राप्त हो।)

(४) जाति मे रहने वाली यदि जाति मानी जाय तो अनवस्था दोष होगा अत: वह जातिगत जाति जाति नही उपाधि होगी। जैसे द्रव्यत्व जाति मे रहने वाला द्रव्यत्वत्व धर्म उसकी जाति नहीं उपाधि है।

(५) विशेष अनन्त हैं ('नित्यद्रव्यवृत्तयो व्यावर्तका विशेषा.।' त० स०। पृ० १०४) क्योकि उनके द्वारा नित्य पदार्थ एक दूसरे से पृथक् किये जाते हैं। परमाणु आत्मा आदि के अनन्त होने के कारण विशेष भी अनन्त हैं। उनमे यदि विशेषत्व जाति मानी जायेगी तो विशेष का स्वरूप (व्यावर्तकत्व) ही नष्ट हो जायेगा। विशेष स्वय व्यावर्तक है। एक विशेष से दूसरे विशेष को व्यावृत्त करने के लिये किसी और कारण को मानने की आवश्यकता नहीं अत: यदि उसमे जाति (विशेषत्व) मानेगे तो उसकी व्यावर्तिका जाति ही हो जायेगी। इस प्रकार उसका स्वरूप नष्ट होगा अत: विशेष मे जाति नहीं होतीं।

(६) असम्बन्ध अर्थात् सम्बन्ध का अभाव समवाय में समवायत्व जाति मानने मे बाधक है। समवाय में समवायत्व जाति के रहने का कोई सम्बन्ध नहीं बन सकता (जाति को समवाय सम्बन्ध से रहना होता है) क्योंकि कोई भी जाति अपने आश्रय मे समवाय सम्बन्ध से ही रहती है अत: एक समवाय मे दूसरा समवाय रहे यह सम्भव नहीं।

उपाधि :

इस प्रकार उपर्युक्त बाधको के होने पर जाति नहीं मानी जाती। जहाँ जाति नहीं होती वहाँ उपाधि होती है क्योंकि उसके लिये यह सब बाधक तत्व नहीं है।

यह उपाधि यदि एक ही धर्म पर आधारित हो तो अखण्ड और अनेक धर्मों के कारण सखण्ड होती है।

(समवाय सबंध अवयव–अवयवी, जाति-व्यक्ति, गुण-गुणी, क्रिया-क्रियावान् और नित्यद्रव्य-विशेष में रहने वाला सबध है।)

इस प्रकार यह स्पष्ट हुआ कि जाति से उपाधि का क्षेत्र अधिक विस्तृत है। अत: जाति को उपर्युक्त जाति के रूप में ही मानने पर विरोधालङ्कार का स्थल बहुत सीमित हो जाता। उन सब स्थानों को जहाँ जाति या उपाधि नहीं है अपितु केवल धर्म मात्र है, सगृहीत करने के लिये ही कहा कि जाति की विवक्षा धर्म-मात्र में है। धर्म मात्र कह देने से उपाधि–सखण्ड और अखण्ड का भी संग्रह हो गया। 'बालकोऽपि पुराणपुरुष:' में बालकत्व और पुरुषत्व का विरोधी भी विरोधालङ्कार के अन्तर्गत आ गया यद्यपि बालकत्व एक जाति तथा पुराणपुरुषत्व एक सखण्डो-

पाधि । (पुराण पुरुषत्व मे पुरुषत्व एक जाति है परन्तु पुराणत्व तन्मात्रनिष्ठ एक धर्म है । अत: प्राचीनो के अनुसार माने गये दश भेदों मे से यह उदाहरण किसी भी भेद के अन्तर्गत नही आ सकता क्योकि जाति और उपाधि के विरोध वाला कोई उदाहरण नही । अब, जाति को धर्ममात्र मान लेने पर यह भी विरोधालङ्कार का उदाहरण बन गया क्योकि बालकत्व और पुराणपुरुषत्व निस्सदेह बालक और पुराणपुरुष मे रहने वाले धर्म ही है ।)

(२)

'निर्विशेषं न सामान्यम्'

न्यायशास्त्र के अतर्गत यह सिद्धांत है कि सामान्य मे से यदि विशेष को बहिष्कृत कर दिया जाय तो सामान्य कुछ भी नही बचेगा । सामान्य अनेक विषयों का ही एक समग्र रूप है । व्यष्टि से मिलकर ही समष्टि बनती है । घट सामान्य का आधार ही है घट विशेष । सामान्य घट में से यदि नीलघट, पीत घट, हरित घट आदि विशिष्ट-विशिष्ट घट व्यक्तियों को निकाल दिया जाय तो शेष रहेगा शून्य । इसी अभिप्राय से कहा गया है—'निर्विशेष न सामान्यम्' अर्थात् विशेष के बिना सामान्य कुछ नहीं है ।

(३)

'प्रत्यर्थं शब्दनिवेशः' तथा 'प्रतिप्रवृत्तिनिमित्तं शब्दभेदः'

प्रत्येक शब्द का प्रयोग उसके प्रवृत्तिनिमित्त के कारण होता है । जैसे काव्य पद का प्रयोग 'काव्यत्व' रूप प्रवृत्तिनिमित्त के कारण, घट पद का प्रयोग घटत्वरूप प्रवृत्तिनिमित्त के कारण होता है । शब्द का सङ्केत इसी प्रवृत्तिनिमित्त में रहता है । अतएव घट शब्द से जब घट पदार्थ की उपस्थिति होती है तो वास्तव में वह 'घटत्वविशिष्ट रूप' से होती है । श्रोता जब घट पद को सुनता है तो घटत्वविशिष्ट पदार्थ को समझता है । जिस प्रकार शब्द से उपस्थित होने वाले अर्थ में उस शब्द का प्रवृत्तिनिमित्त विशेषण के रूप मे ज्ञात रहता है उसी प्रकार वह शब्द भी विशेषण-तया उपस्थित रहता है । (शब्द से अर्थ का उपस्थापन होता है । शब्द है घट, उससे घटपदार्थरूप अर्थ का उपस्थापन होता है । उसका प्रवृत्तिनिमित्त है तद्गत असाधारण धर्म-घटत्व । अर्थात् घटरूप अर्थ है घटत्वविशिष्टघटरूप । इसमे घटत्वरूप प्रवृत्ति-निमित्त विशेषणतया ज्ञात रहता है । जिस प्रकार प्रवृत्ति निमित्त का विशेषणतया ज्ञान रहता है उसी प्रकार उस अर्थ के साथ उस अर्थ को उपस्थित करने वाले शब्द का भी विशेषणतया भान होता रहता है ।) इस प्रकार जब घ्+अ+ट्+अ इत्या-कारक शब्दानुपूर्वी भी पदार्थोपस्थिति में विशेषणतया प्रवृत्तिनिमित्त के रूप मे भासती है तो सूक्ष्म रूप से प्रत्येक शब्द का अर्थ भिन्न-भिन्न हो गया । घट और कलश पद

एक ही वस्तु के स्मारक होते हुए भी आनुपूर्वी के भेद से भिन्न-भिन्न अर्थों के उपस्थापक हो गये घट का प्रतिपाद्य है। घ्+अ+ट्+अ इत्याकारक आनुपूर्वीविशिष्ट घटत्वविशिष्ट घट पदार्थ और कलश का प्रतिपाद्य है क्+अ+ल्+अ+श्+अ इत्याकारक आनुपूर्वी से विशिष्ट कलशत्वविशिष्ट कलश रूप पदार्थ।

इस आनुपूर्वी का भान होता है इसमे प्रमाण है यह वाक्य 'न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके य. शब्दानुगमादृते। अनुविद्धमिव ज्ञान सर्वं शब्देन भासते।' अर्थात् किसी भी पदार्थ मे शब्द की अनुगामिता रहती ही है।

इसी आशय से यह कहा गया है—'प्रत्यर्थं शब्दनिवेश·' अर्थात् प्रत्येक अर्थ को बताने के लिये शब्द का प्रयोग आवश्यक होता है।

(४)

'वृत्तिवेद्यानां पदार्थानां संसर्गो वृत्त्यवेद्यः'

किसी वाक्यार्थ के अन्तर्गत दो पदार्थों का सम्बन्ध किस प्रकार जाना जाता है इसके उत्तर मे मीमांसको मे अन्विताभिधानवाद और अभिहितान्वयवाद करके दो मत प्रचलित हैं। इनमे से अभिहितान्वय वाद के ही अन्तर्गत दो मत और हो गये। यह दोनों मत नैयायिको के हैं क्योकि नैयायिकों ने ही उस पर आगे विचार किया।

यह एक सामान्य सिद्धांत है कि कोई भी शब्द तब तक प्रयोग योग्य अथवा सार्थक नहीं होता जब तक उसमे कोई विभक्ति न लग जाय। 'शब्दसाधुत्वार्थं विभक्तिः' यह एक सिद्धांत है, अर्थात शब्द की साधुता के लिये विभक्ति होती है। 'नीलः घटः' एक वाक्य है इसमें नील और घट इन दोनो पदों मे प्रथमा विभक्ति लगी है जिसका चिन्ह है सु। इस 'सु' का तात्पर्य प्रकृत स्थल मे अभेद संबध मे ही है। अतः सु विभक्ति का ही प्रतिपाद्य है अभेद रूप नील और घट इन दोनो पदों के मध्य का संबध। एक मत के अनुसार यह अभेद संबंध सु विभक्ति का वाच्य है। नील रूप पदार्थ नील शब्द की अभिधा वृत्ति से प्रतिपादित हो रहा है और घटरूप पदार्थ भी घट पद की अभिधा से प्रतिपादित हो रहा है अतः घट रूप पदार्थ और नीलरूप पदार्थ वृत्तिवेद्य है एव उनके मध्य का अभेद रूप संबध भी सु विभक्ति की अभिधा से प्रतिपादित होने के कारण वृत्तिवेद्य ही है। अतः सिद्धांत बना कि 'वृत्तिवेद्यपदार्थानां संबंधो वृत्तिवेद्यः'।

इसके विरोध में कुछ लोगों ने आक्षेप किया कि 'नीलः' इसमें नील पद की सु विभक्ति का वाच्य अभेद संबध नहीं है अपितु वह निरर्थक है केवल शब्द की साधुता के लिये ही है 'प्रातिपदिकार्थे प्रथमा' है उसका और कोई अर्थ नहीं है। क्योंकि सु का वाच्य यदि अभेद संसर्ग हो तो सु के अभाव में उस संसर्ग का बोध

नही होना चाहिये परन्तु स्थिति यह है कि नीलघट' कहने पर भी उस प्रकार का बोध होता है। दूसरे यदि सु का वाच्य अभेद मान भी लें तो 'राम: गच्छति' में भी राम में प्रयुक्त सु का अर्थ अभेद मानना पड़ेगा जब कि उसका तात्पर्य है कर्तृत्व में। राम रूप पदार्थ में और गमन रूप पदार्थ में अभेद सबंध नही है बल्कि कर्तृत्व संबंध है। यहा सु विभक्ति कर्तृत्व की वाचिका हो गई। क्या 'गज: पुस्तकम्' मे भी गज और पुस्तक मे अभेद सबंध मान लिया जाय? इनमे कोई आकांक्षा न होने से यहां अभेद तो क्या कोई भी सबध नही है। अत विभक्ति ससर्ग की वाचिका है यह कदापि मान्य नही हो सकता। इसी प्रकार अन्यत्र भी सु विभक्ति का भिन्न-भिन्न अर्थ प्राप्त होने से उसको अनेक अर्थों मे शक्ति माननी पडेगी जिससे एक प्रकार की अव्यवस्था होगी। इसलिये यह मानना चाहिये कि दो पदार्थों के बीच का सम्बन्ध उन पदार्थों की परस्पर आकांक्षा के बल पर ज्ञात होता है। किसी विभक्ति की शक्ति से नही। अर्थात ससर्ग आकाक्षाभास्य है वृत्तिवेद्य नही। यही सिद्धांत है 'वृत्तिवेद्य-पदार्थानां संसर्गो वृत्त्यवेद्य:।' इसी को ससर्गमर्यादा मे तथा प्रकारमर्यादा (प्रथम मत) से वाक्यार्थ बोध होना कहते हैं।

(५)

परिसंख्या एवं नियमविधि

नियम विधि:—'नानासाधनसाध्यक्रियायामेकसाधनप्राप्तावप्राप्तस्यापरसाधनस्य प्रापको विधिर्नियम.' अर्थात् अनेक साधनो से सम्पन्न हो सकने वाली क्रियाओं मे जब एक कारण (साधन) प्राप्त हो तो अप्राप्त अन्य साधनों (कारणो) की प्राप्ति कराने वाली विधि नियम विधि होती है। इसका प्रमाण है'—'विधिरत्यन्तमप्राप्तौ नियम: पाक्षिके सति'। अर्थात् जहाँ प्रमाणान्तर से अप्राप्त किसी अर्थ का विधान हो तो वहाँ अपूर्वविधि होती है तथा जहाँ किसी पक्ष विशेष की प्राप्ति प्रमाणान्तर से हो एवं अप्राप्त अश का विधान हो वहां नियम विधि कहलाती है। उदाहरण के लिये 'व्रीहीनवहन्ति' इत्यादि। व्रीहि का तुषविमोक (चावलो मे से धान हटाना) अवघात (कूटना) और नखविदलन (नख से एक-एक चावल को निकालना) दोनों से सम्भव है। नखविदलन से यदि तुषविमोक होगा तो अवहनन अत्यन्त अप्राप्त हो जायेगा। उस अप्राप्त अवहनन की प्रापिका होने से यह विधि नियम विधि हैं। वैतुष्यरूप क्रिया का अवहनन और नखविदलन आदि नाना साधनो से सम्पादन सम्भव होने पर, किसी एक को ग्रहण करने पर दूसरे की अप्राप्ति हो जाने पर, एक कारण को ही निश्चित कर देने से यह नियम विधि है। अप्राप्तांश की पूरक है।

परिसंख्या विधि:—'उभयोश्च युगपत्प्राप्तावितरव्यावृत्तिपरो विधि: परिसंख्या विधि:' अर्थात् जहां दो पक्षों की एक साथ प्राप्ति हो वहाँ एक का निषेध कर देने

वाली विधि परिसख्या विधि है। नियम विधि मे भी एक का ग्रहण और एक का निरास होता है किन्तु उस विधि के पूर्व उभय की प्राप्ति एक साथ नही होती। जैसे परिसंख्या का एक उदाहरण है-'पञ्च पञ्चनखा भक्ष्या' अर्थात् पांच पांचनाखून-वाले पशुओ को खाना चाहिये। (यह पञ्च पशु हैं शशक, शल्लकी, गोधा, खड्गी और कूर्म।) इसमें इन पञ्चनख पशुओं के साथ ही, एक ही समय मे अन्य पञ्चनख पशुओं की भी प्राप्ति हो सकती है। (एक ही साथ दोनो का भक्षण हो सकता है।) परन्तु व्रीहि का वैतुष्य करने के लिये अवहनन और नखविदलन का एक साथ प्रयोग ही नहीं कर सकते। कोई विधान न होने पर, विकल्प से एक का ग्रहण करने पर स्वतः दूसरे का निरास हो जायेगा। अत. उसमे (नियम विधि मे) एक ही पक्ष की प्राप्ति रहती है, उभय की नही और परिसंख्या मे उभय की प्राप्ति रहती है पक्ष की नही।

नियमविधि में विधान प्रमुख होता है। अर्थात् 'व्रीहीनवहन्ति' कहने पर प्रधानता है अवहनन के ग्रहण की न कि नखविदलन के त्याग की। और परिसंख्या मे विशेष अभिप्राय रहता है निषेध मे। 'पञ्च पञ्चनखाः भक्ष्याः' कहने में तात्पर्य है तदतिरिक्त पञ्चनख भक्ष्य नहीं हैं। अर्थात् शशकादि पञ्च पशुओं का भक्षण हो या न हो आवश्यक बात यह है कि तदतिरिक्त पञ्चनखो का भक्षण न हो।

इस प्रकार नियम और परिसंख्या में मुख्य भेद है पाक्षिक प्राप्ति और युगपत् प्राप्ति का तथा विधानात्मकता और निषेधात्मकता का।

वैयाकरणों की दृष्टि में नियम और परिसंख्या का विषय पृथक् नहीं है। नियम और परिसख्या मे पाक्षिक प्राप्ति और युगपत्प्राप्ति को लेकर भेद होते हुए भी एक साम्य है कि दोनों मे ही सामान्य रूप मे प्राप्त किसी अर्थ का किसी विशेष विशेष अर्थ के द्वारा व्यावर्तन हो जाता है। 'व्रीहीनवहन्ति' में, व्रीहि का वैतुष्य सामान्य रूप से अवहनन और नखविदलन दोनों प्रकार से प्राप्त है उसमे से नखविदलन के प्रति व्यावर्तकता है। अर्थात् व्रीहीनवहन्ति कहने से (विशेष रूप से विधान हो जाने पर) नखविदलन रूप सामान्य अर्थ की व्यावृत्ति हो गयी। ठीक इसी प्रकार परिसंख्या मे भी 'पञ्च पञ्चनखाः भक्ष्याः' कहने से अन्य पञ्चनखों की जो सामान्य रूप से प्राप्ति होती थी उसका निरास हो गया। अतः विशेष विधान के द्वारा सामान्य का व्यावर्तन रूप धर्म दोनों विधियों में समान है। इसी साम्य पर आश्रित लक्षण है परिसंख्यालङ्कार का। इससे नियमविधि का यदि किसी अलङ्कार में विषय हो तो वह भी इसी के अन्तर्गत आ जायेगा।

(६)

'उपमितं व्याघ्रादिभिः सामान्याप्रयोगे' तथा 'मयूरव्यंसकादयश्च'

'उपमित व्याघ्रदिभि सामान्याप्रयोगे' इस (२।१।५५) सूत्र के पूर्व का सूत्र है 'उपमानानि सामान्यवचनैः' (२।१।५४) इसका अर्थ है कि उपमानवाची सुबन्त सामान्यवाची समानाधिकरण सुबन्तों के साथ विकल्प से समास को प्राप्त होते हैं। जिस प्रकार घनश्यामो देवदत्तः तथा शस्त्रीश्यामा देवदत्ता। इन उदाहरणों मे घन तथा शस्त्री उपमान तथा देवदत्त उपमेय है। श्यामत्व है सामान्यवचन अथवा साधारण धर्म। अतः श्यामा के साथ समास हुआ है। (उपमान घन आदि का सामान्य वचन श्यामादि के साथ समास हुआ है) इसी सूत्र का अपवाद रूप है 'उपमित व्याघ्रादिभि. सामान्याप्रयोगे' यह सूत्र (२।१।५५)। इसका अर्थ है साधारण धर्म का प्रयोग न होने पर उपमेयवाची सुबन्त का समानाधिकरणवाची व्याघ्रादि समर्थ सुबन्तो के साथ विकल्प से समास होता वह समास तत्पुरुष होता है। उदाहरण के लिये पुरुषव्याघ्रः-व्याघ्र के समान शूरवीर, पुरुषसिंहः-सिंह के समान शूरवीर। इत्यादि शूरत्व है सामान्य धर्म इसका अकथन या अप्रयोग होने से उपमेयवाची पुरुष पद का समास हुआ। (इस सूत्र में व्याघ्रादि पद मे आदि पद से इन सबको समझना चाहिये- सिंह ऋक्ष, ऋषभ, चन्दन, वृक, वृष, वराह, हस्तिन्, तरु, कुञ्जर, रूरं, पृषु, पुण्डरीक, पलाश, कितव।)

द्वितीय सूत्र है 'मयूरव्यंसकादयश्च' (२।१।७१) जिसमें पूर्वसूत्रों से अनुवृत्ति आदि को लेकर 'मयूरव्यंसकादि गणपठित समुदायरूप शब्द भी समानाधिकरण तत्पुरुषसंज्ञक होते हैं'-यह अर्थ होता है। गणपठित अन्य शब्द इस प्रकार हैं-छात्रसंव्यक, कम्बोजमुण्ड, यवनमुण्ड, छन्दसि। हस्तेगृह्य, पादेगृह्य, लाङ्गूलेगृह्य पुनर्दाय। एहीडा-दयोऽन्यपदार्थे। एहीड, एहियवं, च एहिवाणिजा क्रिया, अपेहिवाणिजा, प्रेहिवाणिजा, एहिस्वागता, अपेहिस्वागता, एहिद्वितीया, अपेहिद्वितीया, प्रेहि द्वितीया,-(इत्यादि अनेक शब्द हैं जिनसे विशेष प्रयोजन न होने के कारण उनको यहां नहीं दिया जा रहा है।) 'मयूरव्यसंकादयश्च' इसमें अनुवृत्ति हुई है 'प्राक् कडारात् समासः' (२।१।३) से समासः की, 'सह सुपा' (२।१।४) से 'सह सुपा' की और 'तत्पुरुष.' (२।१।२१) से 'तत्पुरुष': की।

(७)

'उपमानादाचारे' तथा 'कर्तुः क्यङ् सलोपश्च'

क्यच्, क्यङ्, णमुल् आदि सब प्रत्यय हैं। व्याकरण शास्त्र के अनुसार इन प्रत्ययों का प्रयोग (सूत्रों के अनुसार भिन्न-भिन्न शब्दों के साथ भिन्न-भिन्न परिस्थितियों में) आचार के अर्थ में होता है।

अष्टाध्यायी के उपमानादाचारे (३।१।१०) इस सूत्र का अर्थ है कि उपमानवाची सुबन्त कर्म से आचार अर्थ में विकल्प से क्यच् प्रत्यय होता है। उपर्युक्त उदाहरण मे 'अनलः' सुबन्त है तथा अनलमिवाचरति इस प्रकार आचार के अर्थ मे प्रयोग हुआ है। अतः अनलीयति बन गया है।

उपमानादाचारे का वार्तिक है 'अधिकरणाच्चेति वक्तव्यम्'। अर्थात् उपमानभूत अधिकरण रहने पर भी सुबन्त पदो मे आचार अर्थ मे क्यच् प्रत्यय होता है।

इसी वार्तिक के अनुसार उपर्युक्त पद्य मे 'काननीयति' पद बना है। कानन है शब्द उससे क्यच् प्रत्यय जुड़ने से काननीयति (कानन इव आचरति अर्थ मे) बना है।

इसी प्रकार उसके आगे का सूत्र है (३।१।११) 'कर्तुः क्यङ् सलोपश्च' अर्थात् उपमानवाची कर्ता से आचार अर्थ में क्यङ् प्रत्यय विकल्प से होता है। तथा जो सकारान्त शब्द हो उनसे सकार का लोप हो जाता है। (इस सूत्र का अर्थ पूर्वोक्त सूत्र (३-१-१०) से सम्बन्ध जोड़ने पर ही निकलता है। अतः सम्पूर्ण सूत्र इस प्रकार बनता है—'उपमानादाचारे कर्तुः क्यङ् सलोपश्च' (इसमे प्रथम सूत्र की अनुवृत्ति हुई है) एव इसकी व्याख्या इस प्रकार होगी—उपमानवाचिनः कर्तुः सुबन्तादाचारेऽर्थ वा क्यङ् प्रत्ययः परश्च भवति, तत्र च सकारान्तो यः शब्दस्तस्य सकारस्य च वा लोपो भवति।

पूर्वोक्त उदाहरण (पद्य) मे निर्जलमीनायते शब्द इसी के अनुसार बना है। निर्जलमीन शब्द से कर्ता के अर्थ मे (मीन इव आचरति इति मीनायते) क्यङ् प्रत्यय लगा है।

सारांश यह है कि 'उपमानादाचारे' सूत्र के अनुसार 'अनलीयति', उसी सूत्र के वार्तिक 'अधिकरणाच्चेति वक्तव्यम्' के अनुसार काननीयति और उसके आगे के सूत्र 'कर्तुः क्यङ् सलोपश्च' के अनुसार निर्जल-मीनायते शब्द बने हैं। तीनो क्रमशः कर्म, अधिकरण और कर्ता के अर्थ मे हैं। उपमानवाचक आचार अर्थ मे क्यच् प्रत्यय का प्रयोग हुआ है।

(८)

उपमाने कर्मणि च

अष्टाध्यायी का सूत्र है 'उपमाने कर्मणि च' (३।४।४५) इसमे अनुवृत्ति होती है कर्त्रोः णमुल्, धातोः प्रत्ययः परश्च इनकी। जिसका अर्थ इस प्रकार बनता है—उपमान वाची कर्म और कर्ता के उपपद रहते धातुमात्र से णमुल् प्रत्यय होता है। जिससे उपमा दी जाय वह उपमान होता है जैसे मातृपायं पयति (जैसे माता पिलाती है वैसे

पिलाती है।) गुरुसेव सेवते (जैसे गुरु की सेवा की जाती है वैसे सेवा करता है।) इसी अर्थ मे इसी सूत्र के अनुसार सुधापाय और निर्झराबासः पद बने हैं।

(६)

'कर्तर्युपमाने' इवे प्रतिकृतौ 'लुम्मनुष्ये'

कर्तर्युपमाने—।३।२।७९। इस सूत्र मे पूर्व-कथित सूत्र से 'णिनि' की अनुवृत्ति होती है जिससे इसका अर्थ होता है कि उपमानवाची कर्ता यदि उपपद हो तो धातुमात्र से णिनि प्रत्यय होता है। जैसे 'उष्ट्रक्रोशी' (ऊँट के समान ध्वनि करने वाला) इत्यादि। पण्डितराज ने इसका उदाहरण दिया है 'कोकिलालापिनी' (कोकिल के समान बोलने वाली) इसमें 'कोकिल इव आलाप करोति' यह अर्थ अन्तर्निहित होने से उपमा है।

'इवे प्रतिकृतौ'- (५।३।९६) इसमे भी 'कन्' की अनुवृत्ति होगी। अर्थात् सूत्र का अर्थ इस प्रकार होगा कि इव का अर्थ जब प्रतिकृति के रूप में (तुल्यता, समानता) आये तो कन् प्रत्यय होता है। (अवक्षेपणे कन् (५।३।९५) से कन् की अनुवृत्ति हुई है।) इसी का एक प्रतिषेध सूत्र है 'लुम्मनुष्ये' (५।३।९८) अर्थात् यदि सज्ञावाचक शब्द मनुष्य से सम्बन्धित हो तो उस कन् का लोप हो जाता है। 'लुम्मनुष्ये' का पूरक सूत्र है 'सञ्ज्ञायां च' (५।३।९७) सभी सज्ञावाचक पदो में भी (समूह वाचकता होने पर) कन् का प्रयोग होगा—इसी के आगे है लुम्मनुष्ये अर्थात् वह सज्ञावाचक शब्द यदि मनुष्य से सम्बन्धित होगा तो कन् का लोप हो जायेगा। इवे प्रतिकृतौ का उदाहरण है—अश्वकः (अश्व इव) और लुम्मनुष्ये का उदाहरण है 'चञ्चा' (चञ्चा इव मनुष्यः) पण्डितराज ने इसका उदाहरण दिया है—'चञ्चा पुरुषः सोऽयं यः स्वहितं नैव जानीते।'

इसी प्रकार उपमानलुप्ता का भी एक तीसरा भेद दिखाते हैं—'यच्चोराणामस्य ....' इत्यादि इसमें एक शब्द है 'काकतालीयम्' जो 'समासाच्च तद्विषयात्' (५।३।१०६) के अनुसार काक इव ताल इव काकतालमिति काकताल-समागम-सदृशश्चोराणामस्य च समागम इस अर्थ का बोधक है। 'समासाच्च तद्विषयात्' मे अनुवृत्ति है 'कुशाग्राच्छ' (५।३।१०५) के 'छ' की जिसका तात्पर्य यह हो जाता है कि किसी समास मे इव का अर्थ होने पर उस समासान्त पद में छ प्रत्यय होगा। 'काकतालीयो देवदत्तस्य वधः' में काकताल समागम के समान चोर का समागम और तत्प्रयुक्त 'काकमरण के समान वध' यह समास का अर्थ है। (अर्थात् कोई समस्त पद इवार्थविषयक हो तो उसमें छ प्रत्यय होता है।)

(१०)

मीमांसागत 'कुशमयबर्हिः शरमयबर्हिः' उदाहरण एवं व्याकरणगत 'च्लेः सिच्' 'शल इगुपधादनिटः क्सः' उदाहरण

सामान्य यज्ञ के प्रकरण मे विधान प्राप्त है 'कुशमयबर्हि.' अर्थात् बर्हि को कुशयुक्त (कुश से युक्त) होना चाहिये और आभिचारिक याग के अन्तर्गत विधान मिलता है 'शरमय बर्हिः' अर्थात् बर्हि शरमय होना चाहिये। प्रथम विधान के अनुसार अभिचारिक यज्ञ भी यज्ञत्व होने के कारण कुशमय बर्हि प्राप्त है परन्तु विशेष रूप से कुशमय बर्हिका विधान हो जाने से कुशमथ बर्हि का बाध हो गया। तात्पर्य यह हुआ कि किसी सामान्य नियम के विधान के पश्चात् भी यदि उससे आक्रान्त विषय मे ही कोई विशेष विधान प्राप्त हो तो उस स्थान पर सामान्य नियम बाधित हो जाता है और तदतिरिक्त स्थान पर ही उसकी उपयोगिता रहती है।

व्याकरण शास्त्र मे 'च्लेः सिच्' (३।१।४४) इस सूत्र से सामान्य रूप से च्लि प्रत्यय के स्थान पर सिच् आदेश हो जाता है ऐसा सामान्य विधान है। उसी च्लि प्रत्यय के स्थान में ही शल इगुपधादनिटः क्सः (३।१।४५) इस सूत्र से 'क्स' आदेश भी विशेष रूप से प्राप्त है। अतः दोनो विधियो का एकत्र समन्वय न होने से बाध्य-बाधक भाव मानना पड़ता है और सामान्य विधि वाचक वाक्य का विशेष विधि वाचक वाक्यबाधक हो जाता है। इस प्रकार विशेष विधान-क्स आदेश जहाँ होता है उसके अतिरिक्त स्थल पर ही सिच् का आदेश होगा।

(११)

'कर्त्तरि कृत्' तथा 'लः कर्मणि च भावे चाकर्मकेभ्यः'

अष्टाध्यायी के इन दो सूत्रों 'कर्तरि कृत्' (३-४-६७) तथा 'लः कर्मणि च भावे चाकर्मकेभ्य·' (३-४-६९) का अपना अर्थ तो इतना ही है कि कृत् प्रत्यय वहाँ होते है जहाँ कर्ता अर्थात् व्यापाराश्रय की अभिव्यक्ति होती है। (कृत् प्रत्यय का तात्पर्य है कुछ प्रत्ययो के समूह विशेष मे जिनका विधान हुआ है वे सब कर्त्ता कारक मे होते हैं)। जैसे–तृच्=कृतृ:; ण्वुल् = पाचक आदि।

दूसरे सूत्र का पूरा रूप होगा–'(धातोः) लः कर्मणि (कर्त्तरि) भावे चाकर्मकेभ्यः।' (कोष्ठकान्त पद पूर्वसूत्र की अनुवृत्ति या अधिकार रूप है।) इसका अर्थ हुआ कि धातु से लकार का अभिधान होता है–सकर्मक धातुओं मे कर्त्ता और कर्म में तथा अकर्मक धातुओं में कर्त्ता और भाव में। (देहली दीपक न्याय से 'कर्त्तरि' पद का सम्बन्ध कर्मणि और भावे दोनों से होता है।)

'कर्त्तरि कृत्' इस सूत्र मे धर्मी अर्थात् व्यापाराश्रय के अर्थ मे सप्तम्यन्त कर्त्तरि पद की 'लः कर्मणि—' सूत्र मे अनुवृत्ति हुई है, परन्तु कर्तृ पद धर्मी का नही केवल धर्म अर्थात् व्यापार का प्रतिपादन करता है ।

(१२)

'कृत्तद्धितसमासाश्च'

पाणिनि का एक सूत्र है 'अर्थवदधातुरप्रत्यय प्रातिपदिकम् ।' (१।२।४५) अर्थात् अर्थवान् (सार्थक) शब्दो की प्रातिपदिक सज्ञा होती है धातु और प्रत्ययो को छोड कर । इसके आगे का सूत्र है 'कृत्तद्धितसमासाश्च' (१।२।४६) तथा पूर्व सूत्र से 'प्रातिपदिकम्' की अनुवृत्ति होती है । इसका अर्थ इस प्रकार होगा कृदन्त और तद्धितान्त की तथा समास की भी प्रातिपदिक सज्ञा होती है ।

पूर्वसूत्र मे प्रत्यय का निषेध कर देने से कृत् प्रत्ययान्त तथा तद्धित प्रत्ययान्त शब्दो की प्रातिपदिक सज्ञा नही हो सकती है । अतः उसका ग्रहण करने के लिये यह सूत्र कहना पडा ।

परिसख्यालङ्कार के प्रसङ्ग मे पण्डितराज ने कहा कि परिसख्या और नियम विधि मे जो भेद है वह अवान्तर भेद है, वास्तविक नही क्योकि विशेष से सामान्य का निषेध रूप अश दोनो मे समान रूप से है । आलङ्कारिको के ही नही वैयाकरणो के मत मे भी इन दोनो मे कोई भेद नही है । (वैयाकरणों के इस मत की सिद्धि के लिये ही कवि ने अष्टाध्यायी का उपर्युक्त अश उद्धृत किया है । प्रस्तुत प्रसग मे उसकी सङ्गति इस प्रकार है)

'कृत्तद्धितसमासाश्च' इस सूत्र मे समास का ग्रहण नियम करने के लिये किया गया है–ऐसा उनका (वैयाकरणों का) सिद्धांत है । तात्पर्य यह है कि 'राजपुरुष' इस समुदाय का अर्थवान् होने से और धातु, प्रत्यय और प्रत्ययान्त शब्दो से भिन्न होने के कारण 'अर्थवदधातुरप्रत्ययः प्रातिपदिकम्' इस सूत्र से ही प्रातिपदिकत्व प्राप्त था वहाँ कृत्तद्धित–आदि सूत्र मे समास ग्रहण 'यत्र सङ्घाते पूर्वो भाग. पदं तस्य चेद् भवति तर्हि समासस्यैव' इस नियम के लिये हुआ है । (अर्थात् जहाँ समास मे पूर्वभाग पद हो वहाँ समास की ही प्रातिपदिक संज्ञा हो जाती है ।) अतः राज्ञः पुरुषः इस वाक्य की अर्थवत्त्वेन ही (अर्थयुक्त रूप से) प्राप्ति हो जाने पर भी समास की ही प्रातिपदिक संज्ञा होगी ऐसा नियम नहीं होता है । यदि मीमांसा के समान पाक्षिक प्राप्ति होने पर ही नियम होता हो तब समास में प्रातिपदिक सज्ञा की वैकल्पिक प्राप्ति नहीं होगी, तब फिर समासग्रहण का नियमत्व कैसे कहा जायेगा ? इस प्रकार आलङ्कारिकों के समान ही वैयाकरणों के अनुसार भी नियम–परिसख्या में ऐक्य होने पर 'राजपुरुषः' इस समास में तथा 'राज्ञः पुरुषः' इस वाक्य में सामान्य रूप से प्राप्त अर्थवत् इस सूत्र से

प्रातिपदिक संज्ञा अर्थ की समासग्रहणरूप विशेष से व्यावृत्ति हो जाती है। अतएव यह नियम भी परिसंख्या है।

(१३)

'गतिबुद्धिप्रत्यवसानार्थशब्दकर्माकर्मकाणामणि कर्ता स णौ'

'गतिबुद्धिप्रत्यवसानार्थशब्दकर्माकर्मकाणामणि कर्ता स णौ' (१।४।५२) इस सूत्र का तात्पर्य यह है कि गति, बुद्धि, प्रत्यवसान, शब्दकर्म आदि अर्थ वाली और अकर्मक धातुओं के अणिजन्त अवस्था मे कर्ता, णिजन्त होने पर कर्म हो जाते हैं। जैसे शत्रव. स्वर्गम् अगच्छन् इसमे गम् धातु गत्यर्थक है एव अणिजन्त है। कर्ता है शत्रु। णिजन्त होने पर शत्रु कर्म हो जायेगा जैसे 'शत्रून् स्वर्गम् अगमयत्।' इत्यादि।

इस सूत्र की व्याख्या नवीन और प्राचीन वैयाकरणों ने पृथक्-पृथक् रूप से की है। प्राचीन मत के अनुसार यह सूत्र नियम विधि है और नवीन मत के अनुसार अपूर्वविधि रूप। प्राचीन मत के अनुसार यह सूत्र जहाँ पर द्वितीया का विधान करता है (ण्यन्त क्रिया के कर्ता मे) उसमे 'कर्तुरीप्सिततमं कर्म' इस सामान्य सूत्र से ही द्वितीया प्राप्त रहती है क्योकि हरिः शत्रून् स्वर्गमगमयत् इत्यादि स्थलो मे ण्यन्त कर्ता हरि का ईप्सिततम है शत्रु और अण्यन्तकर्ता शत्रु का ईप्सिततम है स्वर्ग अर्थात् णिजन्त गम् धातु के फल–उत्तरदेशसंयोगानुकूल व्यापारानुकूलव्यापार–का आश्रय है शत्रु और अणिजन्त गम् धातु के फल–उत्तरदेश संयोगानुकूलव्यापार–का आश्रय है स्वर्ग। 'फलाश्रयत्वं कर्मत्वम्' के अनुसार शत्रु और स्वर्ग इन दोनो मे द्वितीया प्राप्त है ही। इस प्रकार शत्रु पद में कर्तृत्व और कर्मत्व (णिजन्त और अणिजन्त अवस्थाओं से) दोनों की प्राप्ति होने पर गति–आदि सूत्र कर्तृत्व का निषेध कर कर्मत्व का विधान करता है। (अतः नियम विधि है, पाक्षिक प्राप्ति है।)

नवीनमत के अनुसार शत्रुपद में कर्मत्व प्राप्त ही नही होता। णिजन्त क्रिया का श्रौत कर्मत्व (तादृशव्यापारानुकूलव्यापाराश्रयत्व) भले ही शत्रु पद मे आता हो परन्तु आर्थ कर्मत्व तो केवल स्वर्ग में ही आता है। उत्तरदेशसयोगानुकूलव्यापारानुकूलव्यापार का वास्तविक कर्ता तो शत्रु ही है। दूसरे कर्म का विधायक सूत्र 'कर्तुरीप्सिततमं कर्म' के पश्चात् 'स्वतन्त्रः कर्ता' इस सूत्र का उल्लेख होने से 'अपादानसम्प्रदानकरणाधारकर्मणाम्। कर्तुश्चान्योन्यसन्देहे परमेकं प्रवर्तते॥' के अनुसार कर्ता की ही प्राप्ति होती है शत्रु पद से। तीसरा कारण यह है कि कर्मत्व का उपजीव्य (मूल) है कर्तृत्व। अतः इन तीन कारणों से शत्रु पद में कर्तृत्व ही प्राप्त है कर्मत्व नहीं अत अप्राप्त कर्मत्व का विधान करने से 'गति–' आदि सूत्र अपूर्व विधि है।

इन दोनो व्याख्याओं के आधार पर 'उच्चैर्गजैरटनमर्थयमान–' इत्यादि पद्य मे 'उच्चाटन लम्भयसे माम्' में माम् पद को अशुद्ध बताया गया है। लभ् धातु गति आदि सूत्र के अन्तर्गत नही आती अतः प्राचीन मत मे माम् मे द्वितीया की प्राप्ति ही नहीं होती और नवीन मत मे 'माम्' अशुद्ध ही है। उसके स्थान पर मया होना चाहिये था।

(१६)

'धातुनोक्तक्रिये नित्यं कारके कर्तृतेष्यते'–(वाक्यपदीय)

एक ही वाक्य मे जब दो कारक विभक्ति हो तो उनमे से कर्ता किसको माना जाये यह है समस्या। उदाहरण के लिये 'राम ग्राम गच्छति' इस वाक्य मे रामः भी एक कारक (कर्त्ता कारक) है और 'ग्रामं' भी कारक (कर्म कारक) है। इससे राम को ही कर्ता माने, ग्राम को नही इसमे क्या प्रमाण है? इसी का उत्तर अथवा प्रमाण है उपर्युक्त वाक्य। अर्थात् जिस कारक की क्रिया धातु के द्वारा कह दी गयी है वही कारक कर्ता कारक होगा। 'रामः ग्राम गच्छति' मे गच्छति क्रिया राम की ही हो सकती है ग्राम की नहीं अतः राम मे ही कर्तृत्व है ग्राम मे नही।

धातुनोक्तक्रिये कारके का विशेषण है। उसका विगृहीत रूप है धातुना उक्ता क्रिया यस्य स, तस्मिन् (कारके कर्तृता इष्यते।) अर्थात् धातु से जिस कारक की क्रिया कही जाय वही कारक कर्ता कारक होता है।

(१७)

परावनुपात्यय इणः-(सूत्र) तथा–ल्यब्लोपे कर्मण्यधिकरणे च–(वार्तिक)

पर्याय शब्द की व्युत्पत्ति इस प्रकार है—पाणिनि का एक सूत्र है 'परावनुपात्यय इणः' (३।३।३८) इस सूत्र की पूर्ति होती है 'अकर्तरि च कारके संज्ञायाम्' (३।३।१९।) इस अधिकार सूत्र की अनुवृत्ति से। (अनुवृत्ति होने पर पूरा सूत्र इस प्रकार बनता है—अकर्त्तरि च कारके, भावे घञ्, धातोः, प्रत्ययः परश्च। अर्थात् परिपूर्वाद् इण्धातोः, अनुपात्यये क्रमप्राप्तस्यानतिपातेऽर्थे कर्तृभिन्ने कारके संज्ञायां भावे च घञ् प्रत्ययो भवति।) इसका अर्थ इस प्रकार होता है परि उपसर्ग पूर्वक इण् धातु से अनुपात्यय अर्थात् क्रम या परिपाटी अर्थ मे कर्तृभिन्न कारक संज्ञा विषय मे तथा भाव मे घञ् प्रत्यय होता है। परि+आय्+घञ् इससे यणादेश (इ–य) होकर पर्याय बना है। इसका अर्थ है बारी, क्रम अथवा परिपाटी। अब यदि इस योगार्थ मात्र को ही अलङ्कार के अन्तर्गत मानेगे तो इसके लक्षण में अतिव्याप्ति दोष होगा। अतः उसके लक्षण में से अन्यतर (पर्याय के दो रूपों में से कोई एक) ही पर्याय का लक्षण मानना चाहिये न कि उसका यौगिक अर्थ मात्र।

'ल्यब्लोपे कर्मण्यधिकरणे च'—

इस वार्तिक का अर्थ है कि जब ल्यप् अथवा क्त्वा प्रत्ययों से अन्त होने वाली क्रिया वाक्य में प्रकट नहीं की जाती, किन्तु छिपी रहती है तो उस क्रिया के कर्म और आधार में पञ्चमी होती है। जैसे 'श्वशुराज्जिह्रेति।' वास्तव में इसका तात्पर्य है 'श्वशुरं वीक्ष्य दृष्ट्वा वा जिह्रेति।' इसमें क्रिया के कर्म श्वशुर में पञ्चमी आयी है। 'आसनात् प्रेक्षते' अर्थात् 'आसने उपविश्य स्थित्वा वा प्रेक्षते' इसमें प्रेक्ष्य अथवा स्थित्वा इस ल्यबन्त और क्त्वान्त क्रिया के अधिकरण आसन में पञ्चमी विभक्ति लगी है। ठीक उसी प्रकार उक्त उदाहरण में 'भवनात्' में भी अधिकरण में पञ्चमी आयी है। इस वार्तिक के अनुसार पञ्चमी इसलिये मानी है क्योंकि अन्य 'अपादाने पञ्चमी' आदि सूत्रों के अनुसार पञ्चमी मानने पर इस पद्य का अर्थ ठीक नहीं बैठता।

(१८)

'प्रकारे गुणवचनस्य'

'प्रकारे गुणवचनस्य' सूत्र अष्टाध्यायी का (८।१।१२) सूत्र है जिसका अर्थ है कि सादृश्य (प्रकार) को बताने के लिये गुणवाची शब्द का द्वित्व हो जाता है। जैसे 'पटुपटुर्देवदत्तः।'

पण्डितराज ने इस मत का खण्डन किया और कहा कि सूत्र का यह अर्थ नहीं है जो अप्पयदीक्षित ने ऊपर कहा है क्योंकि यह अर्थ मानने पर कैयट के इस भाष्य—द्विर्वचन का जो प्रकृतिरूप स्थानी है (पटु आदि) उसी का विशेषण है गुण वचन शब्द न कि 'प्रकारे' का क्योंकि प्रकार सर्वदा गुणवचन ही होता है। इसलिये विशेषण की सार्थकता के साधक दो तत्वों में एक तत्व—व्यभिचार की उपपत्ति नहीं होती अतः गुण वचन शब्द उसी के द्वित्व के स्थानी का विशेषण है और उसके सादृश्य के द्योतित होने पर उस शब्द का द्वित्व होता है—के साथ विरोध होता है।

एक सिद्धान्त है 'सम्भवव्यभिचाराभ्यां स्याद्विशेषणमर्थवत्' अर्थात् सम्भव और व्यभिचार होने पर ही विशेषण सार्थक होता है। उदाहरण के लिये 'नीली गौः' कहने पर 'नीली' विशेषण तभी सार्थक होगा जब नीली गाय की सम्भावना हो और नीली के अतिरिक्त अन्य वर्ण की भी गाय हो जहाँ 'नीली गौः' इसका व्यभिचार हो। यदि इनमें से एक का भी अभाव हो तो विशेषण की सार्थकता नहीं हो सकती। 'शृङ्गवान् मनुष्यः' और 'द्विनेत्रो मानवः' इसमें शृङ्गवान् और द्विनेत्र यह दोनों ही विशेषण निरर्थक हैं क्योंकि शृङ्गवान् होने की सम्भावना नहीं और द्विनेत्र का व्यभिचार नहीं—सभी मानव द्विनेत्र हैं। विशेषण की सार्थकता यह निकष होने पर अब यह परीक्षण किया जाय कि उपर्युक्त सूत्र में गुण का वचन शब्द किसका विशेषण है?

पटुपटुर्देवदत्तः मे पटु शब्द का द्वित्व हुआ है । पटु है स्थानी (जिसको द्वित्व हुआ है उसका प्रकृति भाग) । प्रश्न है कि गुणवचन शब्द इस स्थानीभूत पटु शब्द का विशेषण है अथवा प्रकार (सादृश्य) का । प्रकार का विशेषण हो नही सकता क्योकि प्रकार सर्वत्र ही गुणवाचक होता है, (वह न क्रिया रूप है न जाति रूप अतः गुण रूप ही है) अतः इसमें कही भी व्यभिचार नही है । गुण के अतिरिक्त भी किसी का उपस्थापन यदि होता तो प्रकार शब्द गुणवचन (गुणवाचक) का विशेषण हो सकता था । अतः सादृश्य का द्योतक है द्विर्भाव न कि वाचक ।

(१६)

'भावप्रधानमाख्यातम्' 'सत्वप्रधानानि नामानि'

(निरुक्त वाक्य)

(यह अश निरुक्त के भाष्य की यास्क भूमिका के प्रथम अध्याय, प्रथम पाद का आरम्भिक अश है) निरुक्त के अनुसार शब्द चार प्रकार के होते हैं—नाम, आख्यात, उपसर्ग और निपात । उनमे से आख्यात का लक्षण है–'भावप्रधानमाख्यातम्' और नाम का लक्षण है 'सत्त्वप्रधानानि नामानि' । अर्थात् क्रिया प्रधान आख्यात है और द्रव्यप्रधान नाम है ।

भाव, क्रिया, कर्म यह सब समानार्थक हैं । 'आख्यायते प्रधान भावेन क्रिया, गौणत्वेन द्रव्य च यत्र तदाख्यातम्' यह आख्यात शब्द की निरुक्ति है । पचति= पकाता है-इससे क्रिया का भी बोध हो जाता है और द्रव्य (देवदत्त, यज्ञदत्त आदि किसी भी व्यक्ति विशेष) का भी बोध होता है । परन्तु प्रधानतया क्रिया का ही बोध होता है क्योकि पचति कहने से क्रिया तो निश्चित हो जाती है कि पकाने का कार्य ही हो रहा है अन्य नही परन्तु द्रव्य के सम्बन्ध मे निश्चय नहीं होता कि कौन व्यक्ति पका रहा है । इसी प्रकार 'देवदत्तः' इससे द्रव्य (देवदत्त) का भी बोध होता है और क्रिया (पचति, स्वपिति, खादति आदि) का भी बोध होता है । परन्तु प्रधानतया द्रव्य का ही बोध होता है क्योंकि देवदत्त कहने से द्रव्य (देवदत्त) का तो निश्चय हो जाता है कि देवदत्त ही है यज्ञदत्त, प्रभुदत्त आदि नहीं है परन्तु क्रिया निश्चित नहीं होती कि पाचन भोजन, शयन आदि मे से कौन सी हो रही है । अतः स्पष्ट हुआ कि जिनसे प्रधान रूपेण क्रिया का (भाव का) बोध हो वह आख्यात और जिनसे द्रव्य का बोध हो वह नाम होते हैं ।

अन्यच्च, 'देवदत्त. किं करोति ?' इस प्रकार क्रिया के प्रश्न मे आख्यात से उत्तर दिया जाता है 'पचति ।' और कः पचति मे द्रव्य के प्रश्न मे उत्तर दिया जाता है 'देवदत्तः' इस नाम से । इससे भी स्पष्ट है कि आख्यात भाव प्रधान (क्रिया प्रधान) और नाम (द्रव्य) सत्त्व प्रधान होते हैं ।

आख्यात चार प्रकार का होता है - कर्ता मे, भाव मे कर्म मे, और कर्मकर्ता मे। 'पचति देवदत्त.' कर्ता मे है, 'भूयते देवदत्तेन' भाव मे है, 'पच्यते ओदन: देवदत्तेन' कर्म मे है और 'पच्यते ओदन स्वयमेव' कर्मकर्ता मे है। इन सब आख्यात पदो में क्रिया की ही प्रधानता है। इसी से आख्यात को भावप्रधान कहते हैं। वह भावप्रधानता ही उसका लक्षण है।

प्रसङ्गत: यह स्पष्ट कर देना भी अनुचित न होगा कि क्रिया किस्वरूपा मानी गयी है (वैयाकरणो के अनुसार)। निरुक्त का वाक्य है—'पूर्वापरीभूत भावमाख्यातेनाचष्टे व्रजति पचतीत्युपक्रमप्रभृत्यपवर्गपर्यन्तम्।' अर्थात् आरम्भ से लेकर समाप्ति पर्यन्त अगली पिछली सब क्रियाओ को व्रजति—जाता है, पचति–पकाता है, इत्यादि आख्यात से लोक कहता है। भाव की दो अवस्थायें होती हैं। एक साध्यावस्था और दूसरी सिद्धावस्था जिसे भाव की सम्पूर्णावस्था कह सकते हैं। इनमे से भाव की पहली अवस्था - साध्यावस्था—आख्यात से प्रतीत होती है।

आख्यात पदो का यह स्वभाव है कि जबसे क्रिया का आरम्भ होता है तब से लेकर उसकी समाप्ति पर्यन्त जो अवस्था है उस सबको वह प्रकट करते हैं। उदाहरण के लिये चावल लेना, उसको धोना, पानी सहित अग्नि पर रखना, उसका खौलना एवं उसका उतारना–इत्यादि सबका वाचक है पचति। चावल लेने से लेकर चावल उतारने तक की सभी क्रियायें पचति शब्द से ही कही जाती है। चावल-प्रक्षालन भी पाचन है, चावल का खौलना भी पाचन है और चावल का उतारना भी पाचन है। उसे उतारने के पश्चात् ही पाचन क्रिया की समाप्ति होती है। इसके बीच में 'किं करोति' का उत्तर 'पचति' ही होगा अन्य नही। अर्थात् पाचन क्रिया उन सब क्रियाओं मे व्याप्त है जो उस बीच (चावल लेने से चावल उतारने तक) हो रही है (धोना, अग्नि पर रखना आदि) इसी प्रकार 'गच्छति, स्वपिति–' आदि अन्य सभी क्रियाएँ इसी प्रकार साध्यावस्था को घोतित करती हैं, सिद्धावस्था को नहीं। अर्थात् क्रिया कोई एक कार्य नहीं अपितु अनेक क्रियाओं की एक क्रम परम्परा है—व्यापार रूप है। इसी आशय को सम्मुख रखते हुए किसी आचार्य ने कहा है—

'क्रियासु बह्वीष्वभिसंश्रितो यः पूर्वापरीभूत इवैक एव।
क्रियाभिनिर्वृत्तिवशेन सिद्ध आख्यातशब्देन तमर्थमाहुः॥'

अर्थात् जो अनेक क्रियाओं में आश्रित रहता है, जिसमे पूर्वापर भाग प्रतीत तो होते हैं परन्तु वास्तव में एक ही है और जो अनेक क्रियाओं की सिद्धि के अधीन सिद्ध होता है, उसको विद्वान् लोग आख्यात कहते हैं।

इस प्रकार क्रिया का स्वरूप वैयाकरणों के अनुसार व्यापार रूप हुआ और आख्यात का भावप्रधानत्व एवं नाम का सत्वप्रधानत्व निश्चित हुआ।

(२०)

'यथासंख्यमनुदेशः समानाम्' 'लोमादिपामादिपिच्छादिभ्यः शनेलचः' तथा 'इको यणचि'

अष्टाध्यायी में यह सूत्र आया है 'यथासंख्यमनुदेशः सामानाम्' (१।३।१०) जिसका अर्थ है कि 'समान संख्या वाले शब्दों के स्थान में पीछे आने वाले शब्द यथा क्रम (पहले के साथ पहला, दूसरे के साथ दूसरा इस प्रकार) आते है।' इसका उदाहरण है 'इको यणचि'। अर्थात् इक् को यण् हो जाते हैं इस प्रकार कहने पर बोध यह होता है कि इ को य्, उ को व् और ऋ को र् तथा लृ को ल् हो जाते हैं। (इक् का अर्थ है 'इउण्। ऋलृक्।' इस माहेश्वर सूत्र के अन्तर्गत आये हुए इ, उ, ऋ और लृ। तथा यण् का तात्पर्य है 'य व र ट्। लण्।' इन माहेश्वर सूत्रों के अन्तर्गत आये य्, व्, र्, और ल्। इको यणचि का तात्पर्य हुआ इ, उ, ऋ और लृ को य्, व्, र् और ल् हो जायेंगे। दोनों ओर चार-चार अक्षर हैं अतः समसंख्यक है। समसंख्यक होने पर उपर्युक्त सूत्र के अनुसार इ को य, उ को व इत्यादि अन्वय होगा) इस सूत्र के पश्चात् आगे चलकर एक और सूत्र आता है 'लोमादिपामादिपिच्छादिभ्यः शनेलचः।' इस सूत्र का उचित अर्थ अथवा विवक्षित अर्थ तभी ज्ञात हो सकता है जब 'यथासंख्य-मनुदेशः समानाम्' इस सूत्र का यहाँ प्रयोग किया जाय क्योंकि 'लोमादि' सूत्र का अर्थ है लोमादि, पामादि और पिच्छादि से क्रमशः श, न और इलच् प्रत्यय होंगे। इसमें लोमादि से श, पामादि से न और पिच्छादि से इलच् प्रत्यय ही होंगे यह अर्थ व्युत्पत्ति (योग्यता ज्ञान) के आधार पर नहीं होगा क्योंकि यह लौकिक विषय नहीं है। अतः यदि प्रथम मत के अनुसार अन्वय बोध में योग्यता ज्ञान ही कारण होता है ऐसा माना जाय तो पाणिनि का 'यथासंख्यमनु--' इत्यादि सूत्र व्यर्थ हो जायेगा। 'लोमादि--' इत्यादि में जो उसकी उपयोगिता रहती है वह व्युत्पत्ति से ही प्राप्त हो जायेगी। इस प्रकार योग्यता ज्ञान को, अन्वय बोध में, पाणिनि का सूत्र व्यर्थ हो जाने के कारण, कारण (नियामक) नहीं मान सकते।

(२१)

'लोपः शाकल्यस्य'

पदान्त य् या व् के ठीक पूर्व यदि अ या आ रहे और पश्चात् अश् प्रत्याहार को कोई वर्ण आवे तो य् और व् का विकल्प से लोप हो जाता है और लोप होने के पश्चात् उनमें फिर कोई (यण, गुण सवर्ण दीर्घ, पूर्वरूप आदि कोई भी) सन्धि नहीं होती। उदाहरण के लिये हरे + इहि = हर इहि अथवा हरयेहि। विष्णो + इह = विष्ण इह अथवा विष्णविह। तस्ये + इमानि तस्य इमानि या तस्यायिमानि।

श्रियै । उत्सुकः - श्रिय उत्सुक अथवा श्रियावुत्सुक । गुरौ + उत्क = गुर उत्कः अथवा गुरावुत्कः । इत्यादि इन सब उदाहरणों मे पदान्त में य् या व् दृष्ट नहीं है अतः उपर्युक्त सूत्र के अनुसार यहां सन्धि कैसे हो सकती है । परन्तु इस सन्धि का विस्तृत रूप अथवा वास्तविक रूप इस प्रकार है हरे + एहि इसमें अन्त में ए को अय् हो जाता है जिसके अनुसार हरय् + एहि यह रूप हुआ तत्पश्चात् 'लोपः शाकल्यस्य' के अनुसार उस य का विकल्प से लोप हो जाता है । अतः हर एहि और हरयेहि दोनों रूप बन सकते है । (लोपः शाकल्यस्य के सहित (इस प्रकार के उदाहरणों मे) एक और सूत्र भी लगता है जिसके अनुसार पद के अन्त में आने वाले ए, ऐ, आ और औ को क्रमशः अय् आय्, अव् और आव् हो जाता है । उपर्युक्त सभी उदाहरणों मे इसी प्रक्रिया से सन्धि हुई है । प्रत्येक ए, ऐ को और ओ औ को क्रमशः अय्, आय्, अव् और आव् हो गया है । यदि य् व का लोप हो जाता है तो उसके पश्चात् अन्य कोई सन्धि नहीं होती । जैसे तस्य इमानि मे आद्गुण के अनुसार गुण सन्धि हो सकती है और इसका रूप 'तस्येमानि' बन सकता है परन्तु वह नहीं बनेगा क्योंकि तस्य में य् का लोप हो चुका है । यदि लोप न होता 'तस्य' शब्द ही होता तो गुण सन्धि हो सकती थी ।)

एक नियम यह है कि रेफ का विसर्ग तभी होता है जब उसके बाद कोई अक्षर न हो अथवा वर्ग का पहला दूसरा और ष्, श, स वह वर्ण हो । (यह सब वर्ण खर् प्रत्याहार कहलाते हैं । अर्थात् रेफ के बाद खर् होने पर रेफ को (र् को) विसर्ग हो जाता है ।

जहां खर् से अतिरिक्त कोई व्यंजन हो वहां विसर्ग की जगह य् हो जाता है। र् को य् होता है तथा उस य् का 'लोपः शाकल्यस्य' से लोप हो जाता है । इसका सूत्र है—भोभगोऽघोऽपूर्वस्य योऽशि । (८।३।१७) । इसका विस्तृत अर्थ इस प्रकार है – यदि स् के स्थान में आदिष्ट र् के पूर्व भो, भगो, अघो और ह्रस्व या दीर्घ अ हो और उसके अनन्तर अश् प्रत्याहार का वर्ण (स्वर या हश् प्रत्याहार) हो तो र् को य् आदेश होता है और आगे स्वर रहने पर इस य् का विकल्प से तथा व्यजन रहने पर नित्य ही लोप हो जाता है (हलि सर्वेषां के अनुसार ८।३।२२)

(२२)

संख्ययाव्ययासन्नादूराधिकसंख्याः संख्येये तथा 'बहुव्रीहौ संख्येये डजबहुगणात्'

व्यतिरेकालङ्कार के एक उदाहरण में एक शब्द 'त्रिदशाधिप' की सिद्धि करते हुए पण्डितराज ने दो सूत्रों का उल्लेख किया है—'संख्ययाव्ययासन्नादूराधिक-

सख्या: सख्येये' और 'बहुव्रीहौ सख्येये' -- इत्यादि। दूसरे सूत्र का पूरा रूप इस प्रकार है-- 'बहुव्रीहौ सख्येये डजबहुगणात्'।

प्रथम सूत्र (२-२-२५) का तात्पर्य इस प्रकार है सख्यावाची किसी शब्द के साथ जब किसी अव्यय का, आसन्न, अदूर, अधिक और संख्यावाची (सुबन्तो) का समास होता है तो वह बहुव्रीहि होता है। सख्या के साथ सख्या का समास 'त्रिदश' पद मे है अत उक्त सूत्र के अनुसार इसमें बहुव्रीहि समास हो गया। तथा 'बहुव्रीहौ सख्येये डजबहुगणात्' (५।४।७३) इस सूत्र के अनुसार (जो सख्येय मे बहुव्रीहि होगा उसमे डच् हो जायेगा। किन्तु वही समास यदि बहु और गण शब्द से होगा तो उसमे डच् नही होगा तुट् हो जायेगा।) त्रिदश मे इस प्रकार बहुव्रीहि होने के पश्चात् 'तेषा अधिप:' इस रूप मे तत्पुरुष समास हो गया है।

त्रिदश मे पूर्वपद सख्यावाचक होने से द्विगु समास भी हो सकता है अतः 'सख्यया -' इत्यादि सूत्र से द्विगु का निरास किया (प्रतिषेध किया) और बहुव्रीहि की सिद्धि की जिसमे अन्य पद प्रधान होता है।

(२३)

'सहयुक्तेऽप्रधाने' 'वृद्धो यूना'

अष्टाध्यायी का एक सूत्र है 'सहयुक्तेऽ प्रधाने' इसमे (२।३।१९) पूर्वसूत्र से (२।३।१८ से) अनुवृत्ति होती है 'तृतीया' की और तब इसका अर्थ होता है—'सह आदि शब्दों के योग मे अप्रधान मे तृतीया विभक्ति होती है। जैसे पुत्रेण सह आगतः पिता।' इसमे सहार्थवाची सह पद आया है और उसके आन के कारण पिता और पुत्र मे से पुत्र मे तृतीया विभक्ति का प्रयोग हुआ है क्योंकि मुख्य रूप से आनयन की क्रिया पिता मे है एव अप्रधान रूप से पुत्र मे। इससे यह निश्चित होता है तृतीया विभक्ति अप्रधान भाव की बोधिका है। इसके अतिरिक्त जहाँ सहार्थवाची कोई शब्द भी नहीं रहता वहां भी तृतीया विभक्ति हो जाती है जैसे 'वृद्धो यूना' इत्यादि अर्थात् 'वृद्ध युवक के साथ-' यहाँ भी 'यूना' मे तृतीया विभक्ति है जिससे अप्रधानभाव का निश्चय हो ही जाता है। तात्पर्य यह है कि 'वृद्धो यूना' आदि उदाहरणों मे सह पद के न होने पर भी तृतीया विभक्ति से अप्रधानभाव का निश्चय हो ही जाता है।

परिशिष्ट 'ग'

उद्धृत श्लोकों की सूची

पण्डितराज द्वारा उद्धृत विद्वद्गण

अप्पयदीक्षित
अभिनव गुप्त
आनन्दवर्धनाचार्य
जयदेव
भट्टनायक
भरतमुनि
भामह
मम्मट
रुय्यक
लोल्लट
वामन
विद्यानाथ
विमर्शिनीकार
विश्वनाथ
शङ्कुक
शोभाकर मिश्र

परिशिष्ट 'घ'

पण्डितराजकृत विभिन्न परिभाषाएँ

काव्य–'रमणीयार्थप्रतिपादकः शब्दः काव्यम् ।'

प्रतिभा–'सा च काव्यघटनानुकूलशब्दार्थोपस्थितिः ।'

उत्तमोत्तम काव्य–'शब्दार्थौ यत्र गुणीभावितात्मानौ कमप्यर्थमभिव्यङ्क्तस्तदाद्यम् ।'

उत्तम काव्य–'यत्र व्यङ्ग्यमप्रधानमेव सच्चमत्कारकारणम् ।'

मध्यम काव्य–'यत्र व्यङ्ग्यचमत्कारासमानाधिकरणो वाच्यचमत्कारस्तत्तृतीयम् ।'

अधम काव्य–'यत्रार्थचमत्कृत्युपस्कृता शब्दचमत्कृतिः तदधमं चतुर्थम् ।'

रस–'समुचितललितसन्निवेशचारुणा काव्येन समर्पितैः सहृदयहृदयं प्रविष्टैस्तदीयसहृदयतासहकृतेन भावनाविशेषमहिम्ना विगलितदुष्यन्तरमणीत्वादिभिरलौकिकविभावानुभावव्यभिचारिशब्दव्यपदेश्यैः शकुन्तलादिभिरालम्बनकारणैश्चन्द्रिकादिभिरुद्दीपनकारणैरश्रुपातादिभिः कार्यैश्चिन्तादिभिः सहकारिभिश्च सम्भूय प्रादुर्भावितेनालौकिकेन व्यापारेण तत्कालनिवर्तितानन्दांशावरणाज्ञानेनात एव प्रमुष्टपरिमितप्रमातृत्वादिनिजधर्मेण प्रमात्रा स्वप्रकाशतया वास्तवेन निजस्वरूपानन्देन सह गोचरीक्रियमाणः प्राग्विनिविष्टवासनारूपो रत्यादिरेव रसः ।'

स्थायिभाव

रति–'स्त्रीपुंसयोरन्योन्यालम्बनः प्रेमाख्यश्चित्तवृत्तिविशेषो रतिः स्थायिभावः ।

शोक–'पुत्रादिवियोगमरणादिजन्मा वैक्लव्याख्यश्चित्तवृत्तिविशेषः शोकः ।'

निर्वेद–'नित्यानित्यवस्तुविचारजन्मा विषयविरागाख्यो निर्वेदः ।'

उत्साह–'परपराक्रमदानादिस्मृतिजन्मा औन्नत्याख्य उत्साहः ।'

विस्मय–'अलौकिकवस्तुदर्शनादिजन्मा विकासाख्यो विस्मयः ।'

हास–'वागङ्गादिविकारदर्शनजन्मा विकासाख्यो हासः ।'

भय–'व्याघ्रदर्शनादिजन्मा परमानर्थविषयको वैक्लव्याख्यः स भयम् ।'

जुगुप्सा–'कदर्यवस्तुविलोकनजन्मा विचिकित्साख्यश्चित्तवृत्तिविशेषो जुगुप्सा ।'

विभाव–'एवमेषां स्थायिभावानां लोके तत्तन्नायकगतानां याम्यालम्बनतयोद्दीपनतया वा कारणत्वेन प्रसिद्धानि तान्येषु काव्यनाट्ययोर्व्यज्यमानेषु विभावशब्देन व्यपदिश्यन्ते ।'

अनुभाव—'यानि च कार्यतया तान्यनुभावशब्देन ।'
व्यभि० भाव—'यानि सहचरन्ति तानि व्यभिचारिशब्देन ।'

३३ व्यभिचारी भाव

१. हर्ष—'इष्टप्राप्त्यादिजन्मा सुखविशेषो हर्षः ।'

२. स्मृति—'संस्कारजन्यं ज्ञानं स्मृतिः ।'

३. व्रीडा—'स्त्रीणां पुरुषमुखावलोकनादेः, पुंसां च प्रतिज्ञापराभवादेरुत्पन्नो वैवर्ण्याधोमुखत्वादिकारणीभूतश्चित्तवृत्तिविशेषो व्रीडा ।'

४. मोह—'भयवियोगादिप्रयोज्या वस्तुतत्वानवधारिणी चित्तवृत्तिर्मोहः ।'

५. धृति—'लोभशोकभयादिजनितोपप्लवनिवारणकारणीभूतश्चित्तवृत्तिविशेषो धृतिः ।'

६. शङ्का—'किमनिष्टं मम भविष्यतीत्याकारश्चित्तवृत्तिविशेषः शङ्का ।'

७. ग्लानि—'आधिव्याधिजन्यबलहानिप्रभवो वैवर्ण्यशिथिलाङ्गत्वदृग्भ्रमणादिहेतुर्दुःखविशेषो ग्लानिः ।'

८. दैन्य—'दुःखदारिद्र्यापराधजनितः स्वापकर्षभाषणादिहेतुश्चित्तवृत्तिविशेषो दैन्यम् ।'

९. चिन्ता—'इष्टाप्राप्त्यनिष्टप्राप्त्यादिजनिता ध्यानापरपर्याया वैवर्ण्यभूलेखनाधोमुखत्वादिहेतुश्चित्तवृत्तिविशेषश्चिन्ता ।'

१०. मद—'मद्याद्युपयोगजन्मा उल्लासाख्यः शयनहसितादिहेतुश्चित्तवृत्तिविशेषो मदः ।'

११. श्रम—'बहुतरशारीरव्यापारजन्मा निःश्वासाङ्गसम्मर्दनिद्रादिकारणीभूतः खेदविशेषः श्रमः ।'

१२. गर्व—'रूपधनविद्यादिप्रयुक्तात्मोत्कर्षज्ञानाधीनपरावहेलनं गर्वः ।'

१३. निद्रा—'श्रमादिप्रयोज्यं चेतः सम्मीलनं निद्रा ।'

१४. मति—'शास्त्रादिविचारजन्यमर्थनिर्धारणं मतिः ।'

१५. व्याधि—'रोगविरहादिप्रभवो मनस्तापो व्याधिः ।'

१६. त्रास—'भीरोर्घोरसत्वदर्शनस्फूर्जथुश्रवणादिजन्मा चित्तवृत्तिविशेषस्त्रासः ।'

१७. सुप्त—'निद्राविभावोत्थाज्ञानं सुप्तम् ।'

१८. विबोध—'निद्रानाशोत्तरो जायमानो बोधो विबोधः ।'

१९. अमर्ष—'परकृतावज्ञानानापराधजन्यो मौनवाक्पारुष्यादिकारणीभूतश्चित्तवृत्तिविशेषोऽमर्षः ।'

२०. अवहित्थ—'व्रीडादिभिर्निमित्तैर्हर्षाद्यनुभावानां गोपनाय जनितो भावविशेषोऽवहित्थम् ।'

२१. उग्रता —'अधिक्षेपापमानादिप्रभवा किमस्य करोमीत्याद्याकारा चित्तवृत्ति-रुग्रता ।'

२२. उन्माद - 'विप्रलम्भमहापत्तिपरमानन्दादिजन्माऽन्यस्मिन्नन्यावभास उन्मादः ।'

२३. मरण—'रोगादिजन्या मूर्च्छारूपा मरणप्रागवस्था मरणम् ।

२४. वितर्क—'सन्देहाद्यनन्तर जायमान ऊहो वितर्कः ।'

२५. विषाद—'इष्टासिद्धिराजगुर्वाद्यपराधादिजन्योऽनुतापो विषाद. ।'

२६. औत्सुक्य—'अधुनैवास्य लाभो ममास्त्वितीच्छा औत्सुक्यम् ।'

२७. आवेग—'अनर्थातिशयजनिता चित्तस्य सम्भ्रमाख्या वृत्तिरावेगः ।'

२८. जड़ता—'चिन्तोत्कण्ठाभयविरहेष्टानिष्टदर्शनश्रवणादिजन्यावश्यकर्त-व्यार्थप्रतिसन्धानविकला चित्तवृत्तिर्जडता ।'

२९. आलस्य—'अतितृप्तिगर्भव्याधिश्रमादिजन्मा चेतसः क्रियानुन्मुखताऽ-लस्यम् ।'

३० असूया—'परोत्कर्षदर्शनादिजन्यः परनिन्दादिकारणीभूतश्चित्तवृत्ति-विशेषोऽसूया ।'

३१. अपस्मार—'वियोगशोकभयजुगुप्सादीनामतिशयाद् ग्रहावेशादेश्चोत्पन्नो व्याधिविशेषोऽपस्मारः ।'

३२. चपलता—'अमर्षादिजन्या वाक्पारुष्यादिकारणीभूता चित्तवृत्तिश्चपलता ।

३३. निर्वेद—'नीचपुरुषेभ्याक्रोशनाधिक्षेपव्याधिताडनदारिद्र्येष्टविरहपरसम्प-द्दर्शनादिभि., उत्तमेषु तत्त्वज्ञानादिभिर्जनिता विषयद्वेषाख्या रोदनदीर्घश्वासदीन-मुखतादिकारिणी चित्तवृत्तिर्निर्वेदः ।'

रसाभास—'अनुचितविभावालम्बनत्वं रसाभासत्वम् ।'

भावाभास—'एवमेवानुचितविषया भावाभासा ।'

भावशान्ति—'भावस्य प्रागुक्तस्वरूपस्य शान्तिर्नाशः ।'

भावोदय —'भावोदयो भावस्योत्पत्तिः ।'

भावसन्धि—'भावसन्धिरन्योन्यानभिभूतयोरन्योन्याभिभवनयोग्ययोः समा-नाधिकरण्यम् ।'

भावशबलता—'भावशबलत्वं भावानां बाध्यबाधकभावमापन्नानामुदासीनानां वा व्यामिश्रणम् ।'

गुण

दस शब्दगुण

१. श्लेष—'शब्दानां भिन्नानामप्येकत्वप्रतिभानप्रयोजक संहितयैकजातीयवर्ण-विन्यासविशेषो गाढत्वापरपर्यायः श्लेषः ।'

२. प्रसाद—'गाढत्वशैथिल्याभ्या व्युत्क्रमेण मिश्रण बन्धस्य प्रसादः ।'

३. समता—'उपक्रमादासमाप्तेरीत्यभेद समता ।'

४ माधुर्य—'सयोगपरह्रस्वातिरिक्तवर्णाघटितत्वे सति पृथक्पदत्व माधुर्यम् ।'

५. सुकुमारता—'अपरुषवर्णाघटितत्वम् सुकुमारता ।'

६ अर्थव्यक्ति—'झगिति प्रतीयमानार्थान्वयकत्वमर्थव्यक्ति· ।'

७ उदारता—'कठिनवर्णघटनारूपविकटत्वलक्षणोदारता ।'

८ ओज—'सयोगपरह्रस्वप्राचुर्यरूप गाढत्वमोजः ।'

९ कान्ति—'अविदग्धवैदिकादिप्रयोगयोग्याना पदाना परिहारेण प्रयुज्यमानेषु पदेषु लोकोत्तरशोभारूपमौज्ज्वल्य कान्ति ।'

१० समाधि—'बन्धगाढत्वशिथिलत्वयो· क्रमेणावस्थापन समाधि ।'

दस अर्थगुण

१. श्लेष—'एवं क्रियापरम्पराया विदग्धचेष्टितस्य तदस्फुटत्वस्य तदुपपादकयुक्तेश्च सामानाधिकरण्यरूप ससर्गः श्लेष. ।'

२. प्रसाद—'यावदर्थकपदत्वरूपमर्थवैमल्य प्रसादः ।'

३. समता—'प्रक्रमाभङ्गेनार्थघटनात्मकवैषम्य समता ।'

४ माधुर्य—'एकस्या एवोक्तेर्भङ्ग्यन्तरेण पुन· कथनात्मकमुक्तिवैचित्र्य माधुर्यम् ।'

५. सुकुमारता—'अकाण्डे शोकदायित्वाभावरूपमपारुष्य सुकुमारता ।'

६. अर्थव्यक्ति—'वस्तुनो वर्णनीयस्यासाधारणक्रियारूपयोर्वर्णनमर्थव्यक्ति ।'

७. उदारता—'चुम्बन देहि मे भार्ये कामचाण्डालतृप्तये' इत्यादिग्राम्यार्थपरिहार उदारता ।'

८. ओज—'एकस्य पदार्थस्य बहुभिः पदैरभिधान बहूना चैकेन, तथैकस्य वाक्यार्थस्य बहुभिर्वाक्यैर्बहुवाक्यार्थस्यैकवाक्येनाभिधान विशेषणानां साभिप्रायत्व चेति पञ्चविधमोजः ।'

९. कान्तिः—'दीप्तरसत्व कान्तिः ।'

१०. समाधि—'अवर्णितपूर्वोऽयमर्थं पूर्ववर्णितच्छायो वेति कवेरालोचन समाधिः ।'

अभिधा—'शक्त्याख्यो अर्थस्य शब्दगत·, शब्दस्यार्थगतो वा सम्बन्धविशेषोऽभिधा ।'

लक्षणा—'शक्यसम्बन्धो लक्षणा ।'

व्यञ्जना—योगरूढस्य शब्दस्य योगे रूढ्या नियन्त्रिते ।
धियं योगस्पर्शोऽर्थस्य या सूते व्यञ्जनैव सा ।।

अलङ्कार

अ

अतद्गुण – 'तद्विपर्ययोऽतद्गुणः ।'

अतिशयोक्ति—'विषयिणा विषयस्य निगरणमतिशयः । तस्योक्तिः ।'

अधिक—'आधाराधेययोरन्यतरस्यातिविस्तृतत्वसिद्धिफलकमितरस्यातिन्यूनत्वकल्पनमधिकम् ।'

अनन्वय—'द्वितीयसदृशव्यवच्छेदफलकवर्णनविषयीभूतं यदेकोपमानोपमेयकं सादृश्यं तदनन्वयः ।'

अनुज्ञा—'उत्कटगुणविशेषलालसया दोषत्वेन प्रसिद्धस्यापि वस्तुनः प्रार्थनमनुज्ञा ।'

अनुमान—'अनुमितिकरणमनुमानम् ।'

अन्योन्य—'द्वयोरन्योन्येनान्योन्यस्य विशेषाधानमन्योन्यम् ।'

अपह्नुति—'उपमेयतावच्छेदकनिषेधकसामानाधिकरण्येनारोप्यमाणमुपमानतादात्म्यमपह्नुतिः ।'

अप्रस्तुतप्रशंसा—'अप्रस्तुतेन व्यवहारेण सादृश्यादिवक्ष्यमाणप्रकारान्यतमप्रकारेण प्रस्तुतव्यवहारो यत्र प्रशस्यते साप्रस्तुतप्रशंसा ।'

अर्थान्तरन्यास—'सामान्येन विशेषस्य विशेषेण सामान्यस्य वा यत्समर्थनं तदर्थान्तरन्यासः ।'

अर्थापत्ति—'केनचिदर्थेन तुल्यन्यायत्वादर्थान्तरस्यापत्तिरर्थान्तरन्यासः ।'

अवज्ञा—'तद्विपर्ययोऽवज्ञा ।'

असङ्गति—'विरुद्धत्वेनापाततो भासमानं हेतुकार्ययोर्वैयधिकरण्यमसङ्गतिः ।'

असम—'सर्वथैवोपमाननिषेधोऽसमाख्योऽलङ्कारः ।'

आ

आक्षेप—'निषेधमात्रमाक्षेपः ।'

उ

उत्प्रेक्षा—'तद्भिन्नत्वेन तदभाववत्त्वेन वा प्रमितस्य पदार्थस्य रमणीयतद्वृत्तितत्समानाधिकरणान्यतरतद्धर्मसम्बन्धनिमित्तकं तत्त्वेन तद्वत्त्वेन वा सम्भावनमुत्प्रेक्षा ।'

उत्तर—'प्रश्नप्रतिबन्धकज्ञानविषयीभूतोऽर्थ उत्तरम् ।'

उदाहरण—'सामान्येन निरूपितस्यार्थस्य सुखप्रतिपत्तये तदेकदेश निरूप्य तयोरवयवावयविभाव उच्यमान उदाहरणम् ।'
उपमा—'साहश्य सुन्दर वाक्यार्थोपस्कारकमुपमालङ्कृतिः ।'
उपमेयोपमा—'तृतीयसदृशव्यवच्छेदबुद्धिफलकवर्णनविषयीभूत परस्परमुपमानोपमेयभावमापन्नयोरर्थयो साहश्यं सुन्दरमुपमेयोपमा ।'
उल्लास—'अन्यदीयगुणदोषप्रयुक्तमन्यस्य गुणदोषयोराधानमुल्लास· ।'
उल्लेख—'एकस्य वस्तुनो निमित्तवशाद्यदनेकैर्ग्रहीतृभिरनेकप्रकारक ग्रहण तदुल्लेख ।'

ए

एकावली—'सैव शृंखला ससर्गस्य विशेष्यविशेषणभावरूपत्वे एकावली ।'

क

कारणमाला—'सैव शृङ्खला आनुगुण्यस्य कार्यकारणभावरूपत्वे कारणमाला ।'
काव्यलिंग—'अनुमितिकरत्वेन सामान्यविशेषभावाभ्या चानालिङ्गितः प्रकृतार्थोपपादकत्वेन विवक्षितोऽर्थः काव्यलिङ्गम् ।'

त

तद्गुण—'स्वगुणत्यागपूर्वकं स्वसन्निहितवस्त्वन्तरसम्बन्धिगुणग्रहण तद्गुण· ।
तिरस्कार—'दोषविशेषानुबन्धाद्गुणत्वेन प्रसिद्धस्यापि द्वेषस्तिरस्कारः ।'
तुल्ययोगिता—'प्रकृतानामेवाप्रकृतानामेव वा गुणक्रियादिरूपैकधर्मान्वयस्तुल्ययोगिता ।'

द

दीपक—'प्रकृतानामप्रकृताना चैकसाधारणधर्मान्वयो दीपकम् ।'
दृष्टान्त—'प्रकृतवाक्यार्थघटकानामुपमादीनां साधारणधर्मस्य च बिम्बप्रतिबिम्बभावे दृष्टान्तः ।'

न

निदर्शना—'उपात्तयोरर्थयोरार्थाभेद औपम्यपर्यवसायी निदर्शना ।'

प

परिकर—'विशेषणानां साभिप्रायत्व परिकरः ।'
परिणाम—'विषयी यत्र विषयात्मतयैव प्रकृते प्रकृतोपयोगी न स्वातन्त्र्येण स परिणाम ।'
परिवृत्ति—'परकीययत्किञ्चिद्वस्त्वादानविशिष्ट परस्मै स्वकीय-यत्किञ्चिद्वस्तुसमर्पण परिवृत्तिः ।'
परिसंख्या—'सामान्यतः प्राप्तस्यार्थस्य कस्माच्चिद्विशेषाद्व्यावृत्ति· परिसंख्या।'

पर्याय—क्रमेणानेकाधिकरणकमेकमाधेयमेकः पर्यायः । 'क्रमेणानेकाधेयकमेकमधिकरणमपरः ।'

पर्यायोक्त- 'विवक्षितस्यार्थस्य भङ्ग्यन्तरेण प्रतिपादनं पर्यायोक्तम्' ।

प्रतिवस्तूपमा- 'वस्तुप्रतिवस्तुभावापन्नसाधारणधर्मकवाक्यार्थयोर्गम्यमौपम्यं प्रतिवस्तूपमा ।'

प्रतीप— (१) 'प्रसिद्धौपम्यवैपरीत्येन वर्ण्यमानमौपम्यमेकं प्रतीपम् ।'

(२) 'उपमानोपमेययोरन्यतरस्य किञ्चिद्गुणप्रयुक्तमद्वितीयतोत्कर्षं परिहर्तुं द्वितीयप्रदर्शनेनोल्लास्यमानं सादृश्यमपरं द्विविधम् ।'

(३) 'उपमानस्य कैमर्थ्यं चतुर्थम् ।'

(४) 'सादृश्यविघटनं पञ्चमम् ।'

प्रत्यनीक—'प्रतिपक्षसम्बन्धिनस्तिरस्कृतिः प्रत्यनीकम् ।'

प्रहर्षण—'साक्षात्तदुद्देश्यकयत्नमन्तरेणाप्यभीष्टार्थलाभः प्रहर्षणम् ।'

प्रौढोक्ति—'कस्मिंश्चिदर्थे किञ्चिद्धर्मकृतातिशयप्रतिपिपादयिषया प्रसिद्धतद्धर्मवता संसर्गस्योद्भावनं प्रौढोक्तिः ।'

भ

भ्रान्तिमान्—'सदृशे धर्मिणि तादात्म्येन धर्म्यन्तरप्रकारकोऽनाहार्यो निश्चयः सादृश्यप्रयोज्यश्चमत्कारी प्रकृते भ्रान्तिः । सा च पशुपक्ष्यादिगता यस्मिन्वाक्यसन्दर्भेऽनूद्यते स भ्रान्तिमान् ।'

म

मीलित—'स्फुटमुपलभ्यमानस्य कस्यचिद्वस्तुनो लिङ्गैरतिसाम्याद्भिन्नत्वेनागृह्यमाणानां वस्त्वन्तरलिङ्गानां स्वकारणानुमापकत्वं मीलितम् ।'

य

यथासंख्य—'उद्देशक्रमेणार्थानां सम्बन्धो यथासंख्यम् ।'

रूपक—'उपमेयतावच्छेदकपुरस्कारेणोपमेये शब्दान्निश्चीयमानमुपमानतादात्म्यं रूपकम् । तदेवोपस्कारकत्वविशिष्टमलङ्कारः ।'

ल

ललित—'प्रकृतधर्मिणि प्रकृतव्यवहारानुल्लेखेन निरूप्यमाणोऽप्रकृतव्यवहारसम्बन्धो ललितालङ्कारः ।'

लेश—'गुणस्यानिष्टसाधनतया दोषत्वेन, दोषस्येष्टसाधनतया गुणत्वेन च वर्णनम् लेशः ।'

व

विकल्प—'विरुद्धयोः पाक्षिकी प्राप्तिर्विकल्पः ।'

विचित्र—'इष्टसिद्ध्यर्थमिष्टैषिणा क्रियमाणमिष्टविपरीताचरणम् विचित्रम् ।'

विनोक्ति—'विनार्थसम्बन्ध्येव विनोक्तिः ।'

विभावना—'कारणव्यतिरेकसामानाधिकरण्येन प्रतिपाद्यमाना कार्योत्पत्ति-र्विभावना ।'

विरोध—'एकाधिकरणसम्बद्धत्वेन प्रतिपादितयोरर्थयोर्भासमानैकाधिकरणा-सम्बद्धत्वमेकाधिकरणासम्बद्धत्वभान वा विरोध· ।'

यद्वा

'एकाधिकरणासम्बद्धत्वेन प्रतिपादन सः ।'

विषम—'अननुरूपससर्गो विषमम् ।'

विषादन—'अभीष्टार्थविरुद्धलाभो विषादनम् ।'

विशेष—'प्रसिद्धमाश्रय विना आधेय वर्ण्यमानमेको विशेषप्रकार । यच्चैक-माधेय परिमितयत्किञ्चिदाधारगतमपि युगपदनेकाधारगततया वर्ण्यते सोऽपरो विशेषप्रकार ।'

विशेषोक्ति—'प्रसिद्धकारणकलापसामानाधिकरण्येन वर्ण्यमाना कार्यानुत्पत्ति-र्विशेषोक्ति. ।'

व्यतिरेक—'उपमानादुपमेयस्य गुणविशेषवत्त्वेनोत्कर्षो व्यतिरेक ।'

व्याघात—'यत्र ह्येकेन कर्त्रा येन कारणेन कार्यं किञ्चिन्निष्पादित निष्पिपा-दयिषित वा तदन्येन कर्त्रा तेनैव कारणेन तद्विरुद्धकार्यस्य निष्पादनेन निष्पि-पादयिषया वा व्याहन्यते स व्याघात ।'

व्याजस्तुति—'आमुखप्रतीताभ्या निन्दास्तुतिभ्या स्तुतिनिन्दयोः क्रमेण पर्यव-सानं व्याजस्तुति ।'

श

श्लेष—'श्रुत्यैकयानेकार्थप्रतिपादन श्लेष ।'

शृंखला—'पङ्क्तिरूपेण निबद्धानामर्थाना पूर्वपूर्वस्योत्तरोत्तरस्मिन्, उत्तरो-त्तरस्य वा पूर्वपूर्वस्मिन् ससृष्टत्व शृंखला ।'

स

सम—'अनुरूपससर्गः समम् ।'

समाधि—'एककारणजन्यस्य कार्यस्याकस्मिककारणान्तरसमवधानाहितसौकर्यं समाधिः ।'

समासोक्ति—'यत्र प्रस्तुतधर्मिको व्यवहारः साधारणविशेषणमात्रोपस्थापिता-प्रस्तुतधर्मिकव्यवहाराभेदेन भासते सा समासोक्तिः ।'

समुच्चय —'गुणक्रियापदार्थानामन्वयः समुच्चयः ।'

ससन्देह —'सादृश्यमूला भासमानविरोधका समबला नानाकोट्यवगाहिनी धी रमणीया ससन्देहालङ्कृतिः ।'

सहोक्ति—'गुणप्रधानभावावच्छिन्नसहार्थसम्बन्धः सहोक्तिः ।'

सामान्य—'प्रत्यक्षविषयस्यापि वस्तुनो बलवत्सजातीयग्रहणकृतं तद्भिन्नत्वेनाग्रहणं सामान्यम् ।'

सार—'सैव संसर्गस्योत्कृष्टापकृष्टभावरूपत्वे सारः ।'

स्मरण—'सादृश्यज्ञानोद्बुद्धसंस्कारप्रयोज्यं स्मरणालङ्कारः ।'

समीक्षागत उद्धृत मुख्य कवियों की नामावलि

अप्पय दीक्षित

अभिनव गुप्त

अलङ्कार भाष्यकार

आनन्दवर्धनाचार्य

उद्भट

कालिदास

काव्यप्रकाश टीकाकार

कैयट

मम्मट भट्ट

भट्टनायक

भरतमुनि

भामह

रुय्यक

वामन

विद्याधर

विद्यानाथ

विमर्शिनीकार

विश्वनाथ

शोभाकर मित्र

कुछ ग्रन्थ

गीता

वृत्तिवार्त्तिकम्

सङ्गीतरत्नाकर

वाक्यपदीयम्

शुद्धि-पत्र

पृ०	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
१३	२३	व्यञ्जकत्व	व्यञ्जना
२१	१४	सुरभिचन्दम्	सुरभि चन्दनम्
४७	नीचे से ८	अर्थ	अर्थात्
५३	२०	का होना	का विषय होना
८२	२०	प्रत्येक	यदि प्रत्येक
८३	१४	भ	अ
८७	५	द्रवर्गों	वर्गों
८९	नीचे से ३	घटादि पद में घटादि	घटादि पद से घटादि
९८	१३	गलया	गम्यया
१०८	५	लिए	लिए हरि
१०८	९	सयाणाङ्कुणो	सयाणाङ्कुणो
१०८	१०	,,	,,
१५१	१४	अतिप्रेत	अभिप्रेत
१५८	५	तथा	यथा
१६१	नीचे से २	वि० मी०	रस
१६२	३	के	से
१६२	३	उथि	उक्ति
१६५	२	नहीं	वहीं
१६८	१	होताबि	होता
१७३	नीचे से २	२१६	२२१
१७३	अन्तिम	२२४	२१६
१८०	१९	विशेष	विशेषण
१८७	८	अमुक्त	प्रयुक्त
१९०	पादटिप्पणियां	१६८,१६९,१७०	१६९,१७०,१७१
१९१	अन्तिम	अ०स०पृ० ५३	अ०स०पृ० ६० (हव्यक का सम्पूर्णमत)
१९२	नीचे से ३	अ०स०पृ० ६४	अ०स०पृ० ५३

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
१६४	नीचे से ४	सिद्धान्तनादन्यत्रे-वात्रापि	सिद्धम् । तेनान्यत्रे वात्रापि
१६२	६	चिन्ना	चिन्तां
१६८	नीचे से २	परिणामे	परिणाम
२०३	१६	व्यङ्गय	व्यङ्गयत्व
२०६	६ शीर्षक	खण्डन	लक्षण
२१८	नीचे से ३	२०४	२७४
२४२	अन्तिम	२६५	३११
२४३	१	२१०	२८०
२४५	नीचे से ३	३०८	३३७
२५५	नीचे से ३	२३१	३२१
२५६	अन्तिम	कुव० पृ०	कुव०पृ० ५७
२६३	नीचे से ३	२२१	३२८
२६४	४	उसे	उन्होने उसे
२७६	२	७१	६१
२७७	१४	एक	यह
२७६	१७	उत्कर्ष	उत्कर्ष होने पर
२७६	२३	तुम इन्द्र की	इन्द्र की
२८६	अन्तिम	कु०	कुव०
२८७	अन्तिम	३४८	२१४
२६०	नीचे से २	३५२	४७४
३०६	नीचे से २	४४३	४३३
३१६	२५	व्यर्थ हो	व्यर्थ होगा
३२८	नीचे से ७	४४३	२४३
३२८	अन्तिम	२५२	४५२
३३१	अन्तिम	कुव०	रस०
३४३	अन्तिम	४२४	४१७
३४४	नीचे से ३	१२२	१४४
३४५	अन्तिम	४२४	३७८
३५२	अन्तिम	४	८

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
३५३	अन्तिम	अ०म०पृ० १२२	रस०पृ० ४०१
३७४	६	गक	गकर
३८५	१६	१६८	१८६
३९२	अन्तिम	रस	कुव०
४०८	नीचे से ६	अरमणीयता	अरमणीयता रूपी
४३०	नीचे से २	चमत्कारित्वाल्लक्षण-टकः	चमत्कारित्वाल्लक्षण-घटकः
४३४	६	दुष्प्रपण	दुष्प्राय
४४२	नीचे से ८	तात्पर्य है	तात्पर्य है ध्वनिकृति में
४४४	अन्तिम	४७	१७
४४६	अन्तिम	४८२-४८३	१८२-१८३
४४९	नीचे से ४	बाम्भ्रसि	बाम्भसि
४५०	६	नान्यन्	नान्यत्
४७७	१७	६	७
४९५	नीचे से २	२८९	२९८